पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : ६२

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

हरिभद्रसूरिकृत



# पञ्चाशक-प्रकरणम्

[ जैन आचार और विधि-विधान का एक मौलिक ग्रन्थ ]

अनुवादक
डॉ० दीनानाथ शर्मा

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : ९२

प्रधान सम्पादक
**डॉ० सागरमल जैन**

*हरिभद्रसूरिकृत*

# पञ्चाशक-प्रकरणम्

*अनुवादक*
**डॉ० दीनानाथ शर्मा**
प्रवक्ता, संस्कृत विभाग
उत्तर गुजरात विश्वविद्यालय, पाटण ( गुजरात )

*सम्पादक*
**डॉ० सागरमल जैन**
**डॉ० कमलेशकुमार जैन**

**पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी**
१९९७

*प्रकाशक*

**पार्श्वनाथ विद्यापीठ**

आई॰ टी॰ आई॰ रोड, करौंदी,

**वाराणसी – ५**

दूरभाष : ३१६५२१

प्रथम संस्करण : १९९७

मूल्य : रु० २५०.००

*अक्षर-सज्जा*

**नया संसार प्रेस**

बी० २/१४३ ए, भदैनी

**वाराणसी – १**

*मुद्रक*

**वर्द्धमान मुद्रणालय**

भेलूपुर, **वाराणसी – १०**

**I S B N : 8186715-20-7**

*Published by*

Pārśvanātha Vidyāpīṭha

I.T.I. Road, Karaundi

**Varanasi – 5**

Phone : 316521

First Edition : 1997

Price : Rs. 250.00

*Type-setting at*

**Naya Sansar Press**

B. 2/143 A, Bhadaini

**Varanasi – 1**

*Printed at*

**Vardhaman Mudranalaya**

Bhelupura, **Varanasi – 10**

# प्रकाशकीय

जैन साहित्य के क्षेत्र में आचार्य हरिभद्र का अवदान महत्त्वपूर्ण है। आचार्य हरिभद्र के उपलब्ध ग्रन्थों में अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं किन्तु उनके अनुवाद उपलब्ध नहीं होने से उन पाठकों को जो प्राकृत या संस्कृत नहीं जानते हरिभद्र के चिन्तन में अवगाहन करना कठिन हो रहा था। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने उनके उन ग्रन्थों को अनुवाद सहित प्रकाशित करने की योजना बनाई और उसी क्रम में हम आचार्य हरिभद्र के 'पञ्चाशक-प्रकरणम्' नामक ग्रन्थ को संस्कृतछाया और हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित कर रहे हैं।

पञ्चाशक के अन्तर्गत पचास-पचास गाथाओं में निबद्ध उन्नीस पञ्चाशक संगृहीत हैं। वस्तुतः पञ्चाशकप्रकरणम् उन्नीस लघुग्रन्थों का संकलन है। इसमें श्रावकधर्मविधि, जिनदीक्षाविधि, चैत्यवन्दनविधि, पूजाविधि, प्रत्याख्यानविधि, स्तवनविधि, जिनभवननिर्माणविधि, जिनबिम्बप्रतिष्ठाविधि, यात्राविधि, उपासक-प्रतिमाविधि, आदि जैन धर्म के आचार और कर्मकाण्ड से सम्बन्धित विषयों का संक्षेप में प्रतिपादन किया गया है। वस्तुतः जैन आचार और कर्मकाण्ड के सन्दर्भ में यह आठवीं शताब्दी की एक महत्त्वपूर्ण कृति है।

इस कृति का हिन्दी अनुवाद डॉ० दीनानाथ शर्मा प्रवक्ता, उत्तर गुजरात विश्वविद्यालय, पाटण ने किया है। इस अनुवाद में उन्होंने मूलग्रन्थ के साथ-साथ टीका का भी सहारा लिया है। इसके सम्पादन का कार्य संस्थान के निदेशक डॉ० सागरमल जैन एवं डॉ० कमलेशकुमार जैन, जैनदर्शन-प्राध्यापक, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने किया है। इसके प्रारम्भ में एक व्यापक भूमिका डॉ० सागरमल जैन ने लिखी है। भूमिका-लेखन एवं प्रकाशन सम्बन्धी कार्यों में डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, डॉ० विजय कुमार एवं डॉ० सुधा जैन का अपेक्षित सहयोग हमें प्राप्त हुआ है, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं।

अन्त में हम सुन्दर अक्षर-सज्जा के लिये नया संसार प्रेस, वाराणसी एवं मुद्रण के लिये वर्द्धमान मुद्रणालय, वाराणसी के प्रति अपना आभार व्यक्त करते हैं।

**भूपेन्द्रनाथ जैन**
मानद सचिव
पार्श्वनाथ विद्यापीठ

# विषय-सूची

# भूमिका

आचार्य हरिभद्र जैनधर्म के प्रखर प्रतिभासम्पन्न एवं बहुश्रुत आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने अपनी लेखनी के द्वारा विपुल एवं बहुआयामी साहित्य का सृजन किया है। उन्होंने दर्शन, धर्म, योग, आचार, उपदेश, व्यंग्य और चरित-काव्य आदि विविध विधाओं के ग्रन्थों की रचना की है। मौलिक साहित्य के साथ-साथ उनका टीका साहित्य भी विपुल है। जैन धर्म में योग सम्बन्धी साहित्य के तो वे आदि प्रणेता हैं। इसी प्रकार आगमिक ग्रन्थों की संस्कृत भाषा में टीका करने वाले जैन-परम्परा में वे प्रथम टीकाकार भी हैं। उनके पूर्व तक आगमों पर जो निर्युक्ति और भाष्य लिखे गये थे वे मूलत: प्राकृत भाषा में ही थे। भाष्यों पर आगमिक व्यवस्था के रूप में जो चूर्णियाँ लिखी गयी थीं वे भी संस्कृत-प्राकृत मिश्रित भाषा में लिखी गयीं। विशुद्ध संस्कृत भाषा में आगमिक ग्रन्थों की टीका लेखन का सूत्रपात तो आचार्य हरिभद्र ने ही किया। भाषा की दृष्टि से उनके ग्रन्थ संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं में मिलते हैं। अनुश्रुति तो यह है कि उन्होंने १४४४ ग्रन्थों की रचना की थी, किन्तु वर्तमान में हमें उनके नाम पर चढ़े हुए लगभग ७५ ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। यद्यपि विद्वानों की यह मान्यता है कि इनमें से कुछ ग्रन्थ वस्तुत: याकिनीसूनु हरिभद्र की कृति न होकर किन्हीं दूसरे हरिभद्र नामक आचार्यों की कृतियाँ हैं। पंडित सुखलालजी ने इनमें से लगभग ४५ ग्रन्थों को तो निर्विवाद रूप से उनकी कृति स्वीकार किया है। इनमें भी यदि हम अष्टक-प्रकरण के प्रत्येक अष्टक को, षोडशकप्रकरण के प्रत्येक षोडशक को, विंशिकाओं में प्रत्येक विंशिका को तथा पञ्चाशक में प्रत्येक पञ्चाशक को स्वतन्त्र ग्रन्थ मान लें तो यह संख्या लगभग २०० के समीप पहुँच जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्य हरिभद्र एक प्रखर प्रतिभा के धनी आचार्य थे और साहित्य की प्रत्येक विधा को उन्होंने अपनी रचनाओं से समृद्ध किया था।

प्रतिभाशाली और विद्वान् होना वस्तुत: तभी सार्थक होता है जब व्यक्ति में सत्यनिष्ठा और सहिष्णुता हो। आचार्य हरिभद्र उस युग के विचारक हैं जब भारतीय चिन्तन में और विशेषकर दर्शन के क्षेत्र में वाक्-छल और खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति बलवती बन गयी थी। प्रत्येक दार्शनिक स्वपक्ष के मण्डन एवं परपक्ष के खण्डन में ही अपना बुद्धि-

कौशल मान रहा था। मात्र यही नहीं, दर्शन के साथ-साथ धर्म के क्षेत्र में भी पारस्परिक विद्वेष और घृणा अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। स्वयं आचार्य हरिभद्र को भी इस विद्वेष भावना के कारण अपने दो शिष्यों की बलि देनी पड़ी थी। हरिभद्र की महानता और धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में उनके अवदान का सम्यक् मूल्यांकन तो उनके युग की इन विषम परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है। आचार्य हरिभद्र की महानता तो इसी में निहित है कि उन्होंने शुष्क वाग्जाल तथा घृणा एवं विद्वेष की उन विषम परिस्थितियों में भी समभाव, सत्यनिष्ठा, उदारता, समन्वयशीलता और सहिष्णुता का परिचय दिया। यहाँ यह अवश्य कहा जा सकता है कि समन्वयशीलता और उदारता के ये गुण उन्हें जैन दर्शन की अनेकान्त दृष्टि के रूप में विरासत में मिले थे, फिर भी उन्होंने अपने जीवन-व्यवहार और साहित्य-सृजन में इन गुणों को जिस शालीनता के साथ आत्मसात् किया था वैसे उदाहरण स्वयं जैन-परम्परा में भी विरल ही हैं।

आचार्य हरिभद्र का अवदान धर्म-दर्शन, साहित्य और समाज के क्षेत्र में कितना महत्त्वपूर्ण है इसकी चर्चा करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम उनके जीवनवृत्त और युगीन परिवेश के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से चर्चा कर लें।

## जीवनवृत्त

यद्यपि आचार्य हरिभद्र ने उदार दृष्टि से विपुल साहित्य का सृजन किया, किन्तु अपने सम्बन्ध में जानकारी देने के सम्बन्ध में वे अनुदार या संकोची ही रहे। प्राचीन काल के अन्य आचार्यों के समान ही उन्होंने भी अपने सम्बन्ध में स्वयं कहीं कुछ नहीं लिखा। उन्होंने ग्रन्थ-प्रशस्तियों में जो कुछ संकेत दिए हैं उनसे मात्र इतना ही ज्ञात होता है कि वे जैन धर्म की श्वेताम्बर शाखा के विद्याधर कुल से सम्बन्धित थे। इन्हें महत्तरा याकिनी नामक साध्वी की प्रेरणा से जैनधर्म का बोध प्राप्त हुआ था, अतः उन्होंने अपनी अनेक रचनाओं में अपने आपको याकिनीसूनु के रूप में प्रस्तुत किया है। इन्होंने अपने ग्रन्थों में अपने उपनाम 'भवविरह' का संकेत किया है। कुवलयमाला में उद्योतनसूरि ने इनका इस उपनाम के साथ स्मरण किया है। जिन ग्रन्थों में इन्होंने अपने इस 'भवविरह' उपनाम का संकेत किया है वे ग्रन्थ हैं —

अष्टक, षोडशक, पञ्चाशक, धर्मबिन्दु, ललितविस्तरा, शास्त्रवार्ता-समुच्चय, पञ्चवस्तुटीका, अनेकान्तजयपताका, योगबिन्दु, संसारदावानल-

स्तुति, उपदेशपद, धर्मसंग्रहणी और सम्बोध-प्रकरण। हरिभद्र के सम्बन्ध में उनके इन ग्रन्थों से इससे अधिक या विशेष सूचना उपलब्ध नहीं होती।

आचार्य हरिभद्र के जीवन के विषय में उल्लेख करने वाला सबसे प्राचीन ग्रन्थ भद्रेश्वर की कहावली है। इस ग्रन्थ में उनके जन्म-स्थान का नाम बंभपुनी उल्लिखित है, किन्तु अन्य ग्रन्थों में उनका जन्मस्थान चित्तौड़ या चित्रकूट माना जाता है। सम्भावना है कि ब्रह्मपुरी चित्तौड़ का कोई उपनगर या कस्बा रहा होगा। कहावली के अनुसार इनके पिता का नाम शंकर भट्ट और माता का नाम गंगा था। पं० सुखलाल जी का कथन है कि पिता के नाम के साथ भट्ट शब्द सूचित करता है कि वे जाति से ब्राह्मण थे। ब्रह्मपुरी में उनका निवास भी उनके ब्राह्मण होने के अनुमान की पुष्टि करता है। गणधरसार्धशतक और अन्य ग्रन्थों में उन्हें स्पष्टरूप से ब्राह्मण कहा गया है। धर्म और दर्शन की अन्य परम्पराओं के सन्दर्भ में उनके ज्ञान-गाम्भीर्य से भी इस बात की पुष्टि होती है कि उनका जन्म और शिक्षा-दीक्षा ब्राह्मण कुल में ही हुई होगी।

कहा यह जाता है कि उन्हें अपने पाण्डित्य पर गर्व था और अपनी विद्वत्ता के इस अभिमान में आकर ही उन्होंने यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि जिसका कहा हुआ समझ नही पाऊँगा उसी का शिष्य हो जाऊँगा। जैन अनुश्रुतियों में यह माना जाता है कि एक बार वे जब रात्रि में अपने घर लौट रहे थे तब उन्होंने एक वृद्धा साध्वी के मुख से प्राकृत की निम्न गाथा सुनी जिसका अर्थ वे नहीं समझ सके —

**चक्कीदुगं हरिपणमं पणमं चक्की केसवो चक्की।**
**केसव चक्की केसव दु चक्की केसी अ चक्की अ॥**

— आवश्यकनिर्युक्ति, ४२१

अपनी जिज्ञासुवृत्ति के कारण वे उस गाथा का अर्थ ज़ानने के लिए साध्वीजी के पास गये। साध्वीजी ने उन्हें अपने गुरु आचार्य जिन-दत्तसूरि के पास भेज दिया। आचार्य जिनदत्तसूरि ने उन्हें धर्म के दो भेद बताए — (१) सकामधर्म और (२) निष्कामधर्म। साथ ही यह भी बताया कि निष्काम या निस्पृह धर्म का पालन करने वाला ही भवविरह अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है। ऐसा लगता है कि प्राकृत भाषा और उसकी विपुल साहित्य-सम्पदा ने आचार्य हरिभद्र को जैन धर्म के प्रति आकर्षित किया हो और आचार्य द्वारा यह बताए जाने पर कि जैन साहित्य के तलस्पर्शी अध्ययन के लिये जैन मुनि की दीक्षा अपेक्षित है, अतः वे उसमें दीक्षित हो गए। वस्तुतः एक राजपुरोहित के घर में जन्म लेने के कारण वे

संस्कृत व्याकरण, साहित्य, वेद, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, दर्शन और ज्योतिष के ज्ञाता तो थे ही जैन परम्परा से जुड़ने पर उन्होंने जैन साहित्य का भी गम्भीर अध्ययन किया। मात्र यही नहीं, उन्होंने अपने इस अध्ययन को पूर्व अध्ययन से परिपुष्ट और समन्वित भी किया। उनके ग्रन्थ योगसमुच्चय, योगदृष्टि, शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय आदि इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि उन्होंने अपनी पारिवारिक परम्परा से प्राप्त ज्ञान और जैन परम्परा में दीक्षित होकर अर्जित किए ज्ञान को एक दूसरे का पूरक बनाकर ही इन ग्रन्थों की रचना की है। हरिभद्र को जैनधर्म की ओर आकर्षित करने वाली जैन साध्वी महत्तरा याकिनी थीं, अत: अपना धर्म-ऋण चुकाने के लिये उन्होंने अपने को महत्तरा याकिनीसूनु अर्थात् याकिनी का धर्मपुत्र घोषित किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में अनेकश: अपने साथ इस विशेषण का उल्लेख किया।[1] हरिभद्र के उपनाम के रूप में दूसरा विशेषण 'भवविरह' है।[2] उन्होंने अपनी अनेक रचनाओं में इस उपनाम का निर्देश किया है। विवेच्य ग्रन्थ पञ्चाशक के प्रत्येक पञ्चाशक के अन्त में हमें 'भवविरह' शब्द मिलता है। अपने नाम के साथ यह भवविरह विशेषण लगाने का क्या कारण रहा होगा, यह कहना तो कठिन है फिर भी इस विशेषण का सम्बन्ध उनके जीवन की तीन घटनाओं से जोड़ा जाता है। सर्वप्रथम आचार्य जिनदत्त ने उन्हें भवविरह अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने की प्रेरणा दी, अत: सम्भव है उनकी स्मृति में वे अपने को भवविरह का इच्छुक कहते हों। यह भी सम्भव है कि अपने प्रिय शिष्यों के विरह की स्मृति में उन्होंने यह उपनाम धारण किया हो। पं० सुखलालजी ने इस सम्बन्ध में निम्न तीन घटनाओं का संकेत किया है —

(१) धर्मस्वीकार का प्रसंग, (२) शिष्यों के वियोग का प्रसंग और (३) याचकों को दिये जाने वाले आशीर्वाद का प्रसंग तथा उनके द्वारा भवविरहसूरि चिरंजीवी हो, कहे जाने का प्रसंग।[3] इस तीसरे प्रसंग

---

१. आवश्यक टीका की अन्तिम प्रशस्ति में उन्होंने लिखा है — "समाप्ता चेयं शिष्यहिता नाम आवश्यकटीका। कृति: सिताम्बराचार्यजिनभट-निगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनी महत्तरासूनोरल्पमतेराचार्य हरिभद्रस्य।

२. जाइणिमयहरिआए रइया एएउ धम्मपुत्तेण।
हरिभद्दायरिएणं भवविरहं इच्छामाणेण ।।
— उपदेशपद की अन्तिम प्रशस्ति

३. चिरं जीवउ भवविरहसूरि त्ति। कहावली, पत्र ३०१अ

का निर्देश कहावली में है।

## हरिभद्र का समय

हरिभद्र के समय के सम्बन्ध में अनेक अवधारणाएँ प्रचलित हैं। अंचलगच्छीय आचार्य मेरुतुंग ने 'विचारश्रेणी' में हरिभद्र के स्वर्गवास के सन्दर्भ में निम्न प्राचीन गाथा को उद्धृत किया है —

**पंचसए पणसीए विक्कम कालाउ झत्ति अत्थिमओ ।**
**हरिभद्दसूरी भवियाणं दिसउ कल्लाणं ॥**

उक्त गाथा के अनुसार हरिभद्र का स्वर्गवास वि० सं० ५८५ में हुआ। इसी गाथा के आधार पर प्रद्युम्नसूरि ने अपने 'विचारसारप्रकरण' एवं समयसुन्दरगणि ने स्वसंगृहीत 'गाथासहस्री' में हरिभद्र का स्वर्गवास वि० सं० ५८५ में माना है। इसी आधार पर मुनि श्रीकल्याणविजयजी ने 'धर्म-संग्रहणी' की अपनी संस्कृत प्रस्तावना में हरिभद्र का सत्ता-समय वि० सं० की छठी शताब्दी स्थापित किया है।

कुलमण्डनसूरि ने 'विचारअमृतसंग्रह' में और धर्मसागर उपाध्याय ने तपागच्छगुर्वावली में वीर-निर्वाण-संवत् १०५५ में हरिभद्र का समय निरूपित किया है —

**पणपन्नदससंएहिं हरिसूरि आसि तत्थ पुव्वकई ।**

परम्परागत धारणा के अनुसार वी० नि० के ४७० वर्ष पश्चात् वि० सं० का प्रारम्भ मानने से (४७० + ५८५ = १०५५) यह तिथि पूर्वोक्त गाथा के अनुरूप ही वि० सं० ५८५ में हरिभद्र का स्वर्गवास निरूपित करती है।

आचार्य हरिभद्र का स्वर्गवास वि० सं० की छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ, इसका समर्थन निम्न दो प्रमाण करते हैं —

(१) तपागच्छ गुर्वावली में मुनिसुन्दरसूरि ने हरिभद्रसूरि को मानदेवसूरि द्वितीय का मित्र बताया है, जिनका समय विक्रम की छठी शताब्दी माना जाता है। अतः यह उल्लेख पूर्व गाथोक्त समय से अपनी संगति रखता है।

(२) इस गाथोक्त समय के पक्ष में दूसरा सबसे महत्त्वपूर्ण साक्ष्य हरिभद्र का 'धूर्ताख्यान' है, जिसकी चर्चा मुनि जिनविजयजी ने 'हरिभद्रसूरि का समय निर्णय' (पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, १९८८) में नहीं की थी। सम्भवतः उन्हें निशीथचूर्णि में धूर्ताख्यान का उल्लेख सम्बन्धी यह तथ्य ज्ञात नहीं था। यह तथ्य मुझे 'धूर्ताख्यान' के मूल-स्रोत की खोज करते समय उपलब्ध हुआ है। धूर्ताख्यान के समीक्षात्मक अध्ययन में प्रोफेसर ए० एन०

उपाध्ये ने हरिभद्र के प्राकृत धूर्ताख्यान का संघतिलक के संस्कृत धूर्ताख्यान पर और अज्ञातकृत मरुगुर्जर में निबद्ध धूर्ताख्यान पर प्रभाव की चर्चा की है। इस प्रकार उन्होंने धूर्ताख्यान को हरिभद्र की मौलिक रचना माना है। यदि धूर्ताख्यान की कथा का निबन्धन हरिभद्र ने स्वयं अपनी स्वप्रसूत कल्पना से किया है तो वे निश्चित ही निशीथभाष्य और निशीथचूर्णि के लेखन-काल से पूर्ववर्ती हैं। क्योंकि इन दोनों ग्रन्थों में यह कथा उपलब्ध है। भाष्य में इस कथा का सन्दर्भ निम्न रूप में उपलब्ध होता है —

**सस-एलासाढ-मूलदेव, खण्डा य जुण्णउज्जाणे ।**
**सामत्थणे को भत्तं, अक्खात जो ण सद्दहति ॥**
**चोरभया गावीओ, पोट्टलए बंधिऊण आणेमि ।**
**तिलअइरूढकुहाडे, वणगय मलणा य तेल्लोदा ॥**
**वणगयपाटण कुंडिय, छम्मास हत्थिलग्गणं पुच्छे ।**
**रायरयग मो वादे, जहि पेच्छइ ते इमे वत्था ॥**

भाष्य की उपर्युक्त गाथाओं से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाष्यकार को सम्पूर्ण कथानक जो कि चूर्णि और हरिभद्र के धूर्ताख्यान में है, पूरी तरह ज्ञात है, वे मृषावाद के उदाहरण के रूप में इसे प्रस्तुत करते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि सन्दर्भ देने वाला ग्रन्थ उस आख्यान का आद्यस्रोत नहीं हो सकता। भाष्यों में जिस प्रकार आगमिक अन्य आख्यान सन्दर्भ रूप में आये हैं, उसी प्रकार यह आख्यान भी आया है। अतः यह निश्चित है कि यह आख्यान भाष्य से पूर्ववर्ती है। चूर्णि तो स्वयं भाष्य पर टीका है और उसमें उन्हीं भाष्य गाथाओं की व्याख्या के रूप में लगभग तीन पृष्ठों में यह आख्यान आया है, अतः यह भी निश्चित है कि चूर्णि भी इस आख्यान का मूलस्रोत नहीं है। पुनः चूर्णि के इस आख्यान के अन्त में स्पष्ट लिखा है — "सेसं धुत्तावखाणगाहाणुसारेण" ( पृ० १०५ )। अतः निशीथभाष्य और चूर्णि इस आख्यान के आदि स्रोत नहीं माने जा सकते। किन्तु हमें निशीथ-भाष्य और निशीथचूर्णि से पूर्व रचित किसी ऐसे ग्रन्थ की कोई जानकारी नहीं है, जिसमें यह आख्यान आया हो।

जब तक अन्य किसी आदिस्रोत के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं है, तब तक हरिभद्र के धूर्ताख्यान को लेखक की स्वकल्पनाप्रसूत मौलिक रचना क्यों नहीं माना जाये। किन्तु ऐसा मानने पर भाष्यकार और चूर्णिकार, इन दोनों से ही हरिभद्र को पूर्ववर्ती मानना होगा और इस सम्बन्ध में विद्वानों की जो अभी तक अवधारणा बनी हुई है वह खण्डित हो जायेगी। यद्यपि उपलब्ध सभी पट्टावलियों तथा उनके ग्रन्थ लघुक्षेत्रसमास की वृत्ति में हरिभद्र का स्वर्गवास वीर-निर्वाण संवत् १०५५ या विक्रम संवत् ५८५ तथा

तदनुरूप ईस्वी सन् ५२९ में माना जाता है। किन्तु पट्टावलियों में उन्हें विशेषावश्यकभाष्य के कर्त्ता जिनभद्र एवं जिनदास का पूर्ववर्ती भी माना गया है। अब हमारे सामने दो ही विकल्प हैं या तो पट्टावलियों के अनुसार हरिभद्र को जिनभद्र और जिनदास के पूर्व मानकर उनकी कृतियों पर विशेष रूप से जिनदास महत्तर पर हरिभद्र का प्रभाव सिद्ध करें या फिर धूर्ताख्यान के मूलस्रोत को अन्य किसी पूर्ववर्ती रचना या लोक-परम्परा में खोजें। यह तो स्पष्ट है कि धूर्ताख्यान चाहे वह निशीथचूर्णि का हो या हरिभद्र का, स्पष्ट ही पौराणिक युग के पूर्व की रचना नहीं है। क्योंकि वे दोनों ही सामान्यतया श्रुति, पुराण, भारत (महाभारत) और रामायण का उल्लेख करते हैं। हरिभद्र ने तो एक स्थान पर विष्णुपुराण, महाभारत के अरण्यपर्व और अर्थशास्त्र का भी उल्लेख किया है, अतः निश्चित ही यह आख्यान इनकी रचना के बाद ही रचा गया होगा। उपलब्ध आगमों में अनुयोगद्वार महाभारत और रामायण का उल्लेख करता है। अनुयोगद्वार की विषयवस्तु के अवलोकन से ऐसा लगता है कि अपने अन्तिम रूप में वह लगभग पाँचवीं शती की रचना है। धूर्ताख्यान में 'भारत' नाम आता है, 'महाभारत' नहीं। अतः इतना निश्चित है कि धूर्ताख्यान के कथानक के आद्यस्रोत की पूर्व सीमा ईसा की चौथी या पाँचवीं शती से आगे नहीं जा सकती। पुनः निशीथभाष्य और निशीथचूर्णि में उल्लेख होने से धूर्ताख्यान के आद्यस्रोत की अपर-अन्तिम सीमा छठी-सातवीं शती के पश्चात् नहीं हो सकती। इन ग्रन्थों का रचनाकाल ईसा की सातवीं शती का उत्तरार्ध हो सकता है। अतः धूर्ताख्यान का आद्यस्रोत ईसा की पाँचवीं से सातवीं शती के बीच का है।

यद्यपि प्रमाणाभाव में निश्चितरूप से कुछ कहना कठिन है, किन्तु एक कल्पना यह भी की जा सकती है कि हरिभद्र की गुरु-परम्परा जिनभद्र और जिनदास की हो, आगे कहीं भ्रान्तिवश जिनभद्र का जिनभट और जिनदास का जिनदत्त हो गया हो, क्योंकि 'द्' और 'ट्ट' में के लेखन में और 'त्त' और 'स' के लेखन में हस्तप्रतों में बहुत ही कम अन्तर रहता है। पुनः हरिभद्र जैसे प्रतिभाशाली शिष्य का गुरु भी प्रतिभाशाली होना चाहिए, जब-कि हरिभद्र के पूर्व जिनभट्ट और जिनदत्त के होने के अन्यत्र कोई संकेत नहीं मिलते हैं। हो सकता है कि धूर्ताख्यान हरिभद्र की युवावस्था की रचना हो और उसका उपयोग उनके गुरुबन्धु सिद्धसेन क्षमाश्रमण (छठी शती) ने अपने निशीथभाष्य में तथा उनके गुरु जिनदासगणि महत्तर ने निशीथचूर्णि में किया हो। धूर्ताख्यान को देखने से स्पष्ट रूप से यह लगता है कि यह हरिभद्र के युवाकाल की रचना है, क्योंकि उसमें उनकी जो व्यंग्यात्मक

शैली है, वह उनके परवर्ती ग्रन्थों में नहीं पायी जाती। हरिभद्र के गुरु जिनभद्र की परम्परा में जिनदास हुए हों, यह मात्र मेरी कल्पना नहीं है। डॉ० हर्मन जैकोबी और अन्य कुछ विद्वानों ने भी हरिभद्र के गुरु का नाम जिनभद्र माना है। यद्यपि मुनि श्री जिनविजयजी ने इसे उनकी भ्रान्ति ही माना है। वास्तविकता जो भी हो, किन्तु यदि हम धूर्ताख्यान को हरिभद्र की मौलिक रचना मानते हैं तो उन्हें जिनभद्र (लगभग शक संवत् ५३०) और सिद्धसेन क्षमाश्रमण (लगभग शक संवत् ५५०) तथा उनके शिष्य जिन-दासगणि महत्तर (शक संवत् ५९८ या वि० सं० ७३३) के पूर्ववर्ती या कम से कम समकालिक तो मानना ही होगा।

यदि हम हरिभद्र को सिद्धसेन क्षमाश्रमण एवं जिनदासगणि महत्तर का पूर्ववर्ती मानते हैं तब तो उनका समय विक्रम संवत् ५८५ माना जा सकता है। मुनि जयसुन्दरविजयजी शास्त्रवार्तासमुच्चय की भूमिका में उक्त तिथि का समर्थन करते हुए लिखते हैं — प्राचीन अनेक ग्रन्थकारों ने श्री हरिभद्रसूरि को ५८५ वि० सं० में होना बताया है। इतना ही नहीं, किन्तु श्री हरिभद्रसूरि ने स्वयं भी अपने समय का उल्लेख संवत्-तिथि-वार-मास और नक्षत्र के साथ लघुक्षेत्रसमास की वृत्ति में किया है, जिस वृत्ति के ताडपत्रीय जैसलमेर की प्रत का परिचय मुनि श्री पुण्यविजय सम्पादित 'जैसलमेर कलेक्शन' पृष्ठ ६८ में इस प्रकार प्राप्य है : "क्रमांक १९६, जम्बू-द्वीपक्षेत्रसमासवृत्ति, पत्र २६, भाषा : प्राकृत-संस्कृत, कर्ता : हरिभद्र आचार्य, प्रतिलिपि ले० सं० अनुमानतः १४वीं शताब्दी।"

इस प्रति के अन्त में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है —

**इति क्षेत्रसमासवृत्तिः समाप्ता। विरचिता श्री हरिभद्राचार्यैः ॥ छ ॥**
**लघुक्षेत्रसमासस्य वृत्तिरेषा समासतः।**
**रचिताबुधबोधार्थं श्री हरिभद्रसूरिभिः ॥ १ ॥**
**पञ्चाशितिकवर्षे विक्रमतो व्रज्रति शुक्लपञ्चम्याम्।**
**शुक्रस्य शुक्रवारे शस्ये पुष्ये च नक्षत्रे ॥ २ ॥**

ठीक इसी प्रकार का उल्लेख अहमदाबाद, संवेगी उपाश्रय के हस्तलिखित भण्डार की सम्भवतः पन्द्रहवीं शताब्दी में लिखी हुई क्षेत्र-समास की कागज की एक प्रति में उपलब्ध होता है।

दूसरी गाथा में स्पष्ट शब्दों में श्री हरिभद्रसूरि ने लघुक्षेत्रसमास-वृत्ति का रचनाकाल वि० सं० (५) ८५, पुष्यनक्षत्र शुक्र ( ज्येष्ठ ) मास, शुक्रवार-शुक्लपञ्चमी बताया है। यद्यपि यहाँ वि० सं० ८५ का उल्लेख है तथापि जिन वार-तिथि-मास-नक्षत्र का यह उल्लेख है उनसे वि० सं०

५८५ का ही मेल बैठता है। अहमदाबाद वेधशाला के प्राचीन ज्योतिष विभाग के अध्यक्ष श्री हिम्मतराम जानी ने ज्योतिष और गणित के आधार पर जाँच करके यह बताया है कि उपर्युक्त गाथा में जिन वार-तिथि इत्यादि का उल्लेख है, वह वि० सं० ५८५ के अनुसार बिलकुल ठीक है, ज्योतिषशास्त्र के गणितानुसार प्रामाणिक है।

इस प्रकार श्री हरिभद्रसूरि महाराज ने स्वयं ही अपने समय की अत्यन्त प्रामाणिक सूचना दे रखी है, तब उससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है जो उनके इस समय की सिद्धि में बाधा डाल सके ? शंका हो सकती है कि "यह गाथा किसी अन्य ने प्रक्षिप्त की होगी", किन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि प्रक्षेप करने वाला केवल संवत् का उल्लेख कर सकता है किन्तु उसके साथ प्रामाणिक वार-तिथि आदि का उल्लेख नहीं कर सकता। हाँ, यदि धर्मकीर्ति आदि का समय इस समय में बाधा उत्पन्न कर रहा हो तो धर्मकीर्ति आदि के समयोल्लेख के आधार पर श्री हरिभद्रसूरि को विक्रम की छठी शताब्दी से खींचकर आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ले जाने की अपेक्षा उचित यह है कि श्री हरिभद्रसूरि के इस अत्यन्त प्रामाणिक समय-उल्लेख के बल से धर्मकीर्ति आदि को ही छठी शताब्दी के पूर्वार्ध या उत्तरार्ध में ले जाया जाय।

किन्तु मुनि श्रीजयसुन्दरविजयजी की उपर्युक्त सूचना के अनुसार यह जम्बूद्वीप क्षेत्र समासवृत्ति का रचनाकाल है। पुनः इसमें मात्र ८५ का उल्लेख है ५८५ का नहीं। इत्सिंग आदि का समय तो सुनिश्चित है। पुनः समस्या न केवल धर्मकीर्ति आदि के समय की है, अपितु जैन-परम्परा के सुनिश्चित समयवाले जिनभद्र, सिद्धसेनक्षमाश्रमण एवं जिनदासगणि महत्तर की भी है — इनमें से कोई भी विक्रम संवत् ५८५ से पूर्ववर्ती नहीं है जबकि इनके नामोल्लेख सहित ग्रन्थावतरण हरिभद्र के ग्रन्थों में मिलते हैं। इनमें सबसे पूर्ववर्ती जिनभद्र का सत्ता-समय भी शक संवत् ५३० अर्थात् विक्रम संवत् ६६५ के लगभग है। अतः हरिभद्र के स्वर्गवास का समय विक्रम संवत् ५८५ किसी भी स्थिति में प्रामाणिक सिद्ध नहीं होता।

हरिभद्र को जिनभद्रगणि, सिद्धसेनगणि और जिनदासमहत्तर का समकालिक मानने पर पूर्वोक्त गाथा के वि० सं० ५८५ को शक संवत् मानना होगा और इस आधार पर हरिभद्र का समय ईसा की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध सिद्ध होता है। हरिभद्र की कृति दशवैकालिकवृत्ति में विशेषावश्यकभाष्य की अनेक गाथाओं का उल्लेख यही स्पष्ट करता है कि हरिभद्र का सत्ता-समय विशेषावश्यकभाष्य के पश्चात् ही होगा। भाष्य का

रचनाकाल शक संवत् ५३१ या उसके कुछ पूर्व का है। अतः यदि उपर्युक्त गाथा के ५८५ को शक संवत् मान लिया जाय तो दोनों में संगति बैठ सकती है। पुनः हरिभद्र की कृतियों में नन्दीचूर्णि से भी कुछ पाठ अवतरित हुए हैं। नन्दीचूर्णि के कर्त्ता जिनदासगणिमहत्तर ने उसका रचनाकाल शक संवत् ५९८ बताया है। अतः हरिभद्र का सत्ता-समय शक संवत् ५९८ तदनुसार ई० सन् ६७६ के बाद ही हो सकता है। यदि हम हरिभद्र के काल सम्बन्धी पूर्वोक्त गाथा के विक्रम संवत् को शक संवत् मानकर उनका काल ईसा की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध एवं आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध मानें तो नन्दीचूर्णि के अवतरणों की संगति बैठाने में मात्र २०-२५ वर्ष का ही अन्तर रह जाता है। अतः इतना निश्चित है कि हरिभद्र का काल ईस्वी सन् की लगभग आठवीं शताब्दी ही सिद्ध होगा।

इससे हरिभद्र की कृतियों में उल्लिखित कुमारिल, भर्तृहरि, धर्मकीर्ति, वृद्धधर्मोत्तर आदि से उनकी समकालिकता मानने में भी कोई बाधा नहीं आती। हरिभद्र ने जिनभद्र और जिनदास के जो उल्लेख किये हैं और हरिभद्र की कृतियों में इनके जो अवतरण मिलते हैं उनमें भी इस तिथि को मानने पर कोई बाधा नहीं आती। अतः विद्वानों को जिनविजयजी के निर्णय को मान्य करना होगा।

पुनः यदि हम यह मान लेते हैं कि निशीथचूर्णि में उल्लिखित प्राकृत धूर्ताख्यान किसी पूर्वाचार्य की कृति थी और उसके आधार पर ही हरिभद्र ने अपने प्राकृत धूर्ताख्यान की रचना की तो ऐसी स्थिति में हरिभद्र के समय को निशीथचूर्णि के रचनाकाल ईस्वी सन् ६७६ से आगे लाया जा सकता है। मुनि श्री जिनविजयजी ने अनेक आन्तर और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर अपने ग्रन्थ 'हरिभद्रसूरि का समय निर्णय' में हरिभद्र के समय को ई० सन् ७००-७७० स्थापित किया है। यदि पूर्वोक्त गाथा के अनुसार हरिभद्र का समय वि० सं० ५८५ मानते हैं तो जिनविजयजी द्वारा निर्धारित समय और गाथोक्त समय में लगभग २०० वर्षों का अन्तर रह जाता है। इसी क्रम में मुनि धनविजयजी ने 'चतुर्थस्तुतिनिर्णयशंकोद्धार' में 'रत्नसंचय-प्रकरण' की निम्न गाथा का उल्लेख किया है –

**पणपण्णबारससए हरिभद्दोसूरि आसि पुव्वकाए।**

इस गाथा के आधार पर हरिभद्र का समय वीर निर्वाण संवत् १२५५ अर्थात् वि० सं० ७८५ या ईस्वी सन् ७२८ आता है। इस गाथा में उनके स्वर्गवास का उल्लेख नहीं है, अतः इसे उनका सत्ता-समय माना जा सकता है। यद्यपि उक्त गाथा की पुष्टि हेतु हमें अन्य कोई उल्लेख उपलब्ध

नहीं होता। यदि हम इसी प्रसंग में वीर निर्वाण संवत् के सम्बन्ध में चली आ रही ६० वर्ष की भूल को संशोधित कर वीर-निर्वाण को वि० पू० ४१० या ई० पू० ४६७ मानते हैं जैसा कि मैंने अपने एक निबन्ध ( देखें : सागर जैन-विद्या भारती, भाग १ ) में सिद्ध किया है, तो ऐसी स्थिति में हरिभद्र का स्वर्गवास काल १२५५ — ४६७ = ७८८ ई० सिद्ध हो जाता है और यह काल जिनविजयजी द्वारा निर्धारित हरिभद्र के सत्ता-समय ईस्वी सन् ७०० से ७७० के अधिक निकट है।

हरिभद्र के उपर्युक्त समय-निर्णय के सम्बन्ध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण समस्या खड़ी होती है सिद्धर्षिकृत उपमितिभवप्रपंचकथा के उस उल्लेख से जिसमें सिद्धर्षि ने हरिभद्र को अपना धर्मबोधकर गुरु कहा है। उन्होंने यह कथा वि० सं० ९६२ में ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी, गुरुवार के दिन पूर्ण की थी। सिद्धर्षि के द्वारा लिखे गए इस तिथि के अनुसार यह काल ९०६ ई० सिद्ध होता है तथा उसमें बताए गए वार, नक्षत्र आदि भी ज्योतिष की गणना से सिद्ध होते हैं। सिद्धर्षि उपमितिभवप्रपंचकथा में हरिभद्र के विषय में लिखते हैं कि उन्होंने ( हरिभद्र ने ) अनागत अर्थात् भविष्य में होने वाले मुझको जानकर ही मेरे लिए चैत्यवंदनसूत्र का आश्रय लेकर 'ललितविस्तरा-वृत्ति' की रचना की। यद्यपि कुछ जैन कथानकों में सिद्धर्षि और हरिभद्र के पारस्परिक सम्बन्ध को सिद्ध किया गया है और यह बताया गया है कि सिद्धर्षि हरिभद्र के हस्तदीक्षित शिष्य थे, किन्तु सिद्धर्षि का यह कथन कि 'भविष्य में होने वाले मुझको जानकर ···· ····' यही सिद्ध करता है कि आचार्य हरिभद्र उनके परम्परा-गुरु थे, साक्षात् गुरु नहीं।

स्वयं सिद्धर्षि ने भी हरिभद्र को कालव्यवहित अर्थात् पूर्वकाल में होने वाले तथा अपने को अनागत अर्थात् भविष्य में होने वाला कहा है। अतः दोनों के बीच काल का पर्याप्त अन्तर होना चाहिए। यद्यपि यह सत्य है कि सिद्धर्षि को उनके ग्रन्थ ललितविस्तरा के अध्ययन से जिन धर्म में स्थिरता हुई थी, इसलिए उन्होंने हरिभद्र को धर्मबोध प्रदाता गुरु कहा, साक्षात् गुरु नहीं कहा। मुनि जिनविजयजी ने भी हरिभद्र को सिद्धर्षि का साक्षात् गुरु नहीं माना है।

'कुवलयमाला' के कर्ता उद्योतनसूरि ने अपने इस ग्रन्थ में, जो शक संवत् ६९९ अर्थात् ई० सन् ७७७ में निर्मित है, हरिभद्र एवं उनकी कृति 'समराइच्चकहा' तथा उनके भवविरह नाम का उल्लेख किया है। अतः हरिभद्र ई० सन् ७७७ के पूर्व हुए हैं, इसमें कोई विवाद नहीं रह जाता है।

हरिभद्र, सिद्धर्षि और अकलंक के पूर्ववर्ती हैं, इस सम्बन्ध में एक

अन्य प्रमाण यह है कि सिद्धर्षि ने न्यायावतार की टीका में अकलंक द्वारा मान्य स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क — इन तीन प्रमाणों की चर्चा की है। अकलंक के पूर्व जैनदर्शन में इन तीन प्रमाणों की चर्चा अनुपस्थित है। हरिभद्र ने भी कहीं इन तीन प्रमाणों की चर्चा नहीं की है। अत: हरिभद्र, अकलंक और सिद्धर्षि से पूर्ववर्ती हैं। अकलंक का समय विद्वानों ने ई० सन् ७२०-७८० स्थापित किया है। अत: हरिभद्र या तो अकलंक के पूर्ववर्ती या वरिष्ठ समकालीन ही सिद्ध होते हैं।

## हरिभद्र का व्यक्तित्व

हरिभद्र का व्यक्तित्व अनेक सद्‌गुणों की पूँजीभूत भास्वर प्रतिभा है। उदारता, सहिष्णुता, समदर्शिता ऐसे सद्‌गुण हैं जो उनके व्यक्तित्व को महनीयता प्रदान करते हैं। उनका जीवन समभाव की साधना को समर्पित है। यही कारण है कि विद्या के बल पर उन्होंने धर्म और दर्शन के क्षेत्र में नए विवाद खड़े करने के स्थान पर उनके मध्य समन्वय साधने का पुरुषार्थ किया है। उनके लिए 'विद्या विवादाय' न होकर पक्ष-व्यामोह से ऊपर उठ-कर सत्यान्वेषण करने हेतु है। हरिभद्र पक्षाग्रही न होकर सत्याग्रही हैं, अत: उन्होंने मधुसंचयी भ्रमर की तरह विविध धार्मिक और दार्शनिक परम्पराओं से बहुत कुछ लिया है और उसे जैन परम्परा की अनेकान्त दृष्टि से समन्वित भी किया है। यदि उनके व्यक्तित्व की महानता को समझना है तो विविध क्षेत्रों में उनके अवदानों का मूल्यांकन करना होगा और उनके अवदान का वह मूल्यांकन ही उनके व्यक्तित्व का मूल्यांकन होगा।

## धर्म और दर्शन के क्षेत्र में हरिभद्र का अवदान

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में हरिभद्र का अवदान क्या है? यह समझने के लिये इस चर्चा को हम निम्न बिन्दुओं में विभाजित कर रहे हैं —

(१) दार्शनिक एवं धार्मिक परम्पराओं का निष्पक्ष प्रस्तुतीकरण।

(२) अन्य दर्शनों की समीक्षा में शिष्ट भाषा का प्रयोग तथा अन्य धर्मों एवं दर्शनों के प्रवर्तकों के प्रति बहुमानवृत्ति।

(३) शुष्क दार्शनिक समालोचनाओं के स्थान पर उन अव-धारणाओं के सार-तत्त्व और मूल उद्देश्यों को समझने का प्रयत्न।

(४) अन्य दार्शनिक मान्यताओं में निहित सत्यों को एवं इनकी मूल्यवत्ता को स्वीकार करते हुए जैन दृष्टि के साथ उनके समन्वय का प्रयत्न।

(५) अन्य दार्शनिक परम्पराओं के ग्रन्थों का निष्पक्ष अध्ययन करके उन पर व्याख्या और टीका का प्रणयन करना।

(६) उदार और समन्वयवादी दृष्टि रखते हुए पौराणिक अन्ध-विश्वासों का निर्भीक रूप से खण्डन करना।

(७) दर्शन और धर्म के क्षेत्र में आस्था या श्रद्धा की अपेक्षा तर्क एवं युक्ति पर अधिक बल; किन्तु शर्त यह कि तर्क और युक्ति का प्रयोग अपने मत की पुष्टि के लिए नहीं, अपितु सत्य की खोज के लिए हो।

(८) धर्म साधना को कर्मकाण्ड के स्थान पर चरित्र की निर्मलता के साथ जोड़ने का प्रयत्न।

(९) मुक्ति के सम्बन्ध में एक उदार और व्यापक दृष्टिकोण।

(१०) उपास्य के नाम-भेद को गौण मानकर उसके गुणों पर बल।

## अन्य दार्शनिक एवं धार्मिक परम्पराओं का निष्पक्ष प्रस्तुतीकरण

जैन परम्परा में अन्य परम्पराओं के विचारकों के दर्शन एवं धर्मोपदेश के प्रस्तुतीकरण का प्रथम प्रयास हमें ऋषिभाषित ( इसिभासियाइं-लगभग ई० पू० ३ शती ) में परिलक्षित होता है। इस ग्रंथ में अन्य धार्मिक और दार्शनिक परम्पराओं के प्रवर्तकों, यथा — नारद, असितदेवल, याज्ञवल्क्य, सारिपुत्र आदि को अर्हत् ऋषि कहकर सम्बोधित किया गया है और उनके विचारों को निष्पक्ष रूप में प्रस्तुत किया गया है। निश्चय ही वैचारिक उदारता एवं अन्य परम्पराओं के प्रति समादर भाव का यह अति प्राचीन काल का अन्यतम और मेरी दृष्टि में एकमात्र उदाहरण है। अन्य परम्पराओं के प्रति ऐसा समादर भाव वैदिक और बौद्ध परम्परा के प्राचीन साहित्य में हमें कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। स्वयं जैन परम्परा में भी यह उदार दृष्टि अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकी। परिणामस्वरूप यह महान् ग्रन्थ जो कभी अंग साहित्य का एक भाग था, वहाँ से अलगकर परिपार्श्व में डाल दिया गया। यद्यपि सूत्रकृतांग, भगवती आदि आगम-ग्रन्थों में तत्कालीन अन्य परम्पराओं के विवरण उपलब्ध होते हैं, किन्तु उनमें अन्य दर्शनों और परम्पराओं के प्रति वह उदारता और शालीनता परिलक्षित नहीं होती, जो ऋषिभाषित में थी। सूत्रकृतांग अन्य दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं का विवरण तो देता है किन्तु उन्हें मिथ्या, अनार्य या असंगत कहकर उनकी आलोचना भी करता है। भगवती में विशेष रूप में मंखलि-गोशालक के प्रसंग में तो जैन परम्परा सामान्य शिष्टता का भी उल्लंघन कर देती है। ऋषिभाषित में जिस मंखलि-गोशालक को अर्हत् ऋषि के रूप में सम्बोधित किया गया था, भगवती में उसी का अशोभनीय चित्र प्रस्तुत किया गया है। यहाँ यह चर्चा मैं केवल इसलिए कर रहा हूँ कि हम हरिभद्र की उदारदृष्टि का सम्यक् मूल्यांकन कर सकें और यह जान सकें कि न

केवल जैन परम्परा में, अपितु समग्र भारतीय दर्शन में उनका अवदान कितना महान् है।

जैन दार्शनिकों में सर्वप्रथम सिद्धसेन दिवाकर ने अपने ग्रन्थों में अन्य दार्शनिक मान्यताओं का विवरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने बत्तीस द्वात्रिंशिकाएँ लिखी हैं, उनमें नवीं में वेदवाद, दसवीं में योगविद्या, बारहवीं में न्यायदर्शन, तेरहवीं में सांख्यदर्शन, चौदहवीं में वैशेषिकदर्शन, पन्द्रहवीं में बौद्धदर्शन और सोलहवीं में नियतिवाद की चर्चा है, किन्तु सिद्धसेन ने यह विवरण समीक्षात्मक दृष्टि से ही प्रस्तुत किया है। वे अनेक प्रसंगों में इन अवधारणाओं के प्रति चुटीले व्यंग्य भी कसते हैं। वस्तुतः दार्शनिकों में अन्य दर्शनों के जानने और उनका विवरण प्रस्तुत करने की जो प्रवृत्ति विकसित हुई थी उसका मूल आधार विरोधी मतों का निराकरण करना ही था। सिद्धसेन भी इसके अपवाद नहीं हैं। साथ ही पं० सुखलालजी संघवी का यह भी कहना है कि सिद्धसेन की कृतियों में अन्य दर्शनों का जो विवरण उपलब्ध है वह भी पाठ-भ्रष्टता और व्याख्या के अभाव के कारण अधिक प्रामाणिक नहीं है।[१] यद्यपि सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि हरिभद्र के पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने अनेकान्त दृष्टि के प्रभाव के कारण कहीं-कहीं वैचारिक उदारता का परिचय दिया है, फिर भी ये सभी विचारक इतना तो मानते ही हैं कि अन्य दर्शन ऐकान्तिक दृष्टि का आश्रय लेने के कारण मिथ्या-दर्शन हैं जबकि जैन दर्शन अनेकान्त-दृष्टि अपनाने के कारण सम्यग्दर्शन हैं। वस्तुतः वैचारिक समन्वयशीलता और धार्मिक उदारता की जिस ऊँचाई का स्पर्श हरिभद्र ने अपनी कृतियों में किया है वैसा उनके पूर्ववर्ती जैन एवं जैनेतर दार्शनिकों में हमें परिलक्षित नहीं होता। यद्यपि हरिभद्र के परवर्ती जैन दार्शनिकों में हेमचन्द्र, यशोविजय, आनन्दघन आदि अन्य धर्मों और दर्शनों के प्रति समभाव और उदारता का परिचय देते हैं, किन्तु उनकी यह उदारता उन पर हरिभद्र के प्रभाव को ही सूचित करती है। उदाहरण के रूप में हेमचन्द्र अपने महादेव-स्तोत्र (४४) में निम्न श्लोक प्रस्तुत करते हैं —

**भव-बीजांकुरजनना रागाद्याक्षयमुपागता यस्य।**
**ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥**

वस्तुतः २५०० वर्ष के सुदीर्घ जैन इतिहास में ऐसा कोई भी समन्वयवादी उदारचेता व्यक्तित्व नहीं है, जिसे हरिभद्र के समतुल्य कहा जा सके। यद्यपि हरिभद्र के पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक आचार्यों ने जैन

---

१. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पं० सुखलालजी, पृ० ४०।

दर्शन की अनेकान्त दृष्टि के प्रभाव के परिणामस्वरूप उदारता का परिचय अवश्य दिया है फिर भी उनकी सृजनधर्मिता उस स्तर की नहीं है जिस स्तर की हरिभद्र की है। उनकी कृतियों में दो-चार गाथाओं या श्लोकों में उदारता के चाहे संकेत मिल जायें, किन्तु ऐसे कितने हैं जिन्होंने समन्वयात्मक और उदार दृष्टि के आधार पर षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय और योगदृष्टिसमुच्चय जैसी महान् कृतियों का प्रणयन किया हो।

अन्य दार्शनिक और धार्मिक परम्पराओं का अध्ययन मुख्यत: दो दृष्टियों से किया जाता है — एक तो उन परम्पराओं की आलोचना करने की दृष्टि से और दूसरा उनका यथार्थ परिचय पाने और उनमें निहित सत्य को समझने की दृष्टि से। आलोचना एवं समीक्षा की दृष्टि से लिखे गए ग्रन्थों में भी आलोचना के शिष्ट और अशिष्ट ऐसे दो रूप मिलते हैं। साथ ही जब ग्रन्थकर्त्ता का मुख्य उद्देश्य आलोचना करना होता है, तो वह अन्य परम्पराओं के प्रस्तुतीकरण में न्याय नहीं करता है और उनकी अवधारणाओं को भ्रान्तरूप में प्रस्तुत करता है। उदाहरण के रूप में स्याद्वाद और शून्यवाद के आलोचकों ने कभी भी उन्हें सम्यक् रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया है। यद्यपि हरिभद्र ने भी अपनी कुछ कृतियों में अन्य दर्शनों एवं धर्मों की समीक्षा की है। अपने ग्रन्थ धूर्ताख्यान में वे धर्म और दर्शन के क्षेत्र में पनप रहे अन्धविश्वासों का सचोट खण्डन भी करते हैं, फिर भी इतना निश्चित है कि वे न तो अपने विरोधी के विचारों को भ्रान्त रूप में प्रस्तुत करते हैं और न उनके सम्बन्ध में अशिष्ट भाषा का प्रयोग ही करते हैं।

## दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों की परम्परा और उसमें हरिभद्र का स्थान

यदि हम भारतीय दर्शन के समग्र इतिहास में सभी प्रमुख दर्शनों के सिद्धान्त को एक ही ग्रन्थ में पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने के क्षेत्र में हुए प्रयत्नों को देखते हैं, तो हमारी दृष्टि में हरिभद्र ही वे प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने सभी प्रमुख भारतीय दर्शनों की मान्यताओं को निष्पक्ष रूप से एक ही ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की कोटि का और उससे प्राचीन दर्शन संग्राहक कोई अन्य ग्रन्थ हमें प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

हरिभद्र के पूर्व तक जैन, बौद्ध और वैदिक — तीनों ही परम्पराओं के किसी भी आचार्य ने अपने काल के सभी दर्शनों का निष्पक्ष परिचय देने की दृष्टि से किसी भी ग्रन्थ की रचना नहीं की थी। उनके ग्रन्थों में अपने विरोधी मतों का प्रस्तुतीकरण मात्र उनके खण्डन की दृष्टि से ही हुआ है।

जैन परम्परा में भी हरिभद्र के पूर्व सिद्धसेन दिवाकर और समन्तभद्र ने अन्य दर्शनों के विवरण तो प्रस्तुत किये हैं, किन्तु उनकी दृष्टि भी खण्डन-परक ही है। विविध दर्शनों का विवरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से मल्लवादी का नयचक्र महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है किन्तु उसका मुख्य उद्देश्य भी प्रत्येक दर्शन की अपूर्णता को सूचित करते हुए अनेकान्तवाद की स्थापना करना है। पं० दलसुखभाई मालवणिया के शब्दों में नयचक्र की कल्पना के पीछे आचार्य का आशय यह है कि कोई भी मत अपने आप में पूर्ण नहीं है। जिस प्रकार उस मत की स्थापना दलीलों से हो सकती है उसी प्रकार उसका उत्थापन भी विरोधी मतों की दलीलों से हो सकता है। स्थापना और उत्थापन का यह चक्र चलता रहता है। अतएव अनेकान्तवाद में ये मत यदि अपना उचित स्थान प्राप्त करें, तभी उचित है अन्यथा नहीं।[१] नयचक्र की मूलदृष्टि भी स्वपक्ष अर्थात् अनेकान्तवाद के मण्डन और पर-पक्ष के खण्डन की ही है। इस प्रकार जैन परम्परा में भी हरिभद्र के पूर्व तक निष्पक्ष भाव से कोई भी दर्शन-संग्राहक ग्रन्थ नहीं लिखा गया।

जैनेतर पंरम्पराओं के दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में आचार्य शंकर विरचित माने जाने वाले 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि यह कृति माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह की अपेक्षा प्राचीन है, फिर भी इसके आद्य शंकराचार्य द्वारा विरचित होने में सन्देह है। इस ग्रन्थ में भी पूर्वदर्शन का उत्तरदर्शन के द्वारा निराकरण करते हुए अन्त में अद्वैत वेदान्त की स्थापना की गयी है। अतः किसी सीमा तक इसकी शैली को नयचक्र की शैली के साथ जोड़ा जा सकता है, किन्तु जहाँ नयचक्र, अन्तिम मत का भी प्रथम मत से खण्डन करवाकर किसी भी एक दर्शन को अन्तिम सत्य नहीं मानता है, वहाँ 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' वेदान्त को एकमात्र और अन्तिम सत्य स्वीकार करता है। अतः यह एक दर्शनसंग्राहक ग्रन्थ होकर भी निष्पक्ष दृष्टि का प्रतिपादक नहीं माना जा सकता है। हरिभद्र के षड्-दर्शनसमुच्चय की जो विशेषता है वह इसमें नहीं है।

जैनेतर परम्पराओं में दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में दूसरा स्थान माधवाचार्य ( ई० १३५०? ) के 'सर्वदर्शनसंग्रह' का आता है। किन्तु 'सर्वदर्शन-संग्रह' की मूलभूत दृष्टि भी यही है कि वेदान्त ही एकमात्र सम्यग्दर्शन है। 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' और 'सर्वदर्शनसंग्रह' दोनों की हरिभद्र के षड्दर्शन-समुच्चय से इस अर्थ में भिन्नता है कि जहाँ हरिभद्र बिना किसी खण्डन-मण्डन के निरपेक्ष भाव से तत्कालीन विविध दर्शनों को प्रस्तुत करते हैं,

१. षड्दर्शनसमुच्चय, सम्पादक डॉ० महेन्द्रकुमार, प्रस्तावना, पृ० १४।

वहाँ वैदिक परम्परा के इन दोनों ग्रन्थों की मूलभूत शैली खण्डनपरक ही है। अतः इन दोनों ग्रन्थों में अन्य दार्शनिक मतों के प्रस्तुतीकरण में वह निष्पक्षता और उदारता परिलक्षित नहीं होती, जो हरिभद्र के षड्दर्शन-समुच्चय में है।

इसके पश्चात् वैदिक परम्परा के दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थान-भेद' का क्रम आता है। मधुसूदन सरस्वती ने दर्शनों का वर्गीकरण आस्तिक और नास्तिक के रूप में किया है। नास्तिक-अवैदिक दर्शनों में वे छः प्रस्थानों का उल्लेख करते हैं। इसमें बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय तथा चार्वाक और जैनों का समावेश हुआ है। आस्तिक-वैदिक दर्शनों में — न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा का समावेश हुआ है। इन्होंने पाशुपत दर्शन एवं वैष्णव दर्शन का भी उल्लेख किया है। पं० दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार प्रस्थान-भेद के लेखक की एक विशेषता अवश्य है जो उसे पूर्व उल्लिखित वैदिक परम्परा के अन्य दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों से अलग करती है, वह यह कि इस ग्रन्थ में वैदिक दर्शनों के पारस्परिक विरोध का समाधान यह कह कर किया गया है कि इन प्रस्थानों के प्रस्तोता सभी मुनि भ्रान्त तो नहीं हो सकते, क्योंकि वे सर्वज्ञ थे। चूँकि बाह्य विषयों में लगे हुए मनुष्यों का परम पुरुषार्थ में प्रविष्ट होना कठिन होता है, अतएव नास्तिकों का निराकरण करने के लिए इन मुनियों ने दर्शन प्रस्थानों के भेद किये हैं।[१] इस प्रकार प्रस्थान-भेद में यत्किञ्चित् उदारता का परिचय प्राप्त होता है, किन्तु यह उदारता केवल वैदिक परम्परा के आस्तिक दर्शनों के सन्दर्भ में ही है, नास्तिकों का निराकरण करना तो सर्वदर्शनकौमुदीकार को भी इष्ट ही है। इस प्रकार दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में हरिभद्र की जो निष्पक्ष और उदार दृष्टि है वह हमें अन्य परम्पराओं में रचित दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में नहीं मिलती है। यद्यपि वर्तमान में भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का विवरण प्रस्तुत करने वाले अनेक ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं किन्तु उनमें भी लेखक कहीं न कहीं अपने इष्ट दर्शन को ही अन्तिम सत्य के रूप में प्रस्तुत करता प्रतीत होता है।

हरिभद्र के पश्चात् जैन परम्परा में लिखे गए दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में अज्ञातकर्तृक 'सर्वसिद्धान्तप्रवेशक' का स्थान आता है, किन्तु इतना निश्चित है कि यह ग्रन्थ किसी जैन आचार्य द्वारा प्रणीत है, क्योंकि इसके मंगलाचरण में 'सर्वभाव प्रणेतारं प्रणिपत्य जिनेश्वरं' ऐसा उल्लेख है। पं० सुखलाल संघवी के अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रतिपादन शैली हरिभद्र के षड्दर्शन-

१. षड्दर्शनसमुच्चय, सम्पादक डॉ० महेन्द्रकुमार, प्रस्तावना, पृ० १९।

समुच्चय का ही अनुसरण करती है।[1] अन्तर मात्र यह है कि जहाँ हरिभद्र का ग्रन्थ पद्य में है वहाँ सर्वसिद्धान्तप्रवेशक गद्य में है। साथ ही यह ग्रन्थ हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की अपेक्षा कुछ विस्तृत भी है।

जैन परम्परा के दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में दूसरा स्थान जीवदेवसूरि के शिष्य आचार्य जिनदत्तसूरि ( विक्रम १२६५ ) के 'विवेकविलास' का आता है। इस ग्रन्थ के अष्टम उल्लास में षड्दर्शनविचार नामक प्रकरण है, जिसमें जैन, मीमांसक, बौद्ध, सांख्य, शैव और नास्तिक — इन छः दर्शनों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। पं० दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार इस ग्रन्थ की एक विशेषता तो यह है कि इसमें न्याय-वैशेषिकों का समावेश शैवदर्शन में किया गया है। मेरी दृष्टि में इसका कारण लेखक के द्वारा हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय का अनुसरण करना ही है, क्योंकि उसमें भी न्यायदर्शन के देवता के रूप में शिव का ही उल्लेख किया गया है —

**'अक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छिवः' ॥ १३ ॥**

यह ग्रन्थ भी हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय के समान केवल परिचयात्मक और निष्पक्ष विवरण प्रस्तुत करता है और आकार में मात्र ६६ श्लोक प्रमाण है।

जैन परम्परा में दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में तीसरा क्रम राजशेखर ( विक्रम १४०५ ) के षड्दर्शनसमुच्चय का आता है। इस ग्रन्थ में जैन, सांख्य, जैमिनीय, योग, वैशेषिक और सौगत (बौद्ध) इन छः दर्शनों का उल्लेख किया गया है। हरिभद्र के समान ही इस ग्रन्थ में भी इन सभी को आस्तिक कहा गया है और अन्त में नास्तिक के रूप में चार्वाक दर्शन का परिचय दिया गया है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय और राजशेखर के षड्दर्शनसमुच्चय में एक मुख्य अन्तर इस बात को लेकर है कि दर्शनों के प्रस्तुतीकरण में जहाँ हरिभद्र जैनदर्शन को चौथा स्थान देते हैं वहाँ राजशेखर जैनदर्शन को प्रथम स्थान देते हैं। पं० सुखलाल संघवी के अनुसार सम्भवतः इसका कारण यह हो सकता है कि राजशेखर अपने समकालीन दार्शनिकों के अभिनिवेशयुक्त प्रभाव से अपने को दूर नहीं रख सके।[2]

पं० दलसुखभाई मालवणिया की सूचना के अनुसार राजशेखर के काल का ही एक अन्य दर्शन-संग्राहक ग्रन्थ आचार्य मेरुतुंगकृत 'षड्दर्शन-

---

१. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० ४३।

२. वही, पृ० ४७।

निर्णय' है ।[1] इस ग्रन्थ में मेरुतुंग ने जैन, बौद्ध, मीमांसा, सांख्य, न्याय और वैशेषिक — इन छः दर्शनों की मीमांसा की है किन्तु इस कृति में हरिभद्र जैसी उदारता नहीं है । यह मुख्यतया जैनमत की स्थापना और अन्य मतों के खण्डन के लिये लिखा गया है । इसकी एकमात्र विशेषता यह है कि इसमें महाभारत, स्मृति, पुराण आदि के आधार पर जैनमत का समर्थन किया गया है ।

पं० दलसुखभाई मालवणिया ने षड्दर्शनसमुच्चय की प्रस्तावना में इस बात का भी उल्लेख किया है कि सोमतिलकसूरिकृत 'षड्दर्शन-समुच्चय' की वृत्ति के अन्त में अज्ञातकृत एक कृति मुद्रित है ।[2] इसमें भी जैन, न्याय, बौद्ध, वैशेषिक, जैमिनीय, सांख्य और चार्वाक — ऐसे सात दर्शनों का संक्षेप में परिचय दिया गया है, किन्तु अन्त में अन्य दर्शनों को दुर्नय की कोटि में रखकर जैनदर्शन को उच्च श्रेणी में रखा गया है । इस प्रकार इसका लेखक भी अपने को साम्प्रदायिक अभिनिवेश से दूर नहीं रख सका ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों की रचना में भारतीय इतिहास में हरिभद्र ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने निष्पक्ष भाव से और पूरी प्रामाणिकता के साथ अपने ग्रन्थ में अन्य दर्शनों का विवरण दिया है । इस क्षेत्र में वे अभी तक अद्वितीय हैं ।

### समीक्षा में शिष्टभाषा का प्रयोग और अन्य धर्मप्रवर्तकों के प्रति बहुमान

दर्शन के क्षेत्र में अपनी दार्शनिक अवधारणाओं की पुष्टि तथा विरोधी अवधारणाओं के खण्डन के प्रयत्न अत्यन्त प्राचीनकाल से होते रहे हैं । प्रत्येक दर्शन अपने मन्तव्यों की पुष्टि के लिये अन्य दार्शनिक मतों की समालोचना करता है । स्वपक्ष का मण्डन तथा परपक्ष का खण्डन — यह दार्शनिकों की सामान्य प्रवृत्ति रही है । हरिभद्र भी इसके अपवाद नहीं हैं । फिर भी उनकी यह विशेषता है कि अन्य दार्शनिक मतों की समीक्षा में वे सदैव ही शिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं तथा विरोधी दर्शनों के प्रवर्तकों के लिए भी बहुमान प्रदर्शित करते हैं । दार्शनिक समीक्षाओं के क्षेत्र में एक युग ऐसा रहा है जिसमें अन्य दार्शनिक परम्पराओं को न केवल भ्रष्ट रूप में प्रस्तुत किया जाता था, अपितु उनके प्रवर्तकों का उपहास भी किया जाता था । जैन और जैनेतर दोनों ही परम्पराएँ इस प्रवृत्ति से अपने को मुक्त नहीं रख सकीं । जैन परम्परा के सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र आदि दिग्गज

---

१. षड्दर्शनसमुच्चय : सम्पादक पं० महेन्द्रकुमार, प्रस्तावना, पृ० १९ ।
२. वही, पृ० १९ ।

दार्शनिक भी जब अन्य दार्शनिक परम्पराओं की समीक्षा करते हैं तो न केवल उन परम्पराओं की मान्यताओं के प्रति, अपितु उनके प्रवर्तकों के प्रति भी चुटीले व्यंग्य कस देते हैं। हरिभद्र स्वयं भी अपने लेखन के प्रारम्भिक काल में इस प्रवृत्ति के अपवाद नहीं रहे हैं। जैन आगमों की टीका में और धूर्ताख्यान जैसे ग्रन्थों की रचना में वे स्वयं भी इस प्रकार के चुटीले व्यंग्य कसते हैं, किन्तु हम देखते हैं कि विद्वत्ता की प्रौढ़ता के साथ हरिभद्र में धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति लुप्त हो जाती है और अपने परवर्ती ग्रन्थों में वे अन्य परम्पराओं और उनके प्रवर्तकों के प्रति अत्यन्त शिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं तथा उनके प्रति बहुमान सूचित करते हैं। इसके कुछ उदाहरण हमें उनके ग्रन्थ 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में देखने को मिल जाते हैं। अपने ग्रन्थ 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' के प्रारम्भ में ही ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं —

**यं श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वविनिश्चयः।**
**जायते द्वेषशमनः स्वर्गसिद्धिसुखावहः॥**

अर्थात् इसका अध्ययन करने से अन्य दर्शनों के प्रति द्वेष-बुद्धि समाप्त होकर तत्त्व का बोध हो जाता है। इस ग्रन्थ में वे कपिल को दिव्य-पुरुष एवं महामुनि के रूप में सूचित करते हैं — कपिलो दिव्यो हि स महामुनिः ( शास्त्रवार्तासमुच्चय, २३७ )। इसी प्रकार वे बुद्ध को भी अर्हत्, महामुनि, सुवैद्य आदि विशेषणों से अभिहित करते हैं — यतो बुद्धो महा-मुनिः सुवैद्यवत् ( वही, ४६५-४६६ )। यहाँ हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर अन्य दार्शनिक अपने विरोधी दार्शनिकों का खुलकर परिहास करते हैं — न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम को गाय का बछड़ा या बैल और महर्षि कणाद को उल्लू कहते हैं, वहीं दूसरी ओर हरिभद्र अपने विरोधियों के लिए महामुनि और अर्हत् जैसे सम्मानसूचक विशेषणों का प्रयोग करते हैं। 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में यद्यपि अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की स्पष्ट समा-लोचना है, किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता जहाँ हरिभद्र ने शिष्टता की मर्यादा का उल्लंघन किया हो। इस प्रकार हरिभद्र ने अन्य परम्पराओं के प्रति जिस शिष्टता और आदरभाव का परिचय दिया है, वह हमें जैन और जैनेतर किसी भी परम्परा के अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होती।

हरिभद्र ने अन्य दर्शनों के अध्ययन के पश्चात् उनमें निहित सारतत्त्व या सत्य को समझने का जो प्रयास किया है, वह भी अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है और उनके उदारचेता व्यक्तित्व को उजागर करता है। यद्यपि

हरिभद्र चार्वाक दर्शन की समीक्षा करते हुए उसके भूत स्वभाववाद का खण्डन करते हैं और उसके स्थान पर कर्मवाद की स्थापना करते हैं। किन्तु सिद्धान्त में कर्म के जो दो रूप — द्रव्यकर्म और भावकर्म माने गए हैं उसमें एक ओर भावकर्म के स्थान को स्वीकार नहीं करने के कारण जहाँ वे चार्वाक-दर्शन की समीक्षा करते हैं वहीं दूसरी ओर वे द्रव्यकर्म की अवधारणा को स्वीकार करते हुए चार्वाक के भूत स्वभाववाद की सार्थकता को भी स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि भौतिक तत्त्वों का प्रभाव भी चैतन्य पर पड़ता है।[१] पं० सुखलालजी संघवी लिखते हैं कि हरिभद्र ने दोनों पक्षों अर्थात् बौद्ध एवं मीमांसकों के अनुसार कर्मवाद के प्रसंग में चित्तवासना की प्रमुखता को तथा चार्वाकों के अनुसार भौतिक तत्त्व की प्रमुखता को एक-एक पक्ष के रूप में परस्पर पूरक एवं सत्य मानकर कहा कि जैन कर्मवाद में चार्वाक और मीमांसक तथा बौद्धों के मन्तव्यों का सुमेल हुआ है।[२]

इसी प्रकार 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में हरिभद्र यद्यपि न्याय-वैशेषिक दर्शनों द्वारा मान्य ईश्वरवाद एवं जगत्-कर्तृत्ववाद की अवधारणाओं की समीक्षा करते हैं, किन्तु जहाँ चार्वाकों, बौद्धों और अन्य जैन आचार्यों ने इन अवधारणाओं का खण्डन किया है, वहाँ हरिभद्र इनकी भी सार्थकता को स्वीकार करते हैं। हरिभद्र ने ईश्वरवाद की अवधारणा में भी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों को देखने का प्रयास किया है। प्रथम तो यह कि मनुष्य में कष्ट के समय स्वाभाविक रूप से किसी ऐसी शक्ति के प्रति श्रद्धा और प्रपत्ति की भावना होती है जिसके द्वारा वह अपने में आत्मविश्वास जागृत कर सके। पं० सुखलालजी संघवी लिखते हैं कि मानव मन की प्रपत्ति या शरणागति की यह भावना मूल में असत्य तो नहीं कही जा सकती। उनकी इस अपेक्षा को ठेस न पहुँचे तथा तर्क व बुद्धिवाद के साथ ईश्वरवादी अवधारणा का समन्वय भी हो, इसलिए उन्होंने (हरिभद्र ने) ईश्वर-कर्तृत्ववाद की अवधारणा को अपने ढंग से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।[३] हरिभद्र कहते हैं

---

१. कर्मणो भौतिकत्वेन यद्वैतदपि साम्प्रतम्।
आत्मनो व्यतिरिक्तं तत् चित्रभावं यतो मतम्॥
शक्तिरूपं तदन्ये तु सूरयः सम्प्रचक्षते।
अन्ये तु वासनारूपं विचित्रफलदं मतम्॥
— शास्त्रवार्तासमुच्चय, ९५-९६

२. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० ५३-५४।

३. वही, पृ० ५५।

कि जो व्यक्ति आध्यात्मिक निर्मलता के फलस्वरूप अपने विकास की उच्चतम भूमिका को प्राप्त हुआ हो वह असाधारण आत्मा है और वही ईश्वर या सिद्ध पुरुष है। उस आदर्श स्वरूप को प्राप्त करने के कारण कर्त्ता तथा भक्ति का विषय होने के कारण उपास्य है।[१] इसके साथ ही हरिभद्र यह भी मानते हैं कि प्रत्येक जीव तत्त्वत: अपने शुद्ध रूप में परमात्मा और अपने भविष्य का निर्माता है और इस दृष्टि से यदि विचार करें तो वह 'ईश्वर' भी है और 'कर्ता' भी है। इस प्रकार ईश्वर-कर्तृत्ववाद भी समीचीन ही सिद्ध होता है।[२] हरिभद्र सांख्यों के प्रकृतिवाद की भी समीक्षा करते हैं, किन्तु वे प्रकृति को जैन परम्परा में स्वीकृत कर्मप्रकृति के रूप में देखते हैं। वे लिखते हैं कि "सत्य न्याय की दृष्टि से प्रकृति कर्म-प्रकृति ही है और इस रूप में प्रकृतिवाद भी उचित है क्योंकि उसके वक्ता कपिल दिव्य-पुरुष और महामुनि हैं।[३]

'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में हरिभद्र ने बौद्धों के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद की भी समीक्षा की है, किन्तु वे इन धारणाओं में निहित सत्य को भी देखने का प्रयत्न करते हैं और कहते हैं कि महामुनि और अर्हत् बुद्ध उद्देश्यहीन होकर किसी सिद्धान्त का उपदेश नहीं करते। उन्होंने क्षणिकवाद का उपदेश पदार्थ के प्रति हमारी आसक्ति के निवारण के लिये ही दिया है, क्योंकि जब वस्तु का अनित्य और विनाशशील स्वरूप समझ में आ जाता है तो उसके प्रति आसक्ति गहरी नहीं होती। इसी प्रकार विज्ञानवाद का उपदेश भी बाह्य पदार्थों के प्रति तृष्णा को समाप्त करने के लिए ही है। यदि सब कुछ चित्त के विकल्प हैं और बाह्य रूप सत्य नहीं है तो उनके

---

१. ततश्चेश्वर कतृत्त्ववादोऽयं युज्यते परम्।
सम्यग्न्यायाविरोधेन यथाऽऽहु: शुद्धबुद्धत: ।।
ईश्वर: परमात्मैव तदुक्तव्रतसेवनात्।
यतो मुक्तिस्ततस्तस्या: कर्त्ता स्याद्गुणभावत: ।।
तदनासेवनादेव यत्संसारोऽपि तत्त्वत:।
तेन तस्यापि कर्तृत्वं कल्प्यानं न दुष्यति ।।
— शास्त्रवार्तासमुच्चय, २०३-२०५

२. परमैश्वर्ययुक्तत्वान्मत: आत्मैव चेश्वर:।
स च कर्तेति निर्दोष: कर्तृवादो व्यवस्थित: ।। वही, २०७

३. प्रकृतिं चापि सन्न्यायात्कर्मप्रकृतिमेव हि ।।
एवं प्रकृतिवादोऽपि विज्ञेय: सत्य एव हि।
कपिलोक्तत्वतश्चैव दिव्यो हि स महामुनि: ।। वही, २३२-२३७

प्रति तृष्णा उत्पन्न ही नहीं होगी। इसी प्रकार कुछ साधकों की मनोभूमिका को ध्यान में रखकर संसार की निस्सारता का बोध कराने के लिए शून्यवाद का उपदेश दिया है।[१] इस प्रकार हरिभद्र की दृष्टि में बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद — इन तीनों सिद्धान्तों का मूल उद्देश्य यही है कि व्यक्ति की जगत् के प्रति उत्पन्न होने वाली तृष्णा का प्रहाण हो।

अद्वैतवाद की समीक्षा करते हुए हरिभद्र स्पष्ट रूप से यह बताते हैं कि सामान्य की दृष्टि से तो अद्वैत की अवधारणा भी सत्य है। इसके साथ ही साथ वे यह भी बताते हैं कि विषमता के निवारण के लिए और समभाव की स्थापना के लिए अद्वैत की भूमिका भी आवश्यक है।[२] अद्वैत परायेपन की भावना का निषेध करता है, इस प्रकार द्वेष का उपशमन करता है। अतः वह भी असत्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त के ज्ञानमार्ग को भी वे समीचीन ही स्वीकार करते हैं।[३]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की समीक्षा का उनका प्रयत्न समीक्षा के लिये न होकर उन दार्शनिक परम्पराओं की सत्यता के मूल्यांकन के लिये ही है। स्वयं उन्होंने 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' के प्राक्कथन में यह स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य अन्य परम्पराओं के प्रति द्वेष का उपशमन करना और सत्य का बोध करना है। उपर्युक्त विवरण से यह भी स्पष्ट है कि उन्होंने ईमानदारी से प्रत्येक दार्शनिक मान्यता के मूलभूत उद्देश्यों को समझाने का प्रयास किया है और इस प्रकार वे आलोचक के स्थान पर सत्य के गवेषक ही अधिक प्रतीत होते हैं।

## अन्य दर्शनों का गम्भीर अध्ययन एवं उनकी निष्पक्ष व्याख्या

भारतीय दार्शनिकों में अपने से इतर परम्पराओं के गम्भीर अध्ययन

---

१. अन्ये त्वभिदधत्येवमेतदास्थानिवृत्तये।
क्षणिकं सर्वमेवेति बुद्धनोक्तं न तत्त्वतः॥
विज्ञानमात्रमप्येवं बाह्यसंगनिवृत्तये।
विनेयान् कांश्चिदाश्रित्य यद्वा तद्देशनाऽर्हतः॥ शास्त्रवार्ता०, ४६४-४६५

२. अन्ये व्याख्यानयन्त्येवं समभावप्रसिद्धये।
अद्वैतदेशना शास्त्रे निर्दिष्टा न तु तत्त्वतः॥ वही, ५५०

३. ज्ञानयोगादतो मुक्तिरिति सम्यग् व्यवस्थितम्।
तन्त्रान्तरानुरोधेन गीतं चेत्थं न दोषकृत्॥ वही, ५७९

४. यं श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वविनिश्चयः।
जायते द्वेषशमनः स्वर्गसिद्धिसुखावहः॥ वही, २

की प्रवृत्ति प्रारम्भ में हमें दृष्टिगत नहीं होती है। बादरायण, जैमिनि आदि दिग्गज विद्वान् भी जब दर्शनों की समालोचना करते हैं तो ऐसा लगता है कि वे दूसरे दर्शनों को अपने सतही ज्ञान के आधार पर भ्रान्तरूप में प्रस्तुत करके उनका खण्डन कर देते हैं। यह सत्य है कि अनैकान्तिक एवं समन्वयात्मक दृष्टि के कारण अन्य दर्शनों के गम्भीर अध्ययन की परम्परा का विकास सर्वप्रथम जैन दार्शनिकों ने ही किया है। ऐसा लगता है कि हरिभद्र ने समालोच्य प्रत्येक दर्शन का ईमानदारीपूर्वक गम्भीर अध्ययन किया था, क्योंकि इसके बिना वे न तो उन दर्शनों में निहित सत्यों को समझा सकते थे, न उनकी स्वस्थ समीक्षा ही कर सकते थे और न उनका जैन मन्तव्यों के साथ समन्वय कर सकते थे। हरिभद्र अन्य दर्शनों के अध्ययन तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु उन्होंने उनके कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर तटस्थ भाव से टीकाएँ भी लिखीं। दिङ्नाग के 'न्यायप्रवेश' पर उनकी टीका महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। पतञ्जलि के 'योगसूत्र' का उनका अध्ययन भी काफी गम्भीर प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने उसी के आधार पर एवं नवीन दृष्टिकोण से योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगविंशिका आदि ग्रन्थों की रचना की थी। इस प्रकार हरिभद्र जैन और जैनेतर परम्पराओं के एक ईमानदार अध्येता एवं व्याख्याकार भी हैं। जिस प्रकार प्रशस्तपाद ने दर्शन ग्रन्थों की टीका लिखते समय तद्-तद् दर्शनों के मन्तव्यों का अनुसरण करते हुए तटस्थ भाव रखा, उसी प्रकार हरिभद्र ने भी इतर परम्पराओं का विवेचन करते समय तटस्थ भाव रखा है।

### अन्धविश्वासों का निर्भीक रूप से खण्डन

यद्यपि हरिभद्र अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक परम्पराओं के प्रति एक उदार और सहिष्णु दृष्टिकोण को लेकर चलते हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे उनके अतर्कसंगत अन्धविश्वासों को प्रश्रय देते हैं। एक ओर वे अन्य परम्पराओं के प्रति आदरभाव रखते हुए उनमें निहित सत्यों को स्वीकार करते हैं, तो दूसरी ओर उनमें पल रहे अन्धविश्वासों का निर्भीक रूप से खण्डन भी करते हैं। इस दृष्टि से उनकी दो रचनाएँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं — (१) धूर्ताख्यान और (२) द्विजवदनचपेटिका। 'धूर्ताख्यान' में उन्होंने पौराणिक परम्परा में पल रहे अन्धविश्वासों का सचोट निरसन किया है। हरिभद्र ने धूर्ताख्यान में वैदिक परम्परा में विकसित इस धारणा का खण्डन किया है कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, पेट से वैश्य तथा पैर से शूद्र उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार कुछ पौराणिक मान्यताओं यथा — शंकर के द्वारा अपनी जटाओं में गंगा को समा लेना, वायु के द्वारा हनुमान का

जन्म, सूर्य के द्वारा कुन्ती से कर्ण का जन्म, हनुमान के द्वारा पूरे पर्वत को उठा लाना, वानरों के द्वारा सेतु बाँधना, श्रीकृष्ण के द्वारा गोबर्धन पर्वत धारण करना, गणेश का पार्वती के शरीर के मैल से उत्पन्न होना, पार्वती का हिमालय की पुत्री होना आदि अनेक पौराणिक मान्यताओं का व्यंग्यात्मक शैली में निरसन किया है। हरिभद्र धूर्ताख्यान की कथा के माध्यम से कुछ काल्पनिक बातें प्रस्तुत करते हैं और फिर कहते हैं कि यदि पुराणों में कही गयी उपर्युक्त बातें सत्य हैं तो ये सत्य क्यों नहीं हो सकतीं। इस प्रकार धूर्ताख्यान में वे व्यंग्यात्मक किन्तु शिष्ट शैली में पौराणिक मिथ्या-विश्वासों की समीक्षा करते हैं। इसी प्रकार द्विजवदनचपेटिका में भी उन्होंने ब्राह्मण-परम्परा में पल रही मिथ्या-धारणाओं एवं वर्ण-व्यवस्था का सचोट खण्डन किया है। हरिभद्र सत्य के समर्थक हैं, किन्तु अन्धविश्वासों एवं मिथ्या मान्यताओं के वे कठोर समीक्षक भी हैं।

## तर्क या बुद्धिवाद का समर्थन

हरिभद्र में यद्यपि एक धार्मिक की श्रद्धा है, किन्तु वे श्रद्धा को तर्क-विरोधी नहीं मानते हैं। उनके लिए तर्करहित श्रद्धा उपादेय नहीं है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि न तो महावीर के प्रति मेरा कोई राग है और न कपिल आदि के प्रति कोई द्वेष ही है —

**पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।**
**युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥** लोकतत्त्वनिर्णय, ३८

उनके कहने का तात्पर्य यही है कि सत्य के गवेषक और साधना के पथिक को पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर विभिन्न मान्यताओं की समीक्षा करनी चाहिए और उनमें जो भी युक्तिसंगत लगे उसे स्वीकार करना चाहिए। यद्यपि इसके साथ ही वे बुद्धिवाद से पनपनेवाले दोषों के प्रति भी सचेष्ट हैं। वे स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि युक्ति और तर्क का उपयोग केवल अपनी मान्यताओं की पुष्टि के लिए ही नहीं किया जाना चाहिये, अपितु सत्य की खोज के लिए किया जाना चाहिए —

**आग्रही वत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र तस्य मतिर्निविष्टा।**
**निष्पक्षपातस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र तस्य मतिरेति निवेशम्॥**

आग्रही व्यक्ति अपनी युक्ति (तर्क) का प्रयोग भी वहीं करता है जिसे वह सिद्ध अथवा खण्डित करना चाहता है, जबकि अनाग्रही या निष्पक्ष व्यक्ति जो उसे युक्तिसंगत लगता है, उसे स्वीकार करता है। इस प्रकार हरिभद्र न केवल युक्ति या तर्क के समर्थक हैं, किन्तु वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि तर्क या युक्ति का प्रयोग अपनी मान्यताओं की पुष्टि या अपने

विरोधी मान्यताओं के खण्डन के लिये न करके सत्य की गवेषणा के लिये करना चाहिए और जहाँ भी सत्य परिलक्षित हो उसे स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार वे शुष्क तार्किक न होकर सत्यनिष्ठ तार्किक हैं।

## कर्मकाण्ड के स्थान पर सदाचार पर बल

हरिभद्र की एक विशेषता यह है कि उन्होंने धर्म साधना को कर्मकाण्ड के स्थान पर आध्यात्मिक पवित्रता और चारित्रिक निर्मलता के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। यद्यपि जैन परम्परा में साधना के अंगों के रूप में दर्शन (श्रद्धा), ज्ञान और चारित्र (शील) को स्वीकार किया गया है। हरिभद्र भी धर्म-साधना के क्षेत्र में इन तीनों का स्थान स्वीकार करते हैं, किन्तु वे यह मानते हैं कि न तो श्रद्धा को अन्धश्रद्धा बनना चाहिए, न ज्ञान को कुतर्क आश्रित होना चाहिए और न आचार को केवल बाह्यकर्मकाण्डों तक सीमित रखना चाहिए। वे कहते हैं कि 'जिन' पर मेरी श्रद्धा का कारण राग भाव नहीं है, अपितु उनके उपदेश की युक्तिसंगतता है। इस प्रकार वे श्रद्धा के साथ बुद्धि को जोड़ते हैं, किन्तु निरा तर्क भी उन्हें इष्ट नहीं है। वे कहते हैं कि तर्क का वाग्जाल वस्तुतः एक विकृति है जो हमारी श्रद्धा एवं मानसिक शान्ति को भंग करने वाला है। वह ज्ञान का अभिमान उत्पन्न करने के कारण भाव-शत्रु है। इसलिए मुक्ति के इच्छुक को तर्क के वाग्जाल से अपने को मुक्त रखना चाहिए।[१] वस्तुतः वे सम्यग्ज्ञान और तर्क में एक अन्तर स्थापित करते हैं। तर्क केवल विकल्पों का सृजन करता है, अतः उनकी दृष्टि में निरी तार्किकता आध्यात्मिक विकास में बाधक ही है। 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में उन्होंने धर्म के दो विभाग किये हैं — एक संज्ञान-योग और दूसरा पुण्य-लक्षण[२]। ज्ञानयोग वस्तुतः शाश्वत सत्यों की अपरोक्षानुभूति है और इस प्रकार वह तार्किक ज्ञान से भिन्न है। हरिभद्र अन्धश्रद्धा से मुक्त होने देने के लिए तर्क एवं युक्ति को आवश्यक मानते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि में तर्क या युक्ति को सत्य का गवेषक होना चाहिए, न कि खण्डन-मण्डनात्मक। खण्डन-मण्डनात्मक तर्क या युक्ति साधना के क्षेत्र में उपयोगी नहीं है, इस तथ्य की विस्तृत चर्चा उन्होंने अपने ग्रन्थ योगदृष्टिसमुच्चय में की है[३]। इसी प्रकार धार्मिक आचार को भी वे शुष्क कर्मकाण्ड से पृथक् रखना चाहते हैं। यद्यपि हरिभद्र ने कर्मकाण्डपरक ग्रन्थ लिखे हैं, किन्तु पं० सुखलाल संघवी ने प्रतिष्ठाकल्प आदि को हरिभद्र द्वारा

१. योगदृष्टिसमुच्चय, ८७ एवं ८८।
२. शास्त्रवार्तासमुच्चय, २०।
३. योगदृष्टिसमुच्चय, ८६-१०१।

रचित मानने में सन्देह व्यक्त किया है। हरिभद्र के समस्त उपदेशात्मक साहित्य, श्रावक एवं मुनि-आचार से सम्बन्धित साहित्य को देखने से ऐसा लगता है कि वे धार्मिक जीवन के लिए सदाचार पर ही अधिक बल देते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थों में आचार सम्बन्धी जिन बातों का निर्देश किया है वे भी मुख्यतया व्यक्ति की चारित्रिक निर्मलता और कषायों के उपशमन के निमित्त ही हैं। जीवन में कषायें उपशान्त हों, समभाव सधे यही उनकी दृष्टि में साधना का मुख्य उद्देश्य है। धर्म के नाम पर पनपने वाले थोथे कर्मकाण्ड एवं छद्म जीवन की उन्होंने खुलकर निन्दा की है और मुनिवेश में ऐहिकता का पोषण करने वालों को आड़े हाथों लिया है, उनकी दृष्टि में धर्म साधना का अर्थ है —

**अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।**
**मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्** ॥ योगबिन्दु, ३१

## साधनागत विविधता में एकता का दर्शन

धर्म साधना के क्षेत्र में उपलब्ध विविधताओं का भी उन्होंने सम्यक् समाधान खोजा है। जिस प्रकार 'गीता' में विविध देवों की उपासना को युक्ति-संगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है, उसी प्रकार हरिभद्र ने भी साधनागत विविधताओं के बीच एक समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। वे लिखते हैं कि जिस प्रकार राजा के विभिन्न सेवक अपने आचार और व्यवहार में अलग-अलग होकर भी राजा के सेवक हैं — उसी प्रकार सर्वज्ञों द्वारा प्रतिपादित आचार-पद्धतियाँ बाह्यतः भिन्न-भिन्न होकर भी तत्त्वतः एक ही हैं। सर्वज्ञों की देशना में नाम आदि का भेद होता है, तत्त्वतः भेद नहीं होता है।[१]

हरिभद्र की दृष्टि में आचारगत और साधनागत जो भिन्नता है वह मुख्य रूप से दो आधारों पर है। एक साधकों की रुचिगत विभिन्नता के आधार पर और दूसरी नामों की भिन्नता के आधार पर। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि ऋषियों के उपदेश में जो भिन्नता है वह उपासकों की योग्यता के आधार पर है। जिस प्रकार वैद्य अलग-अलग व्यक्तियों को उनकी प्रकृति की भिन्नता और रोग की भिन्नता के आधार पर अलग-अलग औषधि प्रदान करता है, उसी प्रकार महात्माजन भी संसाररूपी व्याधि हरण करने हेतु साधकों की प्रकृति के अनुरूप साधना की भिन्न-भिन्न विधियाँ बताते हैं।[२]

१. योगदृष्टिसमुच्चय, १०७-१०९।
२. चित्रा तु देशनैतेषां स्याद् विनेयानुगुण्यतः।
यस्मादेते महात्मानो भवव्याधिभिषग्वराः ॥ योगदृष्टिसमुच्चय, १३४

वे पुन: कहते हैं कि ऋषियों के उपदेश की भिन्नता, उपासकों की प्रकृतिगत भिन्नता अथवा देशकालगत भिन्नता के आधार पर होकर तत्त्वत: एक ही होती है।[१] वस्तुत: विषय-वासनाओं से आक्रान्त लोगों के द्वारा ऋषियों की साधनागत विविधता के आधार पर स्वयं धर्म-साधना की उपादेयता पर कोई प्रश्नचिह्न लगाना अनुचित ही है। वस्तुत: हरिभद्र की मान्यता यह है कि धर्म-साधना के क्षेत्र में बाह्य आचारगत भिन्नता या उपास्य की नामगत भिन्नता बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण यह है कि व्यक्ति अपने जीवन में वासनाओं का कितना शमन कर सका है, उसकी कषायें कितनी शान्त हुई हैं और उसके जीवन में समभाव और अनासक्ति कितनी सधी है।

### मोक्ष के सम्बन्ध में उदार दृष्टिकोण

हरिभद्र अन्य धर्माचार्यों के समान यह अभिनिवेश नहीं रखते हैं कि मुक्ति केवल हमारी साधना-पद्धति या हमारे धर्म से ही होगी। उनकी दृष्टि में मुक्ति केवल हमारे धर्म में है — ऐसी अवधारणा ही भ्रान्त है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि —

**नासाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।**
**न पक्षसेवाश्रयेन मुक्ति, कषाय मुक्ति किल मुक्तिरेव॥**

अर्थात् मुक्ति न तो सफेद वस्त्र पहनने से होती है, न दिगम्बर रहने से, तार्किक वाद-विवाद और तत्त्वचर्चा से भी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। किसी एक सिद्धान्त विशेष में आस्था रखने या किसी व्यक्ति विशेष की सेवा करने से भी मुक्ति असम्भव है। मुक्ति तो वस्तुत: कषायों अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ से मुक्त होने में है। वे स्पष्ट रूप से इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि मुक्ति का आधार कोई धर्म, सम्प्रदाय अथवा विशेष वेशभूषा नहीं है। वस्तुत: जो व्यक्ति समभाव की साधना करेगा, वीतराग दशा को प्राप्त करेगा, वह मुक्त होगा। उनके शब्दों में —

**सेयंबरो य आसंबरो य बुद्धो य अहव अण्णो वा।**
**समभावभावि अप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो॥**

अर्थात् जो भी समभाव की साधना करेगा वह निश्चित ही मोक्ष को प्राप्त करेगा, फिर चाहे वह श्वेताम्बर हो या दिगम्बर हो, बौद्ध हो या अन्य किसी धर्म को मानने वाला हो।

### साधना के क्षेत्र में उपास्य का नाम-भेद महत्त्वपूर्ण नहीं

हरिभद्र की दृष्टि में आराध्य के नाम-भेदों को लेकर धर्म के क्षेत्र में

---

१. यद्वा तत्तन्नयापेक्षा तत्कालादिनियोगत:।
ऋषिभ्यो देशना चित्रा तन्मूलैषाऽपि तत्त्वत:॥ योगदृष्टिसमुच्चय, १३८

विवाद करना उचित नहीं है। लोकतत्त्वनिर्णय में वे कहते हैं —

**यस्य अनिखिलाश्च दोषा न सन्ति सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते ।**
**ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ।।**

वस्तुत: जिसके सभी दोष विनष्ट हो चुके हैं और जिनमें सभी गुण विद्यमान हैं फिर उसे चाहे ब्रह्मा कहा जाये, चाहे विष्णु, चाहे जिन कहा जाय, उसमें भेद नहीं। सभी धर्म और दर्शनों में उस परमतत्त्व या परमसत्ता को राग-द्वेष, तृष्णा और आसक्ति से रहित विषय-वासनाओं से ऊपर उठी हुई पूर्णप्रज्ञ तथा परम कारुणिक माना गया है, किन्तु हमारी दृष्टि उस परमतत्त्व के मूलभूत स्वरूप पर न होकर नामों पर टिकी होती है और इसी के आधार पर हम विवाद करते हैं। जब कि यह नामों का भेद अपने आप में कोई अर्थ नहीं रखता है। योगदृष्टिसमुच्चय में वे लिखते हैं कि —

**सदाशिवः परं ब्रह्म सिद्धात्मा तथतेति च ।**
**शब्देस्तद् उच्यतेऽन्वर्थाद् एक एवैवमादिभिः ।।**

अर्थात् सदाशिव, परब्रह्म, सिद्धात्मा, तथागत आदि नामों में केवल शब्द भेद हैं, उनका अर्थ तो एक ही है। वस्तुत: यह नामों का विवाद तभी तक रहता है जब तक हम उस आध्यात्मिक सत्ता की अनुभूति नहीं कर पाते हैं। व्यक्ति जब वीतराग, वीततृष्णा या अनासक्ति की भूमिका का स्पर्श करता है तब उसके सामने नामों का यह विवाद निरर्थक हो जाता है। वस्तुत: आराध्य के नामों की भिन्नता भाषागत भिन्नता है, स्वरूपगत भिन्नता नहीं। जो इन नामों के विवादों में उलझता है, वह अनुभूति से वंचित हो जाता है। वे कहते हैं कि जो उस परमतत्त्व की अनुभूति कर लेता है उसके लिये यह शब्दगत समस्त विवाद निरर्थक हो जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उदारचेता, समन्वयशील और सत्य-निष्ठ आचार्यों में हरिभद्र के समतुल्य किसी अन्य आचार्य को खोज पाना कठिन है। अपनी इन विशेषताओं के कारण भारतीय दार्शनिकों के इतिहास में वे अद्वितीय और अनुपम हैं।

## क्रान्तदर्शी समालोचक : जैन परम्परा के सन्दर्भ में

हरिभद्र के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में यह उक्ति अधिक सार्थक है — 'कुसुमों से अधिक कोमल और वज्र से अधिक कठोर।' उनके चिन्तन में एक ओर उदारता है, समन्वयशीलता है, अपने प्रतिपक्षी के सत्य को समझने और स्वीकार करने का विनम्र प्रयास है तो दूसरी ओर असत्य और अनाचार के प्रति तीव्र आक्रोश भी है। दुराग्रह और दुराचार फिर चाहे वह

अपने धर्म-सम्प्रदाय में हो या अपने विरोधी के, उनकी समालोचना का विषय बने बिना नहीं रहता है। वे उदार हैं, किन्तु सत्याग्रही भी। वे समन्वयशील हैं, किन्तु समालोचक भी। वस्तुतः एक सत्य-द्रष्टा में ये दोनों तत्त्व स्वाभाविक रूप से ही उपस्थित होते हैं। जब वह सत्य की खोज करता है तो एक ओर सत्य को, चाहे फिर वह उसके अपने धर्म-सम्प्रदाय में हो या उसके प्रतिपक्षी में, वह सदाशयतापूर्वक उसे स्वीकार करता है, किन्तु दूसरी ओर असत्य को, चाहे फिर वह भी उसके अपने धर्म-सम्प्रदाय में हो या उसके प्रतिपक्षी में, वह साहसपूर्वक उसे नकारता है। हरिभद्र के व्यक्तित्व का यही सत्याग्रही स्वरूप उनकी उदारता और क्रान्ति-कारिता का उत्स है। पूर्व में मैने हरिभद्र के उदार और समन्वयशील पक्ष की विशेष रूप से चर्चा की थी, अब मैं उनकी क्रान्तिधर्मिता की चर्चा करना चाहूँगा।

## क्रान्तदर्शी हरिभद्र

हरिभद्र के धर्म-दर्शन के क्रान्तिकारी तत्त्व वैसे तो उनके सभी ग्रन्थों में कहीं न कहीं दिखाई देते हैं, फिर भी शास्त्रवार्तासमुच्चय, धूर्ताख्यान और सम्बोधप्रकरण में वे विशेषरूप से परिलक्षित होते हैं। जहाँ शास्त्रवार्तासमुच्चय और धूर्ताख्यान में वे दूसरों की कमियों को उजागर करते हैं वहीं सम्बोधप्रकरण में अपने पक्ष की समीक्षा करते हुए उसकी कमियों का भी निर्भीक रूप से चित्रण करते हैं।

हरिभद्र अपने युग के धर्म-सम्प्रदायों में उपस्थित अन्तर और बाह्य के द्वैत को उजागर करते हुए कहते हैं, "लोग धर्म-मार्ग की बातें करते हैं, किन्तु सभी तो उस धर्म-मार्ग से रहित हैं।"[१] मात्र बाहरी क्रियाकाण्ड धर्म नहीं है। धर्म तो वहाँ होता है जहाँ परमात्म-तत्त्व की गवेषणा हो। दूसरे शब्दों में, जहाँ आत्मानुभूति हो, 'स्व' को जानने और पाने का प्रयास हो। जहाँ परमात्म-तत्त्व को जानने और पाने का प्रयास नहीं है वहाँ धर्म-मार्ग नहीं है। वे कहते हैं — जिसमें परमात्म-तत्त्व की मार्गणा है, परमात्मा की खोज और प्राप्ति है, वही धर्म-मार्ग मुख्य-मार्ग है।[२] आगे वे पुनः धर्म के मर्म को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं — जहाँ विषय-वासनाओं का त्याग हो; क्रोध, मान, माया और लोभरूपी कषायों से निवृत्ति हो; वही तो धर्म-मार्ग है। जिस धर्म-मार्ग या साधना-पथ में इसका अभाव है वह तो ( हरिभद्र

---

१. मग्गो मग्गो लोए भणंति, सव्वे वि मग्गणा रहिया।

— सम्बोधप्रकरण, १/४ पूर्वार्ध

२. परमप्प मग्गणा जत्थ तम्मग्गो मुक्ख मग्गुति ।। वही, १/४ उत्तरार्ध

की दृष्टि में ) नाम का धर्म है ।[1] वस्तुतः धर्म के नाम पर जो कुछ हुआ है और हो रहा है उसके सम्बन्ध में हरिभद्र की यह पीड़ा मर्मान्तक है । जहाँ विषय-वासनाओं का पोषण होता हो, जहाँ घृणा-द्वेष और अहंकार के तत्त्व अपनी मुट्ठी में धर्म को दबोचे हुए हों, उसे धर्म कहना धर्म की विडम्बना है । हरिभद्र की दृष्टि में वह धर्म नहीं अपितु धर्म के नाम पर धर्म का आवरण डाले हुए कुछ अन्य अर्थात् अधर्म ही है । विषय-वासनाओं और कषायों अर्थात् क्रोधादि दुष्प्रवृत्तियों के त्याग के अतिरिक्त धर्म का अन्य कोई रूप हो ही नहीं सकता है । उन सभी लोगों की, जो धर्म के नाम पर अपनी वासनाओं और अहंकार के पोषण का प्रयत्न करते हैं और मोक्ष को अपने अधिकार की वस्तु मानकर यह कहते हैं कि मोक्ष केवल हमारे धर्म-मार्ग का आचरण करने से होगा, समीक्षा करते हुए हरिभद्र यहाँ तक कह देते हैं कि धर्म-मार्ग किसी एक सम्प्रदाय की बपौती नहीं है, जो भी समभाव की साधना करेगा वह मुक्त होगा, वह चाहे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या अन्य कोई ।[2] वस्तुतः उस युग में जब साम्प्रदायिक दुरभिनिवेश आज की भाँति ही अपने चरम सीमा पर थे, यह कहना न केवल हरिभद्र की उदारता की सदाशयता का प्रतीक है, अपितु उनके एक क्रान्तदर्शी आचार्य होने का प्रमाण भी है । उन्होंने जैन-परम्परा के निक्षेप के सिद्धान्त को आधार बनाकर धर्म को भी चार भागों में विभाजित कर दिया[3] —

( १ ) **नामधर्म** — धर्म का वह रूप जो धर्म कहलाता है, किन्तु जिसमें धार्मिकता का कोई लक्षण नहीं है । वह धर्मतत्त्व से रहित मात्र नाम का धर्म है ।

( २ ) **स्थापनाधर्म** — जिन क्रियाकाण्डों को धर्म मान लिया जाता है, वे वस्तुतः धर्म नहीं धार्मिकता के परिचायक बाह्य रूप मात्र हैं । पूजा, तप आदि धर्म के प्रतीक हैं, किन्तु भावना के अभाव में वे वस्तुतः धर्म नहीं हैं । भावनारहित मात्र क्रियाकाण्ड स्थापना धर्म है ।

( ३ ) **द्रव्यधर्म** — वे आचार-परम्पराएँ, जो कभी धर्म थीं, या धार्मिक समझी जाती थीं, किन्तु वर्तमान सन्दर्भ में धर्म नहीं हैं । सत्वशून्य

---

१. जत्थ य विसय-कसायच्चागो मग्गो हविज्ज णो अण्णो ।
सम्बोधप्रकरण, १/५ पूर्वार्ध

२. सेयम्बरो य आसम्बरो य बुद्धो य अहव अण्णो वा ।
समभावभावि अप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो ।। वही, १/३

३. नामाइ चउप्पभेओ भणिओ । वही, १/५
(व्याख्या लेखक की अपनी है)

अप्रासंगिक बनी धर्म-परम्पराएँ ही द्रव्यधर्म हैं।

**(४) भावधर्म** — जो वस्तुतः धर्म है वही भाव धर्म है। यथा -- समभाव की साधना, विषयकषाय से निवृत्ति आदि भावधर्म हैं।

हरिभद्र धर्म के इन चार रूपों में भावधर्म को ही प्रधान मानते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार तक्रादि के संयोग, मन्थन की प्रक्रिया और अग्नि द्वारा परितापन के फलस्वरूप दूध में घृत प्रकट होता है, उसी प्रकार धर्म-मार्ग के द्वारा दूध रूपी आत्मा घृत रूप परमात्मतत्त्व को प्राप्त होता है।[१] वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि यह जो भावगत धर्म है, वही विशुद्धि का हेतु है।[२] यद्यपि हरिभद्र के इस कथन का यह आशय भी नहीं लेना चाहिए कि हरिभद्र कर्मकाण्ड के पूर्णतः विरोधी हैं। उन्होंने स्वयं ही सम्बोधप्रकरण की लगभग ५०-६० गाथाओं में आत्मशुद्धि निमित्त जिनपूजा और उसमें होने वाली अशातनाओं का सुन्दर चित्रण किया है। मात्र उनका प्रतिपाद्य यह है कि इन कर्मकाण्डों का मूल्य भावना-शुद्धि के आधार पर ही निर्धारित होता है।[३] यदि धार्मिक जीवन में वासना और कषायों का शमन और आत्म-विशुद्धि नहीं होती है तो कर्मकाण्ड का कोई मूल्य नहीं रह जाता है। वस्तुतः हरिभद्र साध्य की उपलब्धि के आधार पर ही साधन का मूल्यांकन करते हैं। वे उन विचारकों में से हैं जिन्हें धर्म के मर्म की पहचान है, अतः वे धर्म के नाम पर ढोंग, आडम्बर और लोकैषणा की पूर्ति के प्रयत्नों को कोई स्थान नहीं देना चाहते हैं। यही उनकी क्रान्तधर्मिता है।

हरिभद्र के युग में जैन-परम्परा में चैत्यवास का विकास हो चुका था। अपने आपको श्रमण और त्यागी कहने वाला मुनिवर्ग जिनपूजा और मन्दिर-निर्माण के नाम पर न केवल परिग्रह का संचय कर रहा था, अपितु जिनद्रव्य (जिन प्रतिमा को समर्पित द्रव्य) का अपनी विषय-वासनाओं की पूर्ति में उपयोग भी कर रहा था। जिन-प्रतिमा और जिन-मन्दिर तथाकथित श्रमणों की ध्यान-भूमि या साधना-भूमि न बनकर भोग-भूमि बन रहे थे। हरिभद्र जैसे क्रांतदर्शी आचार्य के लिये यह सब देख पाना सम्भव नहीं था, अतः उन्होंने इसके विरोध में अपनी कलम चलाने का निर्णय लिया। वे लिखते हैं — द्रव्य-पूजा तो गृहस्थों के लिये है, मुनि के लिए तो केवल भाव-पूजा है। जो केवल मुनि वेशधारी हैं, मुनि-आचार का पालन नहीं करते

---

१. तक्काइ जोय करणा खोरं पयउं घयं जहा हुज्जा। सम्बोधप्रकरण, १/७
२. भावगयं तं मग्गो तस्स विसुद्धीइ हेउणो भणिया। वही, १/११ पूर्वार्द्ध
३. तम्मि य पढमे सुद्दे सव्वाणि तयणुसाराणि। वही, १/१०

हैं, उनके लिए द्रव्य–पूजा जिन–प्रवचन की निन्दा का कारण होने से उचित नहीं है (सम्बोधप्रकरण, १/२७३)। वस्तुत: यहाँ हरिभद्र ने मन्दिर–निर्माण, प्रतिष्ठा, पूजा आदि कार्यों में उलझने पर मुनि–वर्ग का जो पतन हो सकता था, उसका पूर्वानुमान कर लिया था। यति संस्था के विकास से उनका यह अनुमान सत्य ही सिद्ध हुआ। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा उसमें एक ओर उनके युग के समाज के प्रति उनकी आत्म–पीड़ा मुखर हो रही है तो दूसरी ओर उसमें एक धर्मक्रान्ति का स्वर भी सुनाई दे रहा है। जिन–द्रव्य को अपनी वासना–पूर्ति का साधन बनाने वाले उन श्रावकों एवं तथाकथित श्रमणों को ललकारते हुए वे कहते हैं — जो श्रावक जिन–प्रवचन और ज्ञान–दर्शन गुणों की प्रभावना और वृद्धि करने वाले जिन–द्रव्य का जिनाज्ञा के विपरीत उपयोग करते हैं, दोहन करते हैं अथवा भक्षण करते हैं, वे क्रमश: भवसमुद्र में भ्रमण करने वाले, दुर्गति में जाने वाले और अनन्त संसारी होते हैं।[१] इसी प्रकार जो साधु जिनद्रव्य का भोजन करता है वह प्रायश्चित्त का पात्र है।[२] वस्तुत: यह सब इस तथ्य का भी सूचक है कि उस युग में धर्म साधना का माध्यम न रहकर वासना–पूर्ति का माध्यम बन रहा था। अत: हरिभद्र जैसे प्रबुद्ध आचार्य के लिये उसके प्रति संघर्ष करना आवश्यक हो गया।

सम्बोधप्रकरण में हरिभद्र ने अपने युग के जैन साधुओं का जो चित्रण किया है वह एक ओर जैन धर्म में साधु–जीवन के नाम पर जो कुछ हो रहा था उसके प्रति हरिभद्र की पीड़ा को प्रदर्शित करता है तो दूसरी ओर यह भी बताता है कि हरिभद्र तत्कालीन परिस्थितियों के मूक दर्शक और तटस्थ समीक्षक ही नहीं थे, अपितु उनके मन में सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति की एक तीव्र आकांक्षा भी थी। वे अपनी समालोचना के द्वारा जनसमाज में एक परिवर्तन लाना चाहते थे।

तत्कालीन तथाकथित श्रमणों के आचार–व्यवहार पर कटाक्ष करते हुए वे लिखते हैं कि जिन–प्रवचन में पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और यथाछन्द ( स्वेच्छाचारी ) – ये पाँचों अवन्दनीय हैं। यद्यपि ये लोग जैन मुनि का वेश धारण करते हैं, किन्तु इनमें मुनित्व का लक्षण नहीं है। मुनि–वेश धारण करके भी ये क्या–क्या दुष्कर्म करते थे, इसका सजीव चित्रण तो वे अपने ग्रन्थ सम्बोधप्रकरण के द्वितीय अधिकार में 'कुगुरु गुर्व्वाभास पार्श्वस्थ आदि स्वरूप' के अन्तर्गत १७१ गाथाओं में विस्तार से

१. सम्बोधप्रकरण, १/९९–१०४

२. वही, १/१०८

करते हैं। इस संक्षिप्त निबन्ध में उन सबकी समग्र चर्चा एवं व्याख्या करना तो सम्भव नहीं है, फिर भी हरिभद्र की कठोर समालोचक दृष्टि का परिचय देने के लिये कुछ विवरण देना भी आवश्यक है। वे लिखते हैं, ये मुनि-वेशधारी तथाकथित श्रमण आवास देने वाले का या राजा के यहाँ का भोजन करते हैं, बिना कारण ही अपने लिये लाए गए भोजन को स्वीकार करते हैं, भिक्षाचर्या नहीं करते हैं, आवश्यक कर्म अर्थात् प्रतिक्रमण आदि श्रमण-जीवन के अनिवार्य कर्तव्य का पालन नहीं करते हैं, कौतुक कर्म, भूत-कर्म, भविष्य-फल एवं निमित्त-शास्त्र के माध्यम से धन-संचय करते हैं, ये घृत-मक्खन आदि विकृतियों को संचित करके खाते हैं, सूर्य-प्रमाण भोजी होते हैं अर्थात् सूर्योदय से सूर्यास्त तक अनेक बार खाते रहते हैं, न तो साधु-समूह ( मण्डली ) में बैठकर भोजन करते हैं और न केशलुंचन करते हैं।[१] फिर ये करते क्या हैं ? हरिभद्र लिखते हैं, सवारी में घूमते हैं, अकारण कटि वस्त्र बाँधते हैं और सारी रात निश्चेष्ट होकर सोते रहते हैं। न तो आते-जाते समय प्रमार्जन करते हैं, न अपनी उपाधि (सामग्री) का प्रति-लेखन करते हैं और न स्वाध्याय ही करते हैं। अनेषणीय पुष्प, फल और पेय ग्रहण करते हैं। भोज-समारोहों में जाकर सरस आहार ग्रहण करते हैं। जिन-प्रतिमा का रक्षण एवं क्रय-विक्रय करते हैं। उच्चाटन आदि कर्म करते हैं। नित्य दिन में दो बार भोजन करते हैं तथा लवंग, ताम्बूल और दूध आदि विकृतियों का सेवन करते हैं। विपुल मात्रा में दुकूल आदि वस्त्र, बिस्तर, जूते, वाहन आदि रखते हैं। स्त्रियों के समक्ष गीत गाते हैं। आर्यिकाओं के द्वारा लायी सामग्री लेते हैं। लोक-प्रतिष्ठा के लिए मुण्डन करवाते हैं तथा मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण धारण करते हैं। चैत्यों में निवास करते हैं, (द्रव्य) पूजा आदि कार्य आरम्भ करवाते हैं, जिन-मन्दिर बनवाते हैं, हिरण्य-सुवर्ण रखते हैं, नीच कुलों को द्रव्य देकर उनसे शिष्य ग्रहण करते हैं। मृतक-कृत्य निमित्त जिन-पूजा करवाते हैं, मृतक के निमित्त जिन-दान (चढ़ावा) करवाते हैं। धन-प्राप्ति के लिये गृहस्थों के समक्ष अंग-सूत्र आदि का प्रवचन करते हैं। अपने हीनाचारी मृत गुरु के निमित्त नदिकर्म, बलिकर्म आदि करते हैं। पाठ-महोत्सव रचाते हैं। व्याख्यान में महिलाओं से अपना गुणगान करवाते हैं। यति केवल स्त्रियों के सम्मुख और आर्यिकाएँ केवल पुरुषों के सम्मुख व्याख्यान करती हैं। इस प्रकार जिन-आज्ञा का अपलाप कर मात्र अपनी वासनाओं का पोषण करते हैं। ये व्याख्यान करके गृहस्थों से धन की याचना करते हैं। ये तो ज्ञान के भी

---

१. सम्बोधप्रकरण, २/१०, १३, ३२, ३३, ३४.

विक्रेता हैं। ऐसे आर्यिकाओं के साथ रहने और भोजन करने वाले द्रव्य संग्राहक, उन्मार्ग के पक्षधर मिथ्यात्वपरायण न तो मुनि कहे जा सकते हैं और न आचार्य ही हैं।[१] ऐसे लोगों का वन्दन करने से न तो कीर्ति होती है और न निर्जरा ही, इसके विपरीत शरीर को मात्र कष्ट और कर्मबन्धन होता है।[२]

वस्तुत: जिस प्रकार गन्दगी में गिरी हुई माला को कोई भी धारण नहीं करता है, वैसे ही ये भी अपूज्य हैं।[३] हरिभद्र ऐसे वेशधारियों को फटकारते हुए कहते हैं — यदि महापूजनीय यति (मुनि) वेश धारण करके शुद्ध चरित्र का पालन तुम्हारे लिए शक्य नहीं है तो फिर गृहस्थ वेश क्यों नहीं धारण कर लेते हो ? अरे, गृहस्थवेश में कुछ प्रतिष्ठा तो मिलेगी, किन्तु मुनि-वेश धारण करके यदि उसके अनुरूप आचरण नहीं करोगे तो उल्टे निन्दा के ही पात्र बनोगे।[४] यह उन जैसे साहसी आचार्य का कार्य हो सकता है जो अपने सहवर्गियों को इतने स्पष्ट रूप में कुछ कह सके। जैसा कि मैंने पूर्व पृष्ठों में चर्चा की है, हरिभद्र तो इतने उदार हैं कि वे अपनी विरोधी दर्शन-परम्परा के आचार्यों को भी महामुनि, सुवैद्य जैसे उत्तम विशेषणों से सम्बोधित करते हैं, किन्तु वे उतने ही कठोर होना भी जानते हैं, विशेष रूप से उनके प्रति जो धार्मिकता का आवरण डालकर भी अधार्मिक हैं। ऐसे लोगों के प्रति यह क्रान्तिकारी आचार्य कहता है —

ऐसे दुश्शील, साधु-पिशाचों को जो भक्तिपूर्वक वन्दन नमस्कार करता है, क्या वह महापाप नहीं है ?[५] अरे इन सुखशील स्वच्छन्दाचारी मोक्ष-मार्ग के बैरी, आज्ञाभ्रष्ट साधुओं को संयति अर्थात् मुनि मत कहो। अरे, देवद्रव्य के भक्षण में तत्पर, उन्मार्ग के पक्षधर और साधुजनों को दूषित करने वाले इन वेशधारियों को संघ मत कहो। अरे इन अधर्म और अनीति के पोषक, अनाचार का सेवन करने वाले और साधुता के चोरों को संघ मत कहो। जो ऐसे (दुराचारियों के समूह) को राग या द्वेष के वशीभूत होकर

---

१. सम्बोधप्रकरण, २/३४-३६, ४२, ४६, ४९-५०, ५२, ५६-७४ ८८-९२
२. वही, २/२०
३. जह असुइ ठाणंपडिया चंपकमाला न कीरते सीसे।
पासत्थाइठाणे वट्टमाणा इह अपुज्जा ।। वही, २/२२
४. जइ चरिउं नो सक्को सुद्धं जइलिंग महवपूयट्ठी।
तो गिहिलिंग गिण्हे नो लिंगी पूयणारहिओ ।। वही, १/२७५
५. एयारिसाण दुस्सीलयाण साहुपिसायाण मत्ति पूव्वं।
जे वंदणनमंसाइ कुव्वंति न महापावा ? वही, १/११४

भी संघ कहता है उसे भी छेद-प्रायश्चित्त होता है।[1] हरिभद्र पुनः कहते हैं— जिनाज्ञा का अपलाप करने वाले इन मुनि वेशधारियों के संघ में रहने की अपेक्षा तो गर्भवास और नरकवास कहीं अधिक श्रेयस्कर है।[2]

हरिभद्र की यह शब्दावली इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि धर्म के नाम पर अधर्म का पोषण करने वाले अपने ही सहवर्गियों के प्रति उनके मन में कितना विद्रोह एवं आक्रोश है। वे तत्कालीन जैन-संघ को स्पष्ट चेतावनी देते हैं कि ऐसे लोगों को प्रश्रय मत दो, उनका आदर-सत्कार मत करो, अन्यथा धर्म का यथार्थ स्वरूप ही धूमिल हो जाएगा। वे कहते हैं कि यदि आम और नीम की जड़ों का समागम हो जाय तो नीम का कुछ नहीं बिगड़ेगा, किन्तु उसके संसर्ग में आम का अवश्य विनाश हो जाएगा।[3] वस्तुतः हरिभद्र की यह क्रान्तदर्शिता यथार्थ ही है, क्योंकि दुराचारियों के सान्निध्य में चारित्रिक पतन की सम्भावना प्रबल होती है। वे स्वयं कहते हैं, जो जिसकी मित्रता करता है, तत्काल वैसा हो जाता है। तिल जिस फूल में डाल दिये जाते हैं उसी की गन्ध के हो जाते हैं।[4] हरिभद्र इस माध्यम से समाज को उन लोगों से सतर्क रहने का निर्देश देते हैं जो धर्म का नकाब डाले अधर्म में जीते हैं, क्योंकि ऐसे लोग दुराचारियों की अपेक्षा भी समाज के लिये अधिक खतरनाक हैं। आचार्य ऐसे लोगों पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं — जिस प्रकार कुलवधू का वेश्या के घर जाना निषिद्ध है, उसी प्रकार सुश्रावक के लिये हीनाचारी यति का सान्निध्य निषिद्ध है। दुराचारी अगीतार्थ के वचन सुनने की अपेक्षा तो दृष्टि विष सर्प का सान्निध्य या

---

१. सुहसीलाओ सच्छंदचारिणो वेरिणो सिवपहस्स।
आणाभट्ठाओ बहुजणाओ मा भणह संवुत्ति॥
देवाइ दव्वभक्खणतप्परा तह उमग्गपक्खकरा।
साहु जणाणपओसं कारिणं माभणह संघं॥
जहम्म अनीई अणायार सेविणो धम्मनीइं पडिकूला।
साहुपभिइ चउरो वि बहुया अवि मा भणह संघं॥
असंघं संघ जे भणति रागेण अहव दोसेण।
छेओ वा मुहुत्तं पच्छित्तं जायए तेसिं॥
— सम्बोधप्रकरण, १/११९-१२१, १२३

२. गब्भपवेसो वि वरं भद्दवरो नरयवास पासो वि।
मा जिण आणा लोवकरे वसणं नाम संघे वि॥ वही, २/१३२

३. वही, २/१०३

४. वही, २/१०४

हलाहल विष का पान कहीं अधिक अच्छा है ( क्योंकि ये तो एक जीवन का विनाश करते हैं, जबकि दुराचारी का सान्निध्य तो जन्म-जन्मान्तर का विनाश कर देता है ) ।[1]

फिर भी ऐसा लगता है कि इस क्रान्तदर्शी आचार्य की बात अनसुनी हो रही थी, क्योंकि शिथिलाचारियों के अपने तर्क थे। वे लोगों के सम्मुख कहते थे कि सामग्री (शरीर-सामर्थ्य) का अभाव है। वक्र जड़ों का काल है। दुषमा काल में विधि मार्ग के अनुरूप आचरण कठिन है। यदि कठोर आचार की बात कहेंगे तो कोई मुनि व्रत धारण नहीं करेगा। तीर्थोच्छेद और सिद्धान्त के प्रवर्तन का प्रश्न है, हम क्या करें।[2] उनके इन तर्कों से प्रभावित हो मूर्ख जन-साधारण कह रहा था कि कुछ भी हो वेश तो तीर्थङ्कर प्रणीत है, अत: वन्दनीय है। हरिभद्र भारी मन से मात्र यही कहते हैं कि मैं अपने सिर की पीड़ा किससे कहूँ।[3]

किन्तु यह तो प्रत्येक क्रान्तिकारी की नियति होती है। प्रथम क्षण में जनसाधारण भी उसके साथ नहीं होता है। अत: हरिभद्र का इस पीड़ा से गुजरना उनके क्रान्तिकारी होने का ही प्रमाण है। सम्भवत: जैन-परम्परा में यह प्रथम अवसर था, जब जैन समाज के तथाकथित मुनि वर्ग को इतना स्पष्ट शब्दों में किसी आचार्य ने लताड़ा हो। वे स्वयं दु:खी मन से कहते हैं — हे प्रभु ! जंगल में निवास और दरिद्र का साथ अच्छा है, अरे व्याधि और मृत्यु भी श्रेष्ठ है, किन्तु इन कुशीलों का सान्निध्य अच्छा नहीं है। अरे (अन्य परम्परा के) हीनाचारी का साथ भी अच्छा हो सकता है, किन्तु (अपनी ही परम्परा के) इन कुशीलों का साथ तो बिल्कुल ही अच्छा नहीं है। क्योंकि हीनाचारी तो अल्प नाश करता है किन्तु ये तो शीलरूपी निधि का सर्वनाश ही कर देते हैं।[4] वस्तुत: इस कथन के पीछे आचार्य की एक

---

१. वेसागिहेसु गमणं जहा निसिद्धं सुकुल बहुयाणं।
तह हीणायार जइ जण संग सड्ढाण पड़िसिद्धं ।।
परं दिट्ठि विसो सप्पो वरं हलाहलं विसं।
हीणायार अगीयत्थ वयणपसंगं खु णो भद्दो ।।
— सम्बोधप्रकरण, श्रावक-धर्माधिकार २, ३

२. वही, २/७७-७८

३. बाला वंयति एवं वेसो तित्थंकराण एसोवि।
नमणिज्जो धिद्धि अहो सिरसूलं कस्स पुक्करिमों ।। वही, २/७६

४. वरं वाही वरं मच्चू वरं दारिद्दसंगमो।
वरं अरण्णेवासो य मा कुसीलाण संगमो ।।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि है। क्योंकि जब हम किसी को इतर परम्परा का मान लेते हैं तो उसकी कमियों को कमियों के रूप में ही जानते हैं। अत: उसके सम्पर्क के कारण संघ में उतनी विकृति नहीं आती है, जितनी जैन मुनि का वेश धारण कर दुराचार का सेवन करने वाले के सम्पर्क से। क्योंकि उसके सम्पर्क से उस पर श्रद्धा होने पर व्यक्ति का और संघ का जीवन पतित बन जाएगा। यदि सद्भाग्य से अश्रद्धा हुई तो वह जिन प्रवचन के प्रति अश्रद्धा को जन्म देगा (क्योंकि सामान्यजन तो शास्त्र नहीं वरन् उस शास्त्र के अनुगामी का जीवन देखता है), फलत: उभयतो सर्वनाश का कारण होगी, अत: आचार्य हरिभद्र बार-बार जिन-शासन-रसिकों को निर्देश देते हैं — ऐसे जिनशासन के कलंक, शिथिलाचारियों और दुराचारियों की तो छाया से भी दूर रहो, क्योंकि ये तुम्हारे जीवन, चारित्रबल और श्रद्धा सभी को चौपट कर देंगे। हरिभद्र को जिन-शासन के विनाश का खतरा दूसरों से नहीं अपने ही लोगों से अधिक लगा। कहा भी है —

**इस घर को आग लग गई घर के चिराग से।**

वस्तुत: एक क्रान्तदर्शी आचार्य के रूप में हरिभद्र का मुख्य उद्देश्य था जैन संघ में उनके युग में जो विकृतियाँ आ गयी थीं, उन्हें दूर करना। अत: उन्होंने अपने ही पक्ष की कमियों को अधिक गम्भीरता से देखा। जो सच्चे अर्थ में समाज-सुधारक होता है, जो सामाजिक जीवन में परिवर्तन लाना चाहता है, वह प्रमुख रूप से अपनी ही कमियों को खोजता है। हरिभद्र ने इस रूप में सम्बोधप्रकरण में एक क्रान्तिकारी की भूमिका निभाई है। क्रान्तिकारी के दो कार्य होते हैं, एक तो समाज में प्रचलित विकृत मान्यताओं की समीक्षा करना और उन्हें समाप्त करना, किन्तु मात्र इतने से उसका कार्य पूरा नहीं होता है। उसका दूसरा कार्य होता है सत् मान्यताओं को प्रतिष्ठित या पुन: प्रतिष्ठित करना। हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र ने दोनों बातों को अपनी दृष्टि में रखा है।

उन्होंने अपने ग्रन्थ सम्बोधप्रकरण में देव, गुरु, धर्म, श्रावक आदि का सम्यक् स्वरूप कैसा होना चाहिए, इसकी भी विस्तृत व्याख्या की है। हरिभद्र ने जहाँ वेशधारियों की समीक्षा की है, वहीं आगमोक्त दृष्टि से गुरु कैसा होना चाहिये, इसकी विस्तृत विवेचना भी की है। हम उसके विस्तार में न जाकर संक्षेप में यही कहेंगे कि हरिभद्र की दृष्टि में जो पाँच महाव्रतों,

---

हीणायारो वि वरं मा कुसीलएण संगमो भद्दं।
जम्हा हीणो अप्प नासइ सव्वं हु सील निहिं॥

— सम्बोधप्रकरण, २/१०१-१०२

पाँच समितियों, तीन गुप्तियों के पालन में तत्पर है जो जितेन्द्रिय, संयमी, परिषहजयी, शुद्ध आचरण करनेवाला और सत्य-मार्ग को बताने वाला है, वही सुगुरु है ।[१]

हरिभद्र के युग में गुरु के सम्बन्ध में एक प्रकार का वैयक्तिक अभिनिवेश विकसित हो गया था। कुलगुरु की वैदिक अवधारणा की भाँति प्रत्येक गुरु के आस-पास एक वर्ग एकत्रित हो रहा था, जो उन्हें अपना गुरु मानता था तथा अन्य को गुरु रूप में स्वीकार नहीं करता था। श्रावकों का एक विशेष समूह एक विशेष आचार्य को अपना गुरु मानता था, जैसा कि आज भी देखा जाता है। हरिभद्र ने इस परम्परा में साम्प्रदायिकता के दुरभिनिवेश के बीज देख लिये थे। उन्हें यह स्पष्ट लग रहा था कि इससे साम्प्रदायिक अभिनिवेश दृढ़ होंगे। समाज विभिन्न छोटे-छोटे वर्गों में बँट जाएगा। इसके विकास का दूसरा मुख्य खतरा यह था कि गुणपूजक जैन धर्म व्यक्तिपूजक बन जायेगा और वैयक्तिक रागात्मकता के कारण चारित्रिक दोषों के बावजूद भी एक विशेष वर्ग की, एक विशेष आचार्य की इस परम्परा से रागात्मकता जुड़ी रहेगी। युग-द्रष्टा इस आचार्य ने सामाजिक विकृति को समझा और स्पष्ट रूप से निर्देश दिया — श्रावक का कोई अपना और पराया गुरु नहीं होता है, जिनाज्ञा के पालन में निरत सभी उसके गुरु हैं।[२] काश, हरिभद्र के द्वारा कथित इस सत्य को हम आज भी समझ सकें तो समाज की टूटी हुई कड़ियों को पुनः जोड़ा जा सकता है।

## क्रान्तदर्शी समालोचक : अन्य परम्पराओं के सन्दर्भ में

पूर्व में हमने जैन परम्परा में व्याप्त अन्धविश्वासों एवं धर्म के नाम पर होने वाली आत्म-प्रवंचनाओं के प्रति हरिभद्र के क्रान्तिकारी अवदान की चर्चा सम्बोधप्रकरण के आधार पर की है। अब मैं अन्य परम्पराओं में प्रचलित अन्धविश्वासों की हरिभद्र द्वारा की गई शिष्ट समीक्षा को प्रस्तुत करूँगा।

हरिभद्र की क्रान्तदर्शी दृष्टि जहाँ एक ओर अन्य धर्म एवं दर्शनों में निहित सत्य को स्वीकार करती है, वहीं दूसरी ओर उनकी अयुक्तिसंगत

---

१. विस्तार के लिए देखें सम्बोधप्रकरण गुरुस्वरूपाधिकार। इसमें ३७५ गाथाओं में सुगुरु का स्वरूप वर्णित है।

२. नो अप्पणा पराया गुरुणो कइया वि हुंति सड्ढाणं।
जिण वयण रयणनिहिणो सव्वे ते वन्निया गुरुणो ॥
— सम्बोधप्रकरण, गुरुस्वरूपाधिकारः ३

कपोलकल्पनाओं की व्यंग्यात्मक शैली में समीक्षा भी करती है। इस सम्बन्ध में उनका धूर्ताख्यान नामक ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ की रचना का मुख्य उद्देश्य भारत (महाभारत), रामायण और पुराणों की काल्पनिक और अयुक्तिसंगत अवधारणाओं की समीक्षा करना है। यह समीक्षा व्यंग्यात्मक शैली में है। धर्म के सम्बन्ध में कुछ मिथ्या विश्वास युगों से रहे हैं, फिर भी पुराण-युग में जिस प्रकार मिथ्या-कल्पनाएँ प्रस्तुत की गईं — वे भारतीय मनीषा के दिवालियेपन की सूचक सी लगती हैं। इस पौराणिक प्रभाव से ही जैन-परम्परा में भी महावीर के गर्भ-परिवर्तन, उनके अँगूठे को दबाने मात्र से मेरु-कम्पन जैसी कुछ चामत्कारिक घटनाएँ प्रचलित हुईं। यद्यपि जैन-परम्परा में भी चक्रवर्ती, वासुदेव आदि की रानियों की संख्या एवं उनकी सेना की संख्या, तीर्थङ्करों के शरीर-प्रमाण एवं आयु आदि के विवरण सहज विश्वसनीय तो नहीं लगते हैं, किन्तु तार्किक असंगति से युक्त नहीं हैं। सम्भवतः यह सब भी पौराणिक परम्परा का प्रभाव था जिसे जैन परम्परा को अपने महापुरुषों की अलौकिकता को बताने हेतु स्वीकार करना पड़ा था; फिर भी यह मानना होगा कि जैन-परम्परा में ऐसी कपोल-कल्पनाएँ अपेक्षाकृत बहुत ही कम हैं। साथ ही महावीर के गर्भ-परिवर्तन की घटना, जो मुख्यतः ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय की श्रेष्ठता स्थापित करने हेतु गढ़ी गई थी, के अतिरिक्त, सभी पर्याप्त परवर्ती काल की हैं और पौराणिक युग की ही देन हैं और इनमें कपोल-काल्पनिकता का पुट भी अधिक नहीं है। गर्भ-परिवर्तन की घटना छोड़कर, जिसे आज विज्ञान ने सम्भव बना दिया है, अविश्वसनीय और अप्राकृतिक रूप से जन्म लेने का जैन परम्परा में एक भी आख्यान नहीं है, जबकि पुराणों में ऐसे हजार से अधिक आख्यान हैं। जैन-परम्परा सदैव तर्कप्रधान रही है, यही कारण था कि महावीर की गर्भ-परिवर्तन की घटना को भी उसके एक वर्ग ने स्वीकार नहीं किया।

हरिभद्र के ग्रन्थों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये एक ऐसे आचार्य हैं जो युक्ति को प्रधानता देते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि महावीर ने हमें कोई धन नहीं दिया है और कपिल आदि ऋषियों ने हमारे धन का अपहरण नहीं किया है, अतः हमारा न तो महावीर के प्रति राग है और न कपिल आदि ऋषियों के प्रति द्वेष। जिसकी भी बात युक्ति-संगत हो उसे ग्रहण करना चाहिये।[१] इस प्रकार हरिभद्र तर्क को ही श्रद्धा का आधार मानकर चलते हैं। जैन-परम्परा के अन्य आचार्यों के समान वे

---

१. लोकतत्त्वनिर्णय, ३२-३३

भी श्रद्धा के विषय देव, गुरु और धर्म के यथार्थ स्वरूप के निर्णय के लिए क्रमश: वीतरागता, सदाचार और अहिंसा को कसौटी मानकर चलते हैं और तर्क या युक्ति से जो इन कसौटियों पर खरा उतरता है, उसे स्वीकार करने की बात कहते हैं। जिस प्रकार सम्बोधप्रकरण में मुख्य रूप से गुरु के स्वरूप की समीक्षा करते हैं उसी प्रकार धूर्ताख्यान में वे परोक्षत: देव या आराध्य के स्वरूप की समीक्षा करते प्रतीत होते हैं। वे यह नहीं कहते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु एवं महादेव हमारे आराध्य नहीं हैं। वे तो स्वयं ही कहते हैं जिसमें कोई भी दोष नहीं है और जो समस्त गुणों से युक्त है वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो या महादेव हो, उसे मैं प्रणाम करता हूँ।[१] उनका कहना मात्र यह है कि पौराणिकों ने कपोल-कल्पनाओं के आधार पर उनके चरित्र एवं व्यक्तित्व को जिस अतर्कसंगत एवं भ्रष्ट रूप में प्रस्तुत किया है उससे न केवल उनका व्यक्तित्व धूमिल होता है, अपितु वे जन-साधारण की अश्रद्धा का कारण बनते हैं।

धूर्ताख्यान के माध्यम से हरिभद्र ऐसे अतर्कसंगत अन्धविश्वासों से जन-साधारण को मुक्त करना चाहते हैं, जिनमें उनके आराध्य और उपास्य देवों को चरित्रहीन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के रूप में चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, वायु, अग्नि और धर्म का कुमारी एवं बाद में पाण्डु पत्नी कुन्ती से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर पुत्र उत्पन्न करना, गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या से इन्द्र द्वारा अनैतिक रूप में यौन-सम्बन्ध स्थापित करना, लोक-व्यापी विष्णु का कामी-जनों के समान गोपियों के लिए उद्विग्न होना आदि कथानक इन देवों की गरिमा को खण्डित करते हैं। इसी प्रकार हनुमान का अपनी पूँछ से लंका को घेर लेना अथवा पूरे पर्वत को उठा लाना, सूर्य और अग्नि के साथ सम्भोग करके कुन्ती का न जलना, गंगा का शिव की जटा में समा जाना, द्रोणाचार्य का द्रोण से, कर्ण का कान से, कीचक का बाँस की नली से एवं रक्त कुण्डलिन् का रक्तबिन्दु से जन्म लेना, अण्डे से जगत् की उत्पत्ति, शिवलिंग का विष्णु द्वारा अन्त न पाना, किन्तु उसी लिंग का पार्वती की योनि में समा जाना, जटायु के शरीर को पहाड़ के समान मानना, रावण द्वारा अपने सिरों को काटकर महादेव को अर्पण करना और उनका पुन: जुड़ जाना, बलराम का माया द्वारा गर्भ-परिवर्तन, बालक श्री कृष्ण के पेट में समग्र विश्व का समा जाना, अगस्त्य द्वारा समुद्र-पान और जह्नु के द्वारा गंगापान करना, कृष्ण द्वारा गोबर्धन उठा लेना आदि पुराणों में वर्णित अनेक घटनाएँ या तो उन महान् पुरुषों के व्यक्तित्व को धूमिल

१. योगदृष्टिसमुच्चय, १२९।

करती हैं या आत्म-विरोधी हैं अथवा फिर अविश्वसनीय हैं। यद्यपि यह विचारणीय है कि महावीर के गर्भ-परिवर्तन की घटना, जो कि निश्चित ही हरिभद्र के पूर्व पूर्णतः मान्य हो चुकी थी, को स्वीकार करके भी हरिभद्र बलराम के गर्भ-परिवर्तन को कैसे अविश्वसनीय कह सकते हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि हरिभद्र धूर्ताख्यान में एक धूर्त द्वारा अपने जीवन में घटित अविश्वसनीय घटनाओं का उल्लेख करवाकर फिर दूसरे धूर्त से यह कहलवा देते हैं कि यदि भारत ( महाभारत ), रामायण आदि में घटित उपर्युक्त घटनाएँ सत्य हैं, तो फिर यह भी सत्य हो सकता है।

हरिभद्र द्वारा व्यंग्यात्मक शैली में रचित इस ग्रन्थ का उद्देश्य तो मात्र इतना ही है कि धर्म के नाम पर पलने वाले अन्धविश्वासों को नष्ट किया जाय और पौराणिक कथाओं में देव या महापुरुष के रूप में मान्य व्यक्तित्वों के चरित्र को अनैतिक रूप में प्रस्तुत करके उसकी आड़ में जो पुरोहित वर्ग अपनी दुश्चरित्रता का पोषण करना चाहता था, उसका पर्दाफाश किया जाय। उस युग का पुरोहित प्रथम तो इन महापुरुषों के चरित्रों को अनैतिक रूप में प्रस्तुत कर और उसके आधार पर यह कहकर कि यदि कृष्ण गोपियों के साथ छेड़छाड़ कर सकते हैं, विवाहिता राधा के साथ अपना प्रेम-प्रसंग चला सकते हैं, यदि इन्द्र महर्षि गौतम की पत्नी के साथ छल से सम्भोग कर सकता है तो फिर हमारे द्वारा यह सब करना दुराचार कैसे कहा जा सकता है ? वस्तुतः जिस प्रकार सम्बोधप्रकरण में वे अपनी परम्परा के श्रमण वेशधारी दुश्चरित्र कुगुरुओं को फटकारते हैं, उसी प्रकार धूर्ताख्यान में वे ब्राह्मण परम्परा के तथाकथित धर्म के ठेकेदारों को लताड़ते हैं। फिर भी हरिभद्र की फटकारने की दोनों शैलियों में बहुत बड़ा अन्तर है। सम्बोधप्रकरण में वे सीधे फटकारते हैं जब कि धूर्ताख्यान में व्यंग्यात्मक शैली में। इसमें हरिभद्र की एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि छिपी हुई है। हमें जब अपने घर के किसी सदस्य को कुछ कहना होता है तो सीधे कह देते हैं, किन्तु जब दूसरों को कुछ कहना होता है तो परोक्ष रूप में तथा सभ्य शब्दावली का प्रयोग करते हैं। हरिभद्र धूर्ताख्यान में इस दूसरी व्यंग्यपरक शिष्ट शैली का प्रयोग करते हैं और अन्य परम्परा के देव और गुरु पर सीधा आक्षेप नहीं करते हैं।

दूसरे धूर्ताख्यान, शास्त्रवार्तासमुच्चय, योगदृष्टिसमुच्चय, लोकतत्त्व-निर्णय, सावयपण्णत्ति आदि से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आराध्य या उपास्य के नाम के सम्बन्ध में हरिभद्र के मन में कोई आग्रह नहीं है मात्र आग्रह है तो इस बात का कि उसका चरित्र निर्दोष और निष्कलंक हो।

धूर्ताख्यान में उन्होंने उन सबकी समालोचना की है जो अपनी वासनाओं की पुष्टि के निमित्त अपने उपास्य के चरित्र को धूमिल करते हैं। हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि कृष्ण के चरित्र में राधा और गोपियों को डाल कर हमारे पुरोहित वर्ग ने क्या-क्या नहीं किया ?

हरिभद्र इस सम्बन्ध में सीधे तो कुछ नहीं कहते हैं, मात्र एक प्रश्न चिह्न छोड़ देते हैं कि सराग और सशस्त्र देव में देवत्व (उपास्य) की गरिमा कहाँ तक ठहर पायेगी। अन्य परम्पराओं के देव और गुरु के सम्बन्ध में उनकी सौम्य एवं व्यंग्यात्मक शैली जहाँ पाठक को चिन्तन के लिए विवश कर देती है, वहीं दूसरी ओर वह उनके क्रान्तिकारी, साहसी व्यक्तित्व को प्रस्तुत कर देती है। हरिभद्र सम्बोधप्रकरण में स्पष्ट कहते हैं कि रागी-देव, दुराचारी-गुरु और दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाली प्रवृत्तियों को धर्म मानना, धर्म साधना के सम्यक् स्वरूप को विकृत करना है। अत: हमें इन मिथ्या विश्वासों से ऊपर उठना होगा। इस प्रकार हरिभद्र जनमानस को अन्धविश्वासों से मुक्त कराने का प्रयास कर अपने क्रान्तदर्शी होने का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

वस्तुत: हरिभद्र के व्यक्तित्व में एक ओर उदारता और समभाव के सद्गुण हैं तो दूसरी ओर सत्यनिष्ठा और स्पष्टवादिता भी है। उनका व्यक्तित्व अनेक सद्गुणों का एक पूँजीभूत स्वरूप है। वे पूर्वाग्रह या पक्षाग्रह से मुक्त हैं, फिर भी उनमें सत्याग्रह है, जो उनकी कृतियों में स्पष्टत: परि-लक्षित होता है।

## आगमिक व्याख्याएँ

जैसा कि हमने पूर्व में निर्देश किया है, हरिभद्र जैन आगमों की संस्कृत में व्याख्या लिखने वाले प्रथम आचार्य हैं। आगमों की व्याख्या के सन्दर्भ में उनके निम्न ग्रन्थ उपलब्ध हैं —

(१) दशवैकालिक वृत्ति, (२) आवश्यक लघुवृत्ति, (३) अनु-योगद्वार वृत्ति, (४) नन्दी वृत्ति, (५) जीवाभिगमसूत्र लघुवृत्ति, (६) चैत्यवन्दनसूत्र वृत्ति (ललितविस्तरा) और (७) प्रज्ञापनापदेश व्याख्या।

इनके अतिरिक्त आवश्यकसूत्र बृहत् वृत्ति का और पिण्डनिर्युक्ति वृत्ति के लेखक भी आचार्य हरिभद्र माने जाते हैं, किन्तु वर्तमान में आवश्यक वृत्ति अनुपलब्ध है। जो पिण्डनिर्युक्ति टीका मिलती है उसकी उत्थानिका में यह स्पष्ट उल्लेख है कि इस ग्रन्थ का प्रारम्भ तो हरिभद्र ने किया था, किन्तु वे इसे अपने जीवन-काल में पूर्ण नहीं कर पाए, उन्होंने स्थापनादोष तक की वृत्ति लिखी थी, उसके आगे किसी वीराचार्य ने लिखी।

आचार्य हरिभद्र द्वारा विरचित व्याख्या ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है —

**१. दशवैकालिक वृत्ति** — यह वृत्ति शिष्यबोधिनी या बृहद्वृत्ति के नाम से भी जानी जाती है। वस्तुतः यह वृत्ति दशवैकालिक सूत्र की अपेक्षा उस पर भद्रबाहु विरचित निर्युक्ति पर है। इसमें आचार्य ने दशवैकालिक शब्द का अर्थ, ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगल की आवश्यकता और उसकी व्युत्पत्ति को स्पष्ट करने के साथ ही दशवैकालिक की रचना क्यों की गयी इसे स्पष्ट करते हुए सय्यंभव और उनके पुत्र मनक के पूर्ण कथानक का भी उल्लेख किया है। प्रथम अध्याय की टीका में आचार्य ने तप के प्रकारों की चर्चा करते हुए ध्यान के चारों प्रकारों का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है। इस प्रथम अध्याय की टीका में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण आदि अनुमान के विभिन्न अवयवों एवं हेत्वाभासों की भी चर्चा के अतिरिक्त उन्होंने इसमें निक्षेप के सिद्धान्तों का भी विवेचन किया है।

दूसरे अध्ययन की वृत्ति में तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पाँच इन्द्रिय, पाँच स्थावरकाय, दस प्रकार का श्रमण धर्म और १८००० शीलांगों का भी निर्देश मिलता है। साथ ही इसमें रथनेमि और राजीमती के उत्तराध्ययन में आए हुए कथानक का भी उल्लेख है। तृतीय अध्ययन की वृत्ति में महत् और क्षुल्लक शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने के साथ ही ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार को स्पष्ट किया गया है तथा कथाओं के चार प्रकारों को उदाहरण सहित समझाया गया है। चतुर्थ अध्ययन की वृत्ति में पञ्चमहाव्रत और रात्रिभोजन-विरमण की चर्चा के साथ-साथ जीव के स्वरूप पर भी दार्शनिक दृष्टि से विचार किया गया है। इसमें भाष्यगत अनेक गाथाएँ भी उद्धृत की गयी हैं। इसी प्रकार पंचम अध्ययन की वृत्ति में १८ स्थाणु अर्थात् व्रत-षट्क, काय-षट्क, अकल्प्य भोजन-वर्जन, गृहभाजनवर्जन, पर्यंकवर्जन, निषिध्यावर्जन, स्नानवर्जन और शोभावर्जन का उल्लेख हुआ है। षष्ठ अध्ययन में क्षुल्लकाचार का विवेचन किया गया है। सप्तम अध्ययन की वृत्ति में भाषा की शुद्धि-अशुद्धि का विचार है। अष्टम अध्ययन की वृत्ति में आचार-प्रणिधि की प्रक्रिया एवं फल का प्रतिपादन है। नवम अध्ययन की वृत्ति में विनय के प्रकार और विनय के फल तथा अविनय से होनेवाली हानियों का चित्रण किया गया है। दशम अध्ययन की वृत्ति भिक्षु के स्वरूप की चर्चा करती है। दशवैकालिक वृत्ति के अंत में आचार्य ने अपने को महत्तरा याकिनी का धर्मपुत्र कहा है।

**२. आवश्यक वृत्ति** — यह वृत्ति आवश्यक निर्युक्ति पर आधारित

है। आचार्य हरिभद्र ने इसमें आवश्यक सूत्रों का पदानुसरण न करते हुएं स्वतन्त्र रीति से निर्युक्ति-गाथाओं का विवेचन किया है। निर्युक्ति की प्रथम गाथा की व्याख्या करते हुए आचार्य ने पाँच प्रकार के ज्ञान का स्वरूप प्रतिपादित किया है। इसी प्रकार मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल की भी भेद-प्रभेदपूर्वक व्याख्या की गई है। सामायिक निर्युक्ति की व्याख्या में प्रवचन की उत्पत्ति के प्रसंग पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि कुछ पुरुष स्वभाव से ही ऐसे होते हैं, जिन्हें वीतराग की वाणी अरुचिकर लगती है, इसमें प्रवचनों का कोई दोष नहीं है। दोष तो उन सुनने वालों का है। साथ ही सामायिक के उद्देश, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र आदि तेईस द्वारों का विवेचन करते हुए सामायिक के निर्गम द्वार के प्रसंग में कुलकरों की उत्पत्ति, उनके पूर्वभव, आयु का वर्णन तथा नाभिकुलकर के यहाँ भगवान् ऋषभदेव का जन्म, तीर्थङ्कर नाम, गोत्रकर्म बंधन के कारणों पर प्रकाश डालते हुए अन्य आख्यानों की भाँति प्राकृत में धन नामक सार्थवाह का आख्यान दिया गया है। ऋषभदेव के पारणे का उल्लेख करते हुए विस्तृत विवेचन हेतु 'वसुदेवहिंडी' का नामोल्लेख किया गया है। भगवान् महावीर के शासन में उत्पन्न चार अनुयोगों का विभाजन करने वाले आर्यरक्षित से सम्बद्ध गाथाओं का वर्णन है। चतुर्विंशतिस्तव और वंदना नामक द्वितीय और तृतीय आवश्यक का निर्युक्ति के अनुसार व्याख्यान कर प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ आवश्यक की व्याख्या में ध्यान पर विशेष प्रकाश डाला गया है। साथ ही सात प्रकार के भयस्थानों सम्बन्धी अतिचारों की आलोचना की गाथा उद्धृत की गई है। पञ्चम आवश्यक के रूप में कायोत्सर्ग का विवरण देकर पंच-विधकाय के उत्सर्ग की तथा षष्ठ आवश्यक में प्रत्याख्यान की चर्चा करते हुए वृत्तिकार ने शिष्यहिता नामक आवश्यक टीका सम्पन्न की है। आचार्य हरिभद्र की यह वृत्ति २२,००० श्लोक प्रमाण है।

**३. अनुयोगद्वार वृत्ति** — यह टीका अनुयोगद्वार चूर्णि की शैली पर लिखी गयी है, जो कि नन्दीवृत्ति के बाद की कृति है। इसमें 'आवश्यक' शब्द का निपेक्ष-पद्धति से विचार कर नामादि आवश्यकों का स्वरूप बताते हुए नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। श्रुत का निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया है। स्कन्ध, उपक्रम आदि के विवेचन के बाद आनुपूर्वी को विस्तार से प्रतिपादित किया है। इसके बाद द्विनाम, त्रि-नाम, चतुर्नाम, पञ्चनाम, षट्नाम, सप्तनाम, अष्टनाम, नवनाम और दशनाम का व्याख्यान किया गया है। प्रमाण का विवेचन करते हुए विविध अंगुलों के स्वरूप का वर्णन तथा समय के विवेचन में पल्योपम का विस्तार से वर्णन

किया गया है। शरीर पञ्चक के पश्चात् भावप्रमाण में प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य, आगम, दर्शन, चारित्र, नय और संख्या का व्याख्यान है। नय पर पुन: विचार करते हुए ज्ञाननय और क्रियानय का स्वरूप निरूपित करते हुए ज्ञान और क्रिया दोनों की एक साथ उपयोगिता को सिद्ध किया गया है।

**४. नन्दी वृत्ति** — यह वृत्ति नन्दीचूर्णि का ही रूपान्तर है। इसमें प्राय: उन्हीं विषयों के व्याख्यान हैं जो नन्दीचूर्णि में हैं। इसमें प्रारम्भ में नन्दी के शब्दार्थ, निक्षेप आदि एवं उसके बाद जिन, वीर और संघ की स्तुति की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए तीर्थङ्करावलिका, गणधरावलिका और स्थविरावलिका का प्रतिपादन किया गया है। नन्दी वृत्ति में ज्ञान के अध्ययन की योग्यता-अयोग्यता पर विचार करते हुए लिखा है कि अयोग्य को ज्ञान-दान से वस्तुत: अकल्याण ही होता है। इसके बाद तीन प्रकार की पर्षद् का व्याख्यान, ज्ञान के भेद-प्रभेद, स्वरूप, विषय आदि का विवेचन किया गया है। केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन के क्रमिक उपयोग आदि का प्रतिपादन करते हुए युगपदवाद के समर्थक सिद्धसेन आदि का, क्रमिकत्व के समर्थक जिनभद्रगणि आदि का तथा अभेदवाद के समर्थक वृद्धाचार्यों का उल्लेख किया गया है। इसमें वर्णित सिद्धसेन, सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न हैं, क्योंकि सिद्धसेन दिवाकर तृतीय मत अभेदवाद के प्रवर्तक हैं। द्वितीय मत क्रमिकत्व के समर्थक जिनभद्र आदि को सिद्धान्तवादी कहा गया है। अन्त में श्रुत के श्रवण और व्याख्यान की विधि बताते हुए आचार्य ने नन्द्यध्ययन विवरण सम्पन्न किया है।

**५. जीवाभिगमसूत्र लघुवृत्ति** — इस वृत्ति के अपरनाम के रूप में 'प्रदेशवृत्ति' का उल्लेख मिलता है। इसका ग्रन्थाग्र ११९२ गाथाएँ हैं[१] किन्तु वृत्ति अनुपलब्ध है। जीवाभिगमसूत्र पर आचार्य मलयगिरि कृत एकमात्र वृत्ति उपलब्ध है जिसमें अनेक ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का नामोल्लेख भी किया गया है। उसमें हरिभद्रकृत तत्त्वार्थ टीका का उल्लेख है, परन्तु जीवाभिगम पर उनकी किसी वृत्ति का उल्लेख नहीं है।

**६. चैत्यवन्दनसूत्र वृत्ति (ललितविस्तरा)** — चैत्यवन्दन के सूत्रों पर हरिभद्र ने ललितविस्तरा नाम से एक विस्तृत व्याख्या की रचना की है। यह कृति बौद्ध-परम्परा के ललितविस्तर की शैली में प्राकृत मिश्रित संस्कृत में रची गयी है। यह ग्रन्थ चैत्यवन्दन के अनुष्ठान में प्रयुक्त होने वाले प्राणाति-

---

१. देखें — जिनरत्नकोश, हरिदामोदर वेलंकर, भंडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना १९४४, पृ० १४४

पातदण्डकसूत्र (नमोत्थुणं), चैत्यस्तव (अरिहंत चेइयाणं), चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स), श्रुतस्तव (पुक्खरवर), सिद्धस्तव (सिद्धाणं-बुद्धाणं), प्रणिधान-सूत्र (जय-वीयराय) आदि के विवेचन के रूप में लिखा गया है। मुख्यतः तो यह ग्रन्थ अरहन्त परमात्मा की स्तुतिरूप ही है, परन्तु आचार्य हरिभद्र ने इसमें अरिहन्त परमात्मा के विशिष्ट गुणों का परिचय देते हुए अन्य दार्शनिक विचारधाराओं के परिप्रेक्ष्य में तर्कपूर्ण समीक्षा भी की है। इसी प्रसंग में इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम यापनीय मान्यता के आधार पर स्त्रीमुक्ति का समर्थन किया गया है।

**७. प्रज्ञापना-प्रदेश व्याख्या** — इस टीका के प्रारम्भ में जैन-प्रवचन की महिमा के बाद मंगल की महिमा का विशेष विवेचन करते हुए आवश्यक टीका का नामोल्लेख किया गया है। भव्य और अभव्य का विवेचन करने के बाद प्रथम पद की व्याख्या में प्रज्ञापना के विषय, कर्तृत्व आदि का वर्णन किया गया है। जीव-प्रज्ञापना और अजीव-प्रज्ञापना का वर्णन करते हुए एकेन्द्रियादि जीवों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। द्वितीय पद की व्याख्या में पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा द्वीन्द्रियादि के स्थानों का वर्णन किया गया है। तृतीय पद की व्याख्या में कायाद्यल्प-बहुत्व, वेद, लेश्या, इन्द्रिय आदि दृष्टियों से जीव-विचार, लोक-सम्बन्धी अल्प-बहुत्व, आयुर्बन्ध का अल्प-बहुत्व, पुद्गलाल्प-बहुत्व, द्रव्याल्प-बहुत्व, अवगाढाल्प-बहुत्व आदि पर विचार किया गया है। चतुर्थ पद में नारकों की स्थिति तथा पञ्चम पद की व्याख्या में नारकपर्याय, अवगाह, षट्स्थानक, कर्मस्थिति और जीवपर्याय का विश्लेषण किया गया है। षष्ठ और सप्तम पद में नारक सम्बन्धी विरहकाल का वर्णन है। अष्टम पद में संज्ञा का स्वरूप बताया है। नवम पद में विविध योनियों एवं दशम पद में रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों का चरम और अचरम की दृष्टि से विवेचन किया गया है। ग्यारहवें पद में भाषा के स्वरूप के साथ ही स्त्री, पुरुष और नपुंसक के लक्षणों को बताया गया है। बारहवें पद में औदारिकादि शरीर के सामान्य स्वरूप का वर्णन तथा तेरहवें पद की व्याख्या में जीव और अजीव के विविध परिणामों का प्रतिपादन किया गया है। आगे के पदों की व्याख्या में कषाय, इन्द्रिय, प्रयोग, लेश्या, काय-स्थिति, अन्तक्रिया, अवगाहना, संस्थानादि क्रिया, कर्म-प्रकृति, कर्म-बन्ध, आहार-परिणाम, उपयोग, पश्यता, संज्ञा, संयम, अवधि, प्रविचार, वेदना और समुद्घात का विशेष वर्णन किया गया है। तीसवें पद में उपयोग और पश्यता की भेदरेखा स्पष्ट करते हुए साकार उपयोग के आठ प्रकार और साकार पश्यता के छः प्रकार बताए गए हैं।

## आचार्य हरिभद्र की कृतियाँ

### षोडशक

इस कृति में एक-एक विषयों को लेकर १६-१६ पद्यों में आचार्य हरिभद्र ने १६ षोडशकों की रचना की है। ये १६ षोडशक इस प्रकार हैं — (१) धर्मपरीक्षाषोडशक, (२) सद्धर्मदेशनाषोडषक, (३) धर्मलक्षणषोडशक, (४) धर्मलिंगषोडशक, (५) लोकोत्तरतत्त्वप्राप्तिषोडशक, (६) जिनमंदिर-निर्माणषोडशक, (७) जिनबिम्बषोडशक, (८) प्रतिष्ठाषोडशक, (९) पूजा-स्वरूपषोडशक, (१०) पूजाफलषोडशक, (११) श्रुतज्ञानलिङ्गषोडशक, (१२) दीक्षाधिकारिषोडशक, (१३) गुरुविनयषोडशक, (१४) योगभेद-षोडशक, (१५) ध्येयस्वरूपषोडशक, (१६) समरसषोडशक।

### विंशतिविंशिकाएँ

विंशतिविंशिका नामक आचार्य हरिभद्र की यह कृति २०-२० प्राकृत गाथाओं में निबद्ध है। ये विंशिकाएँ निम्नलिखित हैं —

प्रथम अधिकार विंशिका में २० विंशिकाओं के विषय का विवेचन किया गया है। द्वितीय विंशिका में लोक के अनादि स्वरूप का विवेचन है। तृतीय विंशिका में कुल, नीति और लोकधर्म का विवेचन है। चतुर्थ विंशिका का विषय चरमपरिवर्त है। पाँचवीं विंशिका में शुद्ध धर्म की उपलब्धि कैसे होती है, इसका विवेचन है। छठीं विंशिका में सद्धर्म का एवं सातवीं विंशिका में दान का विवेचन है। आठवीं विंशिका में पूजा-विधान की चर्चा है। नवीं विंशिका में श्रावकधर्म, दसवीं विंशिका में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं एवं ग्यारहवीं विंशिका में मुनिधर्म का विवेचन किया गया है। बारहवीं विंशिका शिक्षा-विंशिका है। इसमें धार्मिक जीवन के लिये योग्य शिक्षाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। तेरहवीं विंशिका भिक्षा-विंशिका है। इसमें मुनि के भिक्षा-सम्बन्धी दोषों का विवेचन है। चौदहवीं अन्तरायशुद्धि विंशिका में भिक्षा के सन्दर्भ में होने वाले अन्तरायों का विवेचन है। ज्ञातव्य है कि इस विंशिका में मात्र छः गाथाएँ ही मिलती हैं, शेष गाथाएँ किसी भी हस्तप्रत में नहीं मिलती हैं। पन्द्रहवीं आलोचना-विंशिका है। सोलहवीं विंशिका प्रायश्चित्त-विंशिका है। इसमें विभिन्न प्रायश्चित्तों का संक्षिप्त विवेचन है। सत्रहवीं विंशिका योगविधान-विंशिका है। इसमें योग के स्वरूप का विवेचन है। अट्ठारहवीं केवलज्ञान विंशिका में केवलज्ञान के स्वरूप का विश्लेषण है। उन्नीसवीं सिद्धविभक्ति-विंशिका में सिद्धों का स्वरूप वर्णित है। बीसवीं सिद्धसुख-विंशिका है, जिसमें सिद्धों के सुख का विवेचन है। इस प्रकार इन बीस विंशिकाओं में जैनधर्म और साधना से सम्बन्धित विविध विषयों का विवेचन है।

### योगविंशिका

यह प्राकृत में निबद्ध मात्र २० गाथाओं की एक लघु रचना है। इसमें जैन-परम्परा में प्रचलित मन, वचन और काय- रूप प्रवृत्ति वाली परिभाषा के स्थान पर मोक्ष से जोड़ने वाले धर्म व्यापार को योग कहा गया है। साथ ही इसमें योग का अधिकारी कौन हो सकता है, इसकी भी चर्चा की गई है। योगविंशिका में योग के निम्न पाँच भेदों का वर्णन है — (१) स्थान, (२) उर्ण, (३) अर्थ, (४) आलम्बन, (५) अनालम्बन। योग के इन पाँच भेद्रों का वर्णन इससे पूर्व किसी भी जैन-ग्रन्थ में नहीं मिलता। अत: यह आचार्य की अपनी मौलिक कल्पना है। कृति के अन्त में इच्छा, प्रकृति, स्थिरता और सिद्धि — इन चार योगांगों और कृति, भक्ति, वचन और असङ्ग — इन चार अनुष्ठानों का भी वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें चैत्यवन्दन की क्रिया का भी उल्लेख है।

### योगशतक

यह १०१ प्राकृत गाथाओं में निबद्ध आचार्य हरिभद्र की योग सम्बन्धी रचना है। ग्रंथ के प्रारम्भ में निश्चय और व्यवहार दृष्टि से योग का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, उसके पश्चात् आध्यात्मिक विकास के उपायों की चर्चा की गई है। ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में चित्त को स्थिर करने के लिये अपनी वृत्तियों के प्रति सजग होने या उनका अवलोकन करने की बात कही गई है। अन्त में योग से प्राप्त लब्धियों की चर्चा की गई है।

### योगदृष्टिसमुच्चय

योगदृष्टिसमुच्चय जैन योग की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। आचार्य हरिभद्र ने इसे २२७ संस्कृत पद्यों में निबद्ध किया है। इसमें सर्वप्रथम योग की तीन भूमिकाओं का निर्देश है : (१) दृष्टियोग, (२) इच्छायोग और (३) सामर्थ्ययोग।

दृष्टियोग में सर्वप्रथम मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा — इन आठ दृष्टियों का विस्तृत वर्णन है। संसारी जीव की अचरमावर्तकालीन अवस्था को 'ओघ-दृष्टि' और चरमावर्तकालीन अवस्था को योग-दृष्टि कहा गया है। आचार्य हरभिद्र ने इन आठ योग-दृष्टियों के प्रसंग में ही जैन-परम्परा सम्मत चौदह गुणस्थानों की भी योजना कर ली है। इसके पश्चात् उन्होंने इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग की चर्चा की है। ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने योग अधिकारी के रूप में गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी और सिद्धयोगी — इन चार प्रकार के योगियों का वर्णन किया है।

आचार्य हरिभद्र ने इस ग्रन्थ पर १०० पद्य प्रमाण वृत्ति भी लिखी है, जो ११७५ श्लोक परिमाण है।

**योगबिन्दु**

हरिभद्रसूरि की यह कृति अनुष्टुप छन्द के ५२७ संस्कृत पद्यों में निबद्ध है। इस कृति में उन्होंने जैन योग के विस्तृत विवेचन के साथ-साथ अन्य परम्परासम्मत योगों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक विवेचन भी किया है। इसमें योग अधिकारियों की चर्चा करते हुए उनके दो प्रकार निरूपित किये गए हैं — (१) चरमावृतवृत्ति, (२) अचरमावृत-आवृत वृत्ति। इसमें चरमावृतवृत्ति को ही मोक्ष का अधिकारी माना गया है। योग के अधिकारी अनधिकारी का निर्देश करते समय मोह में आबद्ध संसारी जीवों को 'भवाभिनन्दी' कहा है और चारित्री जीवों को योग का अधिकारी माना है। योग का प्रभाव, योग की भूमिका के रूप में पूर्वसेवा, पाँच प्रकार के अनुष्ठान, सम्यक्त्व-प्राप्ति का विवेचन, विरति, मोक्ष, आत्मा का स्वरूप, कार्य की सिद्धि में समभाव, कालादि के पाँच कारणों का बलाबल, महेश्वरवादी एवं पुरुषाद्वैतवादी के मतों का निरसन, आदि के साथ ही हरिभद्र ने 'गुरु' की विस्तार से व्याख्या की है।

आध्यात्मिक विकास की पाँच भूमिकाओं में से प्रथम चार का पतञ्जलि के अनुसार सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात के रूप में निर्देश, सर्वदेव नमस्कार की उदारवृत्ति के विषय में 'चारिसंजीवनी', न्याय गोपेन्द्रं और कालातीतं के मन्तव्य और कालातीत की अनुपलब्ध कृति में से सात अवतरण, आदि भी इस ग्रन्थ के मुख्य प्रतिपाद्य हैं। पुनः इसमें जीव के भेदों के अन्तर्गत अपुनर्बन्धक सम्यक् दृष्टि या भिन्न ग्रंथी, देशविरति और सर्व-विरति की चर्चा की गई है। योगाधिकार प्राप्ति के सन्दर्भ में पूर्वसेवा के रूप में विविध आचार-विचारों का निरूपण किया गया है।

आध्यात्मिक विकास की चर्चा करते हुए अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्ति-संक्षय — इन पाँच भेदों का निर्देश किया गया है। साथ ही इनकी पातञ्जलि अनुमोदित सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि से तुलना भी की गई है। इसमें विविध प्रकार के यौगिक अनुष्ठानों की भी चर्चा है, जो इस बात को सूचित करते हैं कि साधक योग-साधना किस उद्देश्य से कर रहा है। यौगिक अनुष्ठान पाँच हैं — (१) विषानुष्ठान, (२) गरानुष्ठान, (३) अनानुष्ठान, (४) तद्धेतु-अनुष्ठान, (५) अमृतानुष्ठान। इनमें पहले तीन 'असद् अनुष्ठान' हैं तथा अन्तिम के दो अनुष्ठान 'सदनुष्ठान' हैं।

'सद्योगचिन्तामणि' से प्रारम्भ होनेवाली इस वृत्ति का श्लोक

परिमाण ३६२० है। योगबिन्दु के स्पष्टीकरण के लिये यह वृत्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

### षड्दर्शनसमुच्चय

षड्दर्शनसमुच्चय आचार्य हरिभद्र की लोकविश्रुत दार्शनिक रचना है। मूल कृति मात्र ८७ संस्कृत श्लोकों में निबद्ध है। इसमें आचार्य हरिभद्र ने चार्वाक, बौद्ध, न्याय-वैशेषिक, सांख्य, जैन और जैमिनि (मीमांसा दर्शन) — इन छः दर्शनों के सिद्धान्तों का, उनकी मान्यता के अनुसार संक्षेप में विवेचन किया है। ज्ञातव्य है कि दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में यह एक ऐसी कृति है जो इन भिन्न-भिन्न दर्शनों को खण्डन-मण्डन से ऊपर उठकर अपने यथार्थ स्वरूप में प्रस्तुत करती है। इस कृति के सन्दर्भ में विशेष विवेचन हम हरिभद्र के व्यक्तित्व की चर्चा करते समय कर चुके हैं।

### शास्त्रवार्तासमुच्चय

जहाँ षड्दर्शनसमुच्चय में विभिन्न दर्शनों का यथार्थ प्रस्तुतीकरण है, वहाँ शास्त्रवार्तासमुच्चय में विविध भारतीय दर्शनों की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। षड्दर्शनसमुच्चय की अपेक्षा यह एक विस्तृत कृति है। आचार्य हरिभद्र ने इसे ७०२ संस्कृत श्लोकों में निबद्ध किया है। यह कृति आठ स्तबकों में विभक्त है। प्रथम स्तबक में सामान्य उपदेश के पश्चात् चार्वाक मत की समीक्षा की गयी है। द्वितीय स्तबक में भी चार्वाक मत की समीक्षा के साथ-साथ एकान्त-स्वभाववादी आदि मतों की समीक्षा की गयी है। इस ग्रन्थ के तीसरे स्तबक में आचार्य हरिभद्र ने ईश्वर-कर्तृत्व की समीक्षा की है। चतुर्थ स्तबक में विशेष रूप से सांख्य मत की और प्रसंगान्तर से बौद्धों के विशेषवाद और क्षणिकवाद का खण्डन किया गया है। पञ्चम स्तबक बौद्धों के ही विज्ञानवाद की समीक्षा प्रस्तुत करता है। षष्ठ स्तबक में बौद्धों के क्षणिकवाद की विस्तार से समीक्षा की गयी है। सप्तम स्तबक में हरिभद्र ने वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता और स्याद्वाद की प्रस्थापना की है। साथ ही इस स्तबक के अन्त में वेदान्त की समीक्षा भी की गयी है। अष्टम स्तबक में मोक्ष एवं मोक्ष-मार्ग का विवेचन है। इसी क्रम में इस स्तबक में प्रसंगान्तर से सर्वज्ञता के निषेधक मीमांसा-दर्शन की समीक्षा करते हुए अन्त में सर्वज्ञता को सिद्ध किया है। इसके साथ ही इस स्तबक में शब्दार्थ के स्वरूप पर भी विस्तार से चर्चा उपलब्ध होती है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें न्याय-वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध आदि दर्शनों की समीक्षा होते हुए भी उनके प्रस्थापकों के प्रति विशेष आदर-भाव प्रस्तुत किया गया है और उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का जैन दृष्टि के साथ सुन्दर

समन्वय किया गया है। इस सन्दर्भ में हम विशेष चर्चा हरिभद्र के व्यक्तित्व एवं अवदान की चर्चा के प्रसंग में कर चुके हैं, अतः यहाँ इसे हम यहीं विराम देते हैं।

### अनेकान्तजयपताका

जैन दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त अनेकान्तवाद है। इस सिद्धान्त के प्रस्तुतीकरण हेतु आचार्य हरिभद्र ने संस्कृत भाषा में इस ग्रन्थ की रचना की। चूँकि इस ग्रन्थ में अनेकान्तवाद को अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों पर विजय प्राप्त करने वाला दिखाया गया है, अतः इसी आधार पर इसका नामकरण अनेकान्तजयपताका किया गया है। इस ग्रन्थ में छः अधिकार हैं — प्रथम अधिकार में अनेकान्तदृष्टि से वस्तु के सद्-असद् स्वरूप का विवेचन किया गया है। दूसरे अधिकार में वस्तु के नित्यत्व और अनित्यत्व की समीक्षा करते हुए उसे नित्यानित्य बताया गया है। तृतीय अधिकार में वस्तु को सामान्य अथवा विशेष मानने वाले दार्शनिक मतों की समीक्षा करते हुए अन्त में वस्तु को सामान्य-विशेषात्मक सिद्ध करके अनेकान्तदृष्टि की प्रस्थापना की गयी है। इसी प्रसंग में द्रव्य, गुण और पर्याय को कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न प्रतिपादित करके अनेकान्तवाद की पुष्टि की गयी है। आगे चतुर्थ अधिकार में वस्तु के अभिलाप्य और अनभिलाप्य मतों की समीक्षा करते हुए उसे वाच्यावाच्य निरूपित किया गया है। अगले अधिकारों में बौद्धों के योगाचार दर्शन की समीक्षा एवं मुक्ति सम्बन्धी विभिन्न मान्यताओं की समीक्षा की गयी है। इस प्रकार इस कृति में अनेकान्त दृष्टि से परस्पर विरोधी मतों के मध्य समन्वय स्थापित किया गया है।

### अनेकान्तवादप्रवेश

जहाँ अनेकान्तजयपताका प्रबुद्ध दार्शनिकों के समक्ष अनेकान्तवाद के गाम्भीर्य को समीक्षात्मक शैली में प्रस्तुत करने हेतु लिखी गयी है, वहाँ अनेकान्तवादप्रवेश सामान्य व्यक्ति हेतु अनेकान्तवाद को बोधगम्य बनाने के लिये लिखा गया है। यह ग्रन्थ भी संस्कृत भाषा में निबद्ध है। इसकी विषय-वस्तु अनेकान्तजयपताका के समान ही है।

### न्यायप्रवेश टीका

हरिभद्र ने स्वतन्त्र दार्शनिक ग्रन्थों के प्रणयन के साथ-साथ अन्य परम्परा के दार्शनिक ग्रन्थों पर भी टीकाएँ लिखी हैं। इनमें बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग के न्याय-प्रवेश पर उनकी टीका बहुत ही प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में न्याय-सम्बन्धी बौद्ध मन्तव्य को ही स्पष्ट किया गया है। यह ग्रन्थ हरिभद्र की व्यापक और उदार दृष्टि का परिचय देता है। इस ग्रन्थ के माध्यम से

जैन परम्परा में भी बौद्धों के न्याय-सम्बन्धी मन्तव्यों के अध्ययन की परम्परा का विकास हुआ है।

### धर्मसंग्रहणी

यह हरिभद्र का दार्शनिक ग्रन्थ है। १२९६ गाथाओं में निबद्ध इस ग्रन्थ में धर्म के स्वरूप का निक्षेपों द्वारा निरूपण किया गया है। मलयगिरि द्वारा इस पर संस्कृत टीका लिखी गयी है। इसमें आत्मा के अनादि निधनत्व, अमूर्त्तत्व, परिणामित्व, ज्ञायक-स्वरूप, कर्तृत्व-भोक्तृत्व और सर्वज्ञ-सिद्धि का निरूपण किया गया है।

### लोकतत्त्वनिर्णय

लोकतत्त्वनिर्णय में हरिभद्र ने अपनी उदार दृष्टि का परिचय दिया है। इस ग्रन्थ में जगत्-सर्जक-संचालक के रूप में माने गए की अनुचित चेष्टाओं की असभ्यता तथा लोक-स्वरूप की तात्त्विकता का विचार किया गया है। इसमें धर्म के मार्ग पर चलने वाले पात्र एवं अपात्र का विचार करते हुए सुपात्र को ही उपदेश देने के विधान की विवेचना की गयी है।

### दर्शनसप्ततिका

इस प्रकरण में सम्यक्त्वयुक्त श्रावकधर्म का १२० गाथाओं में उपदेश संगृहीत है। इस ग्रन्थ पर श्री मानदेवसूरि की टीका है।

### ब्रह्मसिद्धिसमुच्चय

आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित इस संस्कृत ग्रन्थ के कुल ४२३ पद्य ही उपलब्ध हैं। आद्य पद में महावीर को नमस्कार कर ब्रह्मादि की प्रक्रिया, उसके अनुसार जताने की प्रतिज्ञा की है। इस ग्रन्थ में सर्वधर्मों का समन्वय किया गया है। यह ग्रन्थ अपूर्ण प्राप्त होता है।

### सम्बोधप्रकरण

१५९० पद्यों की यह प्राकृत रचना बारह अधिकारों में विभक्त है। इसमें गुरु, कुगुरु, सम्यक्त्व एवं देव का स्वरूप, श्रावकधर्म और प्रतिमाएँ, व्रत, आलोचना तथा मिथ्यात्व आदि का वर्णन है। इसमें हरिभद्र के युग में जैन मुनि संघ में आये हुए चारित्रिक पतन का सजीव चित्रण है, जिसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं।

### धर्मबिन्दुप्रकरण

५४२ सूत्रों में निबद्ध यह ग्रन्थ चार अध्यायों में विभक्त है। इसमें श्रावक और श्रमण-धर्म की विवेचना की गयी है। श्रावक बनने के पूर्व

जीवन को पवित्र और निर्मल बनाने वाले पूर्व मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों की विवेचना की गयी है। इस पर मुनिचन्द्रसूरि ने टीका लिखी है।

**उपदेशपद**

इस ग्रन्थ में कुल १०४० गाथाएँ हैं। इस पर मुनिचन्द्रसूरि ने सुखबोधिनी टीका लिखी है। आचार्य ने धर्मकथानुयोग के माध्यम से इस कृति में मन्द बुद्धि वालों के प्रबोध के लिए जैन धर्म के उपदेशों को सरल लौकिक कथाओं के रूप में संगृहीत किया है। मानव पर्याय की दुर्लभता एवं बुद्धि चमत्कार को प्रकट करने के लिये कई कथानकों का ग्रन्थन किया है। मनुष्य-जन्म की दुर्लभता को चोल्लक, पाशक, धान्य, द्यूत, रत्न, स्वपन, चक्रयूप आदि दृष्टान्तों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

**पंचवस्तुक ( पंचवत्थुग )**

आचार्य हरिभद्र की यह कृति प्राकृत भाषा में निबद्ध है। इसमें १७१४ पद्य हैं जो निम्न पाँच अधिकारों में विभक्त हैं —

१. प्रव्रज्याविधि के अन्तर्गत २२८ पद्य हैं। इसमें दीक्षासम्बन्धी विधि-विधान दिये गए हैं।

२. नित्यक्रिया सम्बन्धी अधिकार में ३८१ पद्य हैं। यह मुनिजीवन के दैनन्दिन प्रत्ययों सम्बन्धी विधि-विधान की चर्चा करता है।

३. महाव्रतारोपण विधि के अन्तर्गत ३२१ पद्य हैं। इसमें बड़ी दीक्षा अर्थात् महाव्रतारोपण विधि का विवेचन हुआ है, साथ ही इसमें स्थविरकल्प, जिनकल्प और उनसे सम्बन्धित उपाधि आदि के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है।

चतुर्थ अधिकार में ४३४ गाथाएँ हैं। इनमें आचार्य-पद स्थापना, गण-अनुज्ञा, शिष्यों के अध्ययन आदि सम्बन्धी विधि-विधानों की चर्चा करते हुए पूजा-स्तवन आदि सम्बन्धी विधि-विधानों का निर्देश इसमें मिलता है। पञ्चम अधिकार में सल्लेखना सम्बन्धी विधान दिये गए हैं। इसमें ३५० गाथाएँ हैं।

इस कृति की ५५० श्लोक परिमाण शिष्यहिता नामक स्वोपज्ञ टीका भी मिलती है। वस्तुतः यह ग्रन्थ विशेष रूप से जैन मुनि-आचार से सम्बन्धित है और इस विधा का यह एक आकर ग्रन्थ भी कहा जा सकता है।

**श्रावकप्रज्ञप्ति ( सावयपण्णत्ति )**

४०५ प्राकृत गाथाओं में निबद्ध यह रचना श्रावकाचार के सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। ऐसा माना जाता है कि इसके पूर्व आचार्य उमास्वाति ने भी इसी नाम की एक कृति संस्कृत भाषा

में निबद्ध की थी। यद्यपि अनेक ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है, परन्तु इसकी आज तक कोई प्रति उपलब्ध नहीं हुई है। नाम साम्य के कारण अनेक बार हरिभद्रकृत इस प्राकृत कृति (सावयपण्णत्ति) को तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वाति की रचना मान लिया जाता है, किन्तु यह एक भ्रान्ति ही है। पञ्चाशक की अभयदेवसूरि कृत वृत्ति में और लावण्यसूरि कृत द्रव्य-सप्तति में इसे हरिभद्र की कृति माना गया है। इस कृति में सावग (श्रावक) शब्द का अर्थ, सम्यक्त्व का स्वरूप, नवतत्त्व, अष्टकर्म, श्रावक के १२ व्रत और श्रावक सामाचारी का विवेचन उपलब्ध होता है।

इस पर स्वयं आचार्य हरिभद्र की दिग्प्रदा नाम की स्वोपज्ञ संस्कृत टीका भी है। इसमें अहिंसाणुव्रत और सामायिकव्रत की चर्चा करते हुए आचार्य ने अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर दिया है। टीका में जीव की नित्यानित्यता आदि दार्शनिक विषयों की भी गम्भीर चर्चा उपलब्ध होती है।

जैन आचार सम्बन्धी ग्रन्थों में पञ्चवस्तुक तथा श्रावकप्रज्ञप्ति के अतिरिक्त अष्टकप्रकरण, षोडशकप्रकरण, विंशिकाएँ और पञ्चाशकप्रकरण भी आचार्य हरिभद्र की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

**अष्टकप्रकरण**

इस ग्रन्थ में ८-८ श्लोकों में रचित निम्नलिखित ३२ प्रकरण हैं —

१. महादेवाष्टक, २. स्नानाष्टक, ३. पूजाष्टक, ४. अग्निकारिकाष्टक, ५. त्रिविधभिक्षाष्टक, ६. सर्वसम्पत्करिभिक्षाष्टक, ७. प्रच्छन्नभोजाष्टक, ८. प्रत्याख्यानाष्टक, ९. ज्ञानाष्टक, १०. वैराग्याष्टक, ११. तपाष्टक, १२. वादाष्टक, १३. धर्मवादाष्टक, १४. एकान्तनित्यवादखण्डनाष्टक, १५. एकान्तक्षणिकवाद-खण्डनाष्टक, १६. नित्यानित्यवादपक्षमंडनाष्टक, १७. मांसभक्षणदूषणाष्टक, १८. मांसभक्षणमतदूषणाष्टक, १९. मद्यपानदूषणाष्टक, २०. मैथुनदूषणाष्टक, २१. सूक्ष्मबुद्धिपरीक्षणाष्टक, २२. भावशुद्धिविचाराष्टक, २३. जिनमतमालिन्य-निषेधाष्टक, २४. पुण्यानुबन्धिपुण्याष्टक, २५. पुण्यानुबन्धिपुण्यफलाष्टक, २६. तीर्थकृतदानाष्टक, २७. दानशंकापरिहाराष्टक, २८. राज्यादिदानदोष-परिहाराष्टक, २९. सामायिकाष्टक, ३०. केवलज्ञानाष्टक, ३१. तीर्थंकर-देशनाष्टक, ३२. मोक्षस्वरूपाष्टक।

**धूर्ताख्यान**

यह एक व्यंग्यप्रधान रचना है। इसमें वैदिक पुराणों में वर्णित असम्भव और अविश्वसनीय बातों का प्रत्याख्यान पाँच धूर्तों की कथाओं के द्वारा किया गया है। लाक्षणिक शैली की यह अद्वितीय रचना है। रामायण, महाभारत और पुराणों में पाई जाने वाली कथाओं की अप्राकृतिक,

अवैज्ञानिक, अबौद्धिक मान्यताओं तथा प्रवृत्तियों का कथा के माध्यम से निराकरण किया गया है। व्यंग्य और सुझावों के माध्यम से असम्भव और मनगढ़न्त बातों को त्यागने का संकेत दिया गया है। खड्डुपना के चरित्र और बौद्धिक विकास द्वारा नारी को विजय दिलाकर मध्यकालीन नारी के चरित्र को उद्घाटित किया गया है।

### ध्यानशतकवृत्ति

पूर्व ऋषिप्रणीत ध्यानतशक ग्रन्थ का गम्भीर विषय — आर्त्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल — इन चार प्रकार के ध्यानों का सुगम विवरण दिया गया है। ध्यान का यह एक अद्वितीय ग्रन्थ है।

### यतिदिनकृत्य

इस ग्रन्थ में मुख्यतया साधु के दैनिक आचार एवं क्रियाओं का वर्णन किया गया है। षडावश्यक के विभिन्न आवश्यकों को साधु को अपने दैनिक जीवन में पालन करना चाहिए, इसकी विशद विवेचना इस ग्रन्थ में की गयी है।

### पञ्चाशक (पंचासग)

आचार्य हरिभद्रसूरि की यह कृति जैन महाराष्ट्री प्राकृत में रचित है। इसमें उन्नीस पञ्चाशक हैं, जिसमें दूसरे में ४४ और सत्तरहवें में ५२ तथा शेष में ५०-५० पद्य हैं। वीरगणि के शिष्य श्री चन्द्रसूरि के शिष्य यशोदेव ने पहले पञ्चाशक पर जैन महाराष्ट्री में वि० सं० ११७२ में एक चूर्णि लिखी थी, जिसमें प्रारम्भ में तीन पद्य और अन्त में प्रशस्ति के चार पद्य हैं, शेष ग्रन्थ गद्य में है। जिसमें सम्यक्त्व के प्रकार, उसके यतना, अभियोग और दृष्टान्त के साथ-साथ मनुष्य भव की दुर्लभता आदि अन्यान्य विषयों का निरूपण किया गया है। सामाचारी विषय का अनेक बार उल्लेख हुआ है। मण्डनात्मक शैली में रचित होने के कारण इसमें 'तुलादण्ड न्याय' का उल्लेख भी है। आवश्यक चूर्णि के देशविरति में जिस तरह नवपयपयरण में नौ द्वारों का प्रतिपादन है, उसी प्रकार यहाँ पर भी नौ द्वारों का उल्लेख है। पञ्चाशक का विस्तृत विवरण आगे दिया जा रहा है।

## पञ्चाशक

### प्रथम पञ्चाशक

प्रथम 'श्रावकधर्मविधि' पञ्चाशक के अन्तर्गत श्रावक के आचार पर प्रकाश डाला गया है। कहा गया है — जो अनन्तानुबन्धी कषायों का नाश कर परलोक हेतु जिन-वचनों को सुनता है तथा गुरुओं की सेवा और भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा में निमग्न रहता है, वह उत्तम श्रावक है।

आगमानुसार सम्यक्त्व के साथ-साथ श्रावकोचित व्रतों का पालन करना ही श्रावक का कर्त्तव्य है, किन्तु वह श्रावकोचित व्रतों का पालन कभी कर पाता है तो कभी नहीं कर पाता। व्रतों का अनुपालन चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम के होने पर होता है, जबकि सम्यक्त्व की प्राप्ति दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम के होने पर होती है। दर्शनमोह के उपशम, क्षय या क्षयोपशम के पश्चात् चारित्रमोह का भी क्षयोपशम आदि हो, यह आवश्यक नहीं है। अत: सम्यक्त्व के साथ श्रावक, व्रतों का पालन कभी कर पाता है और कभी नहीं कर पाता है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि दर्शनमोह के क्षयोपशम के तुरन्त बाद चारित्रमोह का क्षयोपशम क्यों नहीं होता है ? परिणाम अर्थात् मनोभावों के भेद के कारण ऐसा होता है। चारित्रमोह के क्षयोपशम के लिये दर्शनमोह के क्षयोपशम की अपेक्षा विशेष मनोभावों या परिणामों की आवश्यकता होती है। इसलिए जब तक ऐसे विशेष मनोभाव या परिणाम नहीं आएँगे, चारित्रमोह का क्षयोपशम नहीं होगा।

अणुव्रत श्रावकों कें लिये संसार-सागर को पार करने के लिये नौका के समान हैं। उनको पालन करने का भाव श्रावक में तब आता है, जब सम्यक्त्व-प्राप्ति के बाद मोहनीय आदि सात कर्मों की काल-स्थिति दो सौ नौ पल्योपम जितनी शेष रहती है। साधुओं के महाव्रत की अपेक्षा श्रावक के व्रत सीमित या आंशिक होते हैं, इसलिये उन्हें अणुव्रत कहा जाता है। स्थूलप्राणातिपातविरमण, स्थूलमृषावादविरमण, स्थूलअदत्तादान-विरमण, परस्त्री-गमनविरमण (स्वदारसंतोष व्रत) तथा स्थूलपरिग्रह-विरमण — ये पाँच अणुव्रत हैं। इन अणुव्रतों की रक्षा के लिये गुणव्रतों एवं शिक्षाव्रतों का विधान किया गया है। गुणव्रत मुख्यत: तीन हैं — दिशा-परिमाण व्रत, भोगोपभोगपरिमाण व्रत तथा अनर्थदण्डविरति। अणुव्रतों की साधना के लिए जिन विशेष गुणों की आवश्यकता होती है, उन्हें गुणव्रत कहा जाता है। शिक्षाव्रत चार हैं — सामायिक व्रत, देशावकाशिक व्रत, पौषधोपवास व्रत तथा अतिथिसंविभाग व्रत। शिक्षा का अर्थ होता है — अभ्यास। जिस प्रकार विद्यार्थी पुन:-पुन: विद्या का अभ्यास करता है, उसी प्रकार श्रावक को भी कुछ व्रतों का पुन:-पुन: अभ्यास करना पड़ता है। इसी अभ्यास के कारण इन व्रतों को शिक्षाव्रत कहा गया है। व्रत-ग्रहण कर लेने के पश्चात् श्रावक के आचरण में शिथिलता आने लगती है, जिसके कारण वह दोषयुक्त हो जाता है। फलत: व्रत से च्युत होने का भय बना रहता है। अत: सम्यक्त्वादि व्रतों के वर्णन के साथ-साथ इस प्रथम पञ्चाशक में उनके अतिचारों का भी विस्तार से वर्णन आया है। कहा गया

है — सम्यक्त्वादि व्रतों के पालन हेतु उपाय, रक्षण, ग्रहण, प्रयत्न और विषय आदि पाँच बातों पर श्रावक को विशेष ध्यान देना चाहिए। जिस प्रकार कुम्हार के द्वारा चक्र के किसी एक भाग को चलाने से पूरा चक्र घूमता है उसी प्रकार यहाँ सम्यक्त्व और अणुव्रतों का निरूपण करने से उनकी प्राप्ति के उपाय आदि का भी सूचन हो जाता है।

उपर्युक्त श्रावक धर्मों में पाँच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों का पालन प्राय: जीवनपर्यन्त होता है जबकि शिक्षाव्रतों का पालन थोड़े समय के लिये किया जाता है। तात्पर्य है अणुव्रत और गुणव्रत जीवन में एक बार ग्रहण किये जाते हैं और उनका पालन जीवनपर्यन्त करना होता है, जबकि शिक्षाव्रत बार-बार ग्रहण किये जाते हैं और उनका अनुपालन एक सीमित समय के लिये होता है। इस पञ्चाशक में अणुव्रतों, गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के अतिरिक्त भी अन्य कुछ सामान्य आचार-नियमों पर भी प्रकाश डाला गया है, जैसे — जहाँ साधुओं का आगमन होता हो, समीप में जिनमन्दिर हो तथा आसपास सहधर्मी श्रावकों का निवास हो, ऐसे स्थान पर ही श्रावक को निवास करना चाहिये। श्रावक के कुछ प्रात:करणीय आचरण इस प्रकार हैं — प्रात: नवकार मंत्र का जाप करते हुए जागना, मैं अणुव्रती श्रावक हूँ, ऐसा विचार कर अपने आचार-नियमों का स्मरण करने के पश्चात् दैनन्दिन क्रियाओं से निवृत्त होना, फिर विधिपूर्वक जिनप्रतिमा की पूजा करना, जिनमन्दिर जाकर जिनेन्द्रदेव का सत्कार करना, चैत्यवन्दन करना, गुरु के समीप प्रत्याख्यान करना, गुरु से आगम का श्रवण करना, तत्पश्चात् उनके स्वास्थ्य के बारे में पूछना, बीमारी आदि होने पर ओषधि की व्यवस्था करना, शास्त्र के विरुद्ध व्यापार न करना, शास्त्रोक्त विधि से यथा-समय भोजन ग्रहण करना, भोजनोपरान्त प्रत्याख्यान लेना, पुन: सन्ध्या को जिनमन्दिर जाकर जिनमूर्ति के समक्ष चैत्यवन्दन आदि करना, आगमों का श्रवण करना, वैयावृत्य द्वारा ग्लान साधुओं की थकान दूर करना, नमस्कार महामन्त्र का स्मरण करते हुए विधिपूर्वक सोना, यथाशक्ति मैथुन का त्याग करना तथा त्यागी श्रावकों के प्रति विशेष आदर-भाव रखना, अन्तिम प्रहर में रात्रि के बहुत कुछ शेष रहने पर कर्म, आत्मा आदि सूक्ष्म पदार्थों के स्वरूप का चिन्तन करना तथा शुभ अनुष्ठान में बाधक रागादि दोषों के निरोध में मन को लगाना आदि। अन्त में हरिभद्र कहते हैं कि इस प्रकार उपर्युक्त विधि से श्रावक-धर्म का अनुष्ठान करने वाले श्रावक का संसार-वियोग के कारण चारित्र (दीक्षा) लेने का मनोभाव (परिणाम) उत्पन्न होता है।

## द्वितीय पञ्चाशक

द्वितीय 'जिनदीक्षाविधि' पञ्चाशक के अन्तर्गत मुमुक्षुओं के दीक्षा-विधान पर प्रकाश डाला गया है। किसी व्यक्ति द्वारा अपने सगे-सम्बन्धियों से क्षमा-याचना करके गुरु की शरण में जाकर सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करते हुए समभाव की साधना करने की प्रतिज्ञा लेना जिनदीक्षाविधि कहलाती है। वस्तुतः दीक्षा मुण्डन संस्कार है, जिसमें मुख्यंतः चित्त की दुर्वासनाओं का मुण्डन होता है, क्योंकि मिथ्यात्व, क्रोध आदि को दूर किये बिना व्यक्ति दीक्षा का अधिकारी नहीं हो सकता है। जैन धर्म में दीक्षा का अधिकारी वही हो सकता है जिसमें साधना के प्रति अनुराग हो तथा जिसने लोक-व्यवहार में निषिद्ध कार्यों का त्याग कर दिया हो। साधना के प्रति अनुराग की यह भावना कभी तो व्यक्ति में स्वतः ही उत्पन्न होती है तो कभी वैराग्योत्पादक धर्मोपदेश सुनकर या दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपी मोक्ष-मार्ग का अनुसरण कर रहे व्यक्तियों को देखकर भी उत्पन्न होती है। लेकिन व्यक्ति जब तक पर-निन्दा, श्रेष्ठपुरुषों का तिरस्कार, धार्मिक आचार का उपहास एवं लोकविरुद्ध कार्यों का त्याग नहीं कर देता, तब तक वह दीक्षा का पूर्णतः अधिकारी नहीं हो सकता है। यहाँ पर कुछ विद्वानों ने अपने विरोधात्मक मत को प्रकट करते हुए विघ्नों के अभाव अथवा सद्भाव में भी अत्यन्त चैतसिक दृढ़ता को ही दीक्षा की योग्यता माना है। इसी प्रसंग में आचार्य हरिभद्र ने दीक्षा-सम्बन्धी कर्मकाण्ड का भी निरूपण किया है, जो हिन्दू तान्त्रिक साधना से पूर्णतः प्रभावित है। वे लिखते हैं — दीक्षा लेने से पूर्व दीक्षा-स्थल की शुद्धि आवश्यक होती है। अतः मुक्ता-शुक्ति के समान हाथ की मुद्रा बनाकर तथा वायुकुमार आदि देवताओं का मंत्रों द्वारा आह्वान कर, जलसिंचन से उनका सम्मान करते हुए ऐसी कल्पना करनी चाहिये कि वायुकुमार समवसरण की भूमि शुद्ध कर रहे हैं। तत्पश्चात् मेघकुमार द्वारा जल की वर्षा की भावना करनी चाहिये। तदुपरान्त बसन्त, ग्रीष्म आदि छः ऋतुओं, अग्निकुमार आदि देवताओं का आह्वान करके धूपबत्ती जलानी चाहिये। वैमानिक, ज्योतिष्क एवं भवनवासी देवताओं का आह्वान कर समवसरण के रत्न, सुवर्ण और रौप्य (चाँदी) जैसे रंग वाले तीन प्राकार बनाने चाहिये, क्योंकि भगवान् के समवसरण में वैमानिक देवताओं द्वारा अन्तर, मध्य और बाह्य — ये तीन प्राकार क्रमशः रत्न, सुवर्ण और चाँदी के बनाए जाते हैं। इसके बाद व्यन्तरदेवों का आह्वान करके उन प्राकारों के द्वारादि के तोरण, पीठ, देवछन्द, पुष्करिणी आदि की रचना की जाती है। जिस प्रकार समवसरण में स्वयं भगवान् विराजित होते हैं, उसी प्रकार यहाँ चतुर्दिशाओं में जिनेन्द्रदेव के बिम्बों की उत्कृष्ट चन्दन के ऊपर

स्थापना करनी चाहिये। जिनबिम्ब के दक्षिण-पूर्व भाग में गणधरों के पीछे मुनियों की, मुनियों के पीछे वैमानिक देवियों की और देवियों के पीछे साध्वियों की स्थापना करनी चाहिये। इसी प्रकार दक्षिण-पश्चिम दिशा में भवनवासियों, व्यन्तरों तथा ज्योतिष्क-देवियों की स्थापना करनी चाहिये (कुछ सिद्धान्तवेत्ताओं ने भवनपतियों आदि की स्थापना के लिये केवल पश्चिमोत्तर दिशा निर्दिष्ट की है)। पूर्वोत्तर दिशा में वैमानिक देवों, मनुष्यों और नारीगण की स्थापना करनी चाहिये। द्वितीय प्राकार में सर्प, नेवला, मृग, सिंह, अश्व, भैंसा आदि प्राणियों की स्थापना करके तृतीय प्राकार में देवताओं के हाथी, मगर, सिंह, मोर, कलहंस आदि आकार वाले वाहनों की स्थापना की जानी चाहिए। इतनी विधि पूर्ण होने के बाद दीक्षार्थी द्रव्य अर्थात् शारीरिक शुद्धि और भाव अर्थात् मानसिक शुद्धि दोनों से पवित्र होकर शुभ मुहूर्त में समवसरण में प्रवेश करता है। तीव्र श्रद्धा वाले उस दीक्षार्थी को सर्वप्रथम जिनशासन की आचार-विधि बतलायी जाती है। दीक्षार्थी के हाथों में सुगन्धित पुष्प देकर उसकी आँखों को श्वेत वस्त्र से ढककर जिनबिम्ब पर पुष्प फेंकने को कहा जाता है, ताकि यह पता लग सके कि वह किस गति से आया है और किस गति में जाएगा। समवसरण में जिस भाग पर पुष्प गिरता है, उससे उसकी गति जानी जाती है। दीक्षार्थी की आगति एवं गति के विषय में कुछ आचार्यों का कहना है कि आचार्य के मन आदि योगों की प्रवृत्ति के आधार पर भी शुभाशुभ गति जानी जाती है। कुछ लोगों का मानना है कि दीप, चन्द्र एवं तारों के तेज अधिक हों तो दीक्षार्थी की शुभ गति होती है, अन्यथा अशुभ गति होती है। जिनबिम्ब पर पुष्प फेंकने के साथ ही दीक्षार्थी की योग्यता-अयोग्यता का निर्णय भी हो जाता है। पुष्प यदि समवसरण के बाहर गिरता है तो दीक्षार्थी दीक्षा के अयोग्य होता है और यदि समवसरण में पड़ता है तो वह दीक्षा के योग्य समझा जाता है। यदि पुष्पपात बाहर होता है तो सम्यक्त्व के शंका आदि अतिचारों की आलोचना करवाकर और अर्हदादि चार शरणों को स्वीकार करने की विधि कराकर पूर्ववत् पुष्पक्षेपण कराया जाता है। यह क्रिया तीन बार करायी जाती है। तीसरी बार में भी यदि पुष्पपात समवसरण के बाहर होता है तो दीक्षार्थी अयोग्य समझा जाता है। योग्यता के निर्णय के पश्चात् दीक्षार्थी को गुरु जिन-दीक्षा की विधि सुनाते हैं, फिर जिन-दीक्षा के आचारों का वर्णन सुनकर शिष्य गुरु की तीन बार प्रदक्षिणा करता हुआ अन्त:करण से निवेदन करता है कि मैं आपके प्रति पूर्ण समर्पित हूँ। अत: इस संसार-सागर से मेरा उद्धार कीजिए। भक्तिपूर्वक गुरु के प्रति आत्मसमर्पण श्रेष्ठतम दान धर्म है। गुरु को ऐसे ही समर्पित भाव वाले शिष्य प्रिय लगते हैं और

वे उन्हें नियमानुसार दीक्षा प्रदान करते हैं। वे धन्य हैं जिन्हें ऐसी दीक्षा प्राप्त होती है। अत: दीक्षित व्यक्ति को अपने द्वारा गृहीत व्रतों एवं नियमों में, सहधर्मियों के प्रति वात्सल्यभाव में, तत्त्वज्ञान के अध्ययन में तथा गुरु के प्रति भक्ति में वृद्धि करते रहना चाहिये तथा दीक्षापूर्वक गृहीत लिङ्ग (वेश) की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। जिनमें उपर्युक्त लक्षण दिखलाई देते हैं उनकी दीक्षा ही सच्ची दीक्षा मानी जाती है। इस प्रकार क्रमश: सद्‌गुणों की वृद्धि होने से महासत्त्वशाली जीव का कल्याण होता है और अन्त में वह सभी कर्मों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

### तृतीय पञ्चाशक

तृतीय पञ्चाशक में 'चैत्यवन्दनविधि' का प्रतिपादन किया गया है। वन्दन मुख्यत: तीन प्रकार का माना गया है — जघन्य वन्दन, मध्यम वन्दन और उत्कृष्ट वन्दन। चैत्यवन्दन के अधिकारी भी चार प्रकार के जीव ही हो सकते हैं — अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि, देशविरत और सर्वविरत। इन चार जीवों के अतिरिक्त अन्य जीव चैत्यवन्दन के अधिकारी नहीं होते, यहाँ तक कि वे द्रव्यवन्दन भी नहीं कर पाते, क्योंकि द्रव्यवन्दन वे ही कर सकते हैं जो भाववन्दन की योग्यता रखते हैं। अपुनर्बन्धक से भिन्न सकृद्बन्धकादि जीवों में भाववन्दन की योग्यता नहीं होती है, क्योंकि उनका संसार बहुत होता है। लेकिन शास्त्रों में सकृद्बन्धकादि एवं अभव्य जीवों में द्रव्यवन्दन की सम्भावना मानी गई है। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक तरफ यह कहना कि सकृद्बन्धकादि जीव द्रव्य-वन्दना के अधिकारी नहीं हैं और दूसरी तरफ उनके द्वारा द्रव्य-वन्दना की सम्भावना को स्वीकार करना क्या सामान्य व्यक्ति को भ्रम में नहीं डाल देता। वस्तुत: यह भ्रम इसलिये होता है कि प्रधान और अप्रधान दृष्टि से द्रव्यवन्दन भी दो प्रकार का होता है। द्रव्यवन्दन करने वाले व्यक्ति का चैत्यवन्दन में उपयोग नहीं होता है। उसका उपयोगरहित अर्थात् चित्तवृत्ति को उसमें जोड़े बिना किया गया वन्दन वस्तुत: वन्दन नहीं है। लेकिन भाव-वन्दन करने वाला व्यक्ति द्रव्य-वन्दन और भाव-वन्दन — इन दोनों में ही उपर्युक्त लक्षणों से युक्त होता है, क्योंकि चैत्यवन्दन के प्रति उसके मन में सजगता होती है, यद्यपि चैत्यवन्दन के लक्षणों में भावप्रधान लक्षण को ही प्रमुखता दी गयी है। जिस प्रकार शरीर में अमृत के रस आदि धातु के रूप में परिणमित होने के पहले ही उसके प्रभाव से शरीर में पुष्टि, कान्ति आदि सुन्दर भाव दिखते हैं, उसी प्रकार अपुनर्बन्धक आदि जीवों में मोक्ष का हेतु शुभभाव रूप अमृत एक बार उत्पन्न होने पर निश्चित रूप से नए-नए शुभभाव उत्पन्न करता है। सही मायने

में देखा जाय तो चैत्यवन्दन एक परमसिद्धि है जिससे मोक्ष जैसे परमपद की प्राप्ति होती है। चैत्यवन्दन में 'नमोत्थुणं सूत्र', जिसे प्रणिपात सूत्र भी कहा जाता है, बोलने का विधान है। यह प्रणिपात पञ्चाङ्गी मुद्रा में बोला जाता है। इसी प्रकार चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स) योगमुद्रा में, 'अरिहंत चेइयाणं' आदि सूत्र जिनमुद्रा में तथा 'जयवीराय' सूत्र मुक्तासूक्ति मुद्रा सहित बोला जाता है। चैत्यवन्दन में चैत्यवन्दन सम्बन्धी क्रियाओं, सूत्रों के पदों, अकारादि वर्णों, सूत्रों के अर्थ और जिनप्रतिमा — इन पाँचों के प्रति सजगता (उपयोग) आवश्यक है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि एकाग्रचित्त एक समय में एक ही विषय पर केन्द्रित होता है, फिर पाँचों के प्रति सजगता कैसे हो सकती है ? उत्तर में हरिभद्र कहते हैं कि उस एक विषय के अतिरिक्त अन्य विषय भी वहाँ उपस्थित होते हैं और क्रमिक रूप से सभी के प्रति उपयोग रहता है। जिस प्रकार मूल ज्वाला से नई-नई ज्वालाएँ निकलकर मूल ज्वाला से अलग दिखती हैं, फिर भी उनको मूल ज्वाला से सम्बद्ध मानना पड़ता है, क्योंकि अलग हुई ज्वाला के परमाणु रूपान्तरित होकर वहाँ अवश्य रहते हैं, किन्तु दिखलाई नहीं देते हैं। उसी प्रकार चैत्यवन्दन के भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न उपयोग होने पर भी उपयोग का परावर्त अति तीव्र गति से होने के कारण हमें एक ही उपयोग जैसा दिखलाई पड़ता है, किन्तु शेष उपयोगों के भाव भी वहाँ मौजूद होते हैं।

वन्दना मोक्ष की प्राप्ति में निमित्त होती है (जीव भव्य और अभव्य दो प्रकार के होते हैं। यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण — ये तीन करण भव्य जीवों के होते हैं और अभव्य जीवों को मात्र यथा-प्रवृत्तिकरण ही होता है)। मात्र द्रव्य चैत्यवन्दन करने से मोक्ष नहीं होता है, किन्तु शुद्धभावपूर्वक चैत्यवन्दन करने से ही मोक्ष होता है। चैत्यवन्दन की इस शुद्धता-अशुद्धता के विषय पर आवश्यकनिर्युक्ति में सिक्के के प्रकारों को बताते हुए प्रकाश डाला गया है। कहा गया है स्वर्णादि द्रव्य शुद्ध और मुद्रा प्रामाणिक हो तो सिक्का असली होता है। स्वर्णादि द्रव्य शुद्ध हों, किन्तु मुद्रा ठीक न हो तो रुपया पूर्णतः प्रामाणिक तो नहीं होता है, किन्तु उसका कुछ मूल्य अवश्य होता है। मुद्रा ठीक हो किन्तु स्वर्णादि द्रव्य अशुद्ध हों तो रुपया जाली या नकली कहा जाता है। मुद्रा और द्रव्य दोनों के ही अप्रामाणिक होने से रुपया खोटा होता है उसका कोई मूल्य ही नहीं होता। इसी प्रकार श्रद्धायुक्त, स्पष्ट उच्चारण एवं विधिसहित की गई वन्दना शुद्ध मुद्रा के समान है। जो वन्दना भाव से युक्त हो, परन्तु वर्णोच्चारण आदि विधि से अशुद्ध हो, वह वन्दना दूसरे प्रकार की वन्दना के समान है। तीसरे और चौथे प्रकार की वन्दना प्रायः अति दुःखी और

मन्द बुद्धि वाले जीवों को होती है। तीसरे और चौथे प्रकार की वन्दना को लेकर विद्वानों में मत-भिन्नता देखने को मिलती है। कुछ आचार्यों का कहना है कि तीसरे और चौथे प्रकार की वन्दना लौकिकी है तो कुछ आचार्यों का कहना है कि ये दोनों वन्दनाएँ जिनवन्दना हैं ही नहीं, क्योंकि इन वन्दनाओं में जो भाव होने चाहिये वे नहीं होते। जहाँ तक प्रथम-द्वितीय वन्दना को प्राप्त करने की बात है तो सभी जीव उसे प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि स्वभाव (जाति) से भव्य होने पर भी जो भव्य (दूर) हैं वे जीव इस वन्दना को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। भव्यत्व मात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति होती हो, यह आवश्यक नहीं है। यदि ऐसा होता तो सभी भव्य जीवों को मोक्ष-प्राप्ति हो जाती। अत: आचार्यों ने कहा है कि जिस प्रकार किसी को दवा देनी हो तो उसकी अवस्था देखनी पड़ती है और उसी अनुसार उचित मात्रा में दवा देने से लाभ होता है, उसी प्रकार सर्वकल्याणकारी वन्दना विधि-योग्य जीवों को उनकी योग्यतानुसार विधिपूर्वक देनी चाहिये।

## चतुर्थ पञ्चाशक

चतुर्थ पञ्चाशक में 'पूजाविधि' का वर्णन है, जिसके अन्तर्गत पूजा का काल, शारीरिक शुचिता, पूजा-सामग्री, पूजा-विधि, स्तुति-स्तोत्र — इन पञ्चद्वारों का तथा प्रणिधान (संकल्प) और पूजा निर्दोषता का क्रमश: विवेचन किया गया है। सामान्यतया प्रात:, मध्याह्न और सायंकाल में पूजा की जाती है, लेकिन आचार्य हरिभद्र ने यहाँ बताया है कि नौकरी, व्यापार आदि आजीविका के कार्यों से जब भी समय मिले तब पूजा करनी चाहिए। यह अपवादमार्ग है, क्योंकि आजीविका-अर्जन के समय पूजा करने से कल्याण की परम्परा का विच्छेद होता है जिससे गृहस्थ-जीवन की सभी क्रियाएँ अवरुद्ध हो जाएँगी, क्योंकि सम्पत्ति के अभाव में दान-पूजा आदि कुछ नहीं होगा, इसलिये जिस समय आजीविका सम्बन्धी क्रियाओं में व्यवधान न पड़ता हो उस समय पूजा करनी चाहिए। समय के अतिरिक्त पूजा के लिये शारीरिक एवं मानसिक शुद्धि की भी आवश्यकता है। शुद्धि दो प्रकार की होती है — द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धि। स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनना द्रव्यशुद्धि है और अपनी स्थिति के अनुसार नीतिपूर्वक प्राप्त धन से पूजा करना भावशुद्धि है। यद्यपि खेती, व्यापारादि से पृथ्वीकायिक आदि जीवों की हिंसा होती है, फिर भी वह हिंसा नहीं मानी जाती है, क्योंकि उनका भाव हिंसा का नहीं होता। जिस प्रकार कुँआ खोदने में बहुत से जीवों की हत्या होती है, किन्तु कुआँ खोदने या खुदवाने वाले का आशय हिंसा करना नहीं होता बल्कि जल निकालना होता है। उसी प्रकार जिन-

पूजा के लिये स्नान करने में थोड़ी हिंसा तो होती है, किन्तु पूजा के फलस्वरूप पुण्य बन्ध होने से लाभ ही होता है। पूजा के आरम्भ का त्याग करने वाले गृहस्थ को लोक में जिनशासन की निन्दा और अबोधि नामक दोष आते हैं। इसी प्रकार न्याय, नीति से रहित अशुद्ध जीविका के अर्जन से भी दोष लगते हैं। अत: द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धि — दोनों प्रकारों की शुद्धिपूर्वक पूजा करने का विधान है। पूजा करने के लिये सुगन्धित पुष्प, धूप आदि सुगन्धित औषधियों तथा विभिन्न जलों (इक्षुरस, दूध, घी आदि) से जिनप्रतिमा को स्नान कराकर अपनी सामर्थ्य के अनुसार पूजा करनी चाहिये। इहलौकिक और पारलौकिक कार्यों में पारलौकिक कार्य प्रधान होता है। जिनपूजा पारलौकिक कार्य है, अत: जिनपूजा में उत्तम साधनों अर्थात् द्रव्यों के उपयोग का सर्वोत्तम स्थान है। पूजा इतने आदर से करनी चाहिये कि चढ़ाई गयी पूजा की सामग्री देखने में सुन्दर लगे। जैसे — प्रत्येक वस्तु का उपयोग अच्छी तरह से करना, पूजन-सामग्री का दृश्य सुन्दर बनाना, पूजा के समय शरीर को न खुजलाना, नाक से श्लेष्म न निकालना विकथा न करना आदि। आदरपूर्वक एवं सारभूत-स्तुति तथा स्तोत्रसहित चैत्यवंदन करने से भगवान् का सम्मान होता है। पूजा करते समय स्तुतियों या स्तोत्रों के अर्थ का ज्ञान यदि है तो परिणाम शुभ होता है, लेकिन जिनको अर्थ का ज्ञान नहीं होता उनका भी रत्नज्ञानन्याय से परिणाम शुद्ध ही होता है। जिस प्रकार ज्वर आदि का शमन करने वाले रत्नों के गुण का ज्ञान रोगी को नहीं होता है, फिर भी रत्न उसके ज्वर को शान्त कर देता है उसी प्रकार भावरूपी रत्नों से युक्त स्तुति-स्तोत्र भी शुभभाव वाले होने के कारण उनके अर्थ का ज्ञान नहीं होने पर भी कर्मरूपी ज्वर आदि रोगों को दूर कर देते हैं। अत: शुभभाव प्रधान स्तुति-स्तोत्रपूर्वक ही चैत्यवंदन करना श्रेयस्कर है। चैत्यवंदनोपरान्त प्रणिधान अर्थात् संकल्प करना चाहिये जिससे धर्मकार्य में प्रवृत्ति होती है, उसमें आने वाले विघ्नों पर विजय होती है और शुरू किये गए कार्य की निर्विघ्न सिद्धि सम्भव होती है। प्रणिधान को हम निदान नहीं कह सकते हैं, क्योंकि निदान में लौकिक उपलब्धियों की आकांक्षा होती है, जबकि प्रणिधान में मात्र आत्म-विशुद्धि की इच्छा होती है। प्रणिधान (संकल्प) करने से ही नियमत: इष्ट कार्य की सिद्धि होती है। प्रणिधान से ही धार्मिक अनुष्ठान भावरूप बन जाते हैं। प्रणिधान की विधि कुछ इस प्रकार है — सिर से हाथों की अंजलि लगाकर आदरपूर्वक निम्न प्रणिधान करना चाहिये — हे वीतराग ! हे जगद्गुरु ! आपकी जय हो। हे भगवन् ! आपके प्रभाव से मुझे भव-निर्वेद, मार्गानुसारिता, इष्टफलसिद्धि, लोक विरुद्ध प्रवृत्तियों का त्याग, गुरुजन पूजा, परार्थकरण, सुगुरु की प्राप्ति हो और जब तक मोक्ष नहीं मिले तब

तक निरन्तर गुरु-आज्ञा के पालन का मनोभाव प्राप्त हो। इस प्रकार प्रार्थनागर्भित प्रणिधान तभी तक योग्य है जब तक भवनिर्वेद की प्राप्ति नहीं होती। भवनिर्वेदादि गुणों की उपलब्धि के बाद माँग करने को कुछ भी नहीं रह जाता है। यदि कोई जीव तीर्थङ्करों की समृद्धि देखकर या सुनकर उस समृद्धि को पाने की इच्छा से तीर्थङ्कर बनने की प्रार्थना करता है तो वह राग-युक्त है, क्योंकि उसमें उपकार करने की नहीं, अपितु समृद्धि प्राप्त करने की भावना होती है, जिससे तीर्थङ्करत्व के बजाय पापकर्म बंध होता है। किन्तु यह भी सच है कि लोकहित की भावना से तीर्थङ्कर बनने की इच्छा वाला जीव तीर्थङ्कर नामकर्म बाँधकर अनेक जीवों का हितकारी बनता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो तीर्थङ्कर बनने की अभिलाषा अर्थापत्ति से धर्म-देशनादि अनुष्ठान में प्रवृत्तिरूप है, इसलिये वह दोषरहित है।

जहाँ तक पूजा करने में कथंचित् हिंसा की बात है तो यह जान लेना भी आवश्यक है कि गृहस्थों के लिये जिनपूजा निर्दोष है, क्योंकि गृहस्थ कृषि आदि असदारम्भ में प्रवृत्ति करते हैं जबकि जिनपूजा से वे उस असदारम्भ से निवृत्त होते हैं; अत: जिनपूजा निवृत्तिरूप फल है। यदि कोई यह सोचता है कि शरीर, घर, पुत्र, स्त्री आदि द्वारा जीव हिंसा में मेरी प्रवृत्ति है इसलिये मैं जिनपूजा नहीं करूँगा, तो यह उसकी मूर्खता है। मोक्षाभिलाषी को प्रमादरहित भाव से आगमसम्मत विधि द्वारा भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा अवश्य करनी चाहिये। जिस प्रकार महासमुद्र में फेंकी गयी जल की एक बूँद का भी नाश नहीं होता, उसी प्रकार जिनों के गुणरूपी समुद्र में पूजा अक्षय ही होती है। पूजा में पूज्य को कोई लाभ हो या न हो लेकिन पूजक को अवश्य होता है। जिस प्रकार अग्नि आदि के सेवन से अग्नि को कोई लाभ प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार जिनेन्द्रदेव की पूजा करने से भले ही जिनेन्द्रदेव को कोई लाभ न हो, पर उनकी पूजा करने वाले को लाभ अवश्य होता है, अत: जिनेन्द्रदेव की पूजा करनी चाहिये। पूजा करने से देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान् के प्रति सम्मान जगता है; जिन, गणधर, चक्रवर्ती आदि उत्तम पदों की प्राप्ति होती है और उत्कृष्ट धर्म की प्रसिद्धि होती है।

### पञ्चम पञ्चाशक

पञ्चम पञ्चाशक में 'प्रत्याख्यानविधि' का वर्णन किया गया है। प्रत्याख्यान, नियम और चारित्रधर्म समानार्थक हैं। प्रत्याख्यान का अर्थ है — "आत्महित की दृष्टि से प्रतिकूल प्रवृत्ति के त्याग की मर्यादापूर्वक प्रतिज्ञा करना।" मूलगुण और उत्तरगुण के आधार पर इसके दो भेद होते हैं। साधु के महाव्रत और श्रावक के अणुव्रत मूलगुण प्रत्याख्यान हैं तथा पिण्ड-

विशुद्धि आदि गुण साधु के और दिग्विरति इत्यादि व्रत श्रावक के उत्तरगुण हैं। नवकार पोरसी, परिमुड्ढ, एकासन, एकठाण, आयंबिल, अभत्त, अचित्त पानी आगार, चरिम, अभिग्रह तथा विकृति (विगय) — ये दस प्रत्याख्यान हैं, जो काल की मर्यादापूर्वक किये जाने के कारण कालिक प्रत्याख्यान कहलाते हैं। विधिपूर्वक ग्रहण, आगार, सामायिक, भेद, भोग, नियम-पालन और अनुबन्ध — ये सात द्वार हैं, जिनके आधार पर कालिक प्रत्याख्यान की विधि बतायी जाती है —

**१. ग्रहणद्वार** — उचित गुरु के पास उचित अवसर पर विनय एवं उपयोग से गुरु द्वारा बोले गए पाठ को स्वयं बोलते हुए ग्रहण करना ग्रहणद्वार कहलाता है।

**२. आगारद्वार** — आगार अर्थात् अपवाद या छूट। प्रत्याख्यान लेते समय अपवाद इसलिये रखे जाते हैं ताकि विशेष परिस्थितिवश भंग का दोष न लगे। आगारद्वार के अन्तर्गत कालिक प्रत्याख्यान में प्रत्येक के लिये अलग-अलग अपवादों का उल्लेख होता है।

(क) ***नवकार*** — सूर्योदय होने के ४८ मिनट पश्चात् नवकार गिनकर पूर्ण हो जाने तक आहार का त्याग करना। सूर्योदय के बाद दो घड़ी पूर्ण होना और नवकार मंत्र गिनकर दोनों को ही ग्रहण किया जाता है तभी प्रत्याख्यान पूरा होता है।

(ख) ***पोरिसी (पौरुषी)*** — पुरुष के शरीर के बराबर छाया जिस समय हो, वह काल पौरुषी कहलाता है, अर्थात् सूर्योदय के बाद दिन का एक-चौथाई भाग सम्पन्न हो जाने पर पुरुष की छाया उसके शरीर की लम्बाई के बराबर हो जाती है, उसी समय को ही पौरुषी या प्रहर कहते हैं।

(ग) ***परिमुड्ढ-अवड्ढ*** — सूर्योदय से दोपहर तक आहार का त्याग करना परिमुड्ढ प्रत्याख्यान एवं सूर्योदय से तीन प्रहर तक आहार का त्याग अवड्ढ कहलाता है।

(घ) ***एकासण-बियासण*** — एक ही स्थान पर बैठकर एक ही बार भोजन करना एकासन कहलाता है और एक ही आसन पर बैठकर दो बार भोजन करना बियासण है।

(ङ) ***एकठाण*** — एक ही स्थान पर बैठकर भोजन करना एकठाण होता है। इसमें मुँह और हाथ के अतिरिक्त कोई अंग नहीं हिलता है एवं चौविहारी होता है। वहीं एकासन में दूसरे अंग हिलते हैं तथा वह तिविहारी भी होता है।

(च) *आयंबिल* — भात, उड़द आदि के साथ माँड या खट्टारस उपयोग में लाना आयंबिल प्रत्याख्यान है।

(छ) *अभक्तार्थ* — जिसमें भोजन का कोई उपयोग नहीं होता है, वह उपवास प्रत्याख्यान है। उपवास तिविहार और चौविहार दोनों प्रकार का हो सकता है।

(ज) *पानी का आगार* — मुनियों को सदैव तथा गृहस्थों को एकासन, उपवास आदि में अचित्त पानी का ही प्रयोग करना चाहिये। अचित्त पानी का प्रयोग ही पानी का आगार कहलाता है।

(झ) *चरिम* — चरिम अर्थात् अन्तिम। यह दिन और वर्तमान भव दोनों का हो सकता है। दिन के अन्तिम भाग अर्थात् सूर्यास्त तक किया गया प्रत्याख्यान दिवस-चरिम और जीवन के अन्तिम समय में किया गया प्रत्याख्यान भव-चरिम कहलाता है।

(ञ) *अभिग्रह* — विशेष प्रकार का नियम या प्रतिज्ञा लेना अभिग्रह प्रत्याख्यान कहलाता है।

(ट) *विगय* — विगय यानी विकृति उत्पन्न करने वाले आहार का त्याग करना विगय प्रत्याख्यान है। विगय दस हैं — दही, घी, दूध, तेल, गुड़, तली हुई वस्तुएँ, मक्खन, मधु, मांस और मदिरा। इनमें से अन्तिम चार विगय महाविगय हैं और अभक्ष्य भी हैं।

**३. सामायिक द्वार** — सामायिक में सभी पदार्थों पर समभाव होता है। मन, वचन और कायपूर्वक जीवनपर्यन्त सर्वसावद्य योग के त्याग रूप सामायिक का प्रत्याख्यान किया जाता है। सर्वसावद्ययोग के त्याग के कारण सामायिक में प्रत्येक प्रवृत्ति समभावपूर्वक होने से आगारों की आवश्यकता नहीं होती है।

**४. भेद द्वार** — ज्ञान आदि की सिद्धि के लिए आहार के चारों — अशन, पान, खादिम और स्वादिम — भेदों का ज्ञान होना चाहिए, जिससे आहार का प्रत्याख्यान किया जा सके।

**५. भोगद्वार** — शरीर की जब तीनों धातुएँ — वात, पित्त और कफ सम हो जाएँ, तभी शान्तचित्त होकर भोजन करना चाहिये। भोजन से पूर्व जो भी क्रियाएँ करने का प्रत्याख्यान किया है, उसको करके, बड़ों की आज्ञा लेकर ही भोजन करना चाहिये।

**६. स्वयंपालन द्वार** — आहार प्रत्याख्यान ग्रहण करके स्वयं उसका पालन करना और दूसरों को आहार देने व अन्य साधुओं को कहाँ से आहार मिलेगा, इन सब बातों को बताना चाहिये। साधुओं की बीमारी में

सेवा करना, उनके लिए कल्प्य आहार लाना आदि कार्य करने चाहिये। ठीक इसी प्रकार श्रावकों को भी यथा सामर्थ्य दान देना चाहिये। यदि सामर्थ्य न हो तो दान देने वाले श्रद्धालुओं के घर बताना व बिना भेदभाव के सभी को समान रूप में दान देना चाहिये।

७. अनुबन्ध द्वार — मानसिक और शारीरिक उदासीनता से रहित होकर जो उचित प्रयत्न करता है, उसके प्रत्याख्यान में अनुबन्ध का भाव होता है। गुरु की आज्ञा के अनुरूप कार्यों से अलग कार्य करने पर भी प्रत्याख्यान होता है। गुरु द्वारा कहा गया कार्य ही प्रमुख होता है।

जो वस्तु व्यक्ति के पास नहीं है उसका प्रत्याख्यान भी लाभप्रद ही होता है, क्योंकि ऐसा नहीं होता है कि जो वस्तु वर्तमान में नहीं है वह भविष्य में भी प्राप्त नहीं होगी। अत: इस बात को ध्यान में रखकर ही प्रत्याख्यान करना चाहिये। भवविरह की इच्छा वाले जीव का विद्यमान या अविद्यमान सम्बन्धी सभी वस्तुओं का प्रत्याख्यान सफल होता है, क्योंकि वह मोक्ष की अभिलाषा से उन सबका प्रत्याख्यान करता है।

**षष्ठ पञ्चाशक**

षष्ठ पञ्चाशक में हरिभद्र ने स्तुति या 'स्तवनविधि' का वर्णन किया है। द्रव्य और भाव की दृष्टि से स्तवन भी दो प्रकार का होता है। शास्त्रोक्त-विधिपूर्वक जिनमन्दिर का निर्माण, जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा, तीर्थों की यात्रा, जिनप्रतिमाओं की पूजा करना आदि द्रव्यस्तव हैं तथा मन, वचन और कर्म से विरक्त भाव या वीतरागता की उपासना करना भावस्तव है। द्रव्यस्तव भावस्तव का निमित्त कारण माना जाता है, जिनमन्दिर का निर्माण एवं जिनेन्द्रदेव की पूजा आदि से भाव-विशुद्धि होती है, फलत: वे भावस्तव के निमित्त कारण हैं। द्रव्यस्तव न केवल भावस्तव का निमित्त कारण है, बल्कि आप्तवचनों के पालन और उनके प्रति आदर भावरूप होने से भाव-स्तव भी है। औचित्यरहित आदरभाव से सर्वथा शून्य अनुष्ठान भले ही वह जिनेन्द्रदेव से सम्बन्धित क्यों न हो, द्रव्यस्तव भी नहीं कहे जा सकते हैं, क्योंकि आस्था शून्य अनुष्ठानों का कोई मूल्य नहीं होता है। यदि आप्त-वचन के विपरीत अनुष्ठानों को द्रव्यस्तव की संज्ञा दी जाती है तो आप्त-वचन के विपरीत हिंसादि क्रियाएँ सभी द्रव्यस्तव के अन्तर्गत आ जाएँगी। अत: जो अनुष्ठान भावस्तव का कारण न बने वह अनुष्ठान द्रव्यस्तव नहीं है, क्योंकि शास्त्र में कहा गया है कि जिसमें भावरूप में परिणित होने की योग्यता हो उसे 'द्रव्य' शब्द से सम्बोधित किया जाता है। जैसे मिट्टी का पिण्ड द्रव्य है, क्योंकि उसमें घट बनने की योग्यता है, किन्तु इसका यह अर्थ भी

नहीं समझ लेना चाहिये कि द्रव्य का प्रयोग एकमात्र योग्यता के ही अर्थ में होता है, कभी-कभी उसका प्रयोग अयोग्यता के अर्थ में भी देखा जाता है, जैसे — अंगारमर्दक आचार्य मुक्ति की योग्यता से रहित होने के कारण जीवनभर द्रव्याचार्य ही रहे। फलतः द्रव्यस्तव भी दो प्रकार का होता है — प्रधान और अप्रधान। जो भावस्तव का हेतु है वह प्रधान द्रव्यस्तव है और जो भावस्तव का हेतु बनने की योग्यता नहीं रखता है, वह अप्रधान द्रव्य-स्तव है। फिर भी हरिभद्र यह मानते हैं कि अप्रधान द्रव्यस्तव से भी अल्पकाल की प्राप्ति होती है, क्योंकि वीतराग भगवान् विषयक कोई भी अनुष्ठान चाहे वह जिनाज्ञा के अनुरूप न हो तो भी सर्वथा निष्फल नहीं जाता है। वह भी मनोज्ञ फल देता है, चाहे वह अल्प ही क्यों न हो। क्योंकि जो फल दूसरे कारणों से मिलता हो वही फल वीतराग सम्बन्धी अनुष्ठान से मिले तो फिर वीतराग सम्बन्धी अनुष्ठान की विशेषता ही क्या रह जायेगी ?

यहाँ यह प्रश्न भी उठ सकता है कि 'यदि भावस्तव का कारण नहीं बनने वाले अनुष्ठान द्रव्यस्तव हैं', यह बात मान ली जाती है तो फिर भावस्तव का कारण बनने वाले जिनभवन-निर्माण आदि अनुष्ठानों को भाव-स्तव क्यों नहीं माना जाता ? ये अनुष्ठान भी आप्तकथित होने के कारण साधुओं की ग्लान-सेवा, स्वाध्याय आदि कार्यों के समान होते हैं और साधुओं के उपर्युक्त कार्य आगम में भावस्तव कहे जाते हैं। इसके उत्तर में हरिभद्र कहते हैं कि साधुओं के उपर्युक्त कार्यों से होने वाले शुभ अध्यवसाय की अपेक्षा जिनभवन-निर्माण आदि अनुष्ठानों से होने वाले शुभ अध्यवसाय कम होते हैं, क्योंकि उनमें आंशिक रूप से आरम्भ भी होता है। इसलिये वे द्रव्यस्तव ही हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि साधुओं का कार्य आसक्ति आदि कलुषित भावों एवं हिंसा आदि पापकर्मों से सर्वथा रहित तथा आगम में प्रणीत महाव्रतादि में प्रवृत्तिरूप होने से सर्वथा शुद्ध ही होता है। इसलिये साधु का क्रिया-व्यापार सर्वथा निर्दोष माना जाता है, जबकि परिग्रह और आरम्भ से युक्त गृहस्थों का क्रिया-व्यापार अल्पशुद्ध होता है। इसलिए वह द्रव्यस्तव ही है।

द्रव्यस्तव बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा रखने वाला होने के कारण कड़वी ओषधि के समान दीर्घकालीन भवरोग को उपशमित करने वाला है, जबकि भावस्तव ओषधि के बिना ही पथ्य मात्र से उस भवरोग को निर्मूल करने में सक्षम है। द्रव्यस्तव से पुण्यानुबन्धी पुण्यकर्म का बन्ध होता है, उसके उदय से सुगति आदि मिलती है और परम्परा से थोड़े समय के बाद भावस्तव का योग भी मिलता है। द्रव्यस्तव और भावस्तव में यह भेद होते

हुए भी दोनों एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं, क्योंकि द्रव्यस्तव का अधिकारी गृहस्थ होता है और भावस्तव का साधु, किन्तु गौण रूप से गृहस्थ को भी भावस्तव होता है और साधु को भी द्रव्यस्तव होता है। जिस प्रकार जिन-भवन आदि निर्माण भगवान् को अभिमत हैं, उसी प्रकार साधुओं को जिन-बिम्ब दर्शन आदि सम्बन्धी द्रव्यस्तव अनुमोदनीय हैं। आगम में इसके प्रमाण उपलब्ध होते हैं। साधु के लिये भी अपनी मर्यादानुकूल द्रव्यस्तव संगत है, क्योंकि चैत्यवंदन आदि में सूत्रपाठ के उच्चारण के रूप में द्रव्यस्तव न हो तो वह निरर्थक होता है, क्योंकि आगम में सूत्रपाठ के उच्चारण के बिना वन्दना नहीं कही गयी है। इसलिये साधु भी स्तवन-पाठरूप द्रव्यस्तव करें, यह शास्त्रसम्मत है। किन्तु मुनियों के लिये जो अहिंसादि महाव्रतों का पूर्णतः पालन करते हैं, द्रव्यपूजा रूप साक्षात् द्रव्यस्तव का विधान नहीं है, क्योंकि मुनियों में भाव की ही प्रधानता मानी गयी है। इसलिये मुनियों के लिये भाव से ही पूजा करना उपयुक्त है, क्योंकि पुष्प, दीप, धूप आदि द्रव्यस्तव हैं और इसमें आरम्भ (हिंसा) होने से साधुओं के लिये इनका निषेध किया गया है। लेकिन वे दूसरों से ऐसा द्रव्यस्तव करवा सकते हैं। तात्पर्य यह कि साधुओं को पुष्पादि से स्वयं पूजा करने का निषेध है, किन्तु दूसरों से करवाने का निषेध नहीं है। सही मायने में देखा जाय तो जिस प्रकार साधु का भावस्तव द्रव्यस्तव से युक्त है, उसी प्रकार योग्य गृहस्थ का द्रव्यस्तव भी भावस्तव से युक्त है, ऐसा जिनवचन है। कोई भी द्रव्यस्तव भगवान् के प्रति बहुमानरूप भाव से युक्त होता है अर्थात् द्रव्यस्तव से उत्पन्न होने वाला यह भाव ही भावस्तव बन जाता है। इस प्रकार द्रव्यस्तव को भी भाव से युक्त होने के कारण भावस्तव कहा जा सकता है। द्रव्यस्तव रूप चैत्यवन्दन, स्तुति, पूजा आदि से अंशतः शुभभाव अवश्य होता है। चूँकि भगवान् महनीय गुणों से युक्त हैं, इसलिये वे द्रव्यस्तव के योग्य हैं — इसे अच्छी तरह जानकर जो जीव विधिपूर्वक द्रव्यस्तव में प्रवृत्ति करते हैं, उनकी आंशिक भाव-विशुद्धि अनुभवसिद्ध है, यह भावविशुद्धि जिनगुणों में अनुमोदन से होती है। इस प्रकार द्रव्यस्तव और भावस्तव पृथक् होते हुए भी अभिन्न हैं। इसलिये साधुओं और श्रावकों को द्रव्यस्तव और भावस्तव दोनों करना चाहिये।

**सप्तम पञ्चाशक**

हरिभद्र ने सातवें पञ्चाशक में 'जिनभवन-निर्माणविधि' का वर्णन किया है। जिनभवन-निर्माण के लिये निर्माता की कुछ योग्यताएँ आवश्यक हैं। हरिभद्र के अनुसार जिनभवन-निर्माण कराने का अधिकारी वही व्यक्ति है जो गृहस्थ हो, शुभभाव वाला हो, जिनधर्म पर श्रद्धा रखता हो, समृद्ध हो,

कुलीन हो, कंजूस न हो, धैर्यवान हो, बुद्धिमान हो, धर्मानुरागी हो, देव, गुरु और धर्म की भक्ति करने में तत्पर हो और शुश्रूषादि आठ गुणों से युक्त हो। साथ ही आगमानुसार जिनभवन के निर्माण-विधि का ज्ञाता हो। अपने तथा दूसरों के हित के लिये जिनमंदिर बनवाने वाले निर्माता में उक्त गुणों का होना आवश्यक है, क्योंकि अयोग्य व्यक्ति जिनभवन का निर्माण करवाएगा तो जिनाज्ञा का भंग होने से दोष का भागी होगा। योग्य व्यक्ति को जिनभवन का निर्माण करवाते देखकर कुछ गुणानुरागी मोक्षमार्ग को प्राप्त करते हैं तो दूसरे गुणानुरागरूप शुभपरिणाम से मोक्षप्राप्ति के लिए बीजस्वरूप सम्यग् दर्शन आदि को प्राप्त करते हैं। सर्वज्ञ देव द्वारा स्वीकृत जिनशासन के प्रति जो शुभभाव हैं, वही शुभभाव सम्यग्दर्शन का हेतु बनते हैं। अतः जिन-मन्दिर के निर्माण में कम से कम दोष लगे, ऐसी सावधानी रखनी चाहिये। इस सम्बन्ध में हरिभद्र ने पाँच द्वारों का निर्देश किया है —

**१. भूमिशुद्धिद्वार** — भूमिशुद्धि दो प्रकार से होती है — द्रव्य और भाव। किसी भूमि या क्षेत्र का सदाचारी लोगों के रहने लायक होना तथा काँटे, हड्डियाँ आदि से रहित होना द्रव्यशुद्धि है और वहाँ जिनभवन बनवाने में दूसरे लोगों को कोई आपत्ति न होना यह भावशुद्धि है। अयोग्य क्षेत्र में जिनमन्दिर-निर्माण से जिनमन्दिर की न तो वृद्धि होती है और न ही वहाँ साधु आते हैं। यदि कभी आते भी हैं तो उनके आचार का नाश होता है, फलतः जिनशासन की निन्दा होती है। अतः सदैव योग्य क्षेत्र में ही जिन-मन्दिर बनवाना चाहिये।

**२. दलविशुद्धिद्वार** — दल सामग्री को कहते हैं। जिनमन्दिर-निर्माण के लिये काष्ठ, पत्थर आदि का शुद्ध होना भी आवश्यक है। काष्ठादि खरीदते समय होने वाले शकुन और अपशकुन सामग्री की शुद्धि-अशुद्धि जानने के उपाय हैं।

**३. भृतकानतिसन्धानद्वार** — जिनमन्दिर-निर्माण सम्बन्धी कोई भी कार्य कराते समय मजदूरों का शोषण नहीं करना चाहिये। अधिक मजदूरी देने से वे प्रसन्न होकर अधिक कार्य करते हैं। इससे जिनशासन की प्रशंसा होती है, फलतः कुछ लोग जिनशासन के प्रति आकर्षित होकर बोधिबीज अर्थात् सम्यग्दर्शन को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार जिनशासन की प्रभावना होती है।

**४. स्वाशयवृद्धिद्वार** — जिनभवन-निर्माण के समय जिनेन्द्रदेव के गुणों का यथार्थ ज्ञान एवं जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा के लिये की गयी प्रवृत्ति से होने वाला शुभ परिणाम स्वाशयवृद्धि है।

५. यतनाद्वार — जिनभवन के निर्माण हेतु लकड़ी लाना, भूमि खोदना आदि कार्यों में जीव-हिंसा न हो या कम से कम हो इसके लिये सावधानी रखनी चाहिये, क्योंकि जीवरक्षा ही धर्म का सार है। यतना धर्म के पालन के लिये आवश्यक है, क्योंकि भगवान् ने यतना में ही धर्म बताया है। यतना प्रवृत्तिरूप होने पर भी निवृत्तिमार्ग की साधक है, क्योंकि यतना से आरम्भादिक हिंसा अल्पतम होती है और इससे अनेक दोष दूर हो जाते हैं, इसी कारण यह यतना परमार्थ से निवृत्तिप्रधान ही है।

इस प्रकार भूमि-शुद्धि आदि में विधिपूर्वक सावधानी रखने वाले व्यक्ति की जिनमन्दिर-निर्माण सम्बन्धी प्रवृत्तियों में जीवहिंसा होने पर भी वह पापरूप नहीं होती है, अत: परमार्थ से तो वह अहिंसा ही है। इसी प्रकार जिनपूजा, जिनमहोत्सव आदि सम्बन्धी प्रवृत्तियों में अल्पतम हिंसा होते हुए भी वे अधिक जीवहिंसा से निवृत्ति कराने वाली होने के कारण परमार्थ से अहिंसक ही मानी जाती हैं। अत: श्रावक को मुक्ति न मिलने तक देवगति और मनुष्यगति में अभ्युदय और कल्याण की सतत परम्परा को बनाए रखने हेतु जिनभवन का निर्माण करवाना चाहिये, क्योंकि अन्तत: उससे मोक्ष मिलता है।

जिनभवन में जिनबिम्बप्रतिष्ठा के भाव से उपार्जित पुण्यानुबन्धी पुण्य के फल से जीव को सदा देवलोक आदि सुगति की ही प्राप्ति होती है, अर्थात् जब तक मोक्ष न मिले तब तक वह देवलोक या मनुष्यलोक में ही उत्पन्न होता है। जिनभवन के निमित्त साधुओं का आगमन हो तो स्वाभाविक रूप में गुणानुराग होता है और नये-नये गुणों का प्रकटन होता है। जिन-भवन से दूसरे लोग भी प्रतिबोध को प्राप्त करते हैं। जो धन जिनमन्दिर में लग रहा है वही मेरा है, ऐसे शुभभाव से उपार्जित शुभकर्म के विपाक से जीव स्वीकृत चारित्र का अन्त तक निर्वाह करता है। मृत्युपर्यन्त विधिपूर्वक संयम का पालन करना निश्चयनय से चारित्राराधना है। इसकी आराधना करने वाले जीव सात या आठ भवों से जन्म-मरणादि से मुक्त होकर शाश्वत सुखवाले मोक्षपद को प्राप्त करते हैं।

**अष्टम पञ्चाशक**

हरिभद्र ने आठवें पञ्चाशक में 'जिनबिम्बप्रतिष्ठाविधि' का वर्णन किया है। यह विधि दो भागों में विभक्त है — (१) जिनबिम्ब-निर्माण की विधि तथा (२) जिनबिम्ब-प्रतिष्ठाविधि। भगवान् जिन के वीतरागता, तीर्थ-प्रवर्तन आदि गुणों को गुरु के द्वारा सुनने और जानने के पश्चात् व्यक्ति यह सोचता है कि भगवान् जिनेन्द्रदेव अतिशय गुण सम्पन्न होते हैं, उनके बिम्ब

का दर्शन करना कल्याणकारी होता है, उनके प्रति शुभभाव रखने से शुभ-कर्मों का अनुबन्ध होता है। अत: जिनबिम्ब बनवाना मनुष्य का कर्त्तव्य है और यही मनुष्य जन्म की सार्थकता है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार जिन-बिम्ब निर्माण करवाने वाले के लिये यह आवश्यक है कि वह किसी निर्दोष चरित्र वाले शिल्पी से ही बिम्ब का निर्माण करवाए और उसे पर्याप्त पारिश्रामिक दे। यदि निर्दोष चरित्र वाला शिल्पी नहीं मिलता है और दूषित चरित्र वाले शिल्पकार से जिनबिम्ब का निर्माण करवाना पड़े तो उसका पारिश्रमिक पूर्व ही निर्धारित कर देना चाहिये। उसे वह धनराशि भी अनाज आदि के रूप में दे ताकि वह उसे पापकर्म में खर्च न कर सके। यदि ऐसा नहीं होता है तो दूषित चरित्रवाला शिल्पी उस धनराशि से पापरूप प्रवृत्तियों में संलग्न रहता है और फलत: अनन्त भवभ्रमण करते हुए उस निमित्त दारुण दु:ख को भोगता है। इसलिये ऐसे शिल्पी को खाद्यान्न आदि के रूप में पारिश्रमिक निर्धारित किये बिना नियुक्त नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार किसी अत्यन्त बीमार व्यक्ति को अपथ्य भोजन देना उचित नहीं है, उसी प्रकार भली-भाँति विचारकर जो कार्य का परिणाम किसी के लिये दारुण दु:ख का कारण हो वह करणीय नहीं होता। अत: जिन-आज्ञानुसार कार्य करना सराहनीय होता है। यदि अज्ञानवश कभी भूल से आज्ञा के विपरीत कार्य हो भी जाता है तो करने वाला दोषी नहीं समझा जाता है, क्योंकि वह आज्ञा का आराधक होता है और उसका परिणाम शुद्ध होता है। आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने वाले को तीर्थङ्कर के प्रति बहुमान होता है और तीर्थङ्कर के प्रति बहुमान होने के कारण उसके परिणाम (मनोभाव) शुद्ध होते हैं। साधु या श्रावक से सम्बन्धित कोई भी प्रवृत्ति यदि अपनी मति के अनुसार की जाती है, तो वह आज्ञारहित होने से संसार का निमित्त होती है। अत: मोक्षाभिलाषी को जिन की आज्ञानुसार ही प्रयत्न या पुरुषार्थ करना चाहिये।

इस प्रकार भलीभाँति निर्मित जिनबिम्ब की शुभ मुहूर्त्त में चन्दनादि का विलेपन करके मांगलिक गीतों के बीच विधिपूर्वक स्थापना करनी चाहिये। उसके चारों ओर स्वर्ण-मुद्रा, रत्न तथा जल से परिपूर्ण चार कलश जिनमें पुष्प और कच्चे धागे बँधे हों, रखकर बिम्ब के समक्ष गन्ने के टुकड़े, मिष्ठान्न, जौ, चन्दन आदि का स्वस्तिक बनाकर घी, गुड़ आदि से युक्त मंगल-दीप प्रज्वलित करना चाहिये। इतनी क्रिया हो जाने के पश्चात् प्रतिमा के हाथ में मांगलिक कंकन बाँधकर उत्तम वस्त्र धारण कराकर अधिवासित जिनबिम्ब का चार पवित्र नारियों द्वारा प्रोङ्खन करना चाहिये। यह कहा जाता है कि प्रोङ्खन करने वाली स्त्रियों को कभी भी वैधव्य और दारिद्र्य

प्राप्त नहीं होता है। अधिवासन के समय चन्दन, कपूर, पुष्प, नारियल आदि उत्तम द्रव्यों, वस्त्र, आभूषण आदि विविध प्रकार के उपहारों और भक्तिभावपरक उत्तम रचनाओं से जिनेन्द्रदेव के वैभव को प्रकट करके जिन-बिम्ब की उत्कृष्ट पूजा करनी चाहिये। उत्कृष्ट पूजा (मूलमंगल) के पश्चात् चैत्यवन्दन करना चाहिये। वर्धमान-स्तुति बोलने के पश्चात् शासनदेवियों की आराधना के लिये एकाग्रचित्त होकर कायोत्सर्ग करना चाहिये, फिर मंगलोच्चारणपूर्वक जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। जिनबिम्ब की यह प्रतिष्ठा सूर्य-चन्द्र की प्रतिष्ठा की ही भाँति शाश्वत है। प्रतिष्ठोपरान्त आशीर्वाद के लिये सिद्धों की स्तुति रूप उनकी अनेक उपमाओं वाली मंगलगाथाएँ बोलनी चाहिये। इन मंगलगाथाओं को बोलने से इष्ट की सिद्धि होती है। मंगलगाथाएँ बोली जाएँ इसे लेकर विद्वानों में मतवैभिन्य है। कुछ आचार्यों का कहना है कि ये मंगलगाथाएँ पूर्णकलश, मंगलदीप आदि रखते समय बोली जानी चाहिये तो कुछ आचार्यों का कथन है कि परमार्थ से जिनेन्द्रदेव ही मंगलरूप हैं, इसलिये प्रत्येक कार्य करने से पूर्व भावपूर्वक जिनेन्द्रदेव की स्तुतिरूप मंगलगाथाओं का पाठ करना चाहिये।

जिनबिम्ब की पूजा के उपरान्त संघ की पूजा करने का विधान है, क्योंकि शास्त्रों में ऐसा वर्णन आया है कि तीर्थङ्कर के बाद पूज्य के रूप में संघ का स्थान है। आगमों में तीर्थङ्कर द्वारा संघ को नमस्कार करने के उल्लेख मिलते हैं। संघपूजा में सभी पूज्यों की पूजा हो जाती है। यहाँ संघ का अभिप्राय साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका के समूह रूप संघ से नहीं है, अपितु उनके गुण समूह रूप संघ से है। यही कारण है कि तीर्थङ्कर भी देशना के पहले 'नमो तित्थस्स' कहकर गुरुभाव से संघ को नमस्कार करते हैं। इस तरह बिना किसी भेदभाव के गुणों के निधानरूप संघ की पूजा करनी चाहिये। संघ-पूजा सर्व दानों में महादान है। यही गृहस्थ धर्म का सार है और यही सम्पत्ति का सदुपयोग है। संघ-पूजा का मुख्य फल तो मोक्ष ही है, किन्तु उससे देव और मनुष्य शुभगतिरूप आनुषङ्गिक फल की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा के पश्चात् भी स्वजनों और सह-धर्मियों के प्रति उत्तम वात्सल्यभाव रखना चाहिये। प्रतिष्ठा के अवसर पर शुद्धभाव से आठ दिनों तक महोत्सव करना चाहिये, किन्तु कुछ आचार्यों का कहना है कि यह महोत्सव तीन दिन तक करना चाहिये। तदुपरान्त प्रतिदिन शास्त्रोक्त विधि से चैत्यवन्दन, स्नात्र-पूजा आदि करनी चाहिये, जिससे भव-विरह अर्थात् संसार से मुक्ति प्राप्त हो।

## नवम पञ्चाशक

नवें पञ्चाशक में हरिभद्र ने 'यात्राविधि' का वर्णन किया है। यहाँ यात्रा से अभिप्राय मोक्षरूपी फल प्रदाता जिन की शोभायात्रा से है। जिन की शोभायात्रा वह महोत्सव है जो जिन को उद्दिष्ट करके किया जाता है। जिन की उपासना का आधार सम्यक् दर्शन है और निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपबृंहणा, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना — ये आठ आचार (भेद) बताए गए हैं। इनमें भी प्रभावना प्रधान है, क्योंकि जो निःशंकित आदि गुणों से युक्त है वही जिनशासन की प्रभावना कर सकता है। जिन-यात्रा जिनशासन की प्रभावना के निमित्त किया गया है जो एक विशिष्ट महोत्सव है। दान, तप, शरीर-शोभा, उचित गीतवाद्य, स्तुति-स्तोत्र, प्रेक्षणक आदि इसके छः द्वार हैं, जिनका यथाशक्ति पालन करना चाहिये। जिनयात्रा सम्बन्धी इन छः क्रियाओं के लिये यह आवश्यक है कि इस हेतु सर्वप्रथम राजाज्ञा-प्राप्त की जाय, बिना राजा की आज्ञा के उसके प्रदेश में जिन की शोभायात्रा निकालना उचित नहीं है। राजा से उसके भूभाग में इनके करने हेतु अनुमति प्राप्त करना आगम सम्मत है। इससे उस देश में विचरण करने वाले साधुओं को निम्नांकित लाभ होते हैं —

(१) तीसरे महाव्रत का निरतिचार पालन होता है और जिनाज्ञा की आराधना होने से कर्मों की निर्जरा होती है, (२) इन कार्यों में शत्रु के उपद्रव आदि का भय नहीं रहता है, (३) राजा के द्वारा साधु का सम्मान होने से लोक में भी उस साधु का सम्मान होता है, अतः साधु को राजा के पास जाकर जैन शासन से अविरुद्ध उसके विनय, दाक्षिण्य और सज्जनता आदि गुणों की प्रशंसा करनी चाहिये तथा कहना चाहिये — हे श्रेष्ठ पुरुष ! मनुष्य के रूप में तो सभी मनुष्य समान होते हैं, फिर भी आपने विशिष्ट पुण्यकर्म से मनुष्यों के राजा बनने का सौभाग्य प्राप्त किया है। मनुष्य और देवलोक सम्बन्धी सभी सम्पदाओं की उपलब्धि का कारण धर्म है और धर्म ही संसार-रूपी समुद्र को पार कराने वाला जहाज है। अतः आप धर्मकार्य में सहयोगी बनें। साधु के इस प्रकार के वचन से प्रभावित हो राजा उस महोत्सव के प्रसंग में या सर्वदा के लिये जीवहिंसादि का निवारण करता है। इस प्रकार जिनेन्द्रदेव की यात्रा के अवसर पर राजाज्ञा से अथवा धनादि देकर भी हिंसादि कार्य रुकवाने का प्रयत्न करना चाहिये। संघ को राजा से मिलकर हिंसा बन्द करवाने वाले आचार्य या श्रावकों का अन्तःकरण से सम्मान करना चाहिये। उन महापुरुषों के सम्मान से गुणों की अनुमोदना होती है और हिंसा निवारणरूप विशेष भाव होने से कर्मक्षय होते हैं।

जैनधर्म में तीर्थङ्करों के पाँच कल्याणक दिवस माने गए हैं — (१) तीर्थङ्करों का गर्भ में आगमन, (२) उनका जन्म, (३) अभिनिष्क्रमण, (४) केवलज्ञान और (५) मोक्षप्राप्ति। इन कल्याणकों के दिनों में जिन की शोभायात्रा निकालना श्रेयस्कर माना जाता है। इन दिनों में जिन-यात्रा करने से निम्न लाभ होते हैं —

(१) तीर्थङ्कर का लोक में सम्मान होता है, (२) पूर्वपुरुषों द्वारा आचरित परम्परा का पालन होता है, (३) देव, इन्द्र आदि द्वारा निर्वाहित परम्परा का अनुमोदन होता है, (४) जिनमहोत्सव गम्भीर सहेतुक हैं — ऐसी लोक में प्रसिद्धि होती है, (५) जिनशासन की प्रभावना होती है और (६) जिनयात्रा में भाग लेने से विशुद्ध मार्गानुसारी गुणों के पालन सम्बन्धी अध्यवसाय उत्पन्न होते हैं। विशुद्ध मार्गानुसारी गुणों के पालन से सभी वांछित कार्यों की सिद्धि होती है। अर्हतों ने विशुद्ध मार्गानुसारी भाव को सकल वांछित कार्यों की सिद्धि का सफल हेतु कहा है। कल्याणक दिवसों में जिनमहोत्सव करने से तीर्थङ्कर का लोक में अति सम्मान होता है। इसलिये इन दिनों में जिनबिम्ब से युक्त रथ, शिबिका आदि महोत्सवपूर्वक नगर में घुमानी चाहिये। एक यह उत्कृष्ट क्रिया है, जिसे कल्याणक के दिनों में इन्द्रादि देवों ने भी किया है। इसलिये दुर्लभ मनुष्ययोनि पाने के बाद कल्याणक के दिनों में जिनयात्रा अवश्य निकालनी चाहिये। शास्त्रवचन एवं पूर्वजों की परम्परा का अनुसरण न करना उनका अपमान करना है। अत: श्रद्धालु एवं सज्जन मनुष्यों को गुरुमुख से जिनयात्रा महोत्सवविधि को जानकर जिनयात्राओं का आयोजन करना चाहिये।

## दशम पञ्चाशक

दसवें पञ्चाशक में 'उपासक प्रतिमाविधि' का वर्णन किया गया है। दशाश्रुतस्कन्ध में आचार्य भद्रबाहु ने निम्न ग्यारह प्रतिमाएँ बतायी हैं — दर्शन, व्रत, सामायिक, पौषध, नियम, अब्रह्मवर्जन, सचित्तवर्जन, आरम्भवर्जन, प्रेष्यवर्जन, उद्दिष्टवर्जन और श्रमणभूत। आचार्य हरिभद्र ने प्रतिमाओं के स्वरूप का वर्णन निम्न प्रकार से किया है —

**दर्शनप्रतिमा** — सम्यग्दर्शन के पालन करने को दर्शनप्रतिमा कहते हैं। इस अवस्था में मिथ्यात्व का क्षयोपशम हो जाने से व्यक्ति में दुराग्रह या कदाग्रह नहीं होता है। यह आस्तिक्य, अनुकम्पा, निर्वेद, संवेग और प्रशम — इन पाँच गुणों से युक्त तथा शुभानुबन्ध से युक्त और शंकादि अतिचारों से रहित होती है।

**व्रतप्रतिमा** — इस प्रतिमा में श्रावक स्थूल-प्राणातिपातविरमण

आदि पाँच अणुव्रतों का सम्यक् रूप से पालन करता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद आयुष्यकर्म को छोड़कर शेष कर्मों की जितनी स्थिति है उनमें से दो से नौ पल्योपम जितनी शेष रह जाने पर अणुव्रतों की प्राप्ति होती है। पाँच अणुव्रतों का निरतिचार पालन करना ही व्रत प्रतिमा है।

**सामायिकप्रतिमा** — सावद्ययोग का त्याग कर समभाव की साधना करना सामायिक है। यह सामायिक व्रत श्रावक द्वारा एक मुहूर्त आदि की एक निर्धारित समयावधि के लिये किया जाता है। सामायिक करते समय श्रावक साधु के समान ही समभावपूर्वक जीवन जीता है।

**पोषधप्रतिमा** — जिनदेव द्वारा प्राप्त विधि के अनुसार आहार, देह, संस्कार, अब्रह्मचर्य एवं सांसारिक आरम्भ-समारम्भ का त्याग ही पोषध कहलाता है। इन चारों के त्याग से धर्म की वृद्धि होती है।

**कायोत्सर्गप्रतिमा** — उपर्युक्त चारों प्रतिमाओं की साधना करते हुए श्रावक को अष्टमी व चतुर्दशी के दिन कायोत्सर्ग करना चाहिये। कायोत्सर्ग में कषायविजेता और त्रिलोकपूज्य जिनों का ध्यान या अपने रागादि दोषों की आलोचना करनी चाहिये।

**अब्रह्मवर्जनप्रतिमा** — उपर्युक्त पाँचों प्रतिमाओं से युक्त श्रावक द्वारा अविचल चित्त होकर काम-वासना का पूर्णतया त्याग कर देना अब्रह्मवर्जन प्रतिमा है।

**सचित्तवर्जनप्रतिमा** -- इसमें श्रावक अशन, पान, खादिम और स्वादिम रूप चारों प्रकार के सचित्त भोजन का त्याग करता है।

**आरम्भवर्जनप्रतिमा** — इस प्रतिमा में श्रावक खेती आदि वे सभी कार्य जिनमें हिंसा होती है, स्वयं छोड़ देता है लेकिन नौकरों से करवाता है। इससे उसके स्वयं द्वारा की जाने वाली हिंसा कम हो जाती है जो उसके लिये लाभदायक होती है।

**प्रेष्यवर्जनप्रतिमा** — इसमें श्रावक खेती आदि आरम्भ नौकरों से भी नहीं करवाता है। वह सारी जिम्मेदारियाँ अपने पुत्र, पारिवारिकजनों आदि पर छोड़ देता है। न तो वह स्वयं हिंसादि पापकर्म करता है और न अन्य से करवाता है। वह धन-धान्यादि के प्रति भी ममत्व नहीं रखता है। मात्र परिजनों द्वारा पूछे जाने पर योग्य सलाह दे देता है।

**उद्दिष्टवर्जनप्रतिमा** — इसमें श्रावक अपने लिये बने हुए भोजन आदि का भी त्याग कर देता है। मात्र परिजनों के यहाँ जाकर निर्दोष भोजन ग्रहण कर लेता है।

**श्रमणभूतप्रतिमा** — इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक

मुण्डित होकर साधु के समान सभी उपकरण लेकर भिक्षावृत्ति से जीवनयापन करता है।

इन प्रतिमाओं के आचरण से श्रावक की आत्मा भावित होती है, जो श्रावक इन प्रतिमाओं का सम्यक् रूप से पालन कर लेता है, वह प्रव्रज्या के योग्य बन जाता है। इस प्रकार अपनी योग्यता का परीक्षण करके ली गई दीक्षा परिपूर्ण दीक्षा कहलाती है। सम्यग्ज्ञान होने पर जिन कारणों से संसार से विरक्ति होती है उन्हीं से मोक्षमार्ग के प्रति प्रशस्त अनुराग उत्पन्न होता है।

आचार्य हरिभद्र के अनुसार जो प्रशस्त मन वाला है वही श्रमण है। सद्गुण सम्पन्न, मान-अपमान आदि में समभावपूर्ण व्यवहार करने वाला श्रमण कहलाता है। चारित्र के प्रति निष्ठावान शुद्ध अध्यवसाय वाला जीव ही श्रमणत्व को प्राप्त कर सकता है। यद्यपि ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम से अल्प वय वाला भी प्रव्रज्या के योग्य बन जाता है, तथापि उसको भी उसी प्रकार दीक्षा दी जाती है जिस प्रकार प्रतिमा का पालन करने वाले को। फिर भी भव-विरह अर्थात् मुक्ति के इच्छुक सामान्यजनों को इन प्रतिमाओं का पूर्णतया पालन करने के बाद ही दीक्षा लेनी चाहिये।

## एकादश पञ्चाशक

ग्यारहवें पञ्चाशक में 'साधुधर्मविधि' का वर्णन है। जो चारित्रयुक्त होता है वही साधु है। देशचारित्र और सर्वचारित्र के भेद से चारित्र दो प्रकार का है। देशचारित्र से युक्त गृहस्थ व सर्वचारित्र से युक्त साधु होता है। सर्वविरति चारित्र के पाँच प्रकार हैं — सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात।

**१. सामायिक** — रागद्वेषादि से रहित समताभाव ही सामायिक है। इत्वर अर्थात् अल्पकालिक और यावत्कथित अर्थात् जीवनपर्यन्त के भेद से सामायिक दो प्रकार का है।

**२. छेदोपस्थापन** — पूर्व दीक्षापर्याय का छेद करके महाव्रतों में उपस्थापन या आरोपण करना ही छेदोपस्थापन चारित्र कहलाता है। सातिचार और निरतिचार के भेद से इसके भी दो प्रकार हैं।

**३. परिहारविशुद्धि** — परिहार तप से आत्मविशुद्धि करना परिहार-विशुद्धि चारित्र है। निर्विशमानक और निर्विष्टकायिक के भेद से इसके भी दो प्रकार हैं।

**४. सूक्ष्मसम्पराय** — जिससे संसार-भ्रमण होता हो वह सम्पराय है। कषाय ही संसार-भ्रमण का कारण है, अतः कषाय को सम्पराय कहते हैं।

कषायों के अत्यन्त सूक्ष्म होने पर सूक्ष्मसम्पराय चारित्र होता है। इसके विशुद्ध्यमान एवं क्लिश्यमान — ऐसे दो भेद हैं।

५. **यथाख्यात** — जैसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है, तदनुरूप निरपवाद रूप से चारित्रधर्म का पालन यथाख्यात चारित्र है, अर्थात् कषायरहित चारित्र यथाख्यात चारित्र है।

चारित्र के सामायिक, छेदोपस्थापनादि भेद वस्तुत: तो सामायिक के ही भेद हैं, अत: इस प्रसंग में हरिभद्र ने सामायिक एवं गुरुकुलवास का विशेष रूप से वर्णन किया है।

निर्जीव और सजीव सभी प्रकार के अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थों में समभाव रखना सामायिक है। सामायिक अर्थात् समभाव के होने पर ही सम्यक् ज्ञान और दर्शन होते हैं। इसी समत्व की अनुभूति से सामायिक अर्थात् चारित्र में श्रद्धा होती है। साधुओं का गुरु के प्रति समर्पण भाव ही उनके ज्ञान और दर्शन का आधार है। प्रतिलेखन आदि शुभ अनुष्ठानों का पालन करना ही चारित्र धर्म का पालन है। आप्त की आज्ञा के पालन से ही चारित्र प्राप्त होता है — ऐसा आगमों में वर्णित है। जिनेन्द्रदेव की यह स्पष्ट आज्ञा है कि साधुओं को गुरुकुलवास अर्थात् गुरु के सान्निध्य का त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि गुरुकुलवास ही मोक्ष का साधन है। गुरुकुलवास का त्याग नहीं करने वाले साधु श्रुतज्ञान के पात्र बनते हैं। इससे उनका दर्शन और चारित्र भी दृढ़ होता है। शास्त्रज्ञ शिष्य को गुरु आचार्य बना देते हैं। क्षान्ति, मार्दव, आर्जव, मुक्ति, तप, संयम, सत्य, शौच, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य — ये दस साधु के धर्म हैं। इन धर्मों में पूर्णता गुरुकुलवास में रहने से ही आती है अन्यथा इनका अभाव हो जाता है। गुरु की सेवा करने से साधक सदनुष्ठानों में सहभागी होता है और कर्म की निर्जरा होती है। सम्यग्ज्ञान और सदनुष्ठान रूपी गुणों से युक्त गुरु ही सच्चा गुरु है। अत: सच्चे गुरु के आश्रय में ही सदा रहना चाहिये। अपने से अधिक या समान गुणों वाला सहायक न मिलने पर अकेले ही विहार करना चाहिये — यह आगमवचन विशिष्ट साधु की अपेक्षा से है, सर्वसामान्य के लिये नहीं है। जात और अजात के भेद से कल्प दो प्रकार का है। पुन: समाप्त और असमाप्त के भेद से भी कल्प दो-दो प्रकार के होते हैं। एकाकी विहार करने वाले साधु को अनेक दोष लगते हैं, यथा — स्त्री सम्बन्धी दोष, कुत्तों आदि के काटने का भय, साधु के प्रति द्वेष रखने वाले व्यक्तियों द्वारा आक्रमण, अशुद्ध भिक्षा आदि। इसीलिये जिनेन्द्रदेव ने एक गीतार्थ (विशिष्ट साधु) का दूसरे गीतार्थ की निश्रा में रहने वाले साधु का विहार प्रतिपादित किया

है। गीतार्थ साधु भी तभी एकाकी विहार करे, जब उसे कोई सहायक साधु न मिले। अगीतार्थ को तो सदा दूसरे के साथ ही विहार करना चाहिये।

मूलगुणों से युक्त गुरु ही गुरु है। ऐसे गुरु का त्याग नहीं करना चाहिये। कृतज्ञ शिष्य उनका सदैव सम्मान ही करते हैं, किन्तु जो कृतज्ञ नहीं होते हैं वे ही गुरु की अवहेलना करते हैं, वस्तुत: वे साधु नहीं हैं। जो गुरुकुल का त्याग करते हैं उनका सम्मान करना भी अहितकर है। तीर्थङ्कर की आज्ञा में रहने वाले साधु पाँच समिति और तीन गुप्तियों से युक्त, धर्म के प्रति अनुरागी, इन्द्रियों और कषायों के विजेता, गम्भीर, बुद्धिमान, प्रज्ञापनीय और महासत्त्व वाले होते हैं। सम्यक् ज्ञान और दर्शन के होने पर ही सम्यक् चारित्र होता है। इसलिये जो सम्यक् चारित्र में स्थित हैं वे सम्यक् ज्ञान और दर्शन में स्थित हैं। निश्चयनय की अपेक्षा से तो चारित्र का घात होने से ज्ञान और दर्शन का घात हो जाता है, किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा से उनका घात हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। जो गुरुकुलवास रूपी गुण से युक्त हैं और जिसमें सुविहित साधु के वसति-शुद्धि, विहार-शुद्धि, भाषा-शुद्धि, विनय-शुद्धि आदि लक्षण होते हैं, वही भावसाधु कहलाता है। भावसाधु राग-रहित, निरपेक्ष तथा इन्द्रियों को वश में रखने वाला होता है। इन गुणों से युक्त साधु ही अपने अच्छे आचरण से दूसरों में वैराग्य भावना उत्पन्न कर सकता है और स्वयं जल्दी ही शाश्वत सुख वाले मोक्ष को अर्थात् भव विरह को प्राप्त करता है।

## द्वादश पञ्चाशक

बारहवें पञ्चाशक में हरिभद्र ने 'साधुसामाचारीविधि' का वर्णन किया है। साधु सामाचारी का तात्पर्य है साधुओं को पालन करने योग्य आचार-सम्बन्धी नियम। साधु सामाचारी दस प्रकार की हैं — इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आवश्यिकी, निषीधिका, आपृच्छना, प्रतिपृच्छना, छन्दना, निमंत्रणा और उपसम्पदा। इन सामाचारियों का वर्णन निम्न प्रकार है —

**इच्छाकार सामाचारी** — अन्य साधुओं की इच्छापूर्वक उनसे अपना काम कराना या स्वयं उनका काम करना इच्छा सामाचारी है। इसमें तीन बातें प्रमुख हैं — (१) अनिच्छापूर्वक न तो दूसरों से काम कराना चाहिये और न दूसरों का काम करना चाहिये, (२) अकारण न तो दूसरों से काम करवाना चाहिये और न दूसरों का काम करना चाहिये, (३) रत्नाधिक अर्थात् ज्ञान, दर्शन और चारित्र में अपने से वरिष्ठ साधु से काम नहीं करवाना चाहिये। यदि स्वयं में कार्य करने की शक्ति हो तो दूसरों से वह कार्य न करवाकर दूसरों का कार्य स्वयं ही कर देना चाहिये। किन्तु यदि दूसरे का

कार्य करने में असमर्थ हो तो उसे असमर्थता व्यक्त कर देनी चाहिये कि आपका कार्य करने की मेरी इच्छा तो है परन्तु मैं वह कार्य करने में असमर्थ हूँ। इस सामाचारी का पालन करने से पराश्रय की प्रवृत्ति समाप्त होती है, आत्मनिर्भरता में वृद्धि होती है, उच्चगोत्र कर्म का बन्ध होता है और जैनशासन के प्रति लोगों में सम्मान का भाव बढ़ता है।

**मिथ्याकार सामाचारी** — महाव्रतों एवं समिति-गुप्ति के पालन में व्यक्ति से यदि कोई गलती हो गई हो तो 'यह गलत हुआ है', ऐसा सोचकर उसका पश्चात्ताप कर लेना चाहिये, इससे कर्मक्षय होते हैं।

**तथाकार सामाचारी** — कल्प्य और अकल्प्य का पूर्ण ज्ञान रखने वाले, पाँच महाव्रतों का पालन करने वाले तथा संयम और तप से परिपूर्ण मुनियों के योग्य निर्देशों को बिना किसी शंका-कुशंका के स्वीकार कर लेना चाहिये।

**आवश्यिकी सामाचारी** — गुरु की आज्ञा लेकर ही मल-मूत्र निवृत्ति, भिक्षा एवं ज्ञानार्जन आदि के लिये बाहर जाना चाहिये। क्योंकि साधु के लिये ज्ञानार्जन, ध्यान-साधना तथा भिक्षाटन आदि कार्य आवश्यक हैं। इन आवश्यक कार्यों के लिए गुरु की आज्ञापूर्वक उपाश्रय से बाहर जाना आवश्यिकी समाचारी है। इसमें उपाश्रय से बाहर जाते समय 'आवस्सहि-आवस्सहि' बोलना चाहिये।

**निषीधिका सामाचारी** — देव या गुरु के स्थान में प्रवेश करते समय अथवा आवश्यक कार्यों को सम्पन्न करके लौटने पर 'निसीहि' शब्द का उच्चारण करना ही नैषेधिकी है। इसका तात्पर्य है अशुभ कार्य करने या अनावश्यक रूप से बाहर जाने का निषेध है। गुरुदेव के स्थान का उपभोग सावधानी से करना चाहिये, जिससे उनकी किसी प्रकार की आशातना न हो। जो साधु सावद्ययोग से रहित होते हैं, उन्हीं की निषीधिका सामाचारी सफल होती है।

**आपृच्छना सामाचारी** — ज्ञानादि कार्य गुरु से पूछकर करना ही आपृच्छना सामाचारी है। गुरु से पूछकर किया गया कार्य सिद्ध होता है। इससे पापकर्मों का प्रणाश तथा पुण्यकर्मों का बन्ध होता है। आगामी भव में शुभ गति तथा सद्गुरु का लाभ होता है। इसलिये साधु को कोई भी कार्य गुरु की अनुमति लेकर ही करना चाहिये।

**प्रतिपृच्छना सामाचारी** — गुरु से पूछकर किये गए कार्य को सम्पन्न होने में कोई अन्तराल आ गया हो तो पुनः पूछकर कार्य करना प्रतिपृच्छना कहलाता है। पुनः पूछने पर गुरु दूसरा कार्य पहले करने को भी कह सकते

हैं या यह कह सकते हैं कि कार्य हो चुका है, अब इसे करना आवश्यक नहीं है। इसलिये साधु को कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व गुरु से पुनः पूछना ही प्रतिपृच्छना सामाचारी है।

**छन्दना सामाचारी** — भिक्षा में लाए गए आहार को गुरु की आज्ञा से बाल, रोगी आदि को देने के लिये उनसे पूछना कि 'इसकी तुम्हें आवश्यकता है या नहीं', छन्दना सामाचारी है। विशिष्ट तप करने वाला, पारणा करने वाला या असहिष्णुता के कारण समूह (मण्डली) से अलग भोजन करने वाले साधु को छन्दना सामाचारी का अनुसरण करना चाहिये।

**निमन्त्रण सामाचारी** — गुरु से पूछकर आहार आदि के लिये दूसरों को निमन्त्रण देना निमन्त्रण सामाचारी है।

**उपसम्पदा सामाचारी** — ज्ञानादि के लिये गुरु से अलग अन्य आचार्य के पास जाकर रहना उपसम्पदा सामाचारी है। यह तीन प्रकार की होती है — ज्ञान-सम्बन्धी, दर्शन-सम्बन्धी और चारित्र-सम्बन्धी।

इस प्रकार संयम और तप से परिपूर्ण साधुओं को अपने मूलगुण और उत्तरगुण की रक्षा के लिये उपर्युक्त सामाचारी का अच्छी तरह पालन करना चाहिये। जिससे अनेक भवों के संचित कर्मों का क्षय हो एवं उन्हें संसार-सागर से मुक्ति अर्थात् भव-विरह प्राप्त हो सके।

## त्रयोदश पञ्चाशक

तेरहवें पञ्चाशक में 'पिण्डविधानविधि' का वर्णन किया गया है। पिण्ड अर्थात् भोजन या आहार करते समय आहार की शुद्धता को ध्यान में रखना आवश्यक है। जैन परम्परा में जो आहार उद्गम आदि दोषों से रहित है, वही शुद्ध है। आहार सम्बन्धी दोष तीन प्रकार के हैं — उद्गम-दोष, उत्पादन-दोष और एषणा-दोष। इन तीनों के क्रमशः सोलह, सोलह और दस अर्थात् कुल बयालीस भेद हैं, जो इस प्रकार हैं —

**उद्गम दोष** — उद्गम दोष आहार बनाने सम्बन्धी दोष हैं। जैसे साधु के लिये भोजन पकाना आदि उद्गम दोष कहलाते हैं। ये दाता से सम्बन्धित हैं। इनके निम्नलिखित सोलह प्रकार हैं —

(१) *आधाकर्म* — किसी साधु विशेष को लक्ष्य कर बनाया गया भोजन आधाकर्म दोष वाला है।

(२) *औद्देशिक* — साधुओं को भिक्षा देने के उद्देश्य से बनाया गया भोजन औद्देशिक है।

(३) *पूतिकर्म* — शुद्ध आहार में अशुद्ध आहार मिलाकर पूरे

आहार को अशुद्ध बना देना पूतिकर्म दोष है।

(४) *मिश्रजात* — गृहस्थ और साधु दोनों के मिश्रित उद्देश्य से बनाया गया भोजन मिश्रजात दोषवाला है।

(५) *स्थापना* — साधु को देने के लिये आहार का एक भाग अलग निकाल कर रख देना स्थापना दोष है।

(६) *प्राभृतिका* — साधुओं के आ जाने के कारण निश्चित समय से पूर्व भोज आदि का आयोजन करके साधु को भिक्षा देना प्राभृतिका दोष है।

(७) *प्रादुष्करण* — साधु को भिक्षा देने के लिये भोजन को खुला रख देना प्रादुष्करण दोष है।

(८) *क्रीत* — साधु के लिये खरीदकर भोजन देना क्रीत दोष है।

(९) *अपमित्य* — भोजन उधार लेकर साधु को भिक्षा देना अप-मित्य दोष है।

(१०) *परावर्तित* — खाद्य वस्तुओं की अदला-बदली करके साधु को भिक्षा देना परावर्तित दोष है।

(११) *अभिहत* — साधु को देने के लिये अपने स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया गया आहार अभिहत कहलाता है।

(१२) उद्भिन्न — साधु के लिये बखार, कोठी, आलमारी आदि खोलकर आहार देना उद्भिन्न दोष है।

(१३) *मालापहृत* — साधु को छीके या ऊपरी मंजिल से वस्तु को नीचे लाकर देना मालापहृत दोष है।

(१४) आच्छेद्य — साधु को देने के लिये पुत्रादि को दी हुई वस्तु को पुनः वापस ले लेना आच्छेद्य दोष है।

(१५) अनिसृष्ट — अनेक लोगों के हिस्से की वस्तु बिना उनकी आज्ञा के साधु को देना अनिसृष्ट दोष है।

(१६) अध्यवपूरक — अपने लिये बन रहे भोजन में साधु को देने के लिये अधिक सामग्री मिला लेना अध्यवपूरक दोष है।

उत्पादन दोष — आहार प्राप्त करने हेतु साधु से होने वाले दोष उत्पादन दोष हैं। इनके भी निम्न सोलह भेद हैं —

(१) *धात्री* — धात्री कर्म करके साधु के द्वारा भिक्षा ग्रहण करना धात्री दोष है।

(२) *दूती* — गृहस्थों को परस्पर एक दूसरे को समाचार पहुँचा-कर भिक्षा-ग्रहण करना दूती दोष है।

(३) *निमित्त* — वर्तमान, भूत एवं भविष्य के सुख-दुःख बताकर

भिक्षा प्राप्त करना निमित्त दोष है।

(४) *आजीव* — जीवन निर्वाह हेतु साधु द्वारा गृहस्थ या आजीविका अर्जन करना आजीव दोष है।

(५) *वनीपक* — गृहस्थ की प्रशंसा करके भिक्षा प्राप्त करना वनीपक दोष है।

(६) *चिकित्सा* — गृहस्थ की चिकित्सा करके आहार प्राप्त करना चिकित्सा दोष है।

(७) *क्रोधपिण्ड* — भिक्षा नहीं देने पर श्राप दे दूँगा, ऐसा भय दिखाकर आहार प्राप्त करना क्रोधपिण्ड दोष है।

(८) *मानपिण्ड* — अपने स्वाभिमान हेतु पारिवारिकजनों की बात न मानकर साधु को आहार देना मानपिण्ड दोष है।

(९) *मायापिण्ड* — वेश परिवर्तन द्वारा गृहस्थ को धोखा देकर उससे आहार ग्रहण करना मायापिण्ड दोष है।

(१०) *लोभपिण्ड* — स्वादिष्ट आहार के लालच से अनेक घरों में भिक्षा हेतु जाना लोभपिण्ड दोष है।

(११) *पूर्वपश्चात्संस्तव* — आहार ग्रहण करने से पूर्व या बाद में दाता की प्रशंसा करना।

(१२-१५) *विद्या-मंत्र-चूर्ण-योग प्रयोग* — विद्या, मंत्र, चूर्ण और योग का प्रयोग कर आहार प्राप्त करना।

(१६) *मूलकर्म* — जिसके कारण पूर्व दीक्षा पर्याय छेदकर पुनः दीक्षा लेना होता है, जैसे ब्रह्मचर्य भंग करके या गर्भपात करवाकर भिक्षा लेना मूलकर्म दोष है।

**एषणा दोष** — एषणा, गवेषणा, अन्वेषणा, ग्रहण — इन सभी का एक ही अर्थ है। आहार की एषणा के दोष इस प्रकार हैं —

(१) *शंकित* — आधाकर्मादि दोषों की शंका होने पर भी वह आहार लेना शंकित दोष है।

(२) *म्रक्षित (युक्त)* — सचित्त वनस्पति पानी आदि से युक्त आहार लेना।

(३) *निक्षिप्त* (रखा हुआ) — सचित्त वस्तु पर रखा हुआ आहार लेना।

(४) *पिहित* (ढँका हुआ) — जो आहार सचित्त फलादि से ढँका हो, उसे ग्रहण करना।

(५) *संहृत* — जिस बर्तन में सचित्त वस्तु रखी हो, उसी से साधु को आहार देना।

(६) *दायक* — गर्भवती आदि भिक्षा देने के अयोग्य व्यक्तियों द्वारा भिक्षा लेना।

(७) *उन्मिश्र* — सचित्त बीज, कंद आदि मिला हुआ आहार उन्मिश्र आहार है।

(८) *अपरिणत* — पूर्णतया अचित्त न हुआ हो या पूरी तरह पका न हो, ऐसा आहार लेना अपरिणत दोष है।

(९) *लिप्त* — अखाद्य वस्तु से लिप्त आहार लेना।

(१०) *छर्दित* — देते समय आहारादि नीचे गिर रहा हो, ऐसा आहार लेना।

उक्त बयालीस दोषों से रहित आहार ही साधुओं के योग्य है। आहार की शुद्धता को जानने के लिये अतीत-अनागत-वर्तमान काल-सम्बन्धी विचारणा करने से उसका ज्ञान हो जाता है। जो साधु इसको जानकर और आप्तवचनों को प्रमाण मानकर सम्पूर्ण पिण्डदोषों को दूर करता है, वह जल्दी ही अपनी संयम-यात्रा से मुक्ति को प्राप्त होता है।

## चतुर्दश पञ्चाशक

चौदहवें पञ्चाशक में हरिभद्र ने शीलाङ्गों का निरूपण किया है। श्रमणों के शील सम्बन्धी विविध पहलुओं को शीलाङ्ग कहा गया है। इनकी संख्या अट्ठारह हजार है। ये सभी शीलाङ्ग अखण्ड भावचारित्र वाले श्रमणों में पाए जाते हैं। तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पाँच इन्द्रिय, दस काय और दस श्रमणधर्म इनके पारस्परिक गुणन से अट्ठारह हजार शीलाङ्ग होते हैं, यथा — ३ × ३ × ४ × ५ × १० × १० = १८००० । शीलाङ्गों की अट्ठारह हजार की यह संख्या अखण्ड भावचारित्रसम्पन्न मुनि में कभी कम नहीं होती है, क्योंकि प्रतिक्रमण सूत्र में इन अट्ठारह हजार शीलाङ्गों को धारण करने वाले मुनियों को ही वन्दनीय कहा गया है। दूसरे यह कि अट्ठारह हजार में से कोई एक भी भाग न होने पर सर्वविरति नहीं होती है और सर्वविरति के बिना मुनि नहीं होता। अत: बुद्धिमानों को इन शीलाङ्गों के सम्बन्ध में इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिये कि कोई भी एक शीलाङ्ग तभी सम्यक् रूप से परिशुद्ध होता है, जब वह अन्य शीलाङ्गों से युक्त होता है। यदि एक शीलाङ्ग स्वतन्त्र रूप से पूर्ण हो तो वह सर्वविरति रूप नहीं हो सकता, क्योंकि सभी शीलाङ्ग मिलकर ही सर्वविरति रूप होते हैं। सर्वविरति रूप शील (सम्यक् चारित्र) अट्ठारह हजार शीलाङ्ग वाला है। शील की यह अखण्डता या सम्पूर्णता अन्त:करण के परिणामों की अपेक्षा से होती है।

जिन आज्ञा विरुद्ध प्रवृत्ति चाहे अपने में विशुद्ध ही क्यों न हो विरतिभाव को अवश्य बाधित करती है। व्यक्ति की प्रवृत्ति प्रज्ञापनीय और अप्रज्ञापनीय ऐसी दो प्रकार की होती है। आगम सम्मत प्रवृत्ति प्रज्ञापनीय है और आगम विरुद्ध प्रवृत्ति अप्रज्ञापनीय। गीतार्थ और गीतार्थ की आज्ञा में रहने वाले अन्य साधुओं की प्रवृत्ति आगमविरुद्ध नहीं होती है, क्योंकि गीतार्थ कभी आप्तवचन का उल्लंघन नहीं करता है। गीतार्थ स्वयं चारित्र सम्पन्न होता है और सूत्रविरुद्ध प्रवृत्ति करने वाले को ऐसा करने से रोकता है। इस तरह दोनों का ही चारित्र शुद्ध बनता है। चारित्र परिशुद्ध तब होता है जब सभी शीलाङ्गों का पालन समवेत रूप से होता है, किन्तु शीलाङ्गों का समवेत पालन सभी नहीं कर सकते। इसका पालन वे ही कर सकते हैं जो मोक्षार्थी संसार से विरक्त होकर जिनाज्ञा की आराधना में तत्पर बना हो, जो शक्ति के अनुरूप आगमोक्त क्रिया में उद्यत हो, जो कर्म दोषों को निर्जरित करता हो, जो सर्वत्र अप्रतिबद्ध होकर तैलपात्रधारक और राधावेधक (उपद्रवों की चिन्ता किये बिना आँख की पुतली को बेधने वाला) की तरह अत्यधिक अप्रमत्तपूर्वक रहे। ऐसा व्यक्ति ही सर्वविरति रूप चारित्र पालने में समर्थ होता है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने कहा है कि आगमोक्त गुणों से युक्त साधु ही साधु होता है। सुवर्ण का दृष्टान्त देते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार सुवर्ण के गुणों से रहित सुवर्ण वास्तविक सुवर्ण नहीं है, उसी प्रकार साधु के गुणों से रहित साधु वास्तविक साधु नहीं है। सुवर्ण के आठ गुण होते हैं — विषघाती, रसायन, मंगलकारी, विनीत, प्रदक्षिणावर्त्त, गुरुक, अदाह्य और अकुलस्य। इसी प्रकार के गुण साधु में भी पाए जाते हैं। जिस प्रकार उपर्युक्त आठ गुणों से युक्त स्वर्ण ही वास्तविक स्वर्ण होता है, उसी प्रकार गुणरहित वेशमात्र से साधु वास्तविक अर्थ में साधु नहीं होता है। जो औद्देशिक आधाकर्म आदि दोषों से युक्त आहार करता है, वह निश्चय ही पृथ्वी आदि षट्काय के जीवों की हिंसा करता है। जो जिनभवन के बहाने अपने आवास का साधन जुटाता है तथा जानते हुए भी सचित्त जल पीता है, वह साधु कैसे हो सकता है? इस प्रकार सम्पूर्ण शीलाङ्गों से युक्त शुभ अध्यवसाय वाले साधु ही सांसारिक दु:ख का अन्त करते हैं, अर्थात् भव विरह को प्राप्त होते हैं, अन्य द्रव्यलिंगी साधु नहीं।

## पञ्चदश पञ्चाशक

यदि किसी कारणवश शीलाङ्गों का अतिक्रमण हो जाता है तो उसकी शुद्धि के लिये आलोचना करनी पड़ती है। अत: पन्द्रहवें पञ्चाशक में आलोचनाविधि का वर्णन किया गया है। अपने दुष्कृत्यों को गुरु के समक्ष

शुद्धभाव से कुछ भी छिपाए बिना बताना आलोचना है। अज्ञानतावश या राग-द्वेष से युक्त होकर किये गए कार्यों से अशुभ कर्म का बन्ध होता है, जिसके लिये भावपूर्वक आलोचना करना आवश्यक हो जाती है। आलोचना विधिपूर्वक ही होनी चाहिये, क्योंकि अविधिपूर्वक आलोचना करने से जिनाज्ञा का भंग होता है और चित्त मलिनता को प्राप्त करता है। आलोचना का काल, दिवस, पक्ष, चातुर्मास आदि कहा गया है। सामान्यतया प्रतिदिन प्रतिक्रमण करते समय सुबह-शाम आलोचना की जाती है, लेकिन किसी विशिष्ट अपराध के होने पर या बीमारी या विहार यात्रा में होने पर पक्षादि में भी आलोचना करने का विधान है। विशेषकर पाक्षिक पर्व या चातुर्मास पर्व में आलोचना अवश्य करनी चाहिये, क्योंकि यह जिनाज्ञा है। आलोचना के योग्य व्यक्ति, आलोचना करने वाला योग्य गुरु, आलोचना क्रम, मनोभावों का प्रकाशन और द्रव्यादि शुद्धि — ये आलोचना के पाँच द्वार हैं। सर्वप्रथम संविग्न, मायारहित, विद्वान्, कल्पस्थित, अनाशंसी, श्रद्धालु, आज्ञावान, दुष्कृत पापी, आलोचना समुत्सुक और अभिग्रह आदि प्रज्ञापनीय लक्षणों से युक्त साधु ही आलोचना के योग्य हैं। इसी प्रकार आचारवान, अवधारवान, व्यवहारवान, अपरिश्रावी, चारित्रवाला और कुशलमति गुरु ही आलोचना करवाने का अधिकारी है। आलोचना के क्रम में पहले छोटे अतिचारों को कहकर बाद में बड़े अतिचारों (दोषों) को कहना चाहिये। पुन: आलोचना के क्रम में संकल्पपूर्वक, संयम की रक्षा हेतु, यतनापूर्वक, कल्पपूर्वक, सम्भ्रम के कारण उचित-अनुचित का विवेक किये बिना जिस भाव से जो कार्य किया हो, वह सब गुरु के समक्ष यथास्वरूप निवेदन कर प्रशस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में आलोचना करनी चाहिये।

आलोचक को शल्य यानि पापानुष्ठान का उद्धार नहीं करने से होने वाले दुष्ट परिणामों को दिखाने वाले और शल्योद्धार करने में होने वाले लाभों को दिखाने वाले प्रसिद्ध सूत्रों से चित्त को मोक्षाभिमुख बनाकर आलोचना करनी चाहिये। इसी प्रकार गुरु को भी शिष्य के चित्त को संविग्न बनाकर उससे आलोचना करानी चाहिये। गीतार्थ के समक्ष अपने दुष्कृत्य का भावपूर्वक प्रकाशन नहीं करना भावशल्य है। जो गुरु या गीतार्थ के होने पर भी लज्जा आदि के कारण स्वयं ही आलोचना करके प्रायश्चित्त आदि ग्रहण करते हुए शुद्धि करते हैं वे भावशल्य सहित होते हैं। जिस प्रकार व्रण चिकित्सा को सम्पूर्णतया जानने वाला व्यक्ति भी यदि शरीर में हुए खराब पीब आदि वाले फोड़े को बढ़ने दे तो वह फोड़ा मृत्यु का कारण होने से अनिष्टकारी होता है। उसी प्रकार जिसने अपने भावशल्य को दूसरों को नहीं बतलाया हो उसके लिए चारित्ररूपी शरीर में स्थित यह अतिचाररूपी फोड़ा अनन्त

जन्म-मरण का कारण होने से अनिष्टकारक होता है। शल्यसहित मरकर जीव संसाररूपी घोर अरण्य (जंगल) में प्रवेश करते हैं और उसमें दीर्घकाल तक भटकते हैं। तीनों लोकों के मित्र जिनेन्द्रदेव ने इस आलोचना को भावारोग्य (भावों की शुद्धता) के रूप फल देने वाली कहा है। अत: मैं निदानरहित होकर भयंकर फलदायी सम्पूर्ण भावशल्य को गुरु के समक्ष विधिपूर्वक प्रकट करके दूर करूँगा — ऐसे भाव मन में उत्पन्न करना चाहिये। जिस प्रकार बालक अपनी माता के समक्ष बोलते हुए कार्य-अकार्य को छिपाए बिना जैसा होता है, वैसा कह देता है, उसी प्रकार साधु को माया और मद से मुक्त होकर अपने अपराध को यथातथ्य गुरु के समक्ष निवेदन कर देना चाहिए और गुरु ने अपराध की शुद्धि हेतु जो दण्ड दिया है उसे यथावत् स्वीकार करना चाहिये। जिन दोषों को किया हो, उन दोषों को फिर से न करना ही सम्यक् आलोचना होती है। इसलिये मनुष्यत्व प्राप्त करके और दुष्कृत्यों के कारणभूत मनोभावों का त्याग करके मुमुक्षुओं को निरन्तर आत्म-विशुद्धि का प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि निर्वाणरूप सुख अर्थात् भव-विरह का यही एकमात्र उपाय है।

## षोडश पञ्चाशक

सोलहवें पञ्चाशक में 'प्रायश्चित्तविधि' का विवेचन किया गया है। सामान्यतया जिससे प्राय: चित्त-शुद्धि होती है उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। लेकिन प्राकृतभाषा में इसका पायच्छित्त रूप बनता है, अर्थात् जिससे पाप का छेदन होता है वह पायच्छित्त कहलाता है। प्रायश्चित्त के आलोचना प्रति-क्रमण, मिश्र, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पाराञ्चिक — ये दस प्रकार बताए गए हैं। भावपूर्वक किया गया प्रायश्चित्त ही यथार्थ होता है। भव्य, आगमों में श्रद्धावान् और संविग्न जीवों का प्रायश्चित्त भाव प्रायश्चित्त होता है और इससे भिन्न शेष जीवों का प्रायश्चित्त केवल द्रव्य प्रायश्चित्त होता है। भावरहित होने के कारण वह शुद्धि नहीं करने वाला होता है। आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग निर्युक्ति रूप शास्त्र में द्रव्य व्रण के दृष्टान्त से चारित्राचार रूप भावव्रण की चिकित्सा का एक रूपक प्रस्तुत किया है। कहा है — शरीर में तद्भव और आगन्तुक ये दो प्रकार के व्रण होते हैं जिनमें आगन्तुक व्रण का शल्योद्धरण किया जाता है, तद्भव व्रण का नहीं। जो शल्य पतला हो अधिक गहरा न हो उसे बाहर खींच लिया जाता है। उस स्थान का मर्दन भी नहीं किया जाता है। जो शल्य शरीर में प्रथम प्रकार के शल्य से थोड़ा अधिक चुभा हो, किन्तु अधिक गहरा न हो ऐसे शल्य में शल्योद्धार, व्रणमर्दन और कर्णमलपूरण — ये तीन क्रियाएँ होती हैं किन्तु यदि शल्य अधिक गहरा हो

तो वैद्य व्रण में से शल्य निकालकर दर्द नहीं हो, इसके लिये थोड़ा खून निकालते हैं तथा शल्योद्धार करके व्रण जल्दी ठीक हो जाय इसके लिये चिकित्साशास्त्र के अनुसार पथ्य, भोजन और ओषधि दे करके व्रण को सुखाते हैं। यहाँ प्रायश्चित्त के प्रसङ्ग में भावव्रण को भी उसकी चिकित्सा-विधि सहित जानना योग्य है। भावव्रण को अध्यात्म के रहस्य के ज्ञाता योगियों की सूक्ष्म बुद्धि से ही अच्छी तरह जाना जा सकता है। प्रायश्चित्त के दस प्रकारों में से सात को उपर्युक्त व्रण का दृष्टान्त देकर समझाया गया है। मूल, अनवस्थाप्य और पाराञ्चिक प्रायश्चित्त योग्य अपराधों में सम्यक् चारित्र के अभाव के कारण व्रण के दृष्टान्त की विचारणा नहीं की गयी है, क्योंकि मूल आदि तीनों प्रायश्चित्तों के योग्य अपराध सम्यक् चारित्र का सर्वथा अभाव होने पर ही होते हैं। संकल्पपूर्वक किये गए महाव्रतों के भंग रूपी अपराधों में चारित्रधर्म का अभाव हो जाने से उस साधु में महाव्रतों की पुन: स्थापना करना 'मूल' प्रायश्चित है। दुष्ट-अध्यवसायों से किये गए अपराधों का जब तक उचित तप से शुद्धिकरण न हो तब तक उसे महाव्रत न देना अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त है। पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के स्वरूप को लेकर आचार्यों में मतभेद हैं। कुछ आचार्यों का मानना है कि जो जीव संघभेद, चैत्यभेद एवं जिन प्रवचन का उपघात करने से इस भव में और अन्य भवों में चारित्र के अयोग्य होते हैं, वे पाराञ्चिक कहलाते हैं। उनका यह मानना उचित भी हो सकता है, क्योंकि परिणामों की विचित्रता के कारण मोहनीय आदि कर्मों का निरूपक्रम बन्ध होने से इस भव में और अन्य भवों में चारित्र की प्राप्ति की अयोग्यता हो सकती है, इसलिये अन्य आचार्यों का मत भी असंगत नहीं है।

आगम में आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत — ऐसी पाँच प्रकार के प्रायश्चित्त देने का विधि बतलायी गयी है। इन पाँच प्रकार के व्यवहारों के आधार पर अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त कहे गए हैं। यहाँ यह प्रश्न होता है कि आगमोक्त भिक्षाचर्या आदि अनुष्ठान निर्दोष होते हैं और सदोष अनुष्ठान में ही प्रायश्चित्त होता है, निर्दोष अनुष्ठान में नहीं। तब फिर आगमोक्त, शुद्धचर्या करने वाले साधु के लिये भी आगम में प्रतिदिन आलोचनादि प्रायश्चित्त करने का विधान क्यों किया गया ? यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि आगमोक्त अनुष्ठान का प्रायश्चित्त नहीं किया जाता है, अपितु उस अनुष्ठान को करते समय जो सूक्ष्य विराधना होती है, उसकी शुद्धि के लिये आलोचनादि प्रायश्चित्त किये जाते हैं। सामान्यतया सभी जीव आयुष्य के अतिरिक्त अन्य सात प्रकार के कर्मों का सतत बन्ध करते रहते हैं। आयुष्य कर्म का बंध एक भव में एक ही बार होता है। दसवें सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान को प्राप्त जीव मोहनीय और आयुष्य कर्म के अतिरिक्त अन्य छ: प्रकार के कर्मों का बन्ध करते हैं।

उपशान्त मोह, क्षीणमोह और सयोगी केवली — ये तीन गुणस्थान दो समय के बन्ध की स्थिति वाले हैं। इनमें मात्र सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। इनमें योगनिमित्तक बन्ध होता है, कषाय निमित्तक नहीं, क्योंकि कषायों का सर्वथा उदय नहीं होता। इसी प्रकार सातवें गुणस्थान में स्थित अप्रमत्तसंयत साधुओं को उत्कृष्ट से आठ मुहूर्त्त का और जघन्य से अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति का बन्ध होता है। वस्तुत: छद्मस्थ को सभी अवस्थाओं में कर्मबन्ध होता है, क्योंकि छद्मस्थ वीतरागी को भी मनोयोग आदि होते हैं। इसलिए उन्हें विराधना की शुद्धि करना आवश्यक है। अत: आलोचनादि प्रायश्चित्त सहित आगमोक्त अनुष्ठान कर कर्म के अनुबन्ध का छेदन करने वाले निर्दोष होते हैं। जिस दोष का प्रायश्चित्त किया गया हो, प्राय: उसे फिर से न किया जाये, अच्छी तरह से किये गए प्रायश्चित्त का लक्षण है।

**सप्तदश पञ्चाशक**

सत्रहवें पञ्चाशक में 'कल्पविधि' का वर्णन है। कल्प दो प्रकार के हैं — (१) स्थितकल्प और (२) अस्थितकल्प। स्थितकल्प वे हैं जो सदैव आचरणीय होते हैं। अस्थित कल्प किसी कारण से आचरणीय होते हैं और किसी से नहीं। सामान्यत: आचेलक्य आदि के भेद से कल्प के दस प्रकार होते हैं — १. आचेलक्य, २. औद्देशिक, ३. शय्यातरपिण्ड, ४. राजपिण्ड, ५. कृतिकर्म, ६. व्रत (महाव्रत), ७. ज्येष्ठ, ८. प्रतिक्रमण, ९. मासकल्प, १०. पर्युषणाकल्प। ये दस कल्प प्रथम और अन्तिम जिनों (तीर्थङ्करों) के शासन-काल के साधुओं के लिये स्थितकल्प होते हैं और मध्यवर्ती बाईस जिनों (तीर्थङ्करों) के साधुओं के लिये इनमें से छ: कल्प अस्थित होते हैं और चार कल्प स्थित होते हैं। आचेलक्य, औद्देशिक, प्रतिक्रमण, राजपिण्ड, मासकल्प और पर्युषणाकल्प — ये छ: मध्यवर्ती जिनों के साधुओं के लिये अस्थित कल्प होते हैं तथा शेष चार कल्प मध्यकालीन जिनों के साधुओं के लिये भी स्थित ही होते हैं। स्थित कल्प का पालन अपरिहार्य होता है। अस्थित कल्प का पालन वैकल्पिक होता है। आचेलक्य आदि कल्प का स्वरूप निम्नलिखित है —

**आचेलक्य** — आचेलक्य नग्नता को कहा जाता है, लेकिन वस्त्र न होने और अल्प वस्त्र होने, दोनों ही स्थिति आचेलक्य की स्थिति होती है। वस्त्र का न होना तो अचेलकता को स्पष्ट करता है लेकिन सवस्त्र भी निर्वस्त्र है, स्पष्ट नहीं होता है। जैसा कि इस पञ्चाशक में आया है, अल्पमूल्य के फटे कपड़ों के होने पर अचेल ही कहा जाता है। यह बात लोक-व्यवहार और आगम-न्याय — इन दोनों से सिद्ध होती है। लोक में जीर्ण वस्त्र को

'वस्त्र नहीं है' ऐसा माना जाता है, क्योंकि वह विशिष्ट कार्य का साधक नहीं होता है। आगमवचन से भी श्वेत जीर्णवस्त्र होने पर उसे वस्त्रहीन ही समझा जाता है।

**औद्देशिक** – साधु के निमित्त से जो आहार बना हो वह औद्देशिक कहलाता है। औद्देशिक आहार प्रथम और अन्तिम जिनों के सभी साधुओं के लिये ग्रहण करने के योग्य नहीं है। मध्यवर्ती जिनों के साधुओं में जिस संघ या साधु के निमित्त बना है, वह उस संघ या साधु के द्वारा ग्राह्य नहीं है, शेष साधुओं द्वारा ग्राह्य है।

**शय्यातरपिण्ड** – शय्यातर का अर्थ होता है – साधुओं के उपाश्रय या ठहरने का स्थान देने वाला। अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, रजोहरण और कम्बल, सुई, चाक, नाखून काटने का साधन और कान का मैल निकालने का साधन आदि शय्यातरपिण्ड के कुल बारह प्रकार हैं। जिनों के साधुओं के लिये शय्यातरपिण्ड ग्राह्य नहीं होता है।

**राजपिण्ड** – अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण – ये आठ प्रकार के राजपिण्ड कहे गए हैं। प्रथम, अन्तिम, मध्यवर्ती और महाविदेह क्षेत्र के सभी जिनों के साधुओं के लिये यह पिण्ड ग्रहण करना वर्जित है, क्योंकि इससे व्याघात आदि दोष लगते हैं।

**कृतिकर्म** – अभ्युत्थान और वन्दन के भेद से कृतिकर्म दो प्रकार का होता है। अभ्युत्थान का अर्थ होता है – आचार्यादि के आने पर सम्मान-स्वरूप खड़े हो जाना और वन्दन का अर्थ होता है – द्वादशावर्त्त से वन्दना करना। साधु एवं साध्वी दोनों को वरिष्ठता-क्रम के अनुसार कृतिकर्म करना चाहिये।

**व्रत** – प्रथम और अन्तिम जिनों के साधुओं के लिये पाँच महाव्रतों वाला चारित्रधर्म होता है और शेष जिनों के साधुओं के लिये चार महाव्रत (चातुर्याम) का चारित्र धर्म होता है। पंच महाव्रत और चार महाव्रत रूप वचन भेद से दो प्रकार का होने पर भी यह कल्प परमार्थ से एक प्रकार का ही है और सभी के लिये पालनीय है।

**ज्येष्ठ** – महाव्रतों का आरोपण होना उपस्थापना है। प्रथम और अन्तिम जिनों के साधुओं में उपस्थापना से ज्येष्ठता मानी जाती है अर्थात् जिसकी बड़ी दीक्षा पहले हो वह ज्येष्ठ माना जाता है। मध्य जिनों के साधुओं की सामायिक चारित्र की दीक्षा से ही उनकी ज्येष्ठता मानी जाती है, किन्तु यह तभी हो सकता है, जब उनका चारित्र अतिचार रहित हो।

**प्रतिक्रमण और आवश्यक कर्म** – प्रथम और अन्तिम जिनों के

साधुओं के अतिचार लगे या न लगे; गमन, आगमन और विहार में सुबह-शाम छः आवश्यक रूप प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिये। मध्य के जिनों के साधुओं को दोष लगे तब प्रतिक्रमण करना चाहिये। दोष न लगने पर मध्य के जिनों के साधुओं के फिर प्रतिक्रमण करना आवश्यक नहीं है।

**मासकल्प** — चातुर्मास के अतिरिक्त एक स्थान पर एक महीने से अधिक नहीं रहने का आचार मासकल्प कहलाता है। प्रथम और अन्तिम जिनों के साधुओं के लिये मासकल्प स्थितकल्प है अर्थात् वे एक स्थान पर एक मास से अधिक नहीं रह सकते, क्योंकि अन्यथा दोष लगता है, जबकि मध्यवर्ती जिनों के साधुओं के लिये मासकल्प अस्थित है अर्थात् वे एक मास से अधिक भी एक स्थान पर रह सकते हैं। प्रथम और अन्तिम जिनों के साधुओं द्वारा मासकल्प का पालन नहीं करने पर प्रतिबद्धता, लघुता, जनोपकार, आज्ञाभंग आदि दोष लगते हैं। इसलिये मासकल्प द्रव्यतः न हो सके तो भावतः अवश्य करना चाहिये। मासकल्प की ही भाँति पर्युषणाकल्प भी होता है। जघन्य और उत्कृष्ट की दृष्टि से पर्युषणाकल्प दो प्रकार का होता है और भाद्रपद शुक्ला पंचमी से कार्तिक-पूर्णिमा तक कुल सत्तर दिन (७० दिन) रात का जघन्य पर्युषणाकल्प होता है।

कल्पों का उपर्युक्त स्थित-अस्थित विभाजन सकारण ही है। काल के प्रभाव से साधुओं के स्वभाव में भिन्नता होती है। इसलिये जिनेश्वरों ने उनकी स्थित-अस्थित कल्प रूप मर्यादा की है। ऋजु-जड़ता आदि से युक्त जीवों का भी चारित्र जिनेश्वरों के द्वारा जाना गया है। वे प्रव्रज्या के योग्य होते हैं, क्योंकि स्थिर और अस्थिर — इन दो प्रकार के भावों में से ऋजु-जड़ जीवों के स्थिर भाव शुद्ध होते हैं। अस्थिर भाव तथाविध सामग्री से अशुद्ध होता है, किन्तु वह अशुद्धभाव चारित्र का घात नहीं करता है। जिस प्रकार प्रथम जिन के साधुओं का स्खलन उनके चारित्र का बाधक नहीं है, उसी प्रकार अन्तिम जिन के साधुओं का स्खलन भी काल के प्रभाव के कारण चारित्र का बाधक नहीं है, क्योंकि वे प्रायः मातृस्थान अर्थात् मायारूप संज्वलन कषाय का सेवन करते हैं, न कि अनन्तानुबन्धी कषाय का। क्योंकि यदि माया अनन्तानुबन्धी कषायसम्बन्धी हो तो वे व्यक्ति श्रमणत्व (साधुता) को ही प्राप्त नहीं होते हैं। इसलिये साधु के सभी अतिचार संज्वलन कषाय के उदय से ही होते हैं। अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायों के उदय से तो सर्वविरति रूप चारित्र धर्म का मूलतः नाश हो जाता है। संज्वलन कषाय रूप माया से उत्पन्न अतिचार चारित्र का घातक नहीं है। अतः अतिचार हो तो भी अन्तिम जिन के साधुओं को सम्यक् चारित्र होता है। अतः जो

संसारभीरु हैं, गुरुओं के प्रति विनीत हैं, ज्ञानी हैं, जितेन्द्रिय हैं, जिन्होंने कषायों को जीत लिया है, संसार से विमुक्त होने में यथाशक्ति तत्पर रहते हैं, वे वस्तुतः साधु हैं।

## अष्टादश पञ्चाशक

अट्ठारहवें पञ्चाशक में 'भिक्षुप्रतिमाकल्पविधि' का वर्णन हुआ है। अर्हन्तों ने मासिकी आदि बारह भिक्षु प्रतिमाओं का उल्लेख किया है। विशिष्ट क्रिया वाले साधु का प्रशस्त अध्यवसाय रूपी शरीर ही प्रतिमा है। आवश्यक निर्युक्ति के अनुसार मासिकी, द्विमासिकी, त्रैमासिकी, चतुर्मासिकी, पञ्चमासिकी, षष्ठमासिकी, सप्तमासिकी — ये एक महीने से प्रारम्भ होकर क्रमशः दो, तीन, चार, पाँच, छः और सात महीने तक पालन करने योग्य सात प्रतिमाएँ हैं। आठवीं, नौवीं और दसवीं प्रतिमा सप्तदिवसीय तथा ग्यारहवीं और बारहवीं प्रतिमा एक दिवस-रात्रि की होने से कुल बारह प्रतिमाएँ होती हैं।

संहननयुक्त, धृतियुक्त, महासात्त्विक, भावितात्मा, सुनिर्मित, उत्कृष्ट से थोड़ा कम दस पूर्व और जघन्य से नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु तक का श्रुतज्ञानी, व्युत्सृष्टकाय, त्यक्तकाय, जिनकल्पी की तरह उपसर्ग सहिष्णु, अभिग्रह वाली एषणा लेने वाला, अलेप आहार लेने वाला, अभिग्रहपूर्वक उपाधि लेने वाला साधु ही गुरु से आज्ञा प्राप्त कर इन प्रतिमाओं को धारण कर सकता है। गच्छ से निकलकर ही इन मासिकी आदि प्रतिमाओं को स्वीकार किया जाता है। शरद-ऋतु में शुभयोग होने पर सभी साधुओं से क्षमायाचना कर गच्छ से निकलकर साधु इन प्रतिमाओं की साधना करता है।

**मासिक प्रतिमा का स्वरूप (एक से सात तक)** — एक महीने तक भोजन की एक ही दत्ति लेनी चाहिये अर्थात् एक बार में धार टूटे बिना पात्र में जितना भोजन गिर जाय वह एक दत्ति है। इसी प्रकार पानी की भी एक ही दत्ति लेना चाहिए। भिक्षा देने वाले को भिक्षा लेने वाले की दत्ति का पता न चले, किसी एक एषणा से भोजन ले, चिकनाईरहित आहार ले, एक ही घर से आहार लें ...... आदि इस प्रकार के २१ नियमों (अभिग्रहों) का पालन साधु को एक महीने तक एक गाँव से दूसरे गाँव में परिभ्रमण करते हुए इस मासिकी प्रतिमा का वहन करना चाहिये। एक मास पूर्ण होने पर ही वह साधु जिस गाँव में गच्छ हो, उसके समीप के गाँव में आए, तब आचार्य उस साधु की पूरी तरह से जाँच करके, राजा को उसकी सूचना देकर, इस साधु की प्रशंसा करते हुए गच्छ में प्रवेश कराते हैं। इसी प्रकार द्विमासिकी, त्रैमासिकी, चतुर्मासिकी, पञ्चमासिकी, षष्ठमासिकी, सप्तमासिकी

प्रतिमाओं का भी पालन किया जाता है। इनमें क्रमशः महीने के साथ-साथ दत्ति की वृद्धि होती है, जैसे — दूसरी प्रतिमा में दो मास तक दो दत्ति, तीसरी प्रतिमा में तीन मास तक तीन दत्ति इत्यादि।

**आठवीं प्रतिमा का स्वरूप** — सात दिनों की इस प्रतिमा में चौविहार उपवास, पारणे में आयम्बिल करते हुए सात दिन गाँव के बाहर रहकर देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्गों को समभाव से सहन करना चाहिये।

**नौवीं प्रतिमा का स्वरूप** — यह प्रतिमा भी आठवीं के समान ही है, अन्तर इतना ही है कि इसमें साधु को उत्कटुक आसन में बैठना, टेढ़ी लकड़ी के समान सोना या लकड़ी की तरह लम्बा होकर सोना पड़ता है। अतः इनमें से किसी एक स्थिति में रहकर उपसर्गों को समभावपूर्वक सहना चाहिये।

**दसवीं प्रतिमा का स्वरूप** — इसमें उपर्युक्त प्रतिमा की तरह ही गोदोहिका, वीरासन या आम्रफल की तरह टेढ़ा — किसी भी एक आसन में रहकर उपसर्गों को सहन करना होता है। इस प्रकार ये तीनों प्रतिमाएँ २१ दिन में पूरी होती हैं।

**ग्यारहवीं प्रतिमा का स्वरूप** — यह प्रतिमा एक दिन-रात्रि की है। इसमें चौविहार दो दिवस (बेले) का तप करना होता है। उपवास में चार समय का भोजन तथा आगे-पीछे के दिनों में एकासन करने से एक-एक समय का भोजन, इस प्रकार कुल छः समय के भोजन का त्यागकर ग्राम के बाहर कायोत्सर्ग मुद्रा में तीन दिनों तक यह प्रतिमा-प्रक्रिया चलती है।

**बारहवीं प्रतिमा का स्वरूप** — यह भी एक रात्रि की प्रतिमा है। इसमें चौविहार अर्थात् तीन दिन तक निर्जल उपवास करना, अट्ठम तप, कायोत्सर्ग मुद्रा, स्थिर दृष्टि, शरीर के सभी अंगों में स्थिरता आदि इस तप की विशेषताएँ हैं। प्रथम रात्रि के बाद अट्ठम तप करने से यह चार दिनों की होती है।

प्रतिमाकल्प के विषय में आचार्यों के बीच मतभेद देखने को मिलता है। कुछ आचार्यों का मानना है कि प्रतिमाकल्प में प्रतिमा के गुरु-लाघव के विषय में विधिवत् विचारणा नहीं हुई है, क्योंकि प्रतिमा को स्वीकार करने वाला साधु गच्छ से निकलकर प्रतिमा को स्वीकार करता है जबकि तपादि तो गच्छवास और गच्छनिर्गमन — दोनों में समान रूप से किया जा सकता है। इस दृष्टि से गच्छनिर्गमन कम लाभप्रद है, क्योंकि उससे केवल साधु का अपना उपकार होता है। इसका समाधान करते हुए आचार्य हरिभद्र ने कहा है कि यह प्रतिमाकल्प केवल विशेष साधुओं के लिये ही है, सर्वसाधारण के

लिये नहीं; क्योंकि दशपूर्वधर आदि के लिये प्रतिमाकल्प वर्जित है, अत: वे केवल गच्छ में रहकर ही उपकारक होते हैं। इसलिये प्रतिमाकल्प में गुरु-लाघव आदि की विचारणा नहीं हुई है, यह कहना उचित नहीं है। इस समस्या सम्बन्धी दूसरी युक्ति को प्रस्तुत करते हुए आचार्य हरिभद्र ने कहा है — जब गच्छ में किसी बहुश्रुत साधु के होने से सूत्रार्थ की वृद्धि हो रही हो और प्रतिमाकल्प स्वीकार करने वाले साधु में दशपूर्व से अधिक श्रुत पढ़ाने की शक्ति न हो, गच्छ बाधारहित हो, अथवा बाल, वृद्ध आदि की सेवा करने वाले हों तथा आचार्यादि गच्छ के पालन में तत्पर हों, कोई नवीन दीक्षा लेने वाला न हो, उस समय ही प्रतिमाकल्प को स्वीकार किया जा सकता है। प्रतिमाकल्प को स्वीकार करने के बाद ही कर्मों का क्षय होता है। स्थविरकल्प के अनुष्ठान पूर्ण होने पर प्रतिमाकल्प को स्वीकार किया जाता है। प्रतिमाधारी को सदा सूत्रार्थ चिन्तनरूप ध्यान करना चाहिये जो कि राग-द्वेष और मोह का विनाशक और मोक्ष का कारण होने से श्रेष्ठ है।

प्रतिमाकल्प धारण करने में समर्थ साधु को इसे अवश्य स्वीकार करना चाहिये, जो अयोग्य हों उन्हें केवल अभिग्रह विशेष ही ग्रहण करने चाहिये। इन सभी अभिग्रहों को अपनी शक्ति और जिनाज्ञा के अनुसार धारण करने वाले जीव शीघ्र ही संसार-सागर से मुक्त हो जाते हैं।

## एकोनविंश पञ्चाशक

उन्नीसवें पञ्चाशक में 'तपविधि' का वर्णन किया गया है। जिससे कषायों का निरोध हो, ब्रह्मचर्य का पालन हो, जिनेन्द्रदेव की पूजा हो तथा भोजन का त्याग हो, वे सभी तप कहलाते हैं। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से तप के दो प्रकार हैं —

**बाह्य तप** — जो तप बाह्य जगत् में तप के रूप में दिखलाई दे उसे बाह्य तप कहते हैं। इसके निम्नलिखित प्रकार हैं —

१. *अनशन* — भोजन का त्याग करना ही अनशन कहलाता है। यह दो प्रकार का है — यावत्कथित अर्थात् जीवनपर्यन्त तक आहार का त्याग तथा इत्वर अर्थात् उपवास से लेकर छ: माह तक के लिये आहार का त्याग करना।

२. *उनोदरी* — आवश्यकता से कम खाना उनोदरी है।

३. *वृत्तिसंक्षेप* — भिक्षाचर्या में विशेष अभिग्रह या नियम लेकर भिक्षा प्राप्त करना वृत्ति संक्षेप है।

४. *रसत्याग* — दूध, दही आदि सभी रसों या कुछ रसों का त्याग करना रस त्याग है।

५. *कायक्लेश* — शरीर को कष्ट देना कायक्लेश है। किसी भी आसन में बैठकर सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि को सहना कायक्लेश है।

६. प्रतिसंलीनता — इन्द्रिय, कषाय, योग का निरोध करना प्रतिसंलीनता है, अथवा एकान्त में रहना विविक्त चर्या है।

**आभ्यन्तर तप** — ये तप प्रत्यक्षतः तप रूप में दिखलाई न देने के कारण आन्तरिक तप कहे जाते हैं। इसके भी निम्नलिखित छः प्रकार हैं —

१. *प्रायश्चित्त* — अपने दुष्कृत्यों को गुरु के समक्ष विशुद्धभाव से कुछ भी छिपाए बिना स्वीकार करना व गुरु से उसके लिये दण्ड लेना प्रायश्चित्त है।

२. *विनय* — जिससे मानकषाय को दूर किया जाय वह विनय तप है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, मन, वचन, काय और उपचार — ये इसके सात भेद हैं।

३. *वैयावृत्य* — व्यावृत अर्थात् आहार आदि लाकर देने रूप सेवा करना। सेवा की वृत्ति और सेवा के कार्य ही वैयावृत्य हैं। आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शैक्ष और संघ की वैयावृत्य करनी चाहिए।

४. *स्वाध्याय* — अच्छी तरह मर्यादापूर्वक अध्ययन करना ही स्वाध्याय कहलाता है। इसके वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा — ये पाँच भेद हैं।

५. *ध्यान* — चित्त की एकाग्रता ध्यान कहलाती है। इसके आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल — इन चार भेदों में क्रमशः प्रथम दो संसार के व अन्तिम दो मोक्ष के कारण हैं। अन्तिम दो ही ध्यान रूप तप हैं।

६. *उत्सर्ग* — त्याग करना उत्सर्ग है। द्रव्य और भाव उत्सर्ग में क्रमशः गण, देह, आहार और उपाधि तथा चार कषायों का त्याग किया जाता है।

इस पञ्चाशक में उपर्युक्त बारह प्रकार के तपों के अतिरिक्त भी तपों के प्रकार बताए गए हैं जो निम्न प्रकार हैं —

**प्रकीर्ण तप** — तीर्थङ्करों द्वारा उनकी दीक्षा, कैवल्यज्ञान-प्राप्ति और निर्वाण-प्राप्ति के समय जो तप किये गए थे, उनके अनुसार जो तप किये जाते हैं, वे प्रकीर्णक तप के अन्तर्गत आते हैं।

**तीर्थङ्कर निर्गमन तप** — जिस तप से तीर्थङ्कर दीक्षा लेते हैं वह तीर्थङ्कर निर्गमन तप कहलाता है। जैसे सुमतिनाथ भगवान् ने, नित्यभक्त, वासुपूज्य भगवान् ने उपवास, पार्श्वनाथ और मल्लिनाथ भगवान् ने अट्ठम व बाकी बीस तीर्थङ्करों ने छट्ठ तप करके दीक्षा ली थी।

**चान्द्रायण तप** — अनुक्रम और विपरीत क्रम से भिक्षा की दत्तियों, उपवासों या कवलों की संख्या में वृद्धि और कमी करने से चान्द्रायण तप होता है।

**रोहिणी आदि विविध तप** — रोहिणी, अम्बा, मन्दपुण्यिका आदि नौ देवताओं को उद्दिष्ट करके किये जाने वाले तप रोहिणी आदि तप कहलाते हैं।

**सर्वाङ्गसुन्दर तप** — शुक्ल पक्ष में एक-एक दिन के अन्तर से आठ उपवास और पारणे के दिन आयम्बिल करना सर्वाङ्गसुन्दर तप है।

**निरुजशिख तप** — कृष्णपक्ष में सर्वाङ्गसुन्दर तप की भाँति ही तप करना निरुजशिख तप कहलाता है। इसमें रोगी की सेवा करने का नियम लेना होता है।

**परमभूषण तप** — एक-एक दिन के अन्तर से बत्तीस आयम्बिल करना, जिनप्रतिमा को तिलक लगाना, आभूषण चढ़ाना आदि परमभूषण तप है।

**आपत्तिजनक तप** — एक-एक दिन के अन्तर से बत्तीस आयम्बिल करना आपत्तिजनक तप है। विशेषरूप से धर्मकार्यों में बल और वीर्य नहीं छिपाने पर ही यह तप होता है।

**सौभाग्यकल्पवृक्ष तप** — चैत्र महीने में एक-एक दिन के अन्तर से उपवास करना और पारणे में मुनियों को दान देकर सरस भोजन करना सौभाग्यकल्पवृक्ष तप है।

**दर्शन-ज्ञान-चारित्र तप** — इनके लिए तीन अष्टम (तीन तेलों) से तप विशेष होता है। इसमें प्रथम दर्शनगुण, दूसरा ज्ञानगुण और तीसरा चारित्रगुण की शुद्धि के लिये है।

इन तपों में जीव श्रद्धापूर्वक क्रिया करता है, इसलिए निदान अर्थात् आकांक्षारहित होता है। श्रद्धा से शुभ अध्यवसाय होता है और शुभ अध्यवसाय से बोधिबीज की प्राप्ति होती है, जो कि संसार से मुक्ति का कारण बनती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी एक विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न आचार्य रहे हैं। उनके द्वारा की गई साहित्य सेवा न केवल जैन साहित्य अपितु सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। हरिभद्र ने जो उदात्त दृष्टि, असाम्प्रदायिक वृत्ति और निर्भयता अपनी कृतियों में प्रदर्शित की है, वैसी उनके पूर्ववर्ती अथवा उत्तरवर्ती किसी भी जैन-जैनेतर विद्वान् ने शायद ही प्रदर्शित की हो। उन्होंने अन्य दर्शनों के विवेचन की एक स्वस्थ परम्परा स्थापित की तथा दार्शनिक और योग-परम्परा

में विचार एवं वर्तन की जो अभिनव दशा उद्घाटित की वह विशेषकर आज के युग के असाम्प्रदायिक एवं तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन के क्षेत्र में अधिक व्यवहार्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद डॉ० दीनानाथ शर्मा ने किया है। सम्पादन कार्य में डॉ० कमलेश कुमार जैन, भूमिका-लेखन में डॉ० सुधा जैन एवं ग्रन्थ की प्रकाशन व्यवस्था में डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय का अपेक्षित सहयोग मिला है, एतदर्थ हम इन सभी सहयोगियों के प्रति आभार प्रकट करते हैं। पुस्तक सम्बन्धी सुविधाएँ उपलब्ध कराने के लिये ग्रन्थालयी ओम-प्रकाश सिंह निश्चय ही धन्यवाद के पात्र हैं।

गुरुपूर्णिमा
२० जुलाई १९९७

सागरमल जैन

# १

# श्रावकधर्मविधि पञ्चाशक

नमिऊण वद्धमाणं सावगधम्मं समासओ वोच्छं ।
सम्मत्ताई भावत्थसंगयं सुत्तणीईए ।। १ ।।
नत्वा वर्धमानं श्रावकधर्मं समासतो वक्ष्ये ।
सम्यक्त्वादि भावार्थसङ्गतं सूत्रनीत्या ।। १ ।।

भगवान् वर्धमान महावीर को नमस्कार करके आगमानुसार सम्यक्त्वादि श्रावक-धर्म का भावार्थ सहित संक्षेप में विवेचन करूँगा ।। १ ।।

परलोयहियं सम्मं जो जिणवयणं सुणेई उवउत्तो ।
अइतिव्वकम्मविगमा सुक्कोसो सावगो एत्थ ।। २ ।।
परलोकहितं सम्यक् यो जिनवचनं शृणोति उपयुक्तः ।
अतितीव्रकर्मविगमात् सोत्कर्षः श्रावकोऽत्र ।। २ ।।

अति तीव्र कर्म अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय का नाश होने पर, जो सम्यक् उपयोगपूर्वक, परलोक के लिये हितकारी जिन-वचन को सुनता है, वह उत्कृष्ट श्रावक है ।। २ ।।

तत्तत्थसद्दहाणं सम्मत्तमसग्गहो ण एयम्मि ।
मिच्छत्तखओवसमा सुस्सूसाई उ होंति दढं ।। ३ ।।
तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वमसद्ग्रहः न एतस्मिन् ।
मिथ्यात्वक्षयोपशमात् शुश्रूषादयस्तु भवन्ति दृढम् ।। ३ ।।

तत्त्व के स्वरूप का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। इसमें मिथ्यात्व का ग्रहण नहीं होता है, किन्तु मिथ्यात्व के क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम हो जाने के कारण धर्मशास्त्र को सुनने की इच्छा दृढ़ हो जाती है ।। ३ ।।

सुस्सूस धम्मराओ गुरुदेवाणं जहासमाहिए ।
वेयावच्चे णियमो वयपडिवत्तीए भयणा उ ।। ४ ।।
शुश्रूषा धर्मरागो गुरुदेवानां यथासमाधिः ।
वैयावृत्ये नियमो व्रतप्रतिपत्तौ भजना तु ।। ४ ।।

सम्यक्त्व के होने पर धर्मशास्त्र को सुनने की इच्छा होती है। धर्म के प्रति श्रद्धा होती है। गुरुओं की सेवा एवं भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा में यथाशक्ति तत्परता रहती है, किन्तु वह श्रावकोचित व्रतों को कभी स्वीकार करता है और कभी स्वीकार नहीं भी करता है ।। ४ ।।

**विशेष :** सम्यक्त्व होने पर श्रावक सम्बन्धी व्रतों को वह स्वीकार भी कर सकता है और नहीं भी कर सकता है, क्योंकि व्रतों का स्वीकारपना चारित्र-मोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम के होने पर होता है और सम्यक्त्व की प्राप्ति दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम के होने पर होती है। दर्शनमोह के क्षयोपशम आदि के पश्चात् चारित्रमोह का भी क्षयोपशम आदि हो ही, ऐसा कोई नियम नहीं है। इसलिए सम्यक्त्व के साथ ही व्रत ग्रहण हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है।

दर्शनमोहनीय कर्म का क्षयोपशम आदि होने के बाद जब तक चारित्रमोहनीय आदि कर्म का क्षयोपशम आदि न हो तब तक केवल सम्यक्त्व ही होता है, जबकि चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम आदि होने पर सम्यक्त्व और चारित्र — ये दोनों होते हैं।

दर्शनमोह के क्षयोपशम के तुरन्त बाद चारित्रमोह का क्षयोपशम क्यों नहीं होता है, इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि —

जं सा अहिगयराओ कम्मखओवसमओ ण य तओवि ।
होइ परिणामभेया लहुंति तम्हा इहं भयणा ।। ५ ।।

यत् सा अधिकतरात् कर्मक्षयोपशमतो न च ततोऽपि ।
भवति परिणामभेदाद् लघ्विति तस्मादिह भजना ।। ५ ।।

परिणाम अर्थात् मनोभावों के भेद के कारण ऐसा होता है। दर्शनमोह के क्षयोपशम के लिये जो परिणाम चाहिये, चारित्रमोह के क्षयोपशम के लिये उससे विशेष परिणामों की आवश्यकता होती है। इसलिये जब वे विशेष परिणाम होंगे, तभी चारित्रमोह का क्षयोपशम होगा ।। ५ ।।

सम्मा पलियपुहुत्तेऽवगए कम्माण भावओ होंति ।
वयपभितीणि भवण्णवतरंडतुल्लाणि णियमेण ।। ६ ।।

सम्यक्त्वात् पल्यपृथक्त्वेऽपगते कर्मणां भावतो भवन्ति ।
व्रतप्रभृतीनि भवार्णवतरण्डतुल्यानि नियमेन ।। ६ ।।

सम्यक्त्व की प्राप्ति होने के बाद आयुष्य के अतिरिक्त मोहनीय आदि सात कर्मों की दो से नौ पल्योपम जितनी स्थिति शेष रहे, तब संसार-सागर पार

करने के लिये नौका के समान अणुव्रत आदि के ग्रहण के भाव अवश्य होते हैं ।। ६ ।।

पंच उ अणुव्वयाइं थूलगपाणवहविरमणाईणि ।
उत्तरगुणा तु अण्णे दिसिव्वयाई इमेसिं तु ।। ७ ।।

पञ्च तु अणुव्रतानि स्थूलक-प्राणवध-विरमणादीनि ।
उत्तर-गुणास्तु अन्ये दिग्व्रतादयः एषां तु ।। ७ ।।

स्थूलप्राणवधविरमण आदि पाँच अणुव्रत होते हैं और इन अणुव्रतों के दूसरे दिग्विरति आदि सात उत्तरगुण हैं ।। ७ ।।

अणु का अर्थ सीमित होता है। साधुओं के महाव्रतों की अपेक्षा श्रावक के व्रत सीमित या आंशिक होते हैं, इसलिये उन्हें अणुव्रत कहते हैं। स्थूल प्राण-वधविरमण से तात्पर्य है — द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा से बचना। ये जीव स्थूल कहे जाते हैं, क्योंकि मिथ्यादृष्टि भी इन्हें जीव मानता है, जबकि एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म होते हैं, केवल सम्यग्दृष्टि ही उन्हें जीव रूप में मानता है।

थूलगपाणवहस्सा विरई दुविहो य सो वहो होई ।
संकप्पारंभेहिं वज्जइ संकप्पओ विहिणा ।। ८ ।।

स्थूलकप्राणवधस्य विरतिः द्विविधश्च स वधो भवति ।
सङ्कल्पारम्भैः वर्जयति सङ्कल्पतो विधिना ।। ८ ।।

विधिपूर्वक स्थूल प्राणियों के वध से विरमण अर्थात् स्थूलप्राणातिपात-विरमण — यह प्रथम अणुव्रत है। प्राणियों की हिंसा संकल्पपूर्वक और आरम्भ — इन दो प्रकारों से होती है। स्थूलप्राणातिपात रूप अणुव्रत को स्वीकार करने वाला श्रावक संकल्पपूर्वक प्राणवध का त्याग करता है ।। ८ ।।

संकल्प अर्थात् मारने का विचार। आरम्भ अर्थात् वह क्रिया जिसमें सहज ही जीव हिंसा हो, जैसे — खेती करना, रसोई बनाना आदि। इन दो प्रकार के वधों में से श्रावक संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा का त्याग करता है, लेकिन वह आरम्भिक हिंसा से नहीं बच सकता है, क्योंकि वह गृहस्थावस्था में खेती करना, रसोई बनाना आदि क्रियाओं का त्याग नहीं कर सकता है।

गुरुमूले सुयधम्मो संविग्गो इत्तरं व इयरं वा ।
वज्जित्तु तओ सम्मं वज्जेइ इमे य अइयारे ।। ९ ।।

गुरुमूले श्रुतधर्मः संविग्नः इत्वरं वा इतरं वा ।
वर्जयित्वा ततः सम्यक् वर्जयति इमान् च अतिचारान् ।। ९ ।।

गुरु के पास जिसने धर्म को सुना हो और जो मोक्षाभिलाषी हो, वह थोड़े समय के लिये या जीवन-पर्यन्त प्राणवध का त्याग करके व्रत को मलिन करने वाले आगे कहे हुए अतिचारों का भी सम्यक् प्रकार से त्याग करता है ॥ ९ ॥

बंधवहं छविछेयं अइभारं भत्तपाणवोच्छेयं ।
कोहाइदूसियमणो गोमणुयाईण णो कुणइ ॥ १० ॥

बन्धवधं छविच्छेदमतिभारं भक्तपानव्यवच्छेदम् ।
क्रोधादिदूषितमनाः गोमनुजादीनां न करोति ॥ १० ॥

स्थूल प्राणिवध का त्याग करने वाला श्रावक क्रोध ( लोभ, मोह ) आदि के वशीभूत होकर किसी पशु, मनुष्य आदि को बाँधता नहीं है, उन्हें मारता नहीं है, उनके किसी अंग को काटता, छेदता आदि नहीं है, उन पर उनकी शक्ति से अधिक बोझ नहीं लादता है और उनको भोजन-पानी आदि से वंचित नहीं करता है ॥ १० ॥

थूलमुसावायस्स य विरई सो पंचहा समासेणं ।
कण्णागोभोमालिय णासहरणकूडसक्खिज्जे ॥ ११ ॥

स्थूलमृषावादस्य च विरतिः सः पञ्चधा समासेन ।
कन्यागोभूम्यलीकं न्यासहरणकूटसाक्ष्ये ॥ ११ ॥

स्थूल असत्य वचन से विरत होना दूसरा अणुव्रत है। वह स्थूल असत्य वचन कन्या, गाय, भूमि, न्यासहरण और कूटसाक्ष्य के भेद से संक्षेप में पाँच प्रकार का होता है।

**१. कन्या-असत्य :** खण्डित शीलवाली कन्या को अखण्डित शीलवाली और अखण्डित शीलवाली कन्या को खण्डित शीलवाली कहना आदि कन्या सम्बन्धी असत्य वचन है। इसके त्याग से दो पैरवाले सभी प्राणियों से सम्बन्धित असत्य-वचन का भी त्याग हो जाता है।

**२. गौ-असत्य :** अधिक दूध देने वाली गाय को कम दूध देने वाली तथा कम दूध देने वाली गाय को अधिक दूध देने वाली कहना आदि गौ असत्य है। इसके त्याग से चार पैर वाले जीवों से सम्बन्धित असत्य का भी त्याग हो जाता है।

**३. भूमि-असत्य :** अपनी जमीन को दूसरे की जमीन कहना और दूसरे की जमीन को अपनी जमीन कहना आदि भूमि-असत्य है। भूमि-असत्य के त्याग से सभी द्रव्यों से सम्बन्धित असत्य-वचन का भी त्याग हो जाता है।

**४. न्यास-अपहरण :** किसी व्यक्ति के द्वारा विश्वासपूर्वक रखी गयी वस्तु का अपहरण करना और उसे यह कहकर वापिस नहीं देना कि उसने दी ही नहीं है, न्यास अपहरण है।

**५. कूटसाक्षी :** न्यायालय में झूठी गवाही देना कूटसाक्षी है ॥ ११ ॥

इह सहसब्भक्खाणं रहसा य सदारमंतभेयं च ।
मोसोवएसयं कूडलेहकरणं च वज्जेइ ॥ १२ ॥

इह सहसाभ्याख्यानं रहसा च स्वदारमन्त्रभेदं च ।
मृषोपदेशकं कूटलेखकरणं च वर्जयति ॥ १२ ॥

स्थूलमृषावादविरमण व्रत में श्रावक को सहसा कथन अर्थात् बिना विचारे निर्दोषी को दोषी कहना, एकान्त में हुई बात को प्रकट करना, अपनी पत्नी के द्वारा कही गयी गुप्त बात को दूसरों के सामने प्रकट करना, दूसरों को झूठ बोलने की सलाह देना और जाली लेख लिखना — इन पाँच अतिचारों का त्याग करना होता है ॥ १२ ॥

थूलादत्तादाणे विरई तं दुविहमो उ णिद्दिट्ठं ।
सच्चित्ताचित्तेसु लवणहिरण्णाइवत्थुगयं ॥ १३ ॥

स्थूलदत्तादाने विरतिः तद् द्विविधं तु निर्दिष्टम् ।
सचित्ताचित्तेषु लवणहिरण्यादिवस्तुगतम् ॥ १३ ॥

स्थूल अदत्तादानविरमण तीसरा अणुव्रत है। अदत्तादान का अर्थ है — नहीं दिया हुआ लेना अर्थात् चोरी करना। अतः चोरी का त्याग करना स्थूल अदत्तादान विरमण है। यह सचित्त और अचित्त के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। नमक, पशु आदि की चोरी करना सचित्त सम्बन्धी चोरी है और स्वर्ण आदि की चोरी करना अचित्त सम्बन्धी चोरी है ॥ १३ ॥

वज्जइ इह तेणाहडतक्करजोगं विरुद्धरज्जं च ।
कूडतुलकूडमाणं तप्पडिरूवं च ववहारं ॥ १४ ॥

वर्जयति इह स्तेनाहततस्करयोगं विरुद्धराज्यं च ।
कूटतुलाकूटमानं तत्प्रतिरूपञ्च च व्यवहारम् ॥ १४ ॥

तीसरे अणुव्रत का धारी श्रावक चोरी से लाई हुई वस्तु के खरीदने का त्याग करता है (उसे खरीदता नहीं है)। चोर को चोरी करने की प्रेरणा नहीं देता है। जिस राज्य में जाना निषिद्ध हो उस राज्य में या उस राज्य के सैन्य-क्षेत्र में नहीं जाता है अथवा राज्य के आदेश के विरुद्ध आचरण नहीं करता है। कम

तौलने अर्थात् नियत तौल से कम तौलने, तेल आदि को कम मापने अर्थात् नियत माप से कम मापने का त्याग करता है। वह नकली वस्तु का व्यापार भी नहीं करता है। ये पाँच स्थूल अदत्तादानविरमण व्रत सम्बन्धी अतिचार हैं ।। १४ ।।

परदारस्स य विरई ओरालवेउव्विभेयओ[१] दुविहं ।
एयमिह मुणेयव्वं सदारसंतोसमो एत्थ ।। १५ ।।

परदाराणां च विरति: ओरालविकुर्व्यभेदतो द्विविधम् ।
एतदिह ज्ञातव्यं स्वदारसन्तोषोऽत्र ।। १५ ।।

परस्त्री का त्याग करना और अपनी पत्नी से सन्तोष करना चौथा अणुव्रत है। इस सम्बन्ध में परस्त्री को दो प्रकार का जानना चाहिये। एक तो औदारिक शरीरधारी अर्थात् जिसका शरीर स्नायु, मांस, हड्डी से बना हो और दूसरी वैक्रियलब्धि से विकुर्वणा करके बनाए गए शरीर को धारण करने वाली। मनुष्य या पशु-स्त्री औदारिक-परस्त्री हैं तथा देवियाँ और विद्याधरियाँ वैक्रिय-परस्त्री हैं ।। १५ ।।

वज्जइ इत्तरिअपरिग्गहियागमणं अणंगकीडं च ।
परवीवाहक्करणं कामे तिव्वाभिलासं च ।। १६ ।।

वर्जयति इत्वर्यपरिगृहीतागमनमनङ्गक्रीडाञ्च ।
परविवाहकरणं कामे तीव्राभिलाषञ्च ।। १६ ।।

श्रावक चौथे अणुव्रत में निम्न पाँच अतिचारों का त्याग करता है —

१. धन देकर किसी वेश्या आदि के उपभोग करने का त्याग।

२. धन नहीं लेने वाली अनाथ, विधवा, परित्यक्ता, कुमारिका आदि अपरिगृहीता स्त्री के साथ विषय-सेवन का त्याग।

३. मैथुन के लिये अपेक्षित अङ्ग स्त्रीयोनि और पुरुष-जननेन्द्रिय हैं। इनके अतिरिक्त स्तन, छाती, कपोल इत्यादि अनङ्ग हैं। अत: स्तन आदि अङ्गों से रतिक्रीड़ा करना अनङ्गक्रीड़ा है अथवा स्त्री द्वारा पुरुषजननेन्द्रिय से मैथुन करने के बाद भी असन्तोष के कारण चमड़ा, काष्ठ, फल, मिट्टी इत्यादि से बने पुरुष लिङ्ग जैसे कृत्रिम साधनों से यौनतृप्ति करना अथवा पुरुष द्वारा उक्त प्रकार के कृत्रिम साधनों से स्त्रीयोनि की रचना करके मैथुन-क्रिया करना अनङ्गक्रीड़ा है। श्रावक इसका त्याग करता है।

४. अपनी सन्तति के अतिरिक्त दूसरों की सन्तति का विवाह करवाना

---

१. 'उरालवेउव्विभेयओ' इति पाठान्तरम्।

परविवाहकरण अतिचार है। श्रावक इसका त्याग करता है।

५. मैथुन में तीव्र अभिलाषा रखना और तीव्र कामानुभूति के लिये औषधि आदि का प्रयोग करना तीव्रकामाभिलाष अतिचार है। श्रावक इसका भी त्याग करता है ।। १६ ।।

इच्छापरिमाणं खलु असयारंभविणिवित्तिसंजणगं ।
खेत्ताइवत्थुविसयं चित्तादविरोहओ चित्तं ।। १७ ।।

इच्छापरिमाणं खलु असदारम्भविनिवृत्तिसञ्जनकम् ।
क्षेत्रादिवस्तु विषयं चित्ताद्यविरोधतः चित्रम् ।। १७ ।।

धन-धान्य, क्षेत्रादि परिग्रह की सीमा का निर्धारण करना पाँचवाँ इच्छा-परिमाण (स्थूल-परिग्रह-परिमाण) अणुव्रत है। इस व्रत से अशुभ आरम्भों की निवृत्ति होती है। यह चेतन-अचेतन आदि अनेक वस्तुओं की विविधता के कारण इस व्रत के अनेक प्रकार हो सकते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है ।। १७ ।।

खेत्ताइहिरण्णाईधणाइदुपयाइकुप्पमाणकमे ।
जोयणपयाणबंधणकारणभावेहिं णो कुणई ।। १८ ।।

क्षेत्रादिहिरण्यादि धनादि द्विपदादि कुप्यमानक्रमान् ।
योजनप्रदानबन्धनकारणभावैः न करोति ।। १८ ।।

पाँचवाँ व्रत लेने वाला श्रावक योजना, प्रदान, बन्धन, कारण और भाव से क्रमशः क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद और कुप्य — इन पाँच प्रकार की वस्तुओं के परिमाण का निर्धारण कर उनकी सीमा का अतिक्रमण नहीं करता अर्थात् उनका एक निश्चित परिमाण से अधिक संचय नहीं करता है ।। १८ ।।

**भावार्थ :** १. *क्षेत्र-वास्तु योजना* — एक क्षेत्र (खेत) को दूसरे क्षेत्र से या एक वास्तु (घर) को दूसरे घर से जोड़कर उसके परिमाण का उल्लंघन करने से अतिचार लगता है, अतः श्रावक ऐसा नहीं करता है।

२. *हिरण्य-सुवर्ण प्रदान* — परिमाण से अधिक अपनी चाँदी और सोना दूसरे को रखने के लिये देना अतिचार है, क्योंकि इस तरह दे देने पर भी वह चाँदी-सोना उसी का होता है, जो रखने को देता है।

३. *धन-धान्य का बन्धन* — परिमाण से अधिक धन-धान्य आदि को बाँधकर रखने अथवा उसका संग्रह करने से धन-धान्य के परिमाण का अतिक्रमण होता है।

४. *द्विपद-चतुष्पद कारण* — पुत्रादि दो पैरवाले प्राणियों एवं गाय इत्यादि चार पैरवाले प्राणियों के गर्भाधान एवं प्रसवन से उनकी संख्या का उल्लंघन होने से अतिचार लगता है। जैसे — कोई व्यक्ति १२ महीने तक द्विपद-चतुष्पद प्राणियों की एक निश्चित संख्या का परिमाण करे। यदि १२ महीने के अन्दर ही किसी का जन्म हो तो संख्या परिमाण से अधिक हो जाती है। इसलिये अमुक समय के बाद गाय इत्यादि का गर्भाधान कराना चाहिये, जिससे १२ महीने के बाद ही कोई जन्म हो।

५. *कुप्य-भाव* — गृहोपयोगी वस्तुओं जैसे — गद्दा, गुदरा, थाली, परात, कटोरा आदि के परिमाण का उल्लंघन करने से अतिचार लगता है। श्रावक उपर्युक्त अतिचारों का त्याग करता है।

उड्ढाहोतिरियदिसं चाउम्मासाइकालमाणेण ।
गमणपरिमाणकरणं गुणव्वयं होइ विन्नेयं ।। १९ ।।
ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्दिक् चातुर्मासादिकालमानेन ।
गमनपरिमाणकरणं गुणव्रतं भवति विज्ञेयम् ।। १९ ।।

चातुर्मास आदि समय-विशेष या जीवनपर्यन्त तक के लिये ऊपर, नीचे और तिरछे एक सीमा से अधिक नहीं जाने रूप परिभ्रमण को सीमित करना दिशा परिमाण रूप गुणव्रत है। अणुव्रतों की जो रक्षा करें वे गुणव्रत हैं। परिभ्रमण को सीमित करने से शेष स्थलों पर होने वाले हिंसादि पापों से वह बच जाता है ।। १९ ।।

वज्जइ उड्ढाइक्कममाणयणप्पेसणोभयविसुद्धं ।
तह चेव खेत्तवुड्ढिं कहिंचि सइअंतरद्धं च ।। २० ।।
वर्जयति ऊर्ध्वादिक्रममानयनप्रेषणोभयविशुद्धम् ।
तथैव क्षेत्रवृद्धिं कथञ्चित् स्मृति-अन्तर्धाञ्च ।। २० ।।

श्रावक छठें व्रत में त्यक्त क्षेत्र में दूसरे व्यक्ति के द्वारा कोई वस्तु भेजने और वहाँ से कोई वस्तु मँगाने का त्याग करके ऊर्ध्व दिशा प्रमाणातिक्रमण, अधोदिशा प्रमाणातिक्रमण और तिर्यग्दिशा प्रमाणातिक्रमण तथा क्षेत्रवृद्धि और स्मृति अन्तर्धान — इन पाँच अतिचारों का त्याग करता है ।। २० ।।

**भावार्थ** — आने-जाने के लिये त्यक्त क्षेत्र में वृद्धि करना क्षेत्रवृद्धि कहलाता है, जैसे — किसी व्यक्ति ने किसी दिशा में सौ योजन आने-जाने की सीमा निश्चित की, किन्तु अपनी आवश्यकतानुसार उससे बाहर के क्षेत्र में जाने हेतु दूसरी दिशा की सीमा कम करके अभीष्ट दिशा की सीमा में वृद्धि करना क्षेत्रवृद्धि नामक अतिचार है।

वज्जणमणंतगुंबरिअच्चंगाणं च भोगओ माणं ।
कम्मयओ खरकम्माइयाण अवरं इमं भणियं ।। २१ ।।
वर्जनमनन्तकोदुम्बर्यत्यङ्गानां च भोगतो मानम् ।
कर्मकत: खरकर्मादीनामपरमिदं भणितम् ।। २१ ।।

दूसरा गुणव्रत भोगोपभोग परिमाणव्रत है। यह परिमाण दो प्रकार का होता है — भोजन सम्बन्धी और कर्म सम्बन्धी। एक बार उपयोग में आने वाली वस्तुओं का परिमाण करना भोग-परिमाण है और उद्योग-धन्धों का परिमाण करना कर्म रूप उपभोग-परिमाण है। अनन्तकाय, उदुम्बर ( उदुम्बर, वट, प्लक्ष, उम्बर और पीपल — ये उदुम्बर पंचक कहे जाते हैं ) और अत्यंग-अतिशायी भोजन जैसे — मद्य, मांस, मक्खन आदि का त्याग करना या शेष भोज्य पदार्थों की मर्यादा करना भोजन सम्बन्धी उपभोग-परिभोग परिमाण है और हिंसक कार्य युक्त कोतवालपन आदि आजीविका के उपायों का त्याग कर्म सम्बन्धी उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत है ।। २१ ।।

एक ही बार भोग करना उपभोग कहलाता है, जैसे — रोटी, फूलमाला इत्यादि। बार-बार भोग करना परिभोग कहलाता है, जैसे — वस्त्र आदि।

सच्चित्तं पडिबद्धं [१]अपउलदुपउलतुच्छभक्खणयं।
वज्जइ कम्मयओऽवि य इत्थं अंगालकम्माइं ।। २२ ।।
सच्चित्तं प्रतिबद्धं अपक्वदुष्पक्वतुच्छभक्षणकम् ।
वर्जयति कर्मकतोऽपि च इत्थं अङ्गारकर्माणि ।। २२ ।।

श्रावक दूसरे गुणव्रत में भोजन सम्बन्धी पाँच और कर्म सम्बन्धी पन्द्रह अतिचारों का त्याग करता है। सचित्त, सचित्त-सम्बद्ध, अपक्व, दुष्पक्व और तुच्छ — ये पाँच भोजन सम्बन्धी अतिचार हैं, जिनका त्याग श्रावक करता है। इसी प्रकार १. अंगार-कर्म, २. वन-कर्म, ३. शकट-कर्म, ४. भाटक-कर्म, ५. स्फोटक-कर्म, ६. दन्तवाणिज्य, ७. लाक्षावाणिज्य, ८. रसवाणिज्य, ९. केशवाणिज्य, १०. विषवाणिज्य, ११. यन्त्रपीलन, १२. निर्लाञ्छनकर्म, १३. दावाग्नि-दापन (वन में आग लगाना), १४. जलशोषण और १५. असती-जनपोषण — इन पन्द्रह प्रकार के कर्मों को करना कर्म-सम्बन्धी अतिचार है। श्रावक इन कर्मों का भी त्याग करता है ।। २२ ।।

तहऽणत्थदंडविरई अण्णं स चउव्विहो अवज्झाणे ।
पमयायरिए हिंसप्पयाण - पावोवएसे य ।। २३ ।।

---

१. '... ... ओलतुच्छ ... ...' इति पाठान्तरम्।

तथाऽनर्थदण्डविरतिः अन्यत् स चतुर्विधः अपध्याने ।
प्रमादाचरिते हिंस्रप्रदानपापोपदेशे च ।। २३ ।।

तीसरा गुणव्रत अनर्थदण्डविरति है। अनर्थदण्ड के अपध्यान (अशुभध्यान), प्रमादाचरण ( प्रमत्त होकर कार्य करना ), हिंसक-शस्त्र प्रदान ( हथियार आदि दूसरों को देना ) और पापोपदेश ( पापकर्मों का उपदेश देना ) — ये चार भेद होते हैं ।। २३ ।।

जिस पापकर्म से आत्मा दण्डित होती हो, वह दण्ड कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है — अर्थदण्ड और अनर्थदण्ड। आजीविका-अर्जन आदि के लिये जो पाप किया जाये वह अर्थदण्ड है और अकारण ही कोई पापकार्य किया जाये, वह अनर्थदण्ड है। ऊपर बतलाए गए अपध्यान (अशुभध्यान) आदि पापों की आजीविका-अर्जन आदि में आवश्यकता नहीं होती है, इसलिये अपध्यान आदि अनर्थदण्ड हैं।

कंदप्पं कुक्कुइयं मोहरियं संजुयाहिगरणं च ।
उवभोगपरीभोगाइरेगयं चेत्थ वज्जेइ ।। २४ ।।

कन्दर्प कौत्कुच्यं मौखर्यं संयुताधिकरणञ्च ।
उपभोगपरिभोगातिरेकतां चात्र वर्जयति ।। २४ ।।

श्रावक तीसरे गुणव्रत में कन्दर्प — विषय-भोग सम्बन्धी रागवर्धक वाणी या क्रिया, कौत्कुच्य — हास्यवर्धक वाणी या चेष्टा, मौखर्य — बिना विचारे ही जैसे-तैसे बोलना, संयुक्ताधिकरण — जीव-हिंसा के साधन, जैसे — कुल्हाड़ी, हल इत्यादि प्रदान करना और उपभोग-परिभोगातिरेक — अपने और अपने स्व-जनों की आवश्यकताओं से अधिक उपभोग और परिभोग की सामग्री रखना — इन सबका त्याग करता है ।। २४ ।।

सिक्खावयं तु एत्थं सामाइयमो तयं तु विण्णेयं ।
सावज्जेयरजोगाण वज्जणासेवणारूवं ।। २५ ।।

शिक्षाव्रतं तु अत्र सामायिकं तकं तु विज्ञेयम् ।
सावद्येतरयोगानां वर्जनासेवनारूपम् ।। २५ ।।

शिक्षाव्रतों में पहला शिक्षाव्रत सामायिक है। अमुक समय तक सावद्य (पापयुक्त) कार्यों का त्याग करना और निरवद्य (पापरहित) कार्य करना सामायिक है ।। २५ ।।

**विशेष :** जिससे सम-भाव की प्राप्ति होती हो, वह सामायिक है। प्रति

क्षण होने वाली ज्ञान, दर्शन और चारित्र की जिन पर्यायों से समता-भाव की प्राप्ति होती है, वे सामायिक हैं। इसलिये सामायिक में मन, वचन और काय से सभी पापों का त्याग करके स्वाध्याय आदि में प्रवृत्ति करनी चाहिये।

मणवयणकायदुप्पणिहाणं इह जत्तओ विवज्जेइ ।
सइअकरणयं अणवट्ठियस्स तह करणयं चेव ॥ २६ ॥

मनोवचनकायदुष्प्रणिधानं इह यत्नतो विवर्जयति ।
स्मृति-अकरणकं अनवस्थितस्य तथा करणकमेव ॥ २६ ॥

श्रावक के द्वारा सामायिक में मनोदुष्प्रणिधान — पापयुक्त विचार करना, वचनदुष्प्रणिधान — पापयुक्त वचन बोलना, कायदुष्प्रणिधान — पापयुक्त कार्य करना, स्मृतिभ्रंश — प्रमाद के कारण सामायिक नहीं करना या सामायिक का समय भूल जाना और अनवस्थितकरण — प्रमाद से चित्त की स्थिरता के बिना सामायिक करने का त्याग किया जाता है ॥ २६ ॥

दिसिवयगहियस्स दिसापरिमाणस्सेह पइदिणं जं तु ।
परिमाणकरमेयं अवरं खलु होइ विण्णेयं ॥ २७ ॥

दिग्व्रतगृहीतस्य दिशापरिमाणस्येह प्रतिदिनं यत्तु ।
परिमाणकरणमेतद् अपरं खलु भवति विज्ञेयम् ॥ २७ ॥

दिग्व्रत में लिये हुए दिशा परिमाण की सीमा को प्रतिदिन के लिये कम करना देशावकाशिक नामक दूसरा शिक्षाव्रत है — ऐसा जानना चाहिये ॥ २७ ॥

दिग्व्रत में बाहर जाने की सीमा का निर्धारण जीवन-पर्यन्त के लिये किया जाता है। जैसे जीवन-पर्यन्त पूर्व-दिशा में ५०० किलोमीटर से आगे नहीं जाने का नियम लेना। देशावकाशिक व्रत में अहोरात्र, दिवस, रात्रि, प्रहर आदि के लिये गमनागमन की सीमा निश्चित की जाती है।

वज्जइ इह आणयणप्पओग-पेसप्पओगयं चेव ।
सद्दाणुरूववायं तह बहिया पोग्गलक्खेवं ॥ २८ ॥

वर्जयति इह आनयनप्रयोगं प्रेष्यप्रयोगकमेव ।
शब्दानुरूपपातं तथा बहिः पुद्गलक्षेपम् ॥ २८ ॥

श्रावक देशावकाशिक व्रत में आनयन-प्रयोग, प्रेष्य-प्रयोग, शब्दा-नुपात, रूपानुपात और पुद्गल-प्रक्षेप — इन पाँच अतिचारों का त्याग करता है ॥ २८ ॥

**विशेष :** १. *आनयन-प्रयोग* — सीमित क्षेत्र के बाहर की वस्तु की

आवश्यकता पड़ने पर उसे दूसरों को आदेश देकर मँगाना।

२. *प्रेष्य-प्रयोग* — सीमित क्षेत्र के बाहर कार्य पड़ने पर दूसरे को भेजना।

३. *शब्दानुपात* — मर्यादित क्षेत्र के बाहर के व्यक्ति को बुलाने के लिए खाँसी आदि से शब्द करना।

४. *रूपानुपात* — मर्यादित क्षेत्र के बाहर के व्यक्ति को अपने पास बुलाने के लिए शारीरिक मुद्रा द्वारा संकेत करना आदि।

५. *पुद्गल-प्रक्षेप* — मर्यादित क्षेत्र के बाहर के व्यक्ति को बुलाने के लिए कंकड़ आदि फेंकना।

देशावकाशिक व्रत के अन्तर्गत श्रावक इन क्रियाओं का त्याग करता है।

आहारदेहसक्कारबंभवावारपोसहो यऽन्नं ।
देसे सव्वे य इमं चरमे सामाइयं णियमा ।। २९ ।।

आहारदेहसत्कारब्रह्मव्यापारपौषधश्च अन्यत् ।
देशे सर्वे च इदं चरमे सामायिकं नियमात् ।। २९ ।।

आहार-पौषध – आहार का त्याग, देहसत्कार-पौषध – शरीर सत्कार का त्याग, ब्रह्मचर्य-पौषध – मैथुन का त्याग और अव्यापार-पौषध – पाप व्यापार का त्याग, इन चारों पौषधों के दो-दो भेद होते हैं — देश (अंशतः) और सर्व (पूर्णतः), अर्थात् इनके किसी एक भाग का त्याग करना देश-पौषध और सम्पूर्ण का त्याग करना सर्व-पौषध कहलाता है। पहले तीन पौषध अर्थात् आहार, देहसत्कार और ब्रह्मचर्य में सामायिक हो या न हो, लेकिन चौथे अव्यापार-पौषध में सामायिक तो नियम से होती ही है। क्योंकि अव्यापार-पौषधवाला सावद्य व्यापार नहीं करता है, इसलिये यदि वह सामायिक न ले तो उसके लाभ से वह वंचित रह जाता है ।। २९ ।।

अप्पडिदुप्पडिलेहियऽपमज्जसेज्जाइ वज्जई एत्थ ।
संमं च अणणुपालणमाहाराईसु सव्वेसु ।। ३० ।।

अप्रतिदुष्प्रतिलेखिताप्रमार्जितशय्यादि वर्जयति अत्र ।
सम्यक् च अननुपालनमाहारादिषु सर्वेषु ।। ३० ।।

श्रावक पौषध में अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्यासंस्तारक, अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्यासंस्तारक, अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चारप्रश्रवणभूमि, अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जित उच्चारप्रश्रवणभूमि और सम्यक् अननुपालन — इन पाँच

अतिचारों का त्याग करता है ।। ३० ।।

**विशेष :** १. *अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्यासंस्तारक* – अपनी आँखों से निरीक्षण किये बिना या अच्छी तरह निरीक्षण किये बिना बिस्तर लगाना, बिस्तर पर सोना इत्यादि अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्यासंस्तारक अतिचार है।

२. *अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्यासंस्तारक* – रजोहरण आदि से साफ नहीं किया हुआ या अच्छी तरह साफ नहीं किया हुआ बिस्तर लगाना, उस पर सोना इत्यादि अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्यासंस्तारक अतिचार कहलाता है।

३. *अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चारप्रश्रवणभूमि* – दीर्घशंका और लघुशंका करने की भूमि को देखे बिना या अच्छी तरह देखे बिना मलमूत्र विसर्जन करना अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चारप्रश्रवणभूमि अतिचार है।

४. *अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चारप्रश्रवणभूमि* – साफ किये बिना या अच्छी तरह साफ किये बिना मलमूत्र की भूमि का उपयोग करना अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चारप्रश्रवणभूमि अतिचार कहलाता है।

५. *सम्यक् अननुपालन* – आहार-पौषध, देहसत्कार-पौषध आदि का शास्त्रोक्त विधि के अनुसार पालन नहीं करना सम्यक् अननुपालन अतिचार है।

अण्णाईणं सुद्धाण कप्पणिज्जाण देसकालजुतं ।
दाणं जईणमुचियं गिहीण सिक्खावयं भणियं ।। ३१ ।।

अन्नादीनां शुद्धानां कल्पनीयानां देशकालयुतम् ।
दानं यतीनामुचितं गृहिणां शिक्षाव्रतं भणितम् ।। ३१ ।।

साधुओं को न्याय से प्राप्त, निर्दोष, प्रसंगोचित अन्न, पानी, औषधि आदि का देश-काल के अनुसार उचित मात्रा में दान करना श्रावक का चौथा शिक्षाव्रत कहा गया है। इसे अतिथिसंविभागव्रत भी कहते हैं ।। ३१ ।।

सच्चित्तणिक्खिवणयं वज्जइ सच्चित्तपिहणयं चेव ।
कालाइक्कमपरववएसं मच्छरिययं चेव ।। ३२ ।।

सचित्तनिक्षेपणकं वर्जयति सचित्तपिधानकमेव ।
कालातिक्रमपरव्यपदेशं मत्सरिकतामेव ।। ३२ ।।

श्रावक अतिथिसंविभागव्रत में सचित्त-निक्षेप, सचित्त-पिधान, कालातिक्रम, परव्यपदेश और मात्सर्य – इन पाँच अतिचारों का त्याग करता है ।। ३२ ।।

**विशेष :** १. *सचित्तनिक्षेप* – साधु को देने योग्य वस्तु को नहीं देने की

इच्छा से सचित्त पृथ्वी, पानी आदि पर रख देना सचित्तनिक्षेप अतिचार है।

२. *सचित्तपिधान* — साधु को देने योग्य वस्तु को नहीं देने की इच्छा से सचित्त पत्तों या फलादि ढँक देना सचित्तपिधान अतिचार है।

३. *कालातिक्रम* — भिक्षा नहीं देने की इच्छा से भिक्षा का समय बीत जाने के बाद या पहले साधु को निमन्त्रण देना कालातिक्रम अतिचार कहलाता है।

४. *परव्यपदेश* — नहीं देने की इच्छा से अपनी होने पर भी यह वस्तु दूसरे की है — ऐसा कहना परव्यपदेश अतिचार है।

५. *मात्सर्य* — साधु को कोई भी वस्तु क्रोध और ईर्ष्या के वशीभूत होकर भिक्षा में देना मात्सर्य अतिचार कहलाता है।

एत्थं पुण अइयारा णो परिसुद्धेसु होंति सव्वेसु ।
अक्खंडविरइभावा वज्जइ सव्वत्थ तो भणियं ।। ३३ ।।

अत्र पुनोऽतिचाराः न परिशुद्धेषु भवन्ति सर्वेषु ।
अखण्डविरतिभावाद् वर्जयति सर्वत्र अतो भणितम् ।। ३३ ।।

देशविरति के अखण्ड परिणामों ( भावों ) से परिशुद्ध श्रावक के सभी व्रतों में अतिचार नहीं होता है। इसलिये अतिचार के वर्णन में सभी जगह 'त्याग करता है' ऐसा कहा गया है। श्रावक जब व्रत स्वीकार करता है तब देशविरति के परिणाम के प्रतिबन्धक कर्मों का उदय नहीं होने से देशविरति का तात्त्विक परिणाम होता है, इसलिये जीव स्वेच्छा से ही अतिचारों में प्रवृत्ति नहीं करता है — यही बताने के लिये 'अतिचारों का त्याग करता है' ऐसा कहा गया है ।। ३३ ।।

सुत्तादुपायरक्खणगहणपयत्तविसया मुणेयव्वा ।
कुंभारचक्कभामगदंडाहरणेण धीरेहिं ।। ३४ ।।

सूत्रादुपाय-रक्षण-ग्रहण-प्रयत्नविषया ज्ञातव्याः ।
कुम्भारचक्र-भ्रामक-दण्डोदाहरणेन धीरैः ।। ३४ ।।

स्थिर चित्त वाले व्यक्तियों को कुम्हार के चक्के को चलाने वाले दण्ड के उदाहरण से आगमों के द्वारा व्रतों की प्राप्ति के उपाय, रक्षण, ग्रहण, प्रयत्न और विषय के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करनी चाहिये।

*उपाय* — सम्यक्त्व आदि व्रतों की प्राप्ति के उपाय, *रक्षण* — स्वीकृत सम्यक्त्व और अणुव्रतों का रक्षण, *ग्रहण* — सम्यक्त्व और व्रतों को स्वीकार करना, *प्रयत्न* — सम्यक्त्वादि को स्वीकार करने के बाद उनकी स्मृति रखने का

प्रयत्न करना तथा जिसका प्रत्याख्यान नहीं किया हो उसका भी यथाशक्ति त्याग करना और *विषय* — व्रतों का स्वरूप तथा जीवादि तत्त्वों के स्वरूप को जानना, इन पाँच बातों को कुम्हार के चक्र घुमाने वाले दण्ड के उदाहरण से समझ लेना चाहिये। जिस प्रकार कुम्हार के द्वारा चक्र के किसी एक भाग को चलाने से पूरा चक्र घूमता है, उसी प्रकार यहाँ सम्यक्त्व और अणुव्रतों का निरूपण करने से उनकी प्राप्ति के उपाय आदि का भी सूचन हो जाता है ।। ३४ ।।

गहणादुवरिं पयत्ता होइ असन्तोऽवि विरइपरिणामो ।
अकुसलकम्मोदयओ पडइ अवण्णाइ लिंगमिह ।। ३५ ।।

ग्रहणादुपरि प्रयत्नाद् भवति असन्नपि विरतिपरिणामः ।
अकुशलकर्मोदयतः पतति अवर्णादि लिङ्गमिह ।। ३५ ।।

सम्यक्त्व और विरति के परिणाम के नहीं होने पर भी उन्हें स्वीकार करने के बाद प्रयत्न करने से वे परिणाम होते हैं, क्योंकि परिणामों को रोकने वाले कर्म क्षयोपशम वाले होते हैं और विशिष्ट प्रयत्न से कर्मों का क्षयोपशम होता है। व्रत ग्रहण करते समय परिणाम हुए हों तो भी प्रयत्न नहीं किया जाये तो अशुभ कर्म के उदय से सम्यक्त्व और विरति के परिणाम नष्ट हो जाते हैं ।। ३५ ।।

तम्हा णिच्चसतीए बहुमाणेणं च अहिगयगुणम्मि ।
पडिवक्खदुगुंछाए परिणइआलोयणेणं च ।। ३६ ।।

तस्मात् नित्यस्मृत्या बहुमानेन च अधिगतगुणे ।
प्रतिपक्षजुगुप्सया परिणति-आलोचनेन च ।। ३६ ।।

अतः स्वीकृत किये गये व्रतों का सदा स्मरण करना चाहिये, उनके प्रति आदर रखना चाहिये। व्रतों के प्रतिपक्षी मिथ्यात्व के प्रति जुगुप्साभाव रखना चाहिये और सम्यक्त्वादि गुणों तथा मिथ्यात्व आदि दोषों के परिणाम की समीक्षा करनी चाहिये ।। ३६ ।।

तित्थंकरभत्तीए सुसाहुजणपज्जुवासणाए य ।
उत्तरगुणसद्धाए य एत्थ सया होइ जइयव्वं ।। ३७ ।।

तीर्थङ्करभक्त्या सुसाधुजनपर्युपासनया च ।
उत्तरगुणश्रद्धया च अत्र सदा भवति यतितव्यम् ।। ३७ ।।

तीर्थङ्कर की भक्ति करनी चाहिये, सच्चे साधुओं की सेवा करनी चाहिये और जिन गुणों को स्वीकार किया हो उनका पालन करना चाहिये तथा उनसे उत्तरवर्ती गुणों पर श्रद्धा रखते हुए उनके पालन का प्रयत्न करना चाहिये ।। ३७ ।।

एवमसंतोऽवि इमो जायइ जाओऽवि ण पडइ कयाई ।
ता एत्थं बुद्धिमया अपमाओ होइ कायव्वो ।। ३८ ।।

एवमसन्नपि अयं जायते जातोऽपि न पतति कदाचित् ।
तस्मात् अत्र बुद्धिमता अप्रमादो भवति कर्तव्यः ।। ३८ ।।

इस प्रकार का वर्तन करने पर सम्यक्त्व और व्रतों के धारण करने रूप परिणाम (मनोभाव) न होने पर भी प्रयत्न करने पर तदनुरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हुए परिणाम कभी जाते नहीं हैं। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष को व्रतों के स्मरण आदि में प्रमाद-रहित होकर प्रयत्न करना चाहिये ।। ३८ ।।

एत्थ उ सावयधम्मे पायमणुव्वयगुणव्वयाइं च ।
आवकहियाइं सिक्खावयाइं पुण इत्तराइंति ।। ३९ ।।

अत्र तु श्रावकधर्मे प्रायः अणुव्रतगुणव्रतानि च ।
यावत्कथिकानि शिक्षाव्रतानि पुन इत्वराणीति ।। ३९ ।।

इस श्रावकधर्म में पाँच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों का पालन प्रायः जीवनपर्यन्त होता है। शिक्षाव्रतों का पालन थोड़े समय के लिए होता है ।। ३९ ।।

यहाँ 'प्रायः' शब्द होने से पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रत चातुर्मास आदि थोड़े समय के लिये भी ग्रहण किये जा सकते हैं – ऐसा समझना चाहिये।

संलेहणा य अंते ण णिओगा जेण पव्वयइ कोई ।
तम्हा णो इह भणिया विहिसेसमिमस्स वोच्छामि ।। ४० ।।

संलेखना च अन्ते न नियोगा येन प्रव्रजति कोऽपि ।
तस्मान् न इह भणिता विधिं शेषमस्य वक्ष्यामि ।। ४० ।।

किसी भी मुनि के समान सम्यक्त्व परिणामी श्रावक को भी जीवन के अन्त में संलेखना लेनी ही पड़े, ऐसा कोई नियम नहीं है, इसलिए यहाँ संलेखना का विवेचन नहीं किया है। श्रावक के शेष नियम आगे की गाथाओं में कहूँगा ।। ४० ।।

निवसेज्ज तत्थ सद्धो[१] साहूणं जत्थ होइ संपाओ ।
चेइयहराइं जम्मि[२] य तयण्णसाहम्मिया चेव ।। ४१ ।।

---

१. 'सड्ढो' इति पाठान्तरम् ।
२. 'जम्मी' इति पाठान्तरम् ।

निवसेत् तत्र श्राद्धः साधूनां यत्र भवति सम्पातः ।
चैत्यगृहाणि यस्मिन् च तदन्यसाधर्मिका एव ॥ ४१ ॥

साधुओं का जहाँ आगमन हो, जहाँ जिनमन्दिर हो तथा जहाँ सहधर्मी बन्धु हों, वहीं श्रावक को रहना चाहिये ॥ ४१ ॥

णवकारेण विबोहो अणुसरणं सावओ वयाइं मे ।
जोगो चिइवंदणमो पच्चक्खाणं च विहिपुव्वं ॥ ४२ ॥

नमस्कारेण विबोधोऽनुस्मरणं श्रावकव्रतानि मम ।
योगः चैत्यवन्दनं प्रत्याख्यानं च विधिपूर्वम् ॥ ४२ ॥

(१) सोने के बाद नवकार मन्त्र का स्मरण करते हुए उठना, (२) मैं श्रावक हूँ, मेरे अणुव्रत आदि नियम हैं — ऐसा स्मरण करना, (३) उसके बाद नित्य क्रिया से निवृत्त होना चाहिये, (४) उसके बाद विधिपूर्वक पूजा करके चैत्य-वन्दन करना चाहिये और (५) फिर विधिपूर्वक प्रत्याख्यान करना चाहिये ॥ ४२ ॥

तह चेईहरगमणं सक्कारो वंदणं गुरुसगासे ।
पच्चक्खाणं सवणं जइपुच्छा उचियकरणिज्जं ॥ ४३ ॥

तथा चैत्यगृहगमनं सत्कारो वन्दनं गुरुसकाशे ।
प्रत्याख्यानं श्रवणं यतिपृच्छा उचितकरणीयम् ॥ ४३ ॥

(६) विधिपूर्वक जिनमन्दिर जाना चाहिये और विधिपूर्वक उसमें प्रवेश करना चाहिये, (७) जिनमन्दिर में जिनेन्द्रदेवका सत्कार करना चाहिये, (८) फिर चैत्यवन्दन (देववन्दन) करना चाहिये, (९) फिर गुरु के समीप प्रत्याख्यान करना चाहिये, (१०) गुरु से आगम का श्रवण करना चाहिये, (११) उसके बाद साधुओं से उनके स्वास्थ्य के बारे में पूछना चाहिये। ऐसा पूछने से विनय प्रदर्शित होता है। (१२) पूछने के बाद बीमारी आदि को दूर करने हेतु ओषधि आदि आवश्यक वस्तु की व्यवस्था करनी चाहिये। यदि पूछने के बाद आवश्यक वस्तु की व्यवस्था नहीं की जाती है तो पूछना सार्थक नहीं होता है ॥ ४३ ॥

अविरुद्धो ववहारो काले तह भोयणं च संवरणं ।
चेइहरागमसवणं सक्कारो वंदणाई य ॥ ४४ ॥

अविरुद्धो व्यवहारः काले तथा भोजनं च संवरणम् ।
चैत्यगृहागमश्रवणं सत्कारो वन्दनादि च ॥ ४४ ॥

(१३) उसके बाद शास्त्र से अविरुद्ध व्यापार करना चाहिये अर्थात् पन्द्रह कर्मादान तथा अनीति आदि का त्याग करके जिसमें अत्यल्प पाप लगे —

ऐसी विधि से धन कमाने का प्रयत्न करना चाहिये, (१४) उसके बाद शास्त्रोक्त विधि से यथासमय भोजन करना चाहिये। जिस समय भोजन करने से शरीर नीरोग रहता हो या प्रत्याख्यान का पालन होता हो, उसे ही भोजन का उचित समय जानना चाहिये। असमय में भोजन करने से धार्मिक बाधा और शारीरिक नुकसान होता है, (१५) भोजनोपरान्त प्रत्याख्यान लेना चाहिये, (१६) फिर जिनमन्दिर में आगम का श्रवण करना चाहिये और (१८) फिर जिनमूर्ति के समक्ष चैत्यवन्दन आदि करना चाहिये ।। ४४ ।।

जइविस्सामणमुचिओ जोगो नवकारचिंतणाईओ ।
गिहिगमणं विहिसुवणं सरणं गुरुदेवयाईणं ।। ४५ ।।
यतिविश्रामणमुचितो योगः नमस्कारचिन्तनादिकः ।
गृहगमनं विधिश्रवणं स्मरणं गुरुदेवतादीनाम् ।। ४५ ।।

(१९) फिर जो साधु वैयावृत्य करते-करते थक गये हों और विशेष कारण से विश्राम करना चाहते हों, श्रावक को चाहिये कि उनको थकान दूर करने दें। (२०) फिर नमस्कार महामन्त्र का ध्यान करना तथा याद किये गये प्रकरण आदि का पाठ करना आदि उचित कार्य करने चाहिये, (२१) फिर घर जाना चाहिये, (२२) विधिपूर्वक सोना चाहिये, (२३) सोने के पहले देव-गुरु आदि का स्मरण करना चाहिये ।। ४५ ।।

अब्बंभे पुण विरई मोहदुगुंछा सतत्तचिन्ता य ।
इत्थीकलेवराणं तव्विरएसुं च बहुमाणो ।। ४६ ।।
अब्रह्मणि पुनो विरतिः मोहजुगुप्सा स्वतत्त्वचिन्ता च ।
स्त्रीकलेवराणां तद्विरतेषु च बहुमानः ।। ४६ ।।

(२४) अब्रह्म (स्त्री-सहवास) का त्याग करना चाहिये, इसके लिये स्त्री परिभोग के कारण रूप पुरुषवेद आदि की निन्दा करनी चाहिये, (२५) स्त्री-शरीर के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिये (स्त्री का शरीर वीर्य-रक्त से उत्पन्न हुआ है, उसके नौ छिद्रों से मल पदार्थ बाहर निकलते हैं, अतः मल से उसका शरीर अपवित्र है, वह केवल अस्थिपंजर रूप है) और (२६) अब्रह्म का त्याग करने वालों पर आन्तरिक प्रेम रखना चाहिए। लोगों के जिस अज्ञानरूपी अन्धकार को चन्द्र और सूर्य की कान्ति भी दूर नहीं कर सकती है, वह अन्धकार इस अल्प उपदेश के निरन्तर सुने जाने से नष्ट हो जाता है ।। ४६ ।।

**विशेषार्थ :** उपर्युक्त गाथा में आचार्यश्री ने चतुरतापूर्वक अपने नाम को गुप्त रखा है। कवि ग्रन्थ की विशिष्टता सिद्ध करने के लिये कह रहा है कि —

जिस अज्ञान रूपी अन्धकार को चन्द्र और सूर्य दूर नहीं कर सकते हैं, उसे दूर करने में यह संक्षिप्त उपदेश सक्षम है।

सुत्तविउद्धस्स पुणो सुहुमपयत्थेसु चित्तविण्णासो ।
भवठिइणिरूवणे वा अहिगरणोवसमचित्ते वा ।। ४७ ।।

सूत्रविबुद्धस्य पुनः सूक्ष्मपदार्थेषु चित्तविन्यासः ।
भवस्थितिनिरूपणे वा अधिकरणोपशमचित्ते वा ।। ४७ ।।

रात्रि बहुत बाकी हो तभी जगे हुए श्रावक को कर्म, आत्मा आदि सूक्ष्म पदार्थों के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिये या संसार के अनित्य-स्वरूप के विषय में विचार करना चाहिये या क्लेश आदि पापकर्मों से कब और कैसे निवृत्ति होगी, उस विषय में शान्तचित्त से सोचना चाहिये ।। ४७ ।।

आउयपरिहाणीए असमंजसचेट्ठियाण व विवागे ।
खणलाभदीवणाए धम्मगुणेसुं च विविहेसु ।। ४८ ।।

आयुः परिहाणौ असमञ्जसचेष्टितानां वा विपाके ।
लक्षणलाभदीपनायां धर्मगुणेषु च विविधेषु ।। ४८ ।।

प्रतिक्षण क्षीण हो रही आयु की विचारणा करनी चाहिये या प्राणिवध आदि अनुचित कार्यों के विपाक की विचारणा करना चाहिये या क्षणभर में होने वाले लाभ के विषय में सोचना चाहिये (जैसे – जीव क्षणभर में अशुभ अध्यवसाय से अनेक अशुभ कर्मों का बन्ध करता है और क्षणभर में शुभ अध्यवसाय से अनेक शुभ कर्मों का बन्ध करता है) या विविध धर्मगुणों अर्थात् धर्म से होने वाले परलोक सम्बन्धी विविध लाभों के चिन्तन में चित्त लगाना चाहिये ।। ४८ ।।

बाहगदोसविवक्खे धम्मायरिए य उज्जयविहारे ।
एमाइचित्तणासो संवेगरसायणं देइ ।। ४९ ।।

बाधकदोषविवक्षे धर्माचार्ये च उद्यतविहारे ।
एवमादिचित्तन्यासः संवेगरसायनं ददाति ।। ४९ ।।

शुभ अनुष्ठान में बाधक रागादि दोषों के निरोध में मन को लगाना चाहिये या सम्यक् दर्शन उत्पन्न करने वाले धर्माचार्य में चित्त लगाना चाहिये या साधुओं के वैराग्यभाव सम्बन्धी विचारणा करनी चाहिये। इस प्रकार की विचारणा संवेग रूप रसायन देती है अर्थात् ऐसी विचारणा से संसार से भय या मोक्षानुराग उत्पन्न होता है ।। ४९ ।।

गोसे भणिओ य विही इय अणवरयं तु चिट्ठमाणस्स ।
भवविरहबीयभूओ जायइ चारित्तपरिणामो ॥ ५० ॥

गोसे भणितश्च विधि इति अनवरतं तु चेष्टमानस्य ।
भवविरहबीजभूतो जायते चारित्रपरिणामः ॥ ५० ॥

प्रातःकाल की विधि कह दी गई। उपर्युक्त विधि के अनुसार सतत अनुष्ठान करने वाले श्रावक को संसार-वियोग के कारणरूप चारित्र (दीक्षा) लेने का परिणाम उत्पन्न होता है ॥ ५० ॥

**॥ इति श्रावकधर्मविधिर्नाम प्रथमं पञ्चाशकम् ॥**

# २

# जिनदीक्षाविधि पञ्चाशक

णमिऊण महावीरं जिणदिक्खाए विहिं पवक्खामि ।
वयणाउ[1] णिउणणयजुयं भव्वहियट्ठाय लेसेण ।। १ ।।

नत्वा महावीरं जिनदीक्षाया विधिं प्रवक्ष्यामि ।
वचनात् निपुणनययुतं भव्यहितार्थाय लेशेन ।। १ ।।

भगवान् महावीर को नमस्कार करके मैं भव्य जीवों के हितार्थ आगमों से उद्धृत, नय-नीति से युक्त जिनदीक्षा की विधि का संक्षेप में विवेचन करूँगा ।। १ ।।

**विशेष :** वैराग्य की उत्तम भूमिका को प्राप्त होकर मुमुक्षु व्यक्ति जब अपने सब सम्बन्धियों से क्षमा-याचना कर, गुरु की शरण में जाकर, सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर देता है और ज्ञाता-द्रष्टा रहकर समभाव की साधना करने की प्रतिज्ञा करता है तो इसे जिनदीक्षा या प्रव्रज्या कहते हैं।

*दीक्षा का स्वरूप*

दिक्खा मुंडणमेत्थं तं पुण चित्तस्स होइ विण्णेयं ।
ण हि अप्पसंतचित्तो धम्महिगारी जओ होइ ।। २ ।।

दीक्षा मुण्डनमत्र तत् पुनः चित्तस्य भवति विज्ञेयम् ।
न हि अप्रशान्तचित्तो धर्माधिकारी यतो भवति ।। २ ।।

दीक्षा मुण्डन को कहते हैं। वह मुण्डन चित्त का होता है, ऐसा जानना चाहिये। चित्त-मुण्डन से तात्पर्य है — मिथ्यात्व, क्रोध आदि दोषों को दूर करना, क्योंकि चंचल चित्तवाला व्यक्ति धर्म (दीक्षा) का अधिकारी नहीं होता है ।। २ ।।

**विशेष :** जिनागम में दस प्रकार के मुण्डन कहे गए हैं — पाँच इन्द्रियों का मुण्डन अर्थात् उनके विषयों का त्याग। वचन मुण्डन अर्थात् बिना प्रयोजन के कुछ न बोलना। हस्त मुण्डन अर्थात् हाथ से पापकर्म नहीं करना। पादमुण्डन अर्थात् अविवेकपूर्वक पैरों को सिकोड़ने, फैलाने आदि व्यापारों का त्याग अथवा

पापकर्म के लिये गमनक्रिया का त्याग। मनमुण्डन अर्थात् दुर्विचारों का त्याग और शरीर मुण्डन अर्थात् शरीर की कुचेष्टा का त्याग।

प्रस्तुत गाथा में चित्त के मुण्डन पर विशेष बल दिया गया है। जैनदीक्षा विधि में चैतसिक विकारों का त्याग अत्यन्त आवश्यक होता है। किसी ने सिर मुण्डन कराकर बाह्यवेश धारण कर लिया हो, किन्तु यदि उसके कषायादि दोष दूर नहीं हुए हों तो उसकी दीक्षा वास्तविक दीक्षा नहीं है।

*दीक्षा का समय*

चरमम्मि चेव भणिया एसा खलु पोग्गलाण परियट्टे ।
सुद्धसहावस्स तहा विसुज्झमाणस्स जीवस्स ।। ३ ।।

चरमे चैव भणिता एषा खलु पुद्गलानां परिवर्त्ते ।
शुद्धस्वभावस्य तथा विशुध्यमानस्य जीवस्य ।। ३ ।।

यह दीक्षा (यथाप्रवृत्तिकरण की दशा में कर्मों का क्षयोपशम होने से) शुद्ध स्वभाव वाले तथा उत्तरोत्तर आत्मविशुद्धि से युक्त जीव को उसके अन्तिम पुद्गल परावर्तन काल में होती है।

**विशेष :** केवल मस्तक मुण्डन करवाकर बाह्यवेश धारण करने रूप दीक्षा अन्तिम पुद्गल परावर्त के पहले भी हो सकती है, लेकिन चित्तमुण्डनरूप दीक्षा तो अन्तिम पुद्गल परावर्त में ही होती है। अनन्त उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल परिमाण एक पुद्गल परावर्त होता है ।। ३ ।।

*दीक्षा का अधिकारी*

दिक्खाएँ चेव रागो लोगविरुद्धाण चेव चाउत्ति ।
सुंदरगुरुजोगोऽवि य जस्स तओ एत्थ उचिओत्ति ।। ४ ।।

दीक्षायां चैव रागः लोकविरुद्धानां चैव त्याग इति ।
सुन्दरगुरुयोगोऽपि च यस्य तकोऽत्र उचित इति ।। ४ ।।

जिसका दीक्षा अर्थात् साधना के प्रति अनुराग है, लोक-व्यवहार में निषिद्ध कार्यों का जिसने त्याग कर दिया है एवं जिसको सद्गुरु का योग प्राप्त हुआ है, वही जीव दीक्षा का अधिकारी है ।। ४ ।।

*दीक्षा के प्रति अनुराग*

पयतीए सोऊण व दट्ठूण व केइ दिक्खिए जीवे ।
मग्गं समायरंते धम्मियजण बहुमए निच्चं ।। ५ ।।

एईए[1] चेव सद्धा जायइ पावेज्ज कहमहं एयं ? ।
भवजलहिमहाणावं णिरवेक्खा साणुबंधा य ॥ ६ ॥

प्रकृत्या श्रुत्वा वा दृष्ट्वा वा कांश्चित् दीक्षितान् जीवान्।
मार्गं समाचरतः धार्मिकजनबहुमतान् नित्यम् ॥ ५ ॥

एतस्यामेव श्रद्धा जायते प्राप्नुयां कथमहमेतत् ?
भवजलधिमहानावं निरपेक्षा सानुबन्धा च ॥ ६ ॥

कर्मों के क्षयोपशम के कारण स्वतः ही (निसर्गतः) दीक्षा में रुचि उत्पन्न हो जाती है या वैराग्य प्रतिपादक धर्म को सुनकर या दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप मार्ग का अनुसरण कर रहे कुछ दीक्षित और धार्मिक लोगों को देखकर दीक्षा के प्रति श्रद्धा होती है और मन में एक इच्छा जागृत होती है कि मैं भी इस भव-समुद्र को पार करने में समर्थ दीक्षारूपी महानौका को कैसे प्राप्त करूँ ? यह दीक्षा निरपेक्ष अर्थात् सांसारिक सुख आदि की अपेक्षा से रहित एवं जीवनपर्यन्त के लिये होती है ॥ ५-६ ॥

विग्घाणं चाभावो भावेऽवि य चित्तथेज्जमच्चत्थं ।
एयं दिक्खारागो णिद्दिट्ठं समयकेऊहिं ॥ ७ ॥

विघ्नानां चाभावो भावेऽपि च चित्तस्थैर्यमत्यर्थम् ।
एतद् दीक्षारागो निर्दिष्टं समयकेतुभिः ॥ ७ ॥

विघ्नों का अभाव अथवा विघ्नों की विद्यमानता में भी अत्यन्त चैतसिक दृढ़ता को सिद्धान्तविदों ने दीक्षाराग ( दीक्षा के प्रति अनुराग ) कहा है ॥ ७ ॥

*लोकविरुद्ध कार्य*

सव्वस्स चेव णिंदा विसेसओ तह य गुणसमिद्धाणं ।
उजुधम्मकरणहसणं रीढा जणपूयणिज्जाणं ॥ ८ ॥

सर्वस्य चैव निन्दा विशेषतः तथा च गुणसमृद्धानाम् ।
ऋजुधर्मकरणहसनं रीढा जनपूजनीयानाम् ॥ ८ ॥

किसी की भी निन्दा लोकविरुद्ध है, फिर गुण सम्पन्न लोगों ( आचार्यादि ) की निन्दा तो और भी अधिक लोकविरुद्ध है। सरलचित्त वाले व्यक्तियों द्वारा किये गये धर्माचार अर्थात् धार्मिक अनुष्ठान का उपहास करना या लोक-सम्मान्य राजा, मन्त्री, श्रेष्ठी इत्यादि का तिरस्कार अथवा निन्दा करना लोक-विरुद्ध है ॥ ८ ॥

---

१. 'एईइ' इति पाठान्तरम्।

बहुजणविरुद्धसंगो देसादाचारलंघणं चेव ।
उव्वणभोगो य तहा दाणाइवि पगडमण्णे तु ।। ९ ।।
बहुजनविरुद्धसङ्गो देशाद्याचारलङ्घनं चैव ।
उल्बणभोगश्च तथा दानाद्यपि प्रकटमन्ये तु ।। ९ ।।

बहुत से लोग जिस व्यक्ति के विरुद्ध हों, उसकी संगति करना, देश, जनपद, ग्राम, कुल आदि में प्रचलित आचार का अतिक्रमण करना, वस्त्रादि से निम्न लोगों की तरह शरीर-शोभा करना अथवा कुछ आचार्यों की दृष्टि में देश, काल, वैभव आदि का विचार किये बिना अनुचित दान तथा तपादि को तुच्छतापूर्वक लोगों के सामने प्रकट करना भी लोकविरुद्ध है ।। ९ ।।

साहुवसणम्मि तोसो सइ सामत्थम्मि अपडियारो य ।
एमाइयाणि एत्थं लोगविरुद्धाणि णेयाणि ।। १० ।।
साधुव्यसने तोषः सति सामर्थ्ये अप्रतिकारश्च ।
एतदादीनि अत्र लोकविरुद्धानि ज्ञेयानि ।। १० ।।

शिष्टजनों के प्रति दुष्ट लोगों द्वारा उपस्थित की गई विपत्तियों को देखकर खुश होना अथवा उन विपत्तियों को दूर करने में समर्थ होने पर भी विरोध नहीं करना इत्यादि को जिन दीक्षाकाल में लोकविरुद्ध जानना चाहिये ।। १० ।।

*सद्‌गुरु प्राप्ति के सूचक*

णाणाइजुओ उ गुरू सुविणे उदगादितारणं तत्तो ।
अचलाइरोहणं वा तहेव वालाइरक्खा वा ।। ११ ।।
ज्ञानादियुतस्तु गुरुः स्वप्ने उदगादितारणं ततः ।
अचलादिरोहणं वा तथैव व्यालादिरक्षा वा ।। ११ ।।

ज्ञानादि अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र से युक्त गुरु का दर्शन होना, जल, अग्नि, गड्ढे आदि को पार कर जाना, पर्वत, प्रासाद, वृक्ष, शिखर पर चढ़ जाना तथा भुजङ्गादि श्वापद हिंसक जीवों से आत्म-रक्षा होना — इत्यादि स्वप्न सद्‌गुरु-प्राप्ति के सूचक माने जाते हैं ।। ११ ।।

*दीक्षास्थल शुद्धि*

वाउकुमाराईणं आहवणं णियणिएहिं मन्तेहिं ।
मुत्तासुत्तीए किल पच्छा तक्कम्मकरणं तु ।। १२ ।।
वायुकुमारादीनामाह्वानं निजनिजैः मन्त्रैः ।
मुक्ताशुक्त्या किल पश्चात् तत्कर्मकरणं तु ।। १२ ।।

मुक्ता-शुक्ति के समान हाथ की मुद्रा बनाकर वायुकुमार आदि देवताओं का अपने-अपने मन्त्रों से आह्वान करना चाहिये। फिर उन-उन देवताओं का भूमिशुद्धिरूप परिमार्जन या जलसिञ्चन आदि के द्वारा सम्मान करना चाहिये ॥ १२ ॥

वाउकुमाराहवणे पमज्जणं तत्थ सुपरिसुद्धं तु ।
गंधोदगदाणं पुण मेहकुमाराहवणपुव्वं ॥ १३ ॥

वायुकुमाराह्वाने प्रमार्जनं तत्र सुपरिशुद्धन्तु ।
गन्धोदकदानं पुनः मेघकुमाराह्वानपूर्वम् ॥ १३ ॥

वायुकुमार का आह्वान करने के पश्चात् मेरे आमन्त्रण से वायुकुमारदेव समवसरण की भूमि शुद्ध कर रहे हैं — ऐसी मानसिक कल्पना करके दीक्षास्थल का प्रमार्जन व परिशोधन करना चाहिये। तत्पश्चात् मेघकुमार का आह्वान करके समवसरणभूमि पर (धूल नहीं उड़े इसके लिये) गन्धोदक (सुगन्धित-जल) का छिड़काव करना चाहिए ॥ १३ ॥

उउदेवीणाहवणे गंधड्ढा होइ कुसुमवुट्ठीत्ति[१] ।
अग्गिकुमाराहवणे धूवं एगे इहं बेंति ॥ १४ ॥

ऋतुदेवीनामाह्वाने गन्धाढ्या भवति कुसुमवृष्टिरिति ।
अग्निकुमाराह्वाने धूपमेकमिह ब्रुवन्ति ॥ १४ ॥

उसके बाद वसन्त, ग्रीष्म आदि छः ऋतुओं का आह्वान करके सुगन्ध एवं पुष्प की वृष्टि करनी चाहिये। फिर अग्निकुमार देवताओं का आह्वान करके अगरबत्ती या धूप जलाना चाहिये। कुछ विद्वानों का कहना है कि किसी देवता का नाम लिये बिना सर्वसामान्य देवताओं का आह्वान करके धूप खेना चाहिये ॥ १४ ॥

वेमाणियजोइसभवणवासियाहवणपुव्वगं तत्तो ।
पागारतिगण्णासो मणिकंचणरुप्पवण्णाणं ॥ १५ ॥

वैमानिक-ज्योतिष-भवनवासितनामाह्वानपूर्वकं ततः ।
प्राकारत्रिकन्यासः मणिकञ्चनरूप्यवर्णानाम् ॥ १५ ॥

वैमानिक (सौधर्मादि), ज्योतिष (चन्द्रादि) एवं भवनवासी (असुरादि) देवताओं का आह्वान करके रत्न, सुवर्ण और रौप्य (चाँदी) जैसे रंगवाले तीन प्राकार बनाने चाहिये। क्योंकि भगवान् के समवसरण में वैमानिक देवादि अन्तर, मध्य और बाह्य — ये तीन प्राकार क्रमशः रत्न, सुवर्ण और चाँदी के बनाते हैं ॥ १५ ॥

---

१. 'कुसुमवुट्टित्ति' इति पाठान्तरम्।

वंतरगाहवणाओ तोरणमाईण होइ विण्णासो ।
चितितरुसीहासणछत्तचक्कधयमाइयाणं च ।। १६ ।।

व्यन्तरकाह्वानात् तोरणादीनां भवति विन्यासः ।
चैत्यतरुसिंहासन-छत्र-चक्र-ध्वजादीनां च ।। १६ ।।

व्यन्तरदेवों का आह्वान करके उन प्राकारों के द्वारादि के तोरण, पीठ, देवछन्द, पुष्करिणी आदि की रचना की जाती है। पुनः चैत्यतरु (अशोकवृक्ष), सिंहासन, छत्र, चक्र, ध्वज इत्यादि की रचना की जाती है ।। १६ ।।

भुवणगुरुणो य ठवणा सयलजगपियामहस्स तो सम्मं ।
उक्किट्ठवण्णगोवरि समवसरणबिंबरूवस्स ।। १७ ।।

भुवनगुरोश्च स्थापना सकलजग-पितामहस्य ततः सम्यक् ।
उत्कृष्टवर्णकोपरि समवसरणबिम्बरूपस्य ।। १७ ।।

इसके बाद समवसरण में जिस प्रकार चारों तरफ भगवान् होते हैं, उसी प्रकार चारों तरफ सम्पूर्ण संसार के पितामह और त्रिभुवनगुरु जिनेन्द्रदेव के बिम्बों की उत्कृष्ट चन्दन के ऊपर सम्यक् प्रकार से स्थापना करनी चाहिये ।। १७ ।।

एयस्स पुव्वदक्खिणभागेणं मग्गओ गणधरस्स ।
मुणिवसभाणं वेमाणिणीण तह साहुणीणं च ।। १८ ।।

एतस्य पूर्वदक्षिणभागेन मार्गतः गणधरस्य ।
मुनिवृषभानां वैमानिनीनां तथा साध्वीनां च ।। १८ ।।

समवसरण में जिनबिम्ब के दक्षिण-पूर्व भाग में गणधरों की, गणधरों के पीछे मुनियों की, मुनियों के पीछे वैमानिक देवियों की तथा उनके पीछे साध्वियों की स्थापना करनी चाहिये ।। १८ ।।

इय अवरदक्खिणेणं देवीणं ठावणा मुणेयव्वा ।
भुवणवइवाणमंतरजोइससंबंधिणीणत्ति[1] ।। १९ ।।

इति अपरदक्षिणेन देवीनां स्थापना ज्ञातव्या ।
भुवनपति-वानमन्तरज्योतिष-सम्बन्धितनीनामिति ।। १९ ।।

इसी प्रकार पश्चिम-दक्षिण दिशा में भवनवासियों (असुरादि), व्यन्तरों तथा ज्योतिषियों की देवियों की स्थापना करनी चाहिये ।। १९ ।।

---

१. 'संबंधणीणत्ति' इति पाठान्तरम् ।

भवणवइ-वाणमंतर-जोइसियाणं च एत्थ देवाणं ।
अवरुत्तरेण णवरं निद्दिट्ठा समयकेऊहिं ॥ २० ॥

भवनपति-वानमन्तर-ज्योतिष्काणां चात्र देवानाम् ।
अपरोत्तरेण केवलं निर्दिष्टा समयकेतुभिः ॥ २० ॥

सिद्धान्तवेत्ताओं ने भवनपति, व्यन्तर तथा ज्योतिष देवताओं की स्थापना के लिए केवल पश्चिमोत्तर दिशा को निर्दिष्ट किया है ॥ २० ॥

वेमाणियदेवाणं णराण णारीगणाण य पसत्था ।
पुव्वुत्तरेण ठवणा सव्वेसिं णियगवण्णेहिं ॥ २१ ॥

वैमानिकदेवानां नराणां नारीगणानां च प्रशस्ताः ।
पूर्वोत्तरेण स्थापना सर्वेषां निजकवर्णैः ॥ २१ ॥

पूर्वोत्तर दिशा में वैमानिकदेव, मनुष्य और नारीगण की स्थापना करनी चाहिये। इन सबकी स्थापना उसी जाति के देवता के शरीर के वर्ण के अनुसार करनी चाहिये ॥ २१ ॥

अहिणउलमयमयाहिवपमुहाणं तह य तिरियसत्ताणं ।
बितियंतरम्मि एसा तइए पुण देवजाणाणं ॥ २२ ॥

अहिनकुल-मृग-मृगाधिपप्रमुखाणां तथा च तिर्यक्सत्त्वानाम् ।
द्वितीयान्तरे एषा तृतीये पुनः देवयानानाम् ॥ २२ ॥

सर्प, नेवला, मृग, सिंह, अश्व, भैंसा आदि प्रमुख तिर्यञ्च प्राणियों को द्वितीय प्राकार में स्थापित करना चाहिये और तीसरे गढ़ में देवताओं के हाथी, मगर, सिंह, मोर, कलहंस आदि के जैसे आकार वाले वाहनों की स्थापना करनी चाहिये ॥ २२ ॥

*दीक्षार्थी का समवसरण में प्रवेश*

रइयम्मि समोसरणे एवं भत्तिविहवाणुसारेण ।
सुइभूओ उ पदोसे अहिगयजीवो इहं एइ ॥ २३ ॥

रचिते समवसरण एवं भक्तिविभवानुसारेण ।
शुचिभूतस्तु प्रदोषे अधिगतजीव इह इति ॥ २३ ॥

इस प्रकार द्रव्य और भाव से पवित्र हुआ दीक्षार्थी शुभ मुहूर्त में बहुमान पूर्वक अपनी समृद्धि के अनुसार रचित समवसरण में प्रवेश करता है ॥ २३ ॥

*दीक्षार्थी से विधिकथन*

भुवणगुरुगुणक्खाणा तम्मी संजायतिव्वसद्धस्स ।
विहिसासणमोहेणं तओ पवेसो तहिं एवं ।। २४ ।।

भुवनगुरुगुणाख्यानात् तस्मिन् सञ्जाततीव्रश्रद्धस्य ।
विधिशासनमोघेन ततः प्रवेशः तस्मिन्नेवम् ।। २४ ।।

फिर जिनेन्द्रदेव के वीतरागता आदि गुणों का वर्णन करने से उनके प्रति उत्पन्न तीव्र श्रद्धावाले उस दीक्षार्थी को संक्षेप में जिन-शासन की विधि बतलानी चाहिये तथा यह बतलाना चाहिये कि तुम्हारी अंजलि में पुष्प दिया जाएगा। तुम्हारी आँखें ढक दी जाएँगी। तुमको पुष्प जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा पर डालना होगा — इस प्रकार कहकर विधिपूर्वक उसको समवसरण में प्रवेश कराना चाहिये ।। २४ ।।

*दीक्षार्थी की शुभाशुभ गति जानने के उपाय*

वरगंधपुप्फदाणं सियवत्थेणं तहच्छिठयणं[१] च ।
आगइ-गइ-विण्णाणं इमस्स तह पुप्फपाएणं ।। २५ ।।

वरगन्धपुष्पदानं सितवस्त्रेण तथाक्षिस्थगनञ्च ।
आगति-गति-विज्ञानम् अस्य तथा पुष्पपातेन ।। २५ ।।

दीक्षार्थी के हाथों में सुगन्धित पुष्प देकर उसकी आँखों को श्वेतवस्त्र से आवृत्त कर देना चाहिये और उसको निर्भीक होकर जिनबिम्ब पर पुष्प फेंकने को कहना चाहिये। इस पुष्पपात से उसकी आगति अर्थात् वह किस गति से आया है ? और गति अर्थात् वह किस गति में जायेगा ? इसे जानना चाहिये। यदि पुष्प समवसरण में पड़ें तो दीक्षाराधना से सुगति होगी और यदि समवसरण से बाहर पड़ें तो उसकी दुर्गति होगी, ऐसा जानना चाहिये ।। २५ ।।

*शुभ और अशुभ गतिविज्ञान विषयक मतमतान्तर*

अभिवाहरणा अण्णे णियजोगपवित्तिओ य केइत्ति ।
दीवाइजलणभेया तहुत्तरसुजोगओ चेव ।। २६ ।।

अभिव्याहरणादन्ये निजयोगप्रवृत्तितश्च केचिदिति ।
दीपादिज्वलनभेदात् तथोत्तरसुयोगतश्चैव ।। २६ ।।

यहाँ कुछ आचार्य कहते हैं कि उस समय दीक्षार्थी या किसी अन्य के द्वारा उच्चारित शुभाशुभसूचक सिद्धि, वृद्धि शब्दों के आधार पर या क्रिया करते

१. 'तहच्छिठवणं' इति पाठान्तरम् ।

हुए दीक्षार्थी द्वारा — ''इच्छाकारेणं तुब्भे दंसणपडिमं समत्तसामाइयं वा आरोवेह'' आदि शब्दों के उच्चारण के आधार पर दीक्षार्थी की गति/आगति का ज्ञान होता है। कुछ आचार्यों का कहना है कि आचार्य के मन आदि योगों की प्रवृत्ति के आधार पर शुभाशुभ गति जानी जाती है, आचार्य का मन क्रोध, लोभ, मोह व भय से व्याकुल न हो, अपितु प्रसन्न हो, क्रिया इत्यादि में उच्चारित वाणी स्खलन आदि दोषों से रहित हो, तो दीक्षार्थी की शुभ गति होती है, अन्यथा होने पर अशुभ गति होती है।

कुछ लोगों का मानना है कि दीप, चन्द्र एवं तारों के तेज अधिक हों तो दीक्षणीय की शुभ गति होती है अन्यथा अशुभ गति। कुछ लोगों का मानना है कि दीक्षा होने के बाद दीक्षार्थी के शुभ योगों से शुभ तथा अशुभ योगों से अशुभ गति होती है ।। २६ ।।

*दीक्षार्थी की योग्यता-अयोग्यता का निर्णय*

बाहिं तु पुप्फपाए वियडणचउसरणगमणमाईणि ।
काराविज्जइ एसो वारतिगमुवरि पडिसेहो ।। २७ ।।

बहिस्तु पुष्पपाते विकटन-चतुःशरण-गमनमादीनि ।
कारापयति एषो वारत्रिकमुपरि प्रतिषेधः ।। २७ ।।

समवसरण के बाहर पुष्पपात होने पर शंका आदि अतिचारों की आलोचना और अर्हदादि चार शरणों (१ अर्हत्, २ सिद्ध, ३ मुनि और ४ धर्म) को स्वीकार करने आदि रूप विधि करानी चाहिये। फिर पूर्ववत् पुष्पपात की विधि करानी चाहिये। उसमें पुष्प यदि समवसरण में पड़ें तो दीक्षार्थी दीक्षा के योग्य है। यदि समवसरण के बाहर पड़ें तो फिर से शंका आदि अतिचारों की आलोचना आदि विधि करानी चाहिये। फिर तीसरी बार पूर्ववत् ही पुष्पपात कराना चाहिये। यदि इस बार पुष्प समवसरण में पड़ें तो दीक्षा देनी चाहिये और यदि समवसरण के बाहर पड़ें तो दीक्षार्थी को दीक्षा के अयोग्य जानकर दीक्षा नहीं देनी चाहिये। तुमको बाद में दीक्षा देंगे आदि मधुर शब्दों से दीक्षा का प्रतिषेध करना चाहिये ।। २७ ।।

*दीक्षा की योग्यता का निर्णय होने के बाद गुरु के द्वारा करने योग्य विधि*

परिसुद्धस्स उ तह पुप्फपायजोगेण दंसणं पच्छा ।
ठितिसाहणमुवबूहण हरिसाइपलोयणं चेव ।। २८ ।।

परिशुद्धस्य तु तथा पुष्पपातयोगेन दर्शनं पश्चात् ।
स्थितिसाधनमुपबृंहणं हर्षादिप्रलोकनं चैव ।। २८ ।।

समवसरण में पुष्प गिरने से दीक्षा के लिये जिसकी योग्यता निश्चित हो गयी है, उस जीव को सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का आरोपण कराना चाहिये। सम्यग्दर्शन का आरोपण ही जिनदीक्षा का प्रारम्भ है।

इसके पश्चात् सम्यक्त्व के आचार का वर्णन कर दीक्षा की विधि का वर्णन करना चाहिये। बाद में उस दीक्षित की प्रशंसा करनी चाहिये, जैसे तुम धन्य हो, धर्म के योग्य हो आदि। जिनदीक्षा (सम्यक्त्व) के आचारों का वर्णन सुनता हुआ वह प्रसन्न होता है या उदासीन होता है — इसका उसकी मुखाभिव्यक्ति से अवलोकन करना चाहिये ।। २८ ।।

*शिष्य का आत्मनिवेदन*

अह तिपयाहिणपुव्वं सम्मं सुद्धेण चित्तरयणेणं ।
गुरुणोऽणुवेयणं सव्वहेव दढमप्पणो एत्थ ।। २९ ।।

अथ त्रिप्रदक्षिणापूर्वं सम्यक् शुद्धेन चित्तरत्नेन ।
गुरोऽनुवेदनं सर्वथैव दृढमात्मनः अत्र ।। २९ ।।

तत्पश्चात् शिष्य को गुरु की तीन बार प्रदक्षिणा करके सम्यग्दर्शन से युक्त शुद्ध अन्तःकरण से गुरु से निवेदन करना चाहिये कि अब मैं आपके प्रति समर्पित हूँ। आप मुझ जैसे संसार-समुद्र में डूबे हुए व्यक्तियों के मार्गदर्शक हैं — इस प्रकार गुरु के प्रति दृढ़ मन से समर्पित होना चाहिये ।। २९ ।।

*आत्मनिवेदन का महत्त्व*

एसा खलु गुरुभत्ती उक्कोसो एस दाणधम्मो उ ।
भावविसुद्धीए दढं इहराविय बीयमेयस्स ।। ३० ।।

एषा खलु गुरुभक्तिरुत्कर्ष एषो दानधर्मस्तु ।
भावविशुद्ध्या दृढं इतरथाऽपि च बीजमेतस्य ।। ३० ।।

भावविशुद्धि से दृढ़ गुरुभक्तिपूर्वक यह आत्मसमर्पण श्रेष्ठतम दानधर्म है और उसके अभाव में यह बीजरूप या हेतुरूप है ।। ३० ।।

*आत्मनिवेदन का कारण*

जं उत्तमचरियमिणं सोउंपि अणुत्तमा ण पारेंति ।
ता एयसगासाओ उक्कोसो होइ एयस्स ।। ३१ ।।

यदुत्तमचरितमिदं श्रोतुमपि अनुत्तमा न पारयन्ति ।
तद् एतत्सकाशाद् उत्कर्षो भवति एतस्य ।। ३१ ।।

यह आत्म-समर्पण उत्तम पुरुष ही कर सकते हैं। अयोग्य पुरुष तो उसको सुन भी नहीं सकता अर्थात् कोई जीव आत्म-समर्पण कर रहा हो तो अयोग्य जीव को तो उसका सुनना भी अच्छा नहीं लगता तो फिर वह आत्म-समर्पण क्या करेगा ? अत: आत्म-समर्पण करने वाला जीव योग्य है, इसलिये विशुद्ध भावसहित आत्म-समर्पण उत्तम पुरुष के आचरण का अंग होने से वह आत्म-विसर्जनरूप विशुद्धभाव को ही उत्पन्न करता है, इसलिये वह उत्कृष्ट दानधर्म भी होता है ।। ३१ ।।

गुरुणोऽवि णाहिगरणं ममत्तरहियस्स एत्थ वत्थुम्मि ।
तब्भावसुद्धिहेऊ आणाइ पयट्टमाणस्स ।। ३२ ।।
गुरोरपि नाधिकरणं ममत्वरहितस्य अत्र वस्तुनि ।
तद्भावशुद्धिहेतुम् आज्ञया प्रवर्तमानस्य ।। ३२ ।।

गुरु को भी ऐसे समर्पित भाव वाले दीक्षित जीव और उसकी शिष्य-सन्तानों के विषय में अधिकरण दोष नहीं लगता, क्योंकि गुरु ममत्वरहित होता है। दीक्षित के परिणामों की विशुद्धि के लिये वह जिन-आज्ञा के अनुसार ही प्रवृत्ति करता है ।। ३२ ।।

णाऊण य तब्भावं जह होइ इमस्स भाववुड्ढित्ति ।
दाणादुवदेसाओ अणेण तह एत्थ जइयव्वं ।। ३३ ।।
ज्ञात्वा च तद्भावं यथा भवति अस्य भाववृद्धिरिति ।
दानाद्युपदेशादनेन तथा अत्र यतितव्यम् ।। ३३ ।।

दीक्षाविधि समाप्त होने के पश्चात् गुरु को नवदीक्षित की मन:स्थिति जान लेनी चाहिए। दीक्षित की धर्म के प्रति अभिरुचि (भाव) जिस प्रकार बढ़ती है, गुरु को उसी प्रकार उस दीक्षित को दान, गुरुसेवा जैसे उपदेश देने का प्रयत्न करना चाहिए ।। ३३ ।।

*जिन दीक्षाविधि लेने योग्य शिष्य और देने योग्य गुरु का वर्णन*

णाणाइगुणजुओ खलु णिरभिस्संगो पयत्थरसिगो य ।
इय जयइ न उण अण्णो गुरूवि एयारिसो चेव ।। ३४ ।।
ज्ञानादिगुणयुत: खलु निराभिष्वङ्ग: पदार्थरसिकश्च ।
इति जयति न पुनोऽन्यो गुरुरपि एतादृशश्चैव ।। ३४ ।।

जो दीक्षित व्यक्ति सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र आदि गुणों से युक्त होकर तथा बाह्य भौतिक-पदार्थों से नि:स्पृह होकर आगमों में

वर्णित देवतत्त्व, गुरुतत्त्व, आगमतत्त्व आदि के प्रति प्रीति से युक्त होता है, वही दीक्षा हेतु आत्मनिवेदन करता है। उपर्युक्त गुणों से रहित जीव उसमें प्रयत्न नहीं करता है। गुरु को भी उपर्युक्त गुणों वाला होना चाहिये ॥ ३४ ॥

*भाग्यवान् को ही दीक्षा की प्राप्ति*

धण्णाणमेयजोगो धण्णा चेट्ठंति एयणीईए ।
धण्णा बहुमण्णन्ते धण्णा जे ण प्पदूसंति ॥ ३५ ॥

धन्यानामेतद्योगो धन्याः चेष्टन्त एतन्नीत्या ।
धन्या बहुमन्यन्ते धन्या ये न प्रदूष्यन्ति ॥ ३५ ॥

वे धन्य हैं, जिन्हें यह दीक्षा प्राप्त होती है और वे धन्य हैं जो दीक्षा के आचारों का नियमपूर्वक पालन करते हैं। वे सभी धन्य हैं, जो दीक्षित व्यक्ति या दीक्षा का सम्मान करते हैं और वे भी धन्य हैं जो दीक्षा से द्वेष नहीं करते हैं ॥ ३५ ॥

*दीक्षा के बाद दीक्षित के करने योग्य विधि*

दाणमह जहासत्ती सद्धासंवेगकमजुयं णियमा ।
विहवाणुसारओ तह जणोवयारो य उचिओत्ति ॥ ३६ ॥

दानमथ यथाशक्ति श्रद्धासंवेगक्रमयुतं नियमात् ।
विभवानुसारतः तथा जनोपचारश्च उचित इति ॥ ३६ ॥

दीक्षार्थी को संघ के साधु-साध्वी आदि को यथाशक्ति एषणीय वस्त्र, पात्र, अन्न,पेय इत्यादि का दान देना चाहिये। दान की यह क्रिया आन्तरिक श्रद्धा और मोक्ष की अभिलाषा से दानधर्म की पारम्परिक रीतियों और अपने वैभव के अनुसार अनिवार्यतः करना ही चाहिये। इसके साथ-साथ जनोपचार अर्थात् अपने-पराये लोगों का उचित रीति से सम्मान करना चाहिये ॥ ३६ ॥

*सच्ची-झूठी दीक्षा जानने के लक्षण*

अहिगय-गुणसाहम्मियपीईबोहगुरुभत्तिवुड्ढी य ।
लिंगं अव्वभिचारी पइदियहं सम्मदिक्खाए ॥ ३७ ॥

अधिगत-गुण-साधर्मिक-प्रीतिबोधगुरुभक्तिवृद्धिश्च ।
लिङ्गमव्यभिचारी प्रतिदिवसं सम्यग् दीक्षया ॥ ३७ ॥

दीक्षित व्यक्ति को अपने द्वारा गृहीत गुणों में, सहधर्मियों के प्रति प्रेम में, तत्त्वज्ञान के अध्ययन में तथा गुरु के प्रति भक्ति में वृद्धि करनी चाहिये। साथ ही दीक्षापूर्वक गृहीत लिङ्ग का उल्लंघन नहीं करना चाहिये अर्थात् मन, वचन और काय से आचार के नियमों का सम्यक्रूपेण पालन करना चाहिये। जिनमें उपर्युक्त

लक्षण दिखलाई देते हैं उनकी दीक्षा ही सच्ची दीक्षा है और जिनमें उपर्युक्त लक्षण नहीं दिखलाई देते हैं उनकी दीक्षा निरर्थक है ।। ३७ ।।

*गुणों की वृद्धि का कारण*

परिसुद्धभावओ तह कम्मखओवसमजोगओ होइ ।
अहिगयगुणवुड्ढी खलु कारणओ कज्जभावेण ।। ३८ ।।

परिशुद्धभावतः तथा कर्मक्षयोपशमयोगतो भवति ।
अधिगतगुणवृद्धिः खलु कारणतः कार्यभावेन ।। ३८ ।।

दीक्षा स्वीकाररूप परिशुद्ध भाव से कर्मों का क्षयोपशम होता है और कर्मों के क्षयोपशम से पूर्व प्राप्त सम्यक्-दर्शनादि गुणों में वृद्धि अवश्य होती है, क्योंकि कारण के होने से कार्य अवश्य होता है — यह नियम है ।। ३८ ।।

*साधर्मिक प्रेम की वृद्धि का कारण*

धम्मम्मि य बहुमाणा पहाणभावेण तदणुरागाओ ।
साहम्मियपीतीए उ हंदि वुड्ढी धुवा होइ ।। ३९ ।।

धर्मे च बहुमानात् प्रधानभावेन तदनुरागात् ।
साधर्मिकप्रीतेः तु हंदि वृद्धिः ध्रुवाद् भवति ।। ३९ ।।

दीक्षित व्यक्ति में धर्म के प्रति अत्यन्त सम्मान की भावना होती है और वह साधर्मिक धर्म अर्थात् सेवा को प्रधान मानने वाला होता है; इसलिये दीक्षितों में साधर्मिकों के प्रति स्नेह की वृद्धि होती है ।। ३९ ।।

*बोधवृद्धि का कारण*

विहियाणुट्ठाणाओ पाएणं सव्वकम्मखओवसमा ।
णाणावरणावगमा णियमेणं बोहवुड्ढित्ति ।। ४० ।।

विहितानुष्ठानात् प्रायेण सर्वकर्मक्षयोपशमात् ।
ज्ञानावरणापगमात् नियमेन बोधवृद्धिरिति ।। ४० ।।

प्रायः विहित आचार का पालन करने से सभी कर्मों का क्षयोपशम एवं ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों का नाश होता है, जिससे नियमतः ज्ञान में वृद्धि होती है ।। ४० ।।

*गुरुभक्ति की वृद्धि का कारण*

कल्लाणसंपयाए इमीए[1] हेऊ जओ गुरू परमो ।
इय बोहभावओ चिय जायइ गुरुभत्तिवुड्ढीवि ।। ४१ ।।

---

१. 'इमीइ' इति पाठान्तरम् ।

कल्याणसम्पद अस्या हेतुर्यत गुरुः परमः ।
इति बोधभावत एव जायते गुरुभक्तिवृद्धिरिति ।। ४१ ।।

गुरु इस दीक्षा रूपी इहलौकिक और पारलौकिक कल्याणसम्पदा का हेतु है अर्थात् गुरु की सहायता से ही दीक्षा सम्बन्धी आचार का पालन होता है। इसलिये गुरु महान् हैं और उनकी भक्ति करना उचित है — इस प्रकार का ज्ञान होने से ही गुरुभक्ति में भी वृद्धि होती है ।। ४१ ।।

*प्रस्तुत दीक्षा का अनन्तर फल*

इय कल्याणी एसो कमेण दिक्खागुणे महासत्तो ।
सम्मं समायरंतो पावइ तह परमदिक्खंपि ।। ४२ ।।

इति कल्याणी एषः क्रमेण दीक्षागुणान् महासत्त्वः ।
सम्यक् समाचरन् प्राप्नोति तथा परमदीक्षामपि ।। ४२ ।।

इस प्रकार क्रमशः गुणों की वृद्धि होने से महासत्त्वशाली दीक्षित जीव का कल्याण होता है तथा वह उन गुणों का सम्यक् आचरण करता हुआ क्रमशः उत्तरोत्तर अधिक शुद्ध बनकर सर्वविरति अर्थात् मुनि-दीक्षा को भी प्राप्त कर लेता है ।। ४२ ।।

*प्रस्तुत दीक्षा का परस्पर फल*

गरहियमिच्छायारो भावेणं जीवमुत्तिमणुहविउं ।
णीसेसकम्ममुक्को उवेइ तह परममुत्तिंपि ।। ४३ ।।

गर्हितमिथ्याचारः भावेन जीवमुक्तिमनुभूय ।
निःशेषकर्ममुक्त उपैति तथा परममुक्तिमपि ।। ४३ ।।

इस प्रकार सर्वविरति रूप चारित्र के प्राप्त होने पर वह भूतकाल में आचरित मिथ्याचारों की निन्दा करके, वर्तमान में उन आचारों का सेवन नहीं करके और भविष्य में उन आचारों का प्रत्याख्यान करके जीव उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त होता हुआ जीवन्मुक्ति का अनुभव करके अन्त में सभी कर्मों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है ।। ४३ ।।

*दीक्षाविधि का महत्त्व*

दिक्खाविहाणमेयं भाविज्जंतं तु तंतणीतीए ।
सइअपुणबंधगाणं कुग्गहविरहं लहुं कुणइ ।। ४४ ।।

दीक्षाविधानमेतद् भाव्यमानन्तु तन्त्रनीत्या ।
सकृदपुनर्बन्धकानां कुग्रहविरहं लघु करोति ।। ४४ ।।

आगम के अनुसार इस दीक्षाविधान का चिन्तन करने से भी व्यक्ति सकृद्-बन्धक और अपुनर्बन्धक रूप कदाग्रह का जल्दी ही त्याग करता है। जो जीव यथाप्रवृत्तिकरण को प्राप्त हो गया हो, लेकिन ग्रन्थि को नहीं तोड़े और फिर एक बार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करे तो वह सकृद्बन्धक है तथा जो जीव यथाप्रवृत्तिकरण को प्राप्त हो गया हो, लेकिन उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध नहीं करे और ग्रन्थियों को तोड़े तो वह जीव अपुनर्बन्धक है। इन दोनों प्रकार के जीवों का जब तक ग्रन्थिभेद नहीं हुआ है, तब तक कदाग्रह की सम्भावना है, लेकिन अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों को कदाग्रह नहीं होता है ॥ ४४ ॥

**॥ इति जिनदीक्षाविधिर्नाम द्वितीयं पञ्चाशकम् ॥**

# ३

# चैत्यवन्दनविधि पञ्चाशक

दूसरे पञ्चाशक में जिन-दीक्षा की विधि का विवेचन किया गया है। जिन-दीक्षा को स्वीकार करने वाले साधक को प्रतिदिन जिन-मूर्ति के समक्ष चैत्यवन्दन करना आवश्यक है। अत: अब चैत्यवन्दन की विधि कहने हेतु मङ्गला-चरण करते हैं —

*मङ्गलाचरण*

नमिऊण वद्धमाणं सम्मं वोच्छामि वंदणविहाणं ।
उक्कोसाइतिभेयं मुद्दाविण्णासपरिसुद्धं ।। १ ।।

नत्वा वर्धमानं सम्यग् वक्ष्यामि वन्दनविधानम् ।
उत्कृष्टादित्रिभेदं मुद्राविन्यास-परिशुद्धम् ।। १ ।।

भगवान् महावीर को प्रणाम करके मैं वन्दनविधान अर्थात् चैत्यवन्दन विधि का सम्यक् प्रतिपादन करूँगा, जो उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य — ऐसी तीन प्रकार की है और मुद्रा-विन्यास की अपेक्षा से सर्वथा शुद्ध है ।। १ ।।

*चैत्यवन्दन के तीन प्रकार*

णवकारेण जहण्णा दंडग-थुइजुयल मज्झिमा णेया ।
संपुण्णा उक्कोसा विहिणा खलु वंदणा तिविहा ।। २ ।।

नवकारेण जघन्या दण्डकस्तुतियुगलमध्यमा ज्ञेया ।
सम्पूर्णा उत्कृष्टविधिना खलु वन्दना त्रिविधा ।। २ ।।

केवल नमस्कार मन्त्र के द्वारा वन्दना करना जघन्य वन्दना कही जाती है। पाँच दण्डकसूत्रों और तीन स्तुतियों — इन दोनों के द्वारा वन्दना करना मध्यमा वन्दना है और सम्पूर्ण विधिपूर्वक अर्थात् पाँच दण्डकसूत्रों, तीन स्तुतियों और प्रणिधानपाठ से जो वन्दना की जाती है वह उत्कृष्ट वन्दना है। इस प्रकार जघन्या, मध्यमा और उत्कृष्टा के भेद से वन्दना-विधि तीन प्रकार की होती है ।। २ ।।

*दूसरी तरह से वन्दना के तीन प्रकार*

अहवावि भावभेया ओघेण अपुणबंधगाईणं ।
सव्वावि तिहा णेया सेसाणमिमी ण जं समए ।। ३ ।।

अथवाऽपि भावभेदाद् ओघेन अपुनर्बन्धकादीनाम् ।
सर्वाऽपि त्रिधा ज्ञेया शेषाणामियं न यत् समये ।। ३ ।।

पुन: अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि, देशविरत और सर्वविरत के जघन्यादि परिणाम के भेद से वन्दन तीन प्रकार का जानना चाहिये अर्थात् अपुनर्बन्धक का चैत्यवन्दन करना जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट में से कोई हो, जघन्य ही होता है — अपुनर्बन्धक जघन्य वन्दन करे तो वह वन्दन जघन्य तो है ही यदि वह मध्यम और उत्कृष्ट वन्दन करे तो भी वह जघन्य ही होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से उसके परिणामों की विशुद्धि कम होती है। अविरत सम्यग्दृष्टि का जघन्यादि तीन प्रकार का वन्दन मध्यम ही होता है, क्योंकि उसके परिणामों की विशुद्धि अपुनर्बन्धक से अधिक और देशविरति आदि से कम — इस प्रकार मध्यम होती है। देशविरत और सर्वविरत के जघन्यादि तीनों के प्रकार के वन्दन उत्कृष्ट ही होते हैं, क्योंकि अपुनर्बन्धक और अविरत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा इन दोनों के परिणाम अधिक विशुद्ध होते हैं। अथवा अपुनर्बन्धक आदि प्रत्येक के आधार पर भी वन्दना तीन प्रकार की हो सकती है, यथा — अपुनर्बन्धक जघन्यादि तीन प्रकार के वन्दन में से कोई भी वन्दन यदि मन्द उल्लास से करे तो वह वन्दन जघन्य होता है, यदि मध्यम उल्लास से करे तो मध्यम वन्दन और यदि उत्कृष्ट उल्लास से करे तो उत्कृष्ट वन्दन होता है। इसी प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि और देशविरत तथा सर्वविरत के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये ।। ३ ।।

*अपुनर्बन्धक का लक्षण*

पावं ण तिव्वभावा कुणइ ण बहुमण्णई भवं घोरं ।
उचियट्ठिइं च सेवइ सव्वत्थवि अपुणबंधोत्ति ।। ४ ।।

पापं न तीव्रभावात् करोति न बहुमन्यते भवं घोरम् ।
उचितस्थितिं च सेवते सर्वत्रापि अपुनर्बन्ध इति ।। ४ ।।

अपुनर्बन्धक जीव तीव्र संक्लेशभाव से कोई पाप नहीं करता और न ही वह इस बीभत्स संसार को अधिक मान्यता देता है। वह देश, काल और अवस्था की अपेक्षा से देव, अतिथि, माता-पिता आदि के साथ यथोचित व्यवहार करता है ।। ४ ।।

*सम्यग्दृष्टि का लक्षण*

सुस्सूस धम्मराओ गुरुदेवाणं जहासमाहीए ।
वेयावच्चे णियमो सम्मद्दिट्ठिस्स लिंगाइं ।। ५ ।।

शुश्रूषा धर्मरागो गुरुदेवानां यथासमाधिः ।
वैयावृत्ये नियमः सम्यग्दृष्टेर्लिङ्गानि ॥ ५ ॥

सम्यग्दृष्टि व्यक्ति की पहचान यह है कि वह धर्मशास्त्रविषयक प्रवचनों को सुनने का इच्छुक होता है। धर्म के प्रति अनुरक्त रहता है। सम्यग्दृष्टि गुरुओं एवं अन्य आराध्य पुरुषों को जैसे समाधि हो वैसे उनकी सेवा में कर्तव्यपरायण होकर तत्पर रहता है ॥ ५ ॥

*देशविरत एवं सर्वविरत के लक्षण*

मग्गणुसारी सड्ढो पण्णवमणिज्जो कियापरो चेव ।
गुणरागी सक्कारंभसंगओ तह य चारित्ती ॥ ६ ॥

मार्गानुसारी श्राद्धः प्रज्ञापनीयः क्रियापरः चैव ।
गुणरागी शक्यारम्भसङ्गतः तथा च चारित्री ॥ ६ ॥

देशविरत अथवा सर्वविरत व्यक्ति तत्त्वमार्ग का अनुसर्ता एवं उसके प्रति श्रद्धावान् होता है। सम्यग् मार्ग से विचलित होने पर उसको उपदेश दिया जा सकता है। वह मोक्षमार्ग की साधना करता है। अपने तथा दूसरों के गुणों के प्रति अनुराग रखता है, यथासम्भव धर्मकार्यों का सम्पादन करता है तथा चारित्रवान् होता है ॥ ६ ॥

*अपुनर्बन्धकादि के अतिरिक्त दूसरे जीवों में चैत्यवन्दन की अयोग्यता*

एते अहिगारिणो इह ण उ सेसा दव्वओवि जं एसा ।
एयरीएँ जोग्गयाए सेसाण उ अप्पहाणत्ति ॥ ७ ॥

एते अधिकारिण इह न तु शेषा द्रव्यतोऽपि यदेषा ।
इतरस्याः योग्यतायाः शेषाणां तु अप्रधाना इति ॥ ७ ॥

ये (अपुनर्बन्धक, अविरत-सम्यग्दृष्टि, देशविरत एवं सर्वविरत) ही इस चैत्य-वन्दन के अधिकारी होते हैं। शेष जो मार्गाभिमुख मिथ्यादृष्टि इत्यादि हैं वे इसके अधिकारी नहीं होते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव तो द्रव्यवन्दना के भी अधिकारी नहीं होते, क्योंकि द्रव्यवन्दना के भी अधिकारी वे ही होते हैं, जो भाववन्दना के लिए अपेक्षित योग्यता रखते हैं।

**भावार्थ :** द्रव्यवन्दना दो प्रकार की होती है—(१) प्रधान द्रव्य-वन्दना और (२) अप्रधान द्रव्य-वन्दना। जो द्रव्य-वन्दना भाव-वन्दना का कारण बने वह प्रधान द्रव्य-वन्दना है एवं जो द्रव्य-वन्दना भाववन्दना का कारण न बने वह अप्रधान द्रव्य-वन्दना है। इसमें से प्रधान द्रव्य-वन्दना वाले

जीव वन्दना के अधिकारी हैं, क्योंकि वे जीव द्रव्य-वन्दना करते-करते भाववन्दना करने वाले बन जाते हैं। इस प्रकार अपुनर्बन्धक जीवों की वन्दना द्रव्यवन्दना होने के बावजूद भी प्रधान द्रव्यवन्दना होने से वे चैत्य-वन्दन के अधिकारी हैं। जबकि मार्गाभिमुख इत्यादि जीवों की वन्दना अप्रधान है, क्योंकि वे द्रव्यवन्दना करते-करते भी भाववन्दना वाले नहीं होते हैं और उनके अशुभ कर्मों की अपेक्षित हानि भी नहीं होती है। इसलिए वे जीव भाववन्दना तो दूर द्रव्यवन्दना के भी अधिकारी नहीं हैं अर्थात् चैत्यवन्दन के भी अधिकारी नहीं हैं ।। ७ ।।

*सकृद्बन्धकादि जीवों में अप्रधान द्रव्यवन्दना का समर्थन*

ण य अपुणबन्धगाओ परेण इह जोग्गयावि जुत्तत्ति ।
ण य ण परेणवि एसा जमभव्वाणंपि णिद्दिट्ठा ।। ८ ।।

न च अपुनर्बन्धकात् परेणेह योग्यताऽपि युक्तेति ।
न च न परेणापि एषा यद् अभव्यानामपि निर्दिष्टा ।। ८ ।।

अपुनर्बन्धक से भिन्न सकृद्बन्धक भाववन्दना के योग्य नहीं समझे जाते हैं अर्थात् सकृद्बन्धकादि जीवों में साक्षात् भाववन्दन की मनोभूमिका तो नहीं ही है भाववन्दना की योग्यता भी नहीं है, क्योंकि उनका संसार बहुत होता है। शास्त्रों में सकृद्बन्धकादि जीवों के लिए द्रव्यवन्दना कही गयी है। इनके अतिरिक्त अभव्यों के लिए भी द्रव्यवन्दना कही गयी है। क्योंकि अभव्य जीव भी दीक्षा लेकर अनन्त बार ग्रैवेयक में उत्पन्न हुए हैं ।। ८ ।।

**भावार्थ :** शास्त्र में एक तरफ सकृद्बन्धक इत्यादि जीव द्रव्यवन्दना के भी अधिकारी नहीं हैं — ऐसा कहा गया है, जबकि दूसरी तरफ उनको द्रव्यवन्दना होती है — ऐसा भी कहा गया है। उपलब्ध प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि उनमें प्रधान द्रव्यवन्दना की योग्यता नहीं होती, अपितु अप्रधान द्रव्यवन्दना की योग्यता होती है। यह अप्रधान द्रव्यवन्दना अभव्यों में भी होती है।

*द्रव्य-भाववन्दना के लक्षण*

लिंगा ण तिए भावो ण तयत्थालोयणं ण गुणरागो ।
णो विम्हओ ण भवभयमिय वच्चासो य दोण्हं पि ।। ९ ।।

लिङ्गानि न तस्यां भावो न तदर्थालोचनं न गुणरागः ।
न विस्मितो न भवभयमिति व्यत्यासश्च द्वयोरपि ।। ९ ।।

द्रव्यवन्दना करने वाले व्यक्ति का चैत्यवन्दन में उपयोग (मनोभाव)

नहीं होता है, वह चैत्यवन्दना के सूत्रगत अर्थों पर भी विचार नहीं करता है, न वन्दनीय अर्हन्तों के प्रति उसको बहुमान होता है, न वह यह सोचकर आनन्दित होता है कि इस अनादि संसार में अर्हन्तों की वन्दना करने का अवसर प्राप्त हुआ है और न ही उसे संसार से अथवा वन्दना-विधि के स्खलन से भय होता है। लेकिन भाववन्दना करने वाला व्यक्ति द्रव्यवन्दना और भाववन्दना — इन दोनों में ही उपर्युक्त लक्षणों से भिन्न लक्षणों वाला होता है। उसकी चैत्यवन्दना में सजगता होती है। वह वन्दना सूत्रों का मनन करता है तथा यह जानकर प्रफुल्लित होता है कि उसे इस अनादि संसार में अर्हन्तों के चरणकमलों की वन्दना करने का अवसर प्राप्त हुआ है और वह इस संसार से या वन्दना-विधि के स्खलन से भयभीत भी होता है ।। ९ ।।

*अन्य प्रकार से द्रव्य एवं भाव-वन्दना के लक्षण*

वेलाइ विहाणम्मि य तग्गयचित्ताइणा य विण्णेओ ।
तव्वुड्ढिभावऽभावेहिँ तह य दव्वेयरविसेसो ।। १० ।।

वेलया विधाने च तद्गतचित्तादिना च विज्ञेय: ।
तद्वृद्धिभावाभावै: तथा च द्रव्येतरविशेष: ।। १० ।।

काल, विधि और तद्गतचित्त आदि से तथा चैत्यवन्दनवृद्धि के भाव और अभाव से द्रव्यवन्दना और भाववन्दना में भेद है ।। १० ।।

**भावार्थ :** अर्थात् सूत्रोक्त नियत समय में चैत्यवन्दन करना, निसीहि त्रिक आदि से विधिपूर्वक चैत्यवन्दन करना, चैत्यवन्दन करते समय उसी में चित्त को लगाये रखना, चैत्यवन्दन में मनोभावों की वृद्धि के लिए सूत्रों को शुद्ध और शान्तिपूर्वक बोलना आदि भाववन्दना के लक्षण हैं। नियत समय पर चैत्यवन्दन नहीं करना, चैत्यवन्दन में चित्त नहीं लगाना, सूत्रों को जल्दी-जल्दी बोलकर पूरा कर देना आदि द्रव्यवन्दना के लक्षण हैं।

*भाववन्दना की प्रधानता*

सइ संजाओ भावो पायं भावंतरं जओ कुणइ ।
ता एयमेत्थ पवरं लिंगं सइ भाववुड्ढी तु ।। ११ ।।

सकृत् सञ्जातो भाव: प्राय: भावान्तरं यत: करोति ।
तदेतदत्र प्रवरं लिङ्गं सकृद् भाववृद्धिस्तु ।। ११ ।।

एक बार समुत्पन्न शुभभाव प्राय: नये शुभभाव को उत्पन्न करता है। इसलिए यहाँ भाव वृद्धि रूप चैत्यवन्दना के लक्षणों में सर्वदा भाव प्रधान लक्षण है ।। ११ ।।

*उपर्युक्त विषय की उदाहरण से सिद्धि*

अमए देहगए जह अपरिणयम्मिवि सुभा उ भावत्ति ।
तह मोक्खहेउअमए अण्णेहिवि हंदि णिद्दिट्ठा ।। १२ ।।

अमृते देहगते यथा अपरिणतेऽपि शुभास्तु भावा इति ।
तथा मोक्षहेतुरमृते अन्यैरपि हंदि निर्दिष्टाः ।। १२ ।।

जैसे अमृत के शरीर में रस आदि धातु के रूप में परिणमित होने के पहले ही उसके प्रभाव से शरीर में पुष्टि, कान्ति आदि सुन्दर भाव दिखते हैं। उसी प्रकार अपुनर्बन्धक आदि जीवों में मोक्ष का हेतु शुभभावरूप अमृत एक बार उत्पन्न होने पर निश्चित रूप से भक्ति की वृद्धिरूप नये-नये शुभभाव उत्पन्न करता है। यह विषय पतञ्जलि आदि ने भी अपने योगशास्त्र आदि ग्रन्थों में कहा है ।। १२ ।।

*शेष भाववन्दना के लक्षण*

मंताइविहाणम्मिवि जायइ कल्लाणिणो तहिं जत्तो ।
एत्तोऽधिगभावाओ भव्वस्स इमीएँ अहिगोत्ति ।। १३ ।।

मन्त्रादिविधानेऽपि जायते कल्याणिनः तस्मिन् यत्नः ।
इतोऽधिकभावाद् भव्यस्य अस्यामधिक इति ।। १३ ।।

जिस प्रकार मन्त्रविद्या आदि विधि-विधान में जिसका अभ्युदय अवश्य होना है वही जीव प्रयत्न करता है। उसी प्रकार चैत्य-वन्दन आदि विधि में भी जिन जीवों का अभ्युदय अवश्य होना है वैसे अपुनर्बन्धकादि भव्यजीव ही प्रयत्न करते हैं। लेकिन इन दोनों में इतना भेद होता है कि मन्त्रादि के साधक को मन्त्रादि की विधि में जितना प्रयत्न करना पड़ता है, अपुनर्बन्धक आदि जीवों को चैत्यवन्दन की विधि में उससे कहीं अधिक प्रयत्न करना पड़ता है ।। १३ ।।

*चैत्यवन्दन मन्त्रादि से उत्तम क्यों ?*

एईएँ परमसिद्धी जायइ जत्तो दढं तओ अहिगा ।
जत्तम्मिवि अहिगत्तं भव्वस्सेयाणुसारेण ।। १४ ।।

एतया परमसिद्धिर्जायते यत्नो दृढस्ततोऽधिका ।
यत्नेऽपि अधिकत्वं भव्यस्यैतदनुसारेण ।। १४ ।।

चैत्यवन्दन से परम सिद्धि होती है, क्योंकि जहाँ मन्त्रादि से केवल इस लोक में भौतिक सिद्धि उपलब्ध होती है, वहाँ चैत्यवन्दन से परमपद अर्थात् मोक्ष-पद की प्राप्ति होती है, इसलिए चैत्यवन्दन आवश्यक है। यही कारण है

कि अपुनर्बन्धक जीवों अर्थात् भव्यजीवों को चैत्यवन्दन विधि में अत्यधिक पुरुषार्थ करना चाहिए ॥ १४ ॥

*चैत्यवन्दन से इहलौकिक लाभ*

पायं इमीएँ जत्ते ण होइ इहलोगियावि हाणित्ति ।
णिरुवक्कमभावाओ भावोऽवि हु तीइ छेयकरो ॥ १५ ॥

प्रायोऽस्यां यत्ने न भवति इहलौकिकापि हानिरिति ।
निरुपक्रमभावाद् भावोऽपि खलु तस्याः छेदकरः ॥ १५ ॥

चैत्यवन्दन-विधि में सावधानी रखने से प्रायः इस लोक में भी धन-धान्य आदि की हानि नहीं होती है और यदि निरुपक्रम कर्म के उदय से इस लोक में हानि हो तो भी वह सद्भावों की नाशक नहीं होती है अर्थात् निरुपक्रम के उदय से हानि हो तो भी उस हानि में दीनता, द्वेष, चिन्ता, व्याकुलता और भय आदि का अभाव होता है, इस प्रकार कर्मों की कमी तथा आध्यात्मिक प्रसन्नता होने से परलोक की वैसी हानि नहीं होती है अर्थात् शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

*अन्य धर्मों में भी चैत्यवन्दन की महत्ता*

मोक्खद्धदुग्गगहणं एयं तं सेसगाणवि पसिद्धं ।
भावेयव्वमिणं खलु सम्मंति कयं पसंगेणं ॥ १६ ॥

मोक्षाध्वदुर्गग्रहणमेतत् तत् शेषकाणामपि प्रसिद्धम् ।
भावयितव्यमिदं खलु सम्यगिति कृतं प्रसङ्गेन ॥ १६ ॥

अन्य धर्मों में भी मोक्षमार्ग में दुर्ग की प्राप्ति के समान अर्थात् मार्ग में चोर आदि से रक्षण के लिए किला आदि का आश्रय लेने के समान जो प्रसिद्ध है वह भाव चैत्यवन्दन अर्थात् प्रभु भक्ति है, क्योंकि भाव चैत्यवन्दन ही कर्मरूपी शत्रुओं से रक्षा करने में समर्थ है इस पर अच्छी तरह विचार करना चाहिए। अन्य धर्मावलम्बियों ने कहा है, इसलिए गलत है — ऐसा मानकर उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि अन्य धर्मावलम्बी भी हर विषय में असत्य नहीं होते। इस प्रकार यहाँ भाव चैत्यवन्दन की लक्षण सम्बन्धी विचारणा सम्यग्रूपेण की गयी ॥ १६ ॥

*सूत्र बोलने की मुद्रा का निर्देश*

पंचंगो पणिवाओ थयपाढो होइ जोगमुद्दाए ।
वंदण जिणमुद्दाए पणिहाणं मुत्तसुत्तीए ॥ १७ ॥

पञ्चक: प्रणिपात: स्तवपाठो भवति योगमुद्रया ।
वन्दनं जिनमुद्रया प्रणिधानं मुक्ताशुक्त्या ।। १७ ।।

नमुत्थुणं सूत्र को प्रणिपात सूत्र कहा जाता है। नमुत्थुणं सूत्र में नमन और स्तवन—ये दो क्रियाएँ होती हैं। अर्थात् प्रणिपात प्रथमत: नमन होने के कारण इसे प्रणिपात सूत्र भी कहा जाता है। यह प्रणिपात पञ्चाङ्गी (दो घुटने, दो हाथ और मस्तक — इन पाँच अंगों को झुकाकर निर्मित) मुद्रा से बोलना चाहिए[1]। स्तवपाठ नमुत्थुणं सूत्र योगमुद्रा से बोलना चाहिए। 'अरिहंत चेइयाणं' आदि सूत्र जिनमुद्रा से अर्थात् खड़े होकर बोलना चाहिए। प्रणिधान सूत्र अर्थात् 'जयवीराय' सूत्र मुक्ताशुक्ति मुद्रा से बोलना चाहिए ।। १७ ।।

*पंचांगीमुद्रा*

दो जाणू दोण्णि करा पंचमगं होइ उत्तमंगं तु ।
सम्मं संपणिवाओ णेओ पंचंगपणिवाओ ।। १८ ।।

द्वे जानुनी द्वौ करौ पञ्चमकं भवति उत्तमाङ्गं तु ।
सम्यक्-सम्प्रणिपातो ज्ञेय: पञ्चाङ्गप्रणिपात: ।। १८ ।।

दो घुटने, दो हाथ और मस्तक — इन पाँच अङ्गों को सम्यक्तया जमीन पर लगाकर किया गया प्रणाम पञ्चाङ्गी प्रणाम (प्रणिपात) कहा जाता है ।। १८ ।।

*योगमुद्रा का स्वरूप*

अण्णोण्णंतरिअंगुलिकोसागरेहिं दोहिं हत्थेहिं ।
पिट्टोवरिकोप्परसंठिएहिं तह जोगमुद्दत्ति ।। १९ ।।

अन्योन्यान्तरिताङ्गुलिकोशाकाराभ्यां द्वाभ्यां हस्ताभ्याम् ।
पेट्टोपरिकूर्परसंस्थिताभ्यां तथा योगमुद्रेति ।। १९ ।।

दोनों हाथों की अङ्गुलियों को एक दूसरे से मिलाकर हथेली को कमल की कली के समान बनाकर दोनों हाथों की कुहनियों को पेट पर रखने से योगमुद्रा होती है। जिस मुद्रा में योग की प्रधानता हो, वह योगमुद्रा है ।। १९ ।।

*जिनमुद्रा का स्वरूप*

चत्तारि अंगुलाइं पुरओ ऊणाइँ जत्थ पच्छिमओ ।
पायाणं उस्सग्गो एसा पुण होइ जिणमुद्दा ।। २० ।।

---

१. इस गाथा में पंचंगो प्रथमा विभक्ति में है, लेकिन अर्थ तृतीया विभक्ति के अनुसार होगा। यहाँ मुद्रा का अध्याहार करके तृतीयान्त अर्थ लेना उचित है, क्योंकि मुद्रा का अधिकार है और पंचांगी एक मुद्रा है।

चत्वारि अङ्गुलानि पुरत ऊनानि यत्र पश्चिमतः ।
पादयोरुत्सर्ग एषा पुनर्भवति जिनमुद्रा ।। २० ।।

दो पैरों के बीच आगे के भाग में चार अङ्गुल और पिछले भाग में चार अङ्गुल से थोड़ा कम अन्तर रखने से जिनमुद्रा होती है। जिन अर्थात् अर्हन्त; कायोत्सर्गस्थ जिन की मुद्रा जिनमुद्रा कही जाती है ।। २० ।।

*मुक्ताशुक्ति मुद्रा का स्वरूप*

मुत्तासुत्ती मुद्दा समा जहिं दोऽवि गब्भिया हत्था ।
ते पुण ललाडदेसे लग्गा अण्णे अलग्गत्ति ।। २१ ।।

मुक्ताशुक्ति मुद्रा समौ यस्यां द्वावपि गर्भितौ हस्तौ ।
तौ पुनर्ललाटदेशे लग्नौ अन्ये अलग्नाविति ।। २१ ।।

दोनों हाथों को (अंगुलियों को) आमने-सामने रखकर बीच की हथेली को थोड़ा चौड़ा करके दोनों हाँथ ललाट पर लगाने से (दूसरों के मतानुसार ललाट से दूर रखने से) मुक्ताशुक्ति मुद्रा होती है। आमने-सामने रहने वाली मोती की सीप जैसी मुद्रा मुक्ताशुक्ति मुद्रा कहलाती है ।। २४ ।।

*सम्पूर्ण चैत्यवन्दन में उपयोग की आवश्यकता*

सव्वत्थवि पणिहाणं तग्गयकिरियाभिहाणवन्नेसु ।
अत्थे विसए य तहा दिट्ठंतो छिन्नजालाए ।। २२ ।।

सर्वत्रापि प्रणिधानं तद्गतक्रियाभिधानवर्णेषु ।
अर्थे विषये च तथा दृष्टान्तः छिन्नज्वालायाः ।। २२ ।।

चैत्यवन्दन में चैत्यवन्दन सम्बन्धी (१) क्रियाओं — मुद्रा करना, मुँह के आगे मुँहपत्ती लगाना, भूमि प्रमार्जन करना वगैरह, (२) सूत्रों के पद, (३) अकारादि वर्ण, (४) सूत्रों के अर्थ और (५) जिनप्रतिमा —इन पाँचों में उपयोग लगाना चाहिए ।। २२ ।।

उपर्युक्त बात को छिन्न ज्वाला के उदाहरण से सिद्ध करते हैं — जिस प्रकार मूल ज्वाला से नई-नई ज्वालाएँ निकलकर मूल ज्वाला से अलग दिखती हैं, फिर भी उनको मूल ज्वाला से सम्बद्ध मानना पड़ता है, क्योंकि अलग हुई ज्वाला के परमाणु रूपान्तरित होकर वहाँ अवश्य रहते हैं, किन्तु दिखलाई नहीं पड़ते हैं। एक घर में रखे गये दीप का प्रकाश दूसरे घर में दिखलाई देता है। यहाँ मूल घर के झरोखे से प्रकाश निकलकर आया होने पर भी स्पष्ट दिखलाई नहीं देता है, फिर भी प्रकाश निकला है — ऐसा मानना पड़ता है, क्योंकि निकले

बिना दूसरे घर में प्रकाश जा ही नहीं सकता है। उसी प्रकार छिन्न ज्वाला (मूल ज्वाला से अलग हुई ज्वाला) मूल ज्वाला से सम्बद्ध नहीं दिखती, किन्तु उसके परमाणु मूल ज्वाला के पास होने से मूल ज्वाला से सम्बद्ध मानने पड़ते हैं। उसी प्रकार प्रस्तुत चैत्यवन्दन में भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न उपयोग होने पर भी उपयोग का परावर्त अति तीव्र गति से होने के कारण हमें एक ही उपयोग दिखलाई देता है, किन्तु शेष उपयोगों के भाव भी वहाँ होते हैं।

*उपर्युक्त उदाहरण का समर्थन*

ण य तत्थवि तदणूणं हंदि अभावो ण ओवलंभोवि ।
चित्तस्सवि विण्णेओ एवं सेसोवओगेसु ।। २३ ।।

न च तत्रापि तदनूनं हंदि अभावो न उपलम्भोऽपि ।
चित्तस्यापि विज्ञेय एवं शेषोपयोगेषु ।। २३ ।।

एक ज्वाला के मूल ज्वाला से अलग होने के बावजूद उसके परमाणुओं का अभाव नहीं होता, क्योंकि यदि उन परमाणुओं का सर्वथा अभाव माना जाये तो ज्वाला की जो सन्तति (प्रवाह) दिखलाई देती है, वह दिखलाई नहीं पड़ेगी, क्योंकि नई ज्वालाएँ मूल ज्वाला से अलग होने के बावजूद उसके परावर्तित परमाणु वहाँ होते हैं दिखलाई नहीं देते हैं, यह बात अलग है। उसी प्रकार एकाग्रचित्त का एक समय में एक ही विषय में उपयोग होता है, किन्तु उसके अतिरिक्त अन्य विषयों के परमाणु (भाव) भी वहाँ मौजूद होते हैं। यह बात अलग है कि वे वहाँ दिखलाई नहीं देते हैं ।। २३ ।।

*मुद्रा आदि विधि में सावधानी रखने का कारण*

खाओवसमिगभावे दढजत्तकयं सुहं अणुट्ठाणं ।
परिवडियंपि हु जायइ पुणोवि तब्भाववुड्ढिकरं ।। २४ ।।

क्षायोपशमिकभावे दृढयत्नकृतं शुभमनुष्ठानम् ।
प्रतिपतितमपि खलु जायते पुनरपि तद्भाववृद्धिकरम् ।। २४ ।।

क्षायोपशमिक भाव (मिथ्यात्व और मोहनीयादि कर्मों के क्षय एवं उपशमित होने की दशा में) परम आदरपूर्वक किये गये चैत्यवन्दनादि अनुष्ठान ( आचरण ) में ( उन-उन कर्मों के उदय के कारण कभी-कभी ) शिथिलता भी आ जाती है, किन्तु क्षायोपशमिक भाव होने के कारण वह शुभाचरण उसके अध्यवसाय ( आत्मपरिणाम ) का वर्धक ही होता है। इसलिए शुभभाव रूप मोक्ष के हेतुओं की वृद्धि करने वाला होने के कारण चैत्यवन्दन करना चाहिए ।। २४ ।।

*उक्त विषय का अनुभव से समर्थन*

अणुहवसिद्धं एयं पायं तह जोगभावियमईणं ।
सम्ममवधारियव्वं बुहेहिं लोगुत्तममईए ॥ २५ ॥

अनुभवसिद्धमेतत् प्रायः तथा योगभावितमतीनाम् ।
सम्यगवधारयितव्यं बुधैः लोकोत्तममत्या ॥ २५ ॥

उपर्युक्त धर्म व्यापार में विशेष रूप से निहित बुद्धि वाले (प्रतिभा-शाली) व्यक्तियों के द्वारा सामान्य रूप से अनुभूत इस भाववर्द्धक क्रिया को श्रेष्ठ बुद्धि के धारक विद्वानों को अच्छी तरह से धारण करना चाहिए ॥ २५ ॥

*चैत्यवन्दन का लक्षण*

जिण्णासावि हु एत्थं लिंगं एयाइ हंदि सुद्धाए ।
णेव्वाणंगनिमित्तं सिद्धा एसा तयत्थीणं ॥ २६ ॥

जिज्ञासाऽपि खल्वत्र लिङ्गमेतस्या हंदि शुद्धायाः ।
निर्वाणाङ्गनिमित्तं सिद्धा एषा तदर्थिनाम् ॥ २६ ॥

शुद्धभावों से की गई इस वन्दना में जिज्ञासा (जानने की इच्छा) भी एक मुख्य लक्षण है, जो निर्वाण चाहने वालों को निर्वाण के (सम्यग्ज्ञानादि) हेतुओं के प्रति होती है, अर्थात् साधक वेला, विधान और आराधना आदि के साथ-साथ मोक्ष के लिए अपेक्षित सम्यग्ज्ञानादि के हेतुओं के प्रति भी जिज्ञासु होता है, यह बात सिद्ध है ॥ २७ ॥

*जिज्ञासा मोक्ष की प्राप्ति में निमित्त है, इसकी सिद्धि*

धिइसद्धासुहविविदिसभेया जं पायसो उ जोणित्ति ।
सण्णाणादुदयम्मी पइट्ठिया जोगसत्थेसु ॥ २७ ॥

धृतिश्रद्धासुखाविविदिषाभेदा यत् प्रायेण तु योनिरिति ।
सज्ज्ञानाद्युदये प्रतिष्ठिता योगशास्त्रेषु ॥ २७ ॥

जिज्ञासा मोक्ष की प्राप्ति में निमित्त है। क्योंकि पतञ्जलि के योगशास्त्र आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों में प्रायः धृति, श्रद्धा, सुखा, विविदिषा (जिज्ञासा) आदि को मोक्ष के कारण-भूत सम्यग्ज्ञानादि की उत्पत्ति के हेतु के रूप में माना गया है ॥ २७ ॥

*शुद्ध वन्दना की प्राप्ति का नियम*

पढमकरणोवरि तहा अणहिणिविट्ठाण संगया एसा ।
तिविहं च सिद्धमेयं पयडं समए जओ भणियं ॥ २८ ॥

प्रथमकरणोपरि तथा अनभिनिविष्टानां सङ्गता एषा।
त्रिविधं च सिद्धमेतत् प्रकटं समये यतो भणितम् ॥ २८ ॥

यह शुद्ध वन्दना यथाप्रवृत्तिकरण से ऊपर के तथा मिथ्या आग्रह से रहित जीवों में ही संभव होती है अर्थात् अपुनर्बन्धकादि जीवों का चैत्यवन्दन ही शुद्ध हो सकता है। इससे नीचे की अवस्था वाले जीवों का चैत्यवन्दन अशुद्ध होता है। आगम में इस करण के तीन भेद बतलाये गये हैं ॥ २८ ॥

*करण के तीन प्रकार*

करणं अहापवत्तं अपुव्वमणियट्टि चेव भव्वाणं।
इयरेसिं पढमं चिय भण्णइ करणत्ति परिणामो ॥ २९ ॥

करणं यथाप्रवृत्तमपूर्वमनिवृत्ति चैव भव्यानाम्।
इतरेषां प्रथमं चैव भण्यते करणमिति परिणामः ॥ २९ ॥

यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण—ये तीन करण भव्य-जीवों के ही होते हैं और अभव्यों को प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण ही होता है। करण जीव के परिणाम विशेष (अध्यवसाय) को कहते हैं ॥ २९ ॥

*कौन करण कब होगा — इसका निर्देश*

जा गंठी ता पढमं गंठिं समइच्छओ भवे बीयं।
अणियट्टीकरणं पुण सम्मत्तपुरक्खडे जीवे ॥ ३० ॥

यावद् ग्रन्थिः तावत् प्रथमं ग्रन्थिं समतिगच्छतो भवेद् द्वितीयम्।
अनिवृत्तिकरणं पुनः सम्यक्त्वपुरस्कृते जीवे ॥ ३० ॥

जब तक ग्रन्थि (तीव्र कषायादि भाव) हो तब तक पहला यथाप्रवृत्तिकरण होता है। ग्रन्थि को अतिक्रान्त करने पर दूसरा अपूर्वकरण और जब जीव सम्यक्त्व की ओर अभिमुख हो गया हो तो तब अनिवृत्तिकरण होता है। विशेष इस प्रकार है —

***यथाप्रवृत्तिकरण*** : नदी-पाषाणन्याय[1] से इच्छा के बिना ही कर्मों के क्षय होने रूप अध्यवसाय विशेष यथाप्रवृत्तिकरण है। संसारी जीवों के भी बिना इच्छा के अनादि काल से प्रतिक्षण कर्मक्षय होता है, इसीलिए इसे यथाप्रवृत्ति-

१. जिस प्रकार नदी का पत्थर 'मैं गोल बनूँ' ऐसी इच्छा के बिना (बिना प्रयत्न किये) ही नदी की धारा से टकरा-टकरा कर गोल बन जाता है, उसी प्रकार मैं कर्मक्षय करूँ — ऐसी इच्छा के बिना (प्रयत्न किये बिना) हो रहे कर्मक्षय को 'नदी-पाषाणन्याय' कहा जाता है।

करण कहा जाता है। यथा अर्थात् बिना किसी पुरुषार्थ के स्वतः हुई प्रवृत्ति यथाप्रवृत्तिकरण कहलाती है।

*ग्रन्थि* : ग्रन्थि अर्थात् वृक्ष की दुर्भेद्य और कठिन गाँठ जैसा दुर्भेद्य रागद्वेष का तीव्र परिणाम।

*ग्रन्थि-देश* : जिस प्रकार संसारी जीवों का यथाप्रवृत्तिकरण से प्रति क्षण कर्मक्षय होता है, उसी प्रकार उनके नये कर्म भी बँधते रहते हैं, इसलिए कर्म पूर्णतया नष्ट नहीं हो पाते हैं। निरन्तर कर्मक्षय एवं कर्मबन्ध के कारण कर्मों की मात्रा कभी कम होती है और कभी बढ़ जाती है। इस प्रकार कर्मों की मात्रादि कम होते-होते आयुष्य के अतिरिक्त सात कर्मों की स्थिति घटकर एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम से कुछ कम रहे, तब ग्रन्थि (रागद्वेष के तीव्र परिणामों) का उदय होने से उस अवस्था विशेष को ग्रन्थिदेश कहते हैं। सात कर्मों की उत्कृष्ट बन्ध स्थिति हो तब तो ग्रन्थि का उदय होगा ही, लेकिन घटते-घटते भी जहाँ तक कुछ कम एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति हो, वहाँ तक भी ग्रन्थि का उदय होता है। उसके बाद ग्रन्थि का उदय नहीं होता है। क्योंकि उसके बाद अपूर्वकरण से ग्रन्थि का भेद हो जाता है। इस प्रकार ग्रन्थि की अन्तिम सीमा सात कर्मों की कुछ कम एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति होने तक है। इस स्थिति को ग्रन्थिदेश (ग्रन्थि की अन्तिम सीमा) कहा जाता है। इस ग्रन्थिदेश तक यथाप्रवृत्तिकरण होता है।

यथाप्रवृत्तिकरण से जीव को उक्त अवस्था प्राप्त हो सकती है। यहाँ से आगे बढ़ने के लिए जीव को अपूर्वकरण आदि पुरुषार्थ की जरूरत पड़ती है। अभव्य जीव इतनी अवस्था प्राप्त करने पर भी पुरुषार्थ नहीं कर सकने के कारण आगे नहीं बढ़ पाते हैं। इसलिए २९वीं गाथा में कहा गया है कि अभव्यों को केवल यथाप्रवृत्तिकरण ही होता है। दूरभव्यों को भी यथाप्रवृत्तिकरण ही होता है।

*अपूर्वकरण* : रागद्वेष की गाँठ को नष्ट करने का जैसा उत्साह इससे पूर्व न हुआ हो और बाद में होवे तब अपूर्वकरण होता है। जब शक्तिशाली आसन्नभव्य जीव में ग्रन्थिदेश की स्थिति आने के बाद रागद्वेष की गाँठ को भेदने का पहले कभी नहीं प्रकट हुआ हो ऐसा तीव्र पुरुषार्थ प्रकट होता है, तब उसे ही अपूर्वकरण कहते हैं।

*अनिवृत्तिकरण* : अर्थात् सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाला विशुद्ध अध्यवसाय। अनिवृत्ति — पुनः पीछे नहीं मुड़ने वाला। जो अध्यवसाय सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना पीछे नहीं मुड़े, वह अनिवृत्तिकरण कहा जाता है। अनिवृत्ति-

करण को प्राप्त आत्मा अन्तर्मुहूर्त में ही सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। इसलिए कहा गया है कि जब जीव समयक्त्वाभिमुख हो तब अनिवृत्तिकरण होता है ।। ३० ।।

*शुद्ध वन्दना ही मोक्ष का कारण है*

इत्तो उ विभागाओ अणादिभवदव्वलिंगओ चेव ।
णिउणं णिरूवियव्वा एसा जह मोक्खहेउत्ति ।। ३१ ।।

इतस्तु विभागादनादिभवद्रव्यलिङ्गतश्चैव ।
निपुणं निरूपयितव्या एषा यथा मोक्षहेतुरिति ।। ३१ ।।

उपर्युक्त यथाप्रवृत्तिकरण आदि विभागों के आधार पर तथा अनादि संसार में भटकते जीवों के द्वारा स्वीकृत द्रव्यलिङ्ग अर्थात् बाह्यवेश के आधार पर इस वन्दना का सम्यक् प्रकार से निरूपण करना चाहिए, जिससे यह मोक्ष का साधन बने ।। ३१ ।।

**भावार्थ :** जैसा कि २८वीं गाथा में कहा गया है — यथाप्रवृत्तिकरण के ऊपर के अपुनर्बन्धकादि जीवों के द्वारा की गई वंदना ही शुद्ध वन्दना होती है अर्थात् यथाप्रवृत्तिकरण के अन्दर के जीवों की वन्दना अशुद्ध होती है। वे चैत्यवन्दन नहीं कर पाते हैं, ऐसा भी नहीं है। प्राय: प्रत्येक जीव को यथाप्रवृत्तिकरण की दशा में अनन्त बार चैत्यवन्दन का अवसर प्राप्त हुआ है। यह शास्त्रों में वर्णित है कि उसने अनन्त बार मुनि-वेश धारण किया और धर्माचारण भी किया, किन्तु यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रन्थिदेश में आये बिना चैत्यवन्दनादि धर्म-क्रियाओं की प्राप्ति नहीं होती है — ऐसा नियम है, अत: यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रन्थिदेश को प्राप्त होकर तथा द्रव्यलिङ्ग अर्थात् मुनि-वेश को धारण करके अनन्त बार चैत्यवन्दन किया, परन्तु मोक्ष नहीं मिला, क्योंकि चैत्यवन्दन अशुद्ध था। इसलिये उपदेशक को इस बात को ध्यान में रखकर उपदेश देना चाहिए कि व्यक्ति का चैत्यवन्दन उसके मोक्ष का कारण बने ।। ३१ ।।

*यथाप्रवृत्तिकरण में चैत्यवन्दन की अशुद्धि का निर्देश*

णो भावओ इमीए परोऽवि हु अवड्ढपोग्गला अहिगो ।
संसारो जीवाणं हंदि पसिद्धं जिणमयम्मि ।। ३२ ।।

न भावतोऽस्यां परोऽपि खलु अपार्धपुद्गलाद् अधिक: ।
संसारो जीवानां हंदि प्रसिद्धं जिनमते ।। ३२ ।।

भावपूर्वक चैत्यवन्दन करने पर जीवों का संसार अधिक से अधिक कुछ कम अर्धपुद्गलपरावर्त मात्र रहता है, उससे अधिक नहीं रहता, ऐसा जैनागमों में प्रसिद्ध है।

**भावार्थ :** शुद्ध चैत्यवन्दन की स्थिति प्राप्त होने के बाद जीव संसार में कुछ कम अर्धपुद्गलपरावर्त से अधिक नहीं रहता है। यद्यपि उतने समय में शुद्ध चैत्यवन्दन की स्थिति अनन्त बार प्राप्त नहीं होती है, तथापि यह भी सत्य है कि चैत्यवन्दन के अवसरों की प्राप्ति उसे अनन्त बार हुई है। अत: सिद्ध होता है कि अनन्त बार किया गया उसका वह चैत्यवन्दन अशुद्ध ही था ।। ३२ ।।

*प्रस्तुत विषय पर विचार हेतु विद्वानों से निवेदन*

इय तंतजुत्तिओ खलु णिरूवियव्वा बुहेहिं एसत्ति ।
ण हु सत्तामेत्तेणं इमीइ इह होइ णेव्वाणं ।। ३३ ।।

इति तन्त्रयुक्तित: खलु निरूपयितव्या बुधै: एषेति ।
न खलु सत्तामात्रेण अस्या इह भवति निर्वाणम् ।। ३३ ।।

इस प्रकार इस चैत्यवन्दन की प्रक्रिया को विद्वानों को आगम और युक्ति से निरूपित करना चाहिए। क्योंकि चैत्यवन्दन करने मात्र से मोक्ष नहीं होता है, अपितु शुद्ध चैत्यवन्दन करने से ही मोक्ष होता है ।। ३३ ।।

*रुपये के उदाहरण से शुद्ध-अशुद्ध चैत्यवन्दना पर विचार*

किंचेह छेयकूडगरूवगणायं भणंति समयविओ ।
तंतेसु चित्तभेयं तंपि हु परिभावणीयं तु ।। ३४ ।।

किञ्चेह छेदकूटकरूपकज्ञातं भणन्ति समयविद: ।
तन्त्रेषु चित्रभेदं तदपि खलु परिभावनीयं तु ।। ३४ ।।

सिद्धान्त के जानकार भद्रबाहु स्वामी आदि ने आवश्यकनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों में चार प्रकार के शुद्ध-अशुद्ध रुपयों का दृष्टान्त दिया है। चैत्यवन्दन के विषय में भी वह दृष्टान्त विचारणीय है ।। ३४ ।।

*रुपये के चार प्रकार*

दव्वेणं टंकेण य जुत्तो छेओ हु रूवगो होइ ।
टंकविहूणो दव्वेऽवि ण खलु एंगतछेओत्ति ।। ३५ ।।

अद्दव्वे टंकेणवि कूडो तेणवि विणा उ मुद्दत्ति ।
फलमेत्तो एवं चिय मुद्धाण पयारणं मोत्तुं ।। ३६ ।।

द्रव्येण टङ्केन च युक्त: छेक: खलु रूपको भवति ।
टङ्कविहीनो द्रव्येऽपि न खलु एकान्तछेक इति ।। ३५ ।।

अद्रव्ये टङ्केनापि कूटस्तेनापि विना तु मुद्रेति ।
फलमात्र एवमेव मुग्धानां प्रतारणं मुक्त्वा ।। ३६ ।।

स्वर्णादि द्रव्य शुद्ध और मुद्रा (छाप) प्रामाणिक हो तो रुपया असली होता है। स्वर्णादि द्रव्य तो शुद्ध हो, किन्तु मुद्रा ठीक न हो तो रुपया पूर्णत: प्रामाणिक शुद्ध नहीं होता है ।। ३५ ।।

मुद्रा तो ठीक हो, किन्तु स्वर्णादि द्रव्य अशुद्ध हो तो भी रुपया जाली कहा जाता है। मुद्रा और द्रव्य दोनों के ही अप्रामाणिक होने से रुपया नकली या खोटा होता है। रुपये के इन चार प्रकारों में से रुपये के प्रकार के अनुसार ही उसका मूल्य मिलता है। धातु एवं मुद्रा दोनों शुद्ध होने पर रुपये का पूरा मूल्य मिलता है। धातु शुद्ध होने पर रुपये के मूल्य से थोड़ा कम मूल्य मिलता है। किन्तु धातु और मुद्रा दोनों के ही अप्रामाणिक होने पर उस रुपये का बाजार में कुछ भी मूल्य नहीं होता है। उससे तो मात्र लोगों को ठगा जाता है ।। ३६ ।।

*मूर्खों को ठगने जैसा फल यहाँ विवक्षित नहीं है*

तं पुण अणत्थफलदं णेहाहिगयं जमणुवओगित्ति ।
आयगयं चिय एत्थं चिंतिज्जइ समयपरिसुद्धं ।। ३७ ।।

तत्पुनरनर्थफलदं नेहाधिकृतं यदनुपयोगीति ।
आत्मगतमेवात्र चिन्त्यते समयपरिशुद्धम् ।। ३७ ।।

जो अनुपयोगी है ऐसी दूसरों को धोखा देने की प्रवृत्ति अनर्थ फलदायी है, इसलिये उसको यहाँ प्रस्तुत नहीं किया गया है। यहाँ शुद्ध रूप से आत्मा के लिए उपयोगी आगमोक्त मोक्षादि फल की विचारणा की जाती है। द्रव्य चैत्यवन्दन के द्वारा दूसरों को ठगने से मिलने वाला फल आत्मा सम्बन्धी नहीं है, अपितु पुद्गल सम्बन्धी है ।। ३७ ।।

*चैत्यवन्दन की रुपये के पहले प्रकार के साथ तुलना*

भावेणं वण्णादिहिं चेव सुद्धेहिं वंदणा छेया ।
मोक्खफलच्चिय एसा जहोइयगुणा य णियमेणं ।। ३८ ।।

भावेन वर्णादिभिश्चैव शुद्धैर्वन्दना छेका ।
मोक्षफलैव एषा यथोचितगुणा च नियमेन ।। ३८ ।।

श्रद्धायुक्त, स्पष्ट उच्चारण एवं विधि सहित की गई वन्दना शुद्ध मुद्रा

के समान शुद्ध वन्दना है। यह वन्दना अवश्य मोक्षफलदायिनी और यथोचित गुण वाली होती है। यथोचित गुण वाली अर्थात् पूर्वोक्त गुण वाली होती है ।। ३८ ।।

*रुपये के दूसरे प्रकार के साथ तुलना*

भावेणं वण्णादिहिं तहा उ जा होइ अपरिसुद्धत्ति ।
बीयरूवगसमा खलु एसा वि सुहत्ति णिद्दिट्ठा ।। ३९ ।।

भावेन वर्णादिभिस्तथा तु या भवति अपरिशुद्धेति ।
द्वितीयरूपकसमा खलु एषाऽपि शुभेति निर्दिष्टा ।। ३९ ।।

जो वन्दना भाव से युक्त हो, परन्तु वर्णोच्चारण आदि विधि से अशुद्ध हो वह वन्दना दूसरे प्रकार के उस रुपये के समान है, जिसकी धातु शुद्ध है किन्तु छाप ठीक नहीं है। इस वन्दना को भी तीर्थङ्करों ने शुभ कहा है, क्योंकि क्रिया की अपेक्षा भाव श्रेष्ठ है और क्रिया में भावों की ही प्रधानता होती है ।। ३९ ।।

*तीसरे-चौथे प्रकार के रुपये के साथ चैत्यवन्दन की तुलना*

भावविहूणा वण्णाइएहिं सुद्धावि कूडरूवसमा ।
उभयविहूणा णेया मुद्दप्पाया अणिट्ठफला ।। ४० ।।



भावविहीना वर्णादिकैः शुद्धाऽपि कूटरूपसमा ।
उभयविहीना ज्ञेया मुद्राप्राया अनिष्टफला ।। ४० ।।

भावरहित चैत्यवन्दन वर्णोच्चारण आदि से शुद्ध होने पर भी खोटे रुपये के समान होता है अर्थात् श्रद्धा के बिना वन्दना चाहे जितने भी शुद्ध उच्चारणपूर्वक की जाये, वह वाञ्छित फलदायिनी नहीं होती है और जो वन्दना श्रद्धा और शुद्ध वर्णोच्चारण — इन दोनों से रहित हो उसे केवल चिह्नरूप जानना चाहिए। श्रद्धा और वर्णादि के शुद्ध उच्चारण — इन दोनों से रहित वन्दना अनिष्ट फलदायिनी होती है ।। ४० ।।

*तीसरे-चौथे प्रकार की वन्दना वाले जीव*

होइ य पाएणेसा किलिट्ठसत्ताण मंदबुद्धीणं ।
पाएण दुग्गइफला विसेसओ दुस्समाए उ ।। ४१ ।।

भवति च प्रायेण एषा क्लिष्टसत्त्वानां मन्दबुद्धीनाम् ।
प्रायेण दुर्गतिफला विशेषा दुष्षमायां तु ।। ४१ ।।

तीसरे और चौथे प्रकार की वन्दना प्रायः अति दुःखी और मन्द बुद्धि वाले जीवों को होती है। कभी-कभी उपयोगरहित अवस्था में संक्लेशरहित जीवों को भी होती है, इसीलिए मूल में 'प्रायः' पद रखा गया है तथा प्रायः निम्न जाति

के देवों में उत्पत्ति का हेतु होने से दुर्गति देने वाली होती है। पाँचवें आरे (दुष्षमा काल) में तो यह विशेष रूप से दुर्गति देने वाली होती है ।। ४१ ।।

*इस विषय में अन्य आचार्यों का मत*

अण्णे उ लोगिगच्चिय एसा णामेण वंदणा जइणी ।
जं तीइ फलं तं चिय इमीएँ ण उ अहिगयं किंचि ।। ४२ ।।
अन्ये तु लौकिक्येव एषा नाम्ना वन्दना जैनी ।
यत् तस्याः फलं तदेव अस्या न तु अधिकृतं किञ्चित् ।। ४२ ।।

कुछ आचार्य कहते हैं कि तीसरे और चौथे प्रकार की वन्दना लौकिकी ही है। जैनेतर स्वमान्य देव की जो वन्दना करते हैं वह केवल नाम से वन्दना कही जाती है। क्योंकि लौकिक वन्दना का निम्न देवयोनि आदि में उत्पत्ति रूप जो फल है वही फल इस वन्दना का है। लौकिक वन्दना से थोड़ा भी अधिक फल इस वन्दना से नहीं मिलता है ।। ४२ ।।

*इस मतान्तर में ग्रन्थकार की सम्मति*

एयंपि जुज्जइ च्चिय तदणारंभाउ तप्फलं व जओ ।
तप्पच्चवायभावोऽवि हंदि तत्तो ण जुत्तत्ति ।। ४३ ।।
एतदपि युज्यत एव तदनारम्भात् तत्फलमिव यतः ।
तत्प्रत्यपायभावोऽपि हंदि ततो न युक्त इति ।। ४३ ।।

दूसरे कुछ आचार्यों के मत में तीसरे एवं चौथे प्रकार की वन्दना जिन-वन्दना नहीं है, उनका यह मत भी युक्तिसंगत हो सकता है, क्योंकि उन वन्दनाओं में (अपुनर्बन्धक आदि अवस्थाओं में) जो भाव होने चाहिए वे नहीं होते हैं। इसलिए जैन दृष्टि से वन्दना की शुरुआत ही नहीं हुई। अतः उन तीसरे और चौथे प्रकार की दो वन्दनाओं से अर्थात् नाम मात्र की जिन-वन्दना से जैसे इस लोक में क्षुद्र उपद्रवों का नाश, धन-धान्यादि की वृद्धि, परलोक में विशिष्ट देवयोनि की प्राप्ति और कालान्तर में मोक्षरूप शुभ फल की प्राप्ति नहीं होती है। वैसे ही जिन-वन्दना की विराधना से मिलने वाला उन्माद-रोग, धर्मभ्रंश आदि दुष्ट फल भी नहीं मिलता है ।। ४३ ।।

*उपर्युक्त गाथा का विशेष स्पष्टीकरण*

जमुभयजणणसहावा एसा विहिणेयरेहिं ण उ अण्णा ।
ता एयस्साभावे इमीएँ एवं कहं बीयं ? ।। ४४ ।।
यदुभयजननस्वभावा एषा विधिनेतरैर्न तु अन्या ।
तदेतस्याभावेऽस्यामेवं कथं द्वितीयम् ? ।। ४४ ।।

उभयजनन स्वभाव वाली यह जिनवन्दना विधिपूर्वक करने पर मोक्षादि इष्ट फलदायिनी होती है और विधिरहित करने पर धर्मभ्रंश आदि अनिष्ट फल-दायिनी होती है — ऐसा नियम है। लौकिकी वन्दना ऐसी नहीं होती। जब इस लौकिकी वन्दना से मोक्षादि इष्ट फल नहीं मिलता तो धर्मभ्रंश आदि अनिष्ट फल कैसे मिल सकता है ? उसी प्रकार तीसरे एवं चौथे प्रकार की वन्दना से मोक्षादि इष्ट फल नहीं मिलता तो धर्मभ्रंश आदि अनिष्ट फल कैसे मिल सकता ? अर्थात् नहीं मिल सकता है ।। ४४ ।।

*प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार*

तम्हा उ तदाभासा अण्णा एसत्ति णायओ णेया ।
मोसाभासाणुगया तदत्थभावाणिओगेणं ।। ४५ ।।

तस्मात्तु तदाभासा अन्यैषेति न्यायतो ज्ञेया ।
मृषाभाषानुगता तदर्थभावानियोगेन ।। ४५ ।।

इसलिए तीसरे एवं चौथे प्रकार की वन्दना में जिन आदि शब्द होने से वह जिन-वन्दना भी लौकिकी वन्दना जैसी होती है, ऐसा न्यायपूर्वक जानना चाहिए। इस वन्दना में सम्यक् श्रद्धा आदि भाव नहीं होने के कारण वह मृषावाद से युक्त है। अथवा मोक्षादि फल नहीं मिलने के कारण यह जिन-वन्दन मृषा है ।। ४५ ।।

*पहले-दूसरे प्रकार की वन्दना को अभव्य नहीं प्राप्त कर सकते*

सुहफलजणणसभावा चिंतामणिमाइएवि णाभव्वा ।
पावंति किं पुणेयं परमं परमपयबीयंति ।। ४६ ।।

शुभफलजननस्वभावान् चिन्तामण्यादिकानपि नाभव्याः ।
प्राप्नुवन्ति किं पुनरेतां परमां परमपदबीजमिति ।। ४६ ।।

अभव्य (मोक्ष प्राप्ति के अयोग्य) जीव शुभ फल को उत्पन्न करने के स्वभाव वाले चिन्तामणि, कल्पवृक्ष आदि को भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं तो फिर मोक्ष की हेतुभूत और प्रधान प्रथम और द्वितीय प्रकार की वन्दना के अधिकारी कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते हैं ।। ४६ ।।

*पहले और दूसरे प्रकार की वन्दना भी सभी भव्य जीव प्राप्त नहीं कर सकते हैं*

भव्वावि एत्थ णेया जे आसन्ना ण जाइमेत्तेणं ।
जमणाइ सुए भणियं एयं ण उ इट्ठफलजणगं ।। ४७ ।।

भव्या अपि अत्र ज्ञेया: ये आसन्ना: न जातिमात्रेण ।
यदनादि श्रुते भणितमेतन्न तु इष्टफलजनकम् ।। ४७ ।।

इस प्रधान वन्दना की भूमिका को अभव्य-जीव प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि भव्य-जीव प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन सभी भव्य-जीव भी इस वन्दना को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। वे ही भव्य-जीव इस वन्दना को प्राप्त कर सकते हैं जो आसन्न भव्य हैं। स्वभाव (जाति) से भव्य होने पर भी जो दूरभव्य हैं वे जीव इस वन्दना को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। क्योंकि आगम में भव्यत्व को अनादिकालीन कहा गया है, अत: भव्यत्व मात्र से मोक्ष की प्राप्ति होगी ही, यह भी आवश्यक नहीं है। यदि ऐसा होता तो सभी भव्य जीवों को मोक्ष-प्राप्ति हो जाती ।। ४७ ।।

*विधि-द्वेष से रहित जीव आसन्न भव्य हैं*

विहिअपओसो जेसिं आसण्णा तेवि सुद्धिपत्तत्ति ।
खुद्दमिगाणं पुण सुद्धदेसणा सीहणायसमा ।। ४८ ।।
विधिअप्रद्वेषो येषामासन्नास्तेऽपि शुद्धिप्राप्तेति ।
क्षुद्रमृगाणां पुन: शुद्धदेशना सिंहज्ञातसमा ।। ४८ ।।

जिन जीवों को विधि अर्थात् जैन आचार के प्रति द्वेष नहीं है, वे जीव भी शुद्धि को प्राप्त होने के कारण आसन्न हैं। क्योंकि क्षुद्र कर्म वाले जीव रूपी हरिणों के लिए विधि का उपदेश सिंह की गर्जना के समान है। जिस प्रकार हरिणों को सिंह का गर्जन भयावह लगता है, उसी प्रकार कर्मों से बँधे जीवों को विधि अर्थात् आचारविषयक उपदेश भयावह लगता है, वे संसार से भयभीत हो जाते हैं ।। ४८ ।।

*विधिपालन के लिए गीतार्थ को उपदेश*

आलोचिऊण एवं तंतं पुव्वावरेण सूरीहिं ।
विहिजत्तो कायव्वो मुद्धाण हियट्ठया सम्मं ।। ४९ ।।
आलोच्य एवं तन्त्रं पूर्वापरेण सूरिभि: ।
विधियत्न: कर्तव्यो मुग्धानां हितार्थाय सम्यक् ।। ४९ ।।

आचार्यों को उपर्युक्त विधि के अनुसार परस्पर अविरोधपूर्वक मुग्धजीवों के हितार्थ वन्दन विधि का सम्यक् रूप से प्रतिपादन करना चाहिए अर्थात् अप्रमत्त होकर स्वयं विधिपूर्वक ही जिन-वन्दना करनी चाहिए और दूसरों से विधिपूर्वक ही जिन-वन्दना करानी चाहिए। क्योंकि मुग्धजीव दूसरों को देखकर प्रवृत्ति करने वाले होते हैं ।। ४९ ।।

*चैत्यवन्दन विधि योग्य जीव को ही बतलानी चाहिए*

तिव्वगिलाणादीणं भेसजदाणाइयाइं णायाइं ।
दट्ठव्वाइ इहं खलु कुग्गहविरहेण धीरेहिं ।। ५० ।।

तीव्रग्लानादीनां भैषज्यदानादीनि ज्ञातानि ।
द्रष्टव्यानि इह खलु कुग्रहविरहेण धीरैः ।। ५० ।।

धीर पुरुषों को दुराग्रह से रहित होकर चैत्य-वन्दन विधि का ज्ञान न होने पर विधिविहीन भी वन्दना करनी चाहिए, क्योंकि दुषमा काल में सभी को विधि का ज्ञान होना दुर्लभ है, विधि का ही आग्रह रखा जायेगा तो मार्ग का उच्छेद हो जायेगा — ऐसा विचार करके दुराग्रहों से मुक्त होकर बीमार व्यक्ति को दवा देने के उदाहरण के समान उपासकों की योग्यता के अनुसार उन्हें जिन-वंदन के लिये प्रेरित करना चाहिए।

जैसे किसी को दवा देनी हो तो उसकी अवस्था देखनी पड़ती है, उसकी अवस्था एवं बीमारी के अनुसार उचित समय में, उचित मात्रा में, उचित दवा दी जाये तो उस दवा से रोगी को लाभ होता है, अन्यथा हानि। उसी प्रकार सर्वकल्याणकारी वन्दना-विधि भी योग्य जीवों को उनकी योग्यतानुसार विधि-पूर्वक दी जाये और प्राप्तकर्ता भी उसकी विधिपूर्वक आराधना करे तो ही लाभ होगा, अन्यथा हानि होगी ।। ५० ।।

**।। इति चैत्यवन्दनविधिर्नाम तृतीयं पञ्चाशकम् ।।**

# ४

# पूजाविधि पञ्चाशक

तृतीय पञ्चाशक में चैत्यवन्दन ( जिन-प्रतिमा के वंदन ) की विधि बतलायी गयी है। वन्दन के साथ पूजन भी अपेक्षित है। अत: अब पूजाविधि कहने के लिए मङ्गलाचरण करते हैं —

*मङ्गलाचरण*

नमिऊण महावीरं जिणपूजाए विहिं पवक्खामि ।
संखेवओ महत्थं गुरूवएसाणुसारेण ।। १ ।।

नत्वा महावीरं जिनपूजाया विधिं प्रवक्ष्यामि ।
सङ्क्षेपतो महार्थं गुरूपदेशानुसारेण ।। १ ।।

भगवान् महावीर को प्रणाम करके मैं गुरुजनों द्वारा प्रदत्त उपदेश के अनुसार संक्षेप में महार्थ अर्थात् परम पद को प्राप्त कराने वाली जिनपूजा की विधि का विवेचन करूँगा ।। १ ।।

*पूजा में विधि की महत्ता*

विहिणा उ कीरमाणा सव्वच्चिय फलवती भवति चेट्ठा ।
इहलोइयावि किं पुण जिणपूया उभयलोगहिया ।। २ ।।

विधिना तु क्रियमाणा सर्वैव फलवती भवति चेष्टा ।
ऐहलौकिक्यपि किं पुन: जिनपूजा उभयलोकहिता ।। २ ।।

यदि खेती आदि क्रियाएँ भी विधिपूर्वक की जायें तो वे इस लोक में फलवती होती हैं तो फिर विधिपूर्वक की गई जिनपूजा उभयलोक ( इहलोक और परलोक ) में फलवती क्यों नहीं होगी ? ।। २ ।।

*पूजा में सामान्य से विधि निर्देश*

काले सुइभूएणं विसिट्ठपुप्फाइएहिं विहिणा उ ।
सारथुइथोत्तगरुई जिणपूजा होइ कायव्वा ।। ३ ।।

काले शुचिभूतेन विशिष्टपुष्पादिभि: विधिना तु ।
सारस्तुतिस्तोत्रगुर्वी जिनपूजा भवति कर्तव्या ।। ३ ।।

पवित्र होकर उचित समय पर विशिष्ट पुष्पादि से तथा उत्तम स्तुति-स्तोत्र आदि से जिनपूजा करनी चाहिए।

यह द्वारगाथा है। इसमें निर्दिष्ट (१) काल, (२) शुचि, (३) पूजा-सामग्री, (४) विधि और (५) स्तुति-स्तोत्र — इन पाँच द्वारों का क्रमशः विवेचन किया जायेगा। फिर प्रणिधान और पूजा की निर्दोषता — ये दो प्रकरण आयेंगे ।। ३ ।।

**( १ ) कालद्वार**

*धर्म-क्रिया में काल की महत्ता*

कालम्मि कीरमाणं किसिकम्मं बहुफलं जहा होइ ।
इय सव्वा चिय किरिया णियणियकालम्मि विण्णेया ।। ४ ।।

काले क्रियमाणं कृषिकर्म बहुफलं यथा भवति ।
इति सर्वैव क्रिया निजनिजकाले विज्ञेया ।। ४ ।।

जिस प्रकार उचित समय पर किया गया कृषि-कार्य बहुत फलदायी होता है, उसी प्रकार सभी धर्म-क्रियाएँ यथासमय की जायें तो बहुत लाभदायक होती हैं ।। ४ ।।

*जिनपूजा में काल*

सो पुण इह विण्णेओ संझाओ तिण्णि ताव ओहेण ।
वित्तिकिरियाऽविरुद्धो अहवा जो जस्स जावइओ ।। ५ ।।

सः पुनरिह विज्ञेयः सन्ध्याः त्रीणि तावदोघेन ।
वृत्तिक्रियाऽविरुद्धोऽथवा यो यस्य यावत्कः ।। ५ ।।

सामान्यतया प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल — इस प्रकार तीन बार जिनपूजा करनी चाहिए और यदि इन कालों में सम्भव नहीं हो तो (अपवादपूर्वक) नौकरी, व्यापार आदि आजीविका के समय के अतिरिक्त जब भी समय मिले तब पूजा करनी चाहिए ।। ५ ।।

*आजीविका के उपाय को धक्का न लगे ऐसी पूजा किसलिए ?*

पुरिसेणं बुद्धिमया सुहवुड्ढिं भावओ गणंतेणं ।
जत्तेणं होयव्वं सुहाणुबंधप्पहाणेण ।। ६ ।।

पुरुषेण बुद्धिमता सुखवृद्धिं भावतो गणयता ।
यत्नेन भवितव्यं सुखानुबन्धप्रधानेन ।। ६ ।।

परमार्थ से सुखवृद्धि की इच्छा वाले बुद्धिमान् पुरुष को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे स्व-पर कल्याण की परम्परा का विच्छेद न हो, अपितु

वृद्धि हो। यदि आजीविका के अर्जन के समय पूजा की जायेगी तो कल्याण की परम्परा का विच्छेद हो जायेगा ॥ ६ ॥

वित्तीवोच्छेयम्मि य गिहिणो सीयंति सव्वकिरियाओ ।
णिरवेक्खस्स उ जुत्तो संपुण्णो संजमो चेव ॥ ७ ॥

वृत्तिव्यवच्छेदे च गृहिण: सीदन्ति सर्वक्रिया: ।
निरपेक्षस्य तु युक्त: सम्पूर्ण: संयमश्चैव ॥ ७ ॥

आजीविका के व्यवच्छिन्न होने पर गृहस्थों की सभी क्रियाएँ अवरुद्ध हो जाती हैं। सर्वथा निरपेक्ष व्यक्ति के लिए तो सर्वविरति रूप संयम ही योग्य है, क्योंकि सर्वविरतिरूप संयम के बिना नि:स्पृह बनना सम्भव नहीं है। गृहस्थ के लिए सर्वथा नि:स्पृह बनकर रहना असम्भव है, अत: उसे आजीविका का अर्जन करना होगा, आजीविका का व्यवच्छेद हो जाने पर तो गृहस्थ की समस्त क्रियाएँ अस्त-व्यस्त हो जाती हैं ॥ ७ ॥

ताऽऽसिं अविरोहेणं आभिग्गहिओ इहं मओ कालो ।
तत्थावोच्छिण्णो जं णिच्चं तक्करणभावोत्ति ॥ ८ ॥

तस्मादासामविरोधेनाभिग्रहिक इह मत: काल: ।
तत्राव्यवच्छिन्नो यन्नित्यं तत्करणभाव इति ॥ ८ ॥

इसलिए आजीविका सम्बन्धी क्रियाओं में व्यवधान न पड़ता हो — ऐसे समय पर पूजा का अभिग्रह करना चाहिए। नित्य जिनपूजा किये बिना मैं खाना नहीं खाऊँगा, पानी नहीं पीऊँगा — इस प्रकार के अभिग्रहों में जो आजीविका का बाधक न हो, ऐसा कोई भी अभिग्रह (नियम) लेना चाहिए। गृहस्थों के लिए जिनपूजा का वही काल कहा गया है, जो आजीविका अर्जन में बाधक नहीं हो, साथ ही अभिग्रह लेने से प्रतिदिन पूजा करने का परिणाम (भाव) भंग नहीं होता है। अभंग परिणाम (भाव) अभंग पुण्यबन्ध का हेतु है ॥ ८ ॥

### ( २ ) शुद्धि विचार

तत्थ सुइणा दुहावि हु दव्वे ण्हाएण सुद्धवत्थेण ।
भावे उ अवत्थोचियविसुद्धवित्तिप्पहाणेण ॥ ९ ॥

तत्र शुचिना द्विधाऽपि खलु द्रव्ये स्नातेन शुद्धवस्त्रेण ।
भावे तु अवस्थोचितविशुद्धवृत्तिप्रधानेन ॥ ९ ॥

द्रव्य और भाव — इन दो प्रकारों से पवित्र होकर जिनपूजा करनी चाहिए। स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनना द्रव्य-पवित्रता है और अपनी स्थिति के

अनुसार नीतिपूर्वक प्राप्त किये गये धन से श्रद्धापूर्वक पूजा करना भाव-पवित्रता है ॥ ९ ॥

*जिनपूजा के लिए स्नान-क्रिया में हिंसा होने पर भी लाभ*

ण्हाणाइवि जयणाए आरंभवओ गुणाय णियमेण ।
सुहभावहेउओ खलु विण्णेयं कूवणाएणं ॥ १० ॥
स्नानाद्यपि यतनया आरम्भवतो गुणाय नियमेन ।
शुभभावहेतुतः खलु विज्ञेयं कूपज्ञातेन ॥ १० ॥

खेती, व्यापारादि से सदा पृथ्वीकायिक आदि जीवों की हिंसा रूप कार्य में स्थित गृहस्थों को जिनपूजा के लिए यत्नपूर्वक स्नान करना भी नियम से पुण्यबन्ध के लिए ही होता है, क्योंकि यह शुभभाव का हेतु है।

जिस प्रकार कुआँ खोदने में बहुत से जीवों की हिंसा होती है, किन्तु खोदने या खुदवाने वालों का आशय हिंसा करना नहीं, अपितु जल निकालना होता है, जिससे बहुत से लोकोपकारी कार्य सिद्ध होते हैं। उसी प्रकार जिनपूजा के लिए स्नान करने में थोड़ी हिंसा तो होती है, किन्तु पूजा के फलस्वरूप पुण्यबन्ध होने से लाभ ही होता है ॥ १० ॥

*स्नानादि में यतना*

भूमीपेहणजलछाणणाइ जयणा उ होउ ण्हाणाओ ।
एत्तो विसुद्धभावो अणुहवसिद्धो च्चिय बुहाणं ॥ ११ ॥
भूमिप्रेक्षण-जलच्छाणनादिः यतना तु भवति स्नानादौ ।
इतो विशुद्धभावोऽनुभवसिद्ध एव बुधानाम् ॥ ११ ॥

स्नानादि करने की भूमि का जीवरक्षा के लिए निरीक्षण करना चाहिए, जल को छान लेना चाहिए। पानी में मक्खियाँ न पड़ जायें, इसका ध्यान रखना चाहिए। यही स्नानादि में यतना है।

**प्रश्न :** यतनापूर्वक स्नान करना शुभभाव का कारण है, इसकी प्रामाणिकता क्या है ?

**उत्तर :** इसमें अनुभव प्रमाण है । यतनापूर्वक स्नान करने से शुभ अध्यवसाय होता है — यह बुद्धिशालियों को अनुभव सिद्ध है ॥ ११ ॥

*पूजा के लिए आरम्भ का त्याग करने वाले गृहस्थ को लगते दोष*

अन्नत्थारंभवओ धम्मेऽणारंभओ अणाभोगो ।
लोए पवयणखिंसा अबोहिबीयंति दोसा य ॥ १२ ॥

अन्यत्रारम्भवतो धर्मेऽनारम्भः कोऽनाभोगः ।
लोके प्रवचननिन्दा अबोधिबीजमिति दोषौ च ॥ १२ ॥

गृहकार्यों में आरम्भ आदि कार्य करने वाले गृहस्थ को जिनपूजा में आरम्भ होता है, ऐसा जानकर उसमें स्नान आदि का त्याग करना उचित नहीं है। क्योंकि इससे लोक में जिनशासन की निन्दा और अबोधि ( सम्यक्त्व की अप्राप्ति ) ये दो दोष आते हैं।

**विशेष :** स्नान किये बिना पूजा करने से शास्त्र-विधि का निषेध होता है और लोक में जिनशासन की निन्दा होती है और इस निन्दा में कारण बनने वाले को भवान्तर में जिनशासन की प्राप्ति नहीं होती है, इसलिए स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर ही पूजा करनी चाहिए ॥ १२ ॥

*भावशुद्धि नहीं रखने से लगने वाले दोष*

अविसुद्धावि हु वित्ती एवं चिय होइ अहिगदोसा उ ।
तम्हा दुहावि सुइणा जिणपूजा होइ कायव्वा ॥ १३ ॥

अविशुद्धाऽपि खलु वृतिरेवमेव भवति अधिकदोषा तु ।
तस्माद् द्विधाऽपि शुचिना जिनपूजा भवति कर्तव्या ॥ १३ ॥

इसी प्रकार न्याय-नीति से रहित अशुद्ध जीविका के अर्जन से भी अधिक दोष लगते हैं, क्योंकि द्रव्यशुद्धि के अभाव की अपेक्षा भी भावशुद्धि के अभाव में अधिक दोष लगते हैं। (इसमें अज्ञानता, निन्दा और अबोधि के अतिरिक्त राजदण्ड इत्यादि दोष अधिक लगते हैं) इसलिए द्रव्य और भाव — इन दोनों प्रकारों की शुद्धि से युक्त होकर जिनपूजा करनी चाहिए ॥ १३ ॥

**( ३ ) पूजासामग्री द्वार**

गंधवरधूवसव्वोसहीहिं उदगाइएहिं चित्तेहिं ।
सुरहिविलेवण-वरकुसुमदामबलिदीवएहिं च ॥ १४ ॥

सिद्धत्थयदहिअक्खयगोरोयणमाइएहिं जहलाभं ।
कंचणमोत्तियरयणाइदामएहिं च विविहेहिं ॥ १५ ॥

गन्धवरधूपसर्वौषधिभिरुदकादिकैः चित्रैः ।
सुरभिविलेपन-वरकुसुमदाम-बलिदीपकैश्च ॥ १४ ॥

सिद्धार्थकदधिअक्षतगोरोचनादिकैः यथालाभम् ।
कञ्चनमौक्तिकरत्नादिदामकैश्च विविधैः ॥ १५ ॥

उत्तम सुगन्धित पुष्प, धूप, सभी प्रकार की सुगन्धित औषधियों, विभिन्न प्रकार के रसों एवं जलों (यथा – इक्षुरस, घी, दूध इत्यादि) से जिनप्रतिमा को स्नान कराना, सुगन्धित चन्दन इत्यादि का विलेपन करना, उत्तम सुगन्धित पुष्पों की माला, नैवेद्य, दीपक, सरसों, दही, अक्षत (चाँवल), गोरोचन तथा दूसरी मङ्गलभूत वस्तुएँ, सोना, मोती, मणि आदि की विविध मालाएँ आदि द्रव्यों से अपनी समृद्धि के अनुसार जिनपूजा करनी चाहिए ।। १४-१५ ।।

*उत्तमद्रव्यों से पूजा करने का कारण*

पवरेहिं साहणेहिं पायं भावोऽवि जायए पवरो ।
ण य अण्णो उवओगो एएसि सयाण लट्ठयरो ।। १६ ।।

प्रवरै: साधनै: प्राय: भावोऽपि जायते प्रवर: ।
न च अन्य उपयोग एतेषां सतां लष्टतर: ।। १६ ।।

उत्तम द्रव्यों (साधनों) से पूजा करने से भाव भी प्राय: उत्तम होता है। ऐसा भी होता है कि किसी क्लिष्ट कर्म वाले व्यक्ति का भाव उत्तम द्रव्यों से भी उत्तम नहीं होता है और किसी भाग्यशाली जीव का उत्तम द्रव्यों के बिना भी उत्तम भाव हो जाता है। पुण्योदय से मिली उत्तम वस्तुओं का उपयोग जिनपूजा के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ अच्छा हो सकेगा ।। १६ ।।

*प्रस्तुत विषय का समर्थन*

इहलोयपारलोइयकज्जाणं पारलोइयं अहिगं ।
तंपि हु भावपहाणं सोऽवि य इयकज्जगम्मोत्ति ।। १७ ।।

इहलोक-पारलौकिककार्याणां पारलौकिकमधिकम् ।
तदपि खलु भावप्रधानं सोऽपि च इतिकार्यगम्य इति ।। १७ ।।

इहलौकिक और पारलौकिक कार्यों में पारलौकिक कार्य प्रधान होता है, क्योंकि इहलौकिक कार्य नहीं करने से जो अनर्थ होता है, उससे कहीं अधिक अनर्थ पारलौकिक कार्यों को नहीं करने से होता है। वह पारलौकिक कार्य भावप्रधान होता है। भावरहित पारलौकिक कार्य लाभदायी नहीं होता है। उत्तम भाव उत्पन्न करने के लिए उत्तम साधन होने चाहिए। जिनपूजा पारलौकिक कार्य है, अत: जिनपूजा में उत्तम साधनों के उपयोग का सर्वोत्तम स्थान है ।। १७ ।।

ता नियविहवणुरूवं विसिट्ठपुप्फाइएहिं जिणपूजा ।
कायव्वा बुद्धिमया तम्मी बहुमाणसारा य ।। १८ ।।

तत् निजविभवानुरूपं विशिष्टपुष्पादिकै: जिनपूजा ।
कर्तव्या बुद्धिमता तस्मिन् बहुमानसारा च ।। १८ ।।

उत्तम द्रव्यों के कारण उत्तम भाव होने से अपने वैभव के अनुसार उत्तम पुष्पादि साधनों से बुद्धिमान लोगों को जिनेन्द्रदेव की बहुमानपूर्वक पूजा करनी चाहिए ।। १८ ।।

## (४) विधिद्वार

एसो चेव इह विही विसेसओ सव्वमेव जत्तेणं ।
जह रेहति तह सम्मं कायव्वमणण्णचेट्ठेणं ।। १९ ।।

वत्थेण बंधिऊणं णासं अहवा जहासमाहीए ।
वज्जेयव्वं तु तदा देहम्मिवि कंडुयणमाई ।। २० ।।

एष एव इह विधि: विशेषत: सर्वमेव यत्नेन ।
यथा शोभते तथा सम्यक् कर्तव्यमनन्यचेष्टेन ।। १९ ।।

वस्त्रेण बध्वा नासमथवा यथासमाधि: ।
वर्जयितव्यं तु तदा देहेऽपि कण्डूयनादि: ।। २० ।।

जिनपूजा में सामान्य विधि (चौथी से अठारहवीं गाथा तक) बतला दी गयी है। विशेष विधि इस प्रकार है — (१) पूजा इतने आदर से करनी चाहिए कि चढ़ाई गई पूजा की सामग्री देखने में अच्छी लगे, जैसे पुष्पादि इस तरह चढ़ाना चाहिए कि वे सुशोभित हों। इसी तरह प्रत्येक वस्तु का अच्छी तरह उपयोग करके पूजन सामग्री का दृश्य सुन्दर बनाना चाहिए। (२) पूजा करते समय दूसरी कोई भी क्रिया नहीं करनी चाहिए ।। १९ ।।

(३) वस्त्र से नासिका बाँधकर पूजा करनी चाहिए, जिससे दुर्गन्धयुक्त श्वास आदि प्रभु को न लगे। नासिका बाँधने से यदि असुविधा होती हो तो नासिका बाँधे बिना भी पूजा की जा सकती है। (४) पूजा आदि करते समय शरीर को खुजलाना, नाक से श्लेष्म निकालना, विकथा करना आदि क्रियाओं का त्याग करना चाहिए ।। २० ।।

*पूजा में आदर की प्रधानता का कारण*

भिच्चावि सामिणो इय जत्तेण कुणंति जे उ सणिओगं ।
होंति फलभायणं ते इयरेसि किलेसमित्तं तु ।। २१ ।।

भुवणगुरूण जिणाणं तु विसेसओ एयमेव दट्ठव्वं ।
ता एवं चिय पूया एयाणं बुहेहिं कायव्वा ।। २२ ।।

भृत्या अपि स्वामिन इति यत्नेन कुर्वन्ति ये तु स्वनियोगम् ।
भवन्ति फलभाजनं त इतरेषां क्लेशमात्रं तु ।। २१ ।।

भुवनगुरूणां जिनानां तु विशेषत एवमेव द्रष्टव्यम् ।
तत् एवमेव पूजा एतेषां बुधैः कर्तव्या ।। २२ ।।

केवल पूजा में ही नहीं, अपितु लोक में भी जो सेवक अपने स्वामी राजादि का कार्य आदरपूर्वक करता है उसे भी सेवा का फल मिलता है, क्योंकि राजा उस पर खुश होता है और जो अपने स्वामी का कार्य अनादरपूर्वक करता है उसे सेवा का फल नहीं मिलता है और उल्टे स्वामी के नाराज होने के कारण शारीरिक और मानसिक कष्ट पाता है।

जब एक छोटे से देश के स्वामी राजादि की आदरपूर्वक सेवा करने पर ही फल मिलता है तो तीनों लोकों के स्वामी जिनेन्द्रदेव की तो इससे भी अधिक आदर से पूजा की जाये तो ही फल मिलेगा। इसलिए बुद्धिजीवियों को जिनेन्द्रदेव की पूजा अत्यादरपूर्वक करनी चाहिए ।। २१-२२ ।।

## ( ५ ) स्तुति-स्तोत्र द्वार

*जिनेन्द्रदेव के प्रति बहुमान होने का फल*

बहुमाणोऽवि हु एवं जायइ परमपयसाहगो णियमा ।
सारथुइथोत्तसहिया तह य चितियवंदणाओ य ।। २३ ।।

बहुमानोऽपि खलु एवं जायते परमपदसाधको नियमात् ।
सारस्तुतिस्तोत्रसहिता तथा च चैत्यवन्दनाच्च ।। २३ ।।

उपर्युक्त विधिपूर्वक जिनपूजा करने से भगवान् जिनेन्द्रदेव के प्रति बहुमान (सम्मान) भी होता है और नियमपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति भी होती है। सारभूत स्तुति तथा स्तोत्र सहित चैत्यवन्दन से भी भगवान् का सम्मान होता है ।। २३ ।।

**विशेष :** एक श्लोक को स्तुति और अनेक श्लोकों को स्तोत्र कहते हैं।

*स्तुति-स्तोत्र कैसे होने चाहिए*

सारा पुण थुइथोत्ता गंभीरपयत्थविरइया जे उ ।
सब्भूयगुणुक्कित्तणरूवा खलु ते जिणाणं तु ।। २४ ।।

साराणि पुनः स्तुति-स्तोत्राणि गम्भीरपदार्थविरचितानि यानि तु ।
सद्भूतगुणोत्कीर्तनरूपाणि खलु तानि जिनानान्तु ।। २४ ।।

भगवान् जिनेन्द्रदेव के सद्भूत गुणों का संकीर्तन करने वाली गम्भीर पद और अर्थ से युक्त सारभूत (श्रेष्ठ) स्तुतियाँ या स्तोत्र होने चाहिए ।। २४ ।।

*सुन्दर स्तुति-स्तोत्रों की महत्ता का कारण*

तेसिं अत्थाहिगमे णियमेणं होइ कुसलपरिणामो ।
सुंदरभावा तेसिं इयरम्मिवि रयणणाएण ।। २५ ।।

तेषामर्थाधिगमे नियमेन भवति कुशलपरिणामः ।
सुन्दरभावात् तेषामितरेऽपि रत्नज्ञातेन ।। २५ ।।

उन स्तुतियों और स्तोत्रों के अर्थ का ज्ञान होने पर नियमतः परिणाम शुभ होता है, क्योंकि उनका भाव शुभ होता है और जिनको अर्थ का ज्ञान नहीं होता है उनका भी रत्नज्ञानन्याय से परिणाम शुभ ही होता है ।। २५ ।।

जरसमणाई रयणा अण्णायगुणावि ते समिंति जहा ।
कम्मजराई थुइमाइयावि तह भावरयणा उ ।। २६ ।।

ज्वरशमनादीनि रत्नानि अज्ञातगुणान्यपि तान् शमयन्ति यथा ।
कर्मज्वरादीनि स्तुत्यादीन्यपि तथा भावरत्नानि ।। २६ ।।

जिस प्रकार ज्वरादि का शमन करने वाले रत्नों के गुण का ज्ञान रोगी को नहीं होने पर भी रत्न उसके ज्वर को शान्त कर देता है, क्योंकि रत्न का यह स्वभाव ही होता है कि वह रोगी को उसके रोग निवारण रूप सामर्थ्य का ज्ञान नहीं होने पर भी उसके ज्वर को शान्त कर देता है, उसी प्रकार भाव रूपी रत्नों से युक्त स्तुतिस्तोत्र भी शुभभाव वाले होने के कारण उनके अर्थ का ज्ञान नहीं होने पर भी कर्मरूपी ज्वरादि रोगों को दूर कर देते हैं ।। २६ ।।

*स्तुतिस्तोत्रपूर्वक चैत्यवन्दन करने का उपदेश*

ता एयपुव्वगं चिय पूजाए उवरि वंदणं नेयं ।
अक्खलियाइगुणजुयं जहाऽऽगमं भावसारं तु ।। २७ ।।

तद् एतत्पूर्वकमेव पूजाया उपरि वन्दनं ज्ञेयम् ।
अस्खलितादिगुणयुतं यथाऽऽगमं भावसारं तु ।। २७ ।।

सारभूत स्तुति-स्तोत्रों से शुभ परिणाम होने के कारण पूजा करने के बाद स्तुतिस्तोत्रपूर्वक ही चैत्यवन्दन करना चाहिए। चैत्यवन्दन जिनाज्ञा के अनुसार अस्खलित गुणों आदि से युक्त और भावपूर्वक ही करना चाहिए। अस्खलित गुण आदि अनुयोगद्वार ग्रन्थ से जान लेना चाहिए ।। २७ ।।

*चैत्यवन्दन की महत्ता*

कम्मविसपरममंतो एवं एयंति बेंति सव्वण्णू ।
मुद्दा एत्थुस्सग्गो अक्खोभो होइ जिणचिण्णो ।। २८ ।।

कर्मविषपरममन्त्र एवमेतदिति ब्रुवन्ति सर्वज्ञाः ।
मुद्रा अत्रोत्सर्गोऽक्षोभो भवति जिनचीर्णः ।। २८ ।।

पूजापूर्वक किया गया यह चैत्यवन्दन कर्मरूपी विष का नाश करने वाला परममन्त्र है — ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं, इसलिए यह करने योग्य है। इस चैत्यवंदन की मुद्रा जिनों द्वारा आचरित अविचलित कायोत्सर्ग ही मुद्रा है ।। २८ ।।

## ( ६ ) प्रणिधानप्रकरण

एयस्स समत्तीए कुसलं पणिहाणमो उ कायव्वं ।
तत्तो पवित्तिविग्घजयसिद्धि तह य त्थिरीकरणं ।। २९ ।।

एतस्य समाप्तौ कुशलं प्रणिधानं तु कर्तव्यम् ।
ततः प्रवृत्तिविघ्नजयसिद्धिस्तथा च स्थिरीकरणम् ।। २९ ।।

चैत्यवन्दन समाप्त होने पर प्रणिधान (जिनेन्द्रदेव के समक्ष शुभ संकल्प) करना चाहिए, क्योंकि प्रणिधान से धर्मकार्य में प्रवृत्ति, उसमें आने वाले विघ्नों पर विजय, शुरू किये गये कार्य की सिद्धि और अपनी एवं दूसरे की धर्मप्रवृत्ति को स्थिर बनाना सम्भव होता है। इसलिए धर्मकार्य में प्रवृत्ति आदि इच्छा वाले व्यक्ति को प्रणिधान अर्थात् शुभ संकल्प अवश्य करना चाहिए ।। २९ ।।

*प्रणिधान निदान रूप नहीं है*

एत्तो च्चिय ण णियाणं पणिहाणं बोहिपत्थणासरिसं ।
सुहभावहेउभावा णेयं इहराऽपवित्ती उ ।। ३० ।।
अत एव न निदानं प्रणिधानं बोधिप्रार्थनासदृशम् ।
शुभभावहेतुभावाद् ज्ञेयमितरथाऽप्रवृत्तिस्तु ।। ३० ।।

प्रणिधान (शुभ संकल्प) को निदान नहीं कह सकते हैं, क्योंकि निदान में अशुभ कर्मबन्ध की कारणभूत लौकिक आकांक्षाओं की पूर्ति की माँग की जाती है, जबकि प्रणिधान में शुभ की। अशुभ कर्म का बंध कराने वाली लौकिक वस्तुओं की माँग निदान है, न कि शुभ की। प्रणिधान बोधि की प्रार्थना के समान है। बोधि-प्रार्थना के ही समान शुभभाव का हेतु होने के कारण प्रणिधान निदान नहीं है। यदि प्रणिधान निदान रूप होता तो वह चैत्यवन्दन के अन्त में उसे करने का निर्देश नहीं दिया जाता, क्योंकि निदान शास्त्र-निषिद्ध है ।। ३० ।।

*प्रणिधान की अनिवार्यता*

एवं तु इट्ठसिद्धी ? दव्वपवित्तीउ अण्णहा णियमा ।
तम्हा अविरुद्धमिणं णेयमवत्थंतरे उचिए ।। ३१ ।।

एवं तु इष्टसिद्धिः द्रव्यप्रवृत्तिस्त्वन्यथा नियमात् ।
तस्मादविरुद्धमेतत् ज्ञेयमवस्थान्तर उचिते ।। ३१ ।।

इस प्रकार प्रणिधान (शुभसंकल्प) करने से नियमतः इष्टकार्य की सिद्धि होती है, अन्यथा संकल्प रहित मात्र द्रव्यरूप प्रवृत्ति से न तो भाव ही बनते हैं और न इष्टफल की प्राप्ति ही सम्भव होती है। अतः प्रणिधान करना आगमानुकूल है, ऐसा जानना चाहिए और इसे यथासम्भव करना चाहिए ।। ३१ ।।

**प्रश्न :** प्रणिधान नहीं करें तो क्या परेशानी है?

**उत्तर :** प्रणिधान (शुभसंकल्प) नहीं करने से क्या इष्टफल की प्राप्ति होती है? अर्थात् नहीं होती। प्रणिधान नहीं करने से धार्मिक अनुष्ठान द्रव्यरूप होते हैं, भावरूप नहीं बन पाते। प्रणिधान से धार्मिक अनुष्ठान भावरूप बन जाते हैं। अतः प्रणिधान इष्टसिद्धि का कारण होने से उचित अवसरों पर उसका करना आवश्यक है।

*प्रणिधान करने की विधि*

तं पुण संविग्गेणं उवओगजुएण तिव्वसद्धाए ।
सिरणमियकरयलंजलि इय कायव्वं पयत्तेणं ।। ३२ ।।

तत् पुनः संविग्नेन उपयोगयुतेन तीव्रश्रद्धया ।
शिरनमितकरतलाञ्जलिरिति कर्तव्यं प्रयत्नेन ।। ३२ ।।

मोक्षार्थी जीव को उपयोगपूर्वक तीव्र श्रद्धा से सिर पर हाथों की अंजलि लगाकर आदरपूर्वक निम्न प्रणिधान (शुभसंकल्प) करना चाहिए ।। ३२ ।।

*जिनेश्वर के समक्ष प्रणिधान*

जय वीयराय! जयगुरु! होउ ममं तुह पभावओ भयवं! ।
भवणिव्वेओ मग्गाणुसारिया इट्ठफलसिद्धी ।। ३३ ।।

लोयविरुद्धच्चाओ गुरुजणपूआ परत्थकरणं च ।
सुहगुरुजोगो तव्वयणसेवणा आभवमखंडा ।। ३४ ।।

जय वीतराग! जगद्गुरो! भवतु मम त्वत्प्रसादतः भगवन्! ।
भवनिर्वेदो मार्गानुसारिता इष्टफलसिद्धिः ।। ३३ ।।

लोकविरुद्धत्यागो गुरुजनपूजा परार्थकरणञ्च ।
शुभगुरुयोगः तद्वचनसेवना आभवमखण्डा ।। ३४ ।।

हे वीतराग ! हे जगद्गुरु ! आपकी जय हो। हे भगवन् ! आपके प्रभाव से मुझे भवनिर्वेद, मार्गानुसारिता, इष्टफलसिद्धि, लोकविरुद्ध प्रवृत्तियों का त्याग, गुरुजनपूजा, परार्थकरण, शुभगुरुयोग और संसारसागर पर्यन्त अर्थात् मोक्ष नहीं मिले तब तक अखण्ड गुरु-आज्ञा का पालन — ये आठ भाव प्राप्त हों ।। ३३-३४ ।।

( १ ) ***भवनिर्वेद*** : संसार के प्रति विरक्ति धर्मसाधना की नींव है। बिना भव- निर्वेद के धर्म बिना नींव के मकान के समान होता है। जिन्हें संसार से उद्वेग नहीं है वे मोक्ष के लिए प्रयत्न कैसे कर सकते हैं, क्योंकि संसार और मोक्ष दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं।

( २ ) ***मार्गानुसारिता*** : कदाग्रह से रहित तात्त्विक मार्ग का अनुसरण करना मार्गानुसारिता है। अपनी ही मान्यता को सत्य मानने वाले दूसरों की सच्ची बात को समझने का प्रयत्न नहीं करते और उनको कोई समझाये तो भी वे मानने को तैयार नहीं होते हैं। इस प्रकार कदाग्रह से सत्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। अत: सत्य को प्राप्त करने के लिए कदाग्रह से मुक्त होकर सत्य का अनुसरण करने की प्रवृत्ति मार्गानुसारिता है।

( ३ ) ***इष्टफलसिद्धि*** : धर्म में प्रवृत्ति हो — ऐसी लौकिक आवश्यकताओं की उपलब्धि। जीवन के लिए उन आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति होनी चाहिए, जिससे उल्लासपूर्वक धर्म में प्रवृत्ति हो सके। इसलिए आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति की माँग करनी चाहिए।

( ४ ) ***लोकविरुद्धत्याग*** : इसका उल्लेख दूसरे पंचाशक की ८, ९ एवं १०वीं गाथा में आ गया है — अत: वहाँ देखें।

( ५ ) ***गुरुजनपूजा*** : माता, पिता, विद्यागुरु, ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध और धर्मोपदेशक — ये सब शिष्ट पुरुष गुरु के रूप में मान्य हैं। धर्म प्राप्त करने के लिए इन गुरुओं का आदर करना आवश्यक है।

( ६ ) ***परार्थकरण*** : परोपकार के कार्य करना। धर्म प्राप्त करने की योग्यता पाने के लिए भी स्वार्थ से परे होकर लोकोपकारी कार्य करने चाहिए।

( ७ ) ***शुभगुरुयोग*** : रत्नत्रय रूप गुणों से सम्पन्न उत्तम गुरु का संयोग भी आवश्यक है।

( ८ ) ***शुभगुरुवचन सेवा*** : चारित्रवान् आचार्य की आज्ञा का पालन। मोक्ष नहीं मिले तब तक गुरु के प्रत्येक उपदेश का पालन अनिवार्य है।

**विशेष** : प्रणिधान का अर्थ निश्चय या संकल्प होता है। यहाँ इसका तात्पर्य है —प्रार्थनागर्भित संकल्प, क्योंकि इसमें प्रभु के समक्ष एकाग्रचित्त होकर भवनिर्वेद आदि की माँग की जाती है।

*प्रणिधान की कक्षा*

उचियं च इमं णेयं तस्साभावम्मि तप्फलस्सण्णे ।
अप्पमत्तसंजयाणं आराऽणभिसंगओ ण परे ।। ३५ ।।

उचितं च इदं ज्ञेयं तस्याभावे तत्फलस्यान्ये ।
अप्रमत्तसंयतानामारादनभिष्वङ्गतो न परस्मिन् ।। ३५ ।।

प्रार्थनागर्भित प्रणिधान तभी तक योग्य है जब तक भवनिर्वेदादि न मिलें। भवनिर्वेदादि गुणों के मिल जाने के बाद माँग करने को कुछ नहीं रह जाता है।

कुछ आचार्यों का कहना है कि भवनिर्वेदादि की अप्रमत्तावस्था आदि उच्च कक्षा की उपलब्धि तक या मोक्षरूप फल न मिले तब तक माँग करनी चाहिए। यह मत भी उचित है। अर्थात् दोनों का भाव एक ही है, क्योंकि भवनिर्वेदादि गुण जब उच्चकोटि के बनते हैं तब ही अप्रमत्तदशा या मोक्ष मिलता है। यहाँ भवनिर्वेदादि गुण जब तक न मिलें तब तक प्रार्थना करना योग्य है। अथवा भवनिर्वेदादि भाव उच्चकोटि के बनते हैं तो अप्रमत्तदशा या मोक्ष मिले बिना रहता नहीं है, इसलिए भवनिर्वेदादि गुण न मिलें तब तक प्रार्थना करना योग्य है। इन दोनों का भाव समान है। अप्रमत्त गुणस्थान से पहले अर्थात् छठें गुणस्थान तक यह प्रार्थना करना उचित है। उसके बाद नहीं, क्योंकि इस प्रार्थना में भी राग होता है। अप्रमत्तदशा में राग नहीं होता है। इसमें साधक मोक्ष और संसार दोनों से निःस्पृह रहता है, इसलिए वह प्रार्थना नहीं करता है ।। ३५ ।।

*प्रणिधान निदान नहीं है - इसका प्रमाण*

मोक्खंगपत्थणा इय ण णियाणं तदुचियस्स विण्णेयं ।
सुत्ताणुमइत्तो जह बोहीए पत्थणा माणं ।। ३६ ।।

मोक्षाङ्गप्रार्थना इति न निदानं तदुचितस्य विज्ञेयम् ।
सूत्रानुमतितो यथा बोधेः प्रार्थना मानम् ।। ३६ ।।

मोक्ष के हेतुओं की प्रार्थना रूप जो कि प्रणिधान या संकल्प के योग्य पुरुषों (अप्रमत्त संयतों) के होते हैं, उनको निदान नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह आगम सम्मत है। जिस प्रकार बोधिलाभ (जिनधर्मप्राप्ति) के लिए गणधरकृत 'लोगस्स' सूत्र में की गयी प्रार्थना उचित मानी गयी है, वैसे ही यहाँ भी समझना

चाहिए। यदि मोक्ष के हेतुओं की प्रार्थना आगम-सम्मत नहीं होती तो बोधिलाभ की माँग नहीं की जाती। अत: यह सिद्ध है कि यह प्रार्थना आगम-सम्मत है ।। ३६ ।।

*ऋद्धि की इच्छा से तीर्थङ्करत्व की आशंसा भी निदान है*

एवं च दसाईसुं तित्थयरंमिवि णियाणपडिसेहो ।
जुत्तो भवपडिबद्धं साभिस्संगं तयं जेण ।। ३७ ।।

एवं च दशादिषु तीर्थङ्करेऽपि निदानप्रतिषेध: ।
युक्तो भवप्रतिबद्धं साभिष्वङ्गं तकं येन ।। ३७ ।।

**प्रश्न :** मोक्ष के हेतुओं की प्रार्थना निदान नहीं है — यह बात सिद्ध हो गयी। तीर्थङ्करपना भी मोक्ष का कारण है, लेकिन तीर्थङ्कर बनने वाला जीव अनेक जीवों पर उपकार करने के साथ-साथ स्वकल्याण भी करता है, इसलिए तीर्थङ्कर बनने की प्रार्थना भी निदान ही कहलायेगी। अन्यथा फिर दशाश्रुतस्कन्ध आदि ग्रन्थों में उसका निषेध क्यों किया गया है ?

**उत्तर :** दशाश्रुतस्कन्ध आदि ग्रन्थों में तीर्थङ्करत्व को प्राप्त करने की प्रार्थना का निषेध किया जाना युक्त है, क्योंकि वैसी प्रार्थना अप्रशस्त रागादि से युक्त होने के कारण संसार का कारण है।

**भावार्थ :** तीर्थङ्करों की समृद्धि देखकर या सुनकर उस समृद्धि को पाने की इच्छा से तीर्थङ्कर बनने की प्रार्थना करना रागयुक्त है। उसमें उपकार करने की नहीं, अपितु समृद्धि प्राप्त करने की भावना होती है। ऐसी भावना से तीर्थङ्करत्व नहीं मिलता और उल्टे पापकर्म का बन्ध होता है। इसलिए तीर्थङ्कर की समृद्धि की इच्छा से तीर्थङ्करत्व की प्रार्थना निदान रूप है, अत: दशाश्रुतस्कन्ध आदि में इसका निषेध उचित ही है ।। ३७ ।।

*परोपकार की भावना से तीर्थङ्करत्व की अभिलाषा निदान नहीं*

जं पुण णिरभिस्संगं धम्मा एसो अणेगसत्तहिओ ।
णिरुवमसुहसंजणओ अपुव्वचिंतामणीकप्पो ।। ३८ ।।

ता एयाणुट्ठाणं हियमणुवहयँ पहाणभावस्स ।
तम्मि पवित्तिसरूवं अत्थापत्तीऍ तमदुट्ठं ।। ३९ ।।

यत्पुनर्निरभिष्वङ्गं - धर्मादेषोऽनेकसत्त्वहित: ।
निरुपमसुखसञ्जनकोऽपूर्व - चिन्तामणिकल्प: ।। ३८ ।।
तदेतदनुष्ठानं हितमनुपहतं प्रधानभावस्य ।
तस्मिन् प्रवृत्तिस्वरूपं अर्थापत्त्या तददुष्टम् ।। ३९ ।।

भौतिक ऋद्धि की थोड़ी भी इच्छा के बिना परोपकार की भावना से तीर्थङ्कर बनने की अभिलाषा दोषयुक्त नहीं है, क्योंकि तीर्थङ्कर बनने की इच्छा वाला जीव तीर्थङ्कर नाम कर्म बाँधने से अनेक जीवों का हितकारी बनता है। यह परमानन्द का जनक और अपूर्व चिन्तामणि के समान है ।। ३८ ।।

उपर्युक्त गुणों से युक्त होने से उसके धर्मदेशना आदि कार्य हितकारी और आदरणीय हैं। केवल परोपकार बुद्धि से तीर्थङ्कर बनने की भावना रूप उत्तम भाववाले जीव की तीर्थङ्कर बनने की अभिलाषा अर्थापत्ति से धर्मदेशनादि अनुष्ठान में प्रवृत्ति रूप है, इसलिए वह अभिलाषा दोषरहित है ।। ३९ ।।

*प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार*

कयमित्थ पसंगेणं पूजा एवं जिणाण कायव्वा।
लद्धूण माणुसत्तं परिसुद्धा सुत्तनीतीए।। ४० ।।

कृतमत्र प्रसङ्गेन पूजा एवं जिनानां कर्तव्या।
लब्ध्वा मानुषत्वं परिशुद्धा सूत्रनीत्या।। ४० ।।

इस पूजाविधान में प्रसङ्गवश प्रणिधान का विवेचन किया गया है। मनुष्यत्व को प्राप्त करके आगम-सम्मत विधि आदि से परिशुद्ध भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा करनी चाहिए ।। ४० ।।

**( ७ ) पूजा निर्दोषता प्रकरण**

पूजाएँ कायवहो पडिकुट्ठो सो य णेव पुज्जाणं।
उवगारिणित्ति तो सा परिसुद्धा कह णु होइत्ति ।। ४१ ।।
भण्णइ जिणपूयाए कायवहो जतिवि होइ उ कहिंचि ।
तहवि तई परिसुद्धा गिहीण कूवाहरणजोगा ।। ४२ ।।

पूजायां कायवधः प्रतिक्रुष्टः स च नैव पूज्यानाम् ।
उपकारिणीति तस्मात् सा परिशुद्धा कथं नु भवतीति ।। ४१ ।।
भण्यते जिनपूजायां कायवधो यद्यपि भवति तु कथञ्चित् ।
तथापि तका परिशुद्धा गृहीणां कूपोदाहरणयोगात् ।। ४२ ।।

पूजा में पृथिव्यादि जीवनिकायों की हिंसा तो होती ही है, अतः उसे परिशुद्ध कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि जीव-हिंसा का जिनेन्द्रदेव ने निषेध किया है। दूसरी बात, इस पूजा से यदि जिनेन्द्रदेव का कोई लाभ होता हो तो जीव-हिंसा होने के बाद भी निर्दोष माना जा सकता है, किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं है। अर्थात् भगवान् जिनेन्द्रदेव वीतराग होते हैं, उन्हें पूजा से आनन्द नहीं होता है, अतः जिनपूजा निर्दोष कैसे कही जा सकती है ?।। ४१ ।।

यद्यपि जिनपूजा में किसी न किसी रूप में कथञ्चित् हिंसा तो होती ही है, फिर भी गृहस्थों के लिए कुएँ खुदवाने के उदाहरण के आधार पर इसकी निर्दोषता सिद्ध होती है (लेकिन साधुओं के लिए वह द्रव्यपूजा निर्दोष नहीं होती है, क्योंकि साधु द्रव्यपूजा के लिये स्नानादि करे तो उसकी प्रतिज्ञा भंग होती है)।

**विशेष :** जिस प्रकार कुँआ खोदते समय अनेक जीवों की हिंसा होती है, किन्तु बाद में कुँए के जल से अनेक लोकोपकारी कार्य होते हैं, इसलिए कुँआ खोदने की प्रवृत्ति लाभकारी होती है। उसी प्रकार जिनपूजा में हिंसा होने पर भी पूजा से होने वाले शुभ-भावों से अन्ततः लाभ ही होता है ।। ४२ ।।

*गृहस्थों के जिनपूजा की निर्दोषता का कारण*

असदारंभपवत्ता जं च गिही तेण तेसि विन्नेया ।
तन्निव्वित्तिफलच्चिय एसा परिभावणीयमिणं ।। ४३ ।।
असदारम्भप्रवृत्ताः यच्च गृहिणः तेन तेषां विज्ञेया ।
तन्निवृत्तिफलैव एषा परिभावनीयमिदम् ।। ४३ ।।

यहाँ यह विचार करना चाहिए कि गृहस्थों के लिए जिनपूजा निर्दोष है, क्योंकि गृहस्थ कृषि आदि असदारम्भ (अशुभकार्य) में प्रवृत्ति करते हैं, जबकि जिनपूजा से वे उस असदारम्भ से निवृत्त होते हैं। अतः जिनपूजा निवृत्तिरूप फल वाली है।

**विशेष :** यह निवृत्ति कालान्तर और वर्तमान की दृष्टि से दो प्रकार से होती है —

(१) जिनपूजा से उत्पन्न भावविशुद्धि से कालान्तर में चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम होने से चारित्र की प्राप्ति होती है। जिससे असदारम्भ से सर्वथा निवृत्ति हो जाती है।

(२) जिनपूजा जितने समय तक होती है उतने समय तक असद् आरम्भ नहीं होता है और शुभभाव उत्पन्न होते हैं। इसलिए जिनपूजा में दूषण लगाने वालों को यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि जिनपूजा से असदारम्भ की निवृत्ति होती है ।। ४३ ।।

*पूजा से पूज्य को लाभ न हो तो भी पूजक को तो लाभ होता है*

उवगाराभावम्मिवि पुज्जाणं पूजगस्स उवगारो ।
मंतादिसरणजलणाइसेवणे जह तहेहंपि ।। ४४ ।।
उपकाराभावेऽपि पूज्यानां पूजकस्य उपकारः ।
मन्त्रादिस्मरणज्वलनादिसेवने यथा तथेहापि ।। ४४ ।।

जिस प्रकार मन्त्रविद्यादि की साधना से मन्त्रादि को लाभ नहीं होने पर भी साधक को लाभ होता है। अग्नि आदि के सेवन से अग्नि आदि को लाभ नहीं होने पर भी सेवन करने वाले को लाभ होता है, उसी प्रकार जिनपूजा से जिनेन्द्रदेव को लाभ नहीं होने पर भी उनकी पूजा करने वाले (पूजक) को लाभ अवश्य होता है ।। ४४ ।।

*जीवहिंसा के भय से पूजा नहीं करने वाले को उलाहना*

देहादिणिमित्तंपि हु जे कायवहम्मि तह पयट्टंति ।
जिणपूयाकायवहंमि तेसिमपवत्तणं मोहो ।। ४५ ।।

देहादिनिमित्तमपि खलु ये कायवधे तथा प्रवर्तन्ते ।
जिनपूजाकायवधे तेषामप्रवर्तनं मोहः ।। ४५ ।।

जो गृहस्थ शरीर, घर, पुत्र, कलत्रादि के लिए खेती आदि द्वारा जीव-हिंसा में प्रवृत्त होते हैं, उनकी जिनपूजा में जीवहिंसा के भय से अप्रवृत्ति मूर्खता (मोह) ही है, अन्यथा जिससे अनेक लाभ होते हैं — ऐसी जिनपूजा में प्रवृत्ति क्यों नहीं करे? ।। ४५ ।।

**विशेष :** जिनपूजा से निम्नाङ्कित लाभ हैं — १. भावविशुद्धि, २. सम्यग् दर्शनादि गुणों की प्राप्ति, ३. फलतः चारित्र की प्राप्ति से सम्पूर्ण जीव-हिंसा का अभाव, ४. अन्य जीवों को धर्म-प्राप्ति, ५. परिणामतः स्व-पर मुक्ति।

*मोक्षाभिलाषी को जिनपूजा अवश्य करनी चाहिए*

सुत्तभणिएण विहिणा गिहिणा णिव्वाणमिच्छमाणेण ।
तम्हा जिणाण पूजा कायव्वा अप्पमत्तेणं ।। ४६ ।।

सूत्रभणितेन विधिना गृहिणा निर्वाणमिच्छता ।
तस्माद् जिनानां पूजा कर्तव्या अप्रमत्तेन ।। ४६ ।।

अतः निर्वाण के इच्छुक गृहस्थ को प्रमादरहित भाव से आगमसम्मत विधि द्वारा भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा अवश्य करनी चाहिए ।। ४६ ।।

*पूजा का महत्त्व*

एक्कंपि उगदबिंदू जह पक्खित्तं महासमुद्दम्मि ।
जायइ अक्खयमेवं पूया जिणगुणसमुद्देसु ।। ४७ ।।

एकमपि उदकबिन्दुर्यथा प्रक्षिप्तं महासमुद्रे ।
जायते अक्षयमेवं पूजा जिनगुणसमुद्रेषु ।। ४७ ।।

जिस प्रकार महासमुद्र में फेंकी गयी जल की एक बूँद का भी नाश नहीं होता है, उसी प्रकार जिनों के गुणरूपी समुद्रों में पूजा अक्षय ही होती है ॥ ४७ ॥

*पूजा से होने वाले महान् लाभ*

उत्तमगुणबहुमाणो पयमुत्तमसत्तमज्झयारम्मि ।
उत्तमधम्मपसिद्धी पूयाएँ जिणवरिंदाणं ॥ ४८ ॥

उत्तमगुणबहुमान: पदमुत्तमसत्त्वमध्यकारे ।
उत्तमधर्मप्रसिद्धि: पूजया जिनवरेन्द्राणाम् ॥ ४८ ॥

देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करने से उनके प्रति सम्मान होता है। जिन, गणधर, इन्द्र, चक्रवर्ती आदि उत्तम पद मिलता है और उत्कृष्ट धर्म की प्रसिद्धि होती है। पूजा करने से प्रकृष्ट पुण्यकर्म का बन्ध और अशुभकर्मों का क्षय होता है। परिणामस्वरूप वीतराग अवस्था की प्राप्ति होती है ॥ ४८ ॥

*पूजा करने की भावना से भी महान् लाभ*

सुव्वइ दुग्गइणारी जगगुरुणो सिंदुवारकुसुमेहिं ।
पूजापणिहाणेणं उववण्णा तियसलोगम्मि ॥ ४९ ॥

श्रूयते दुर्गतिनारी जगद्गुरो: सिंदुवारकुसुमै: ।
पूजाप्रणिधानेन उपपन्ना त्रिदशलोके ॥ ४९ ॥

जिनेन्द्र प्रवचन में सुना जाता है कि एक दरिद्र नारी जगद्गुरु (भगवान् जिनेन्द्रदेव) की सेमल के पुष्पों से मैं पूजा करूँ — ऐसे संकल्पमात्र से स्वर्ग में उत्पन्न हुई ॥ ४९ ॥

*उपसंहार*

सम्मं णाऊण इमं सुयाणुसारेण धीरपुरिसेहिं ।
एवं चिय कायव्वं अविरहियं सिद्धिकामेहिं ॥ ५० ॥

सम्यग् ज्ञात्वा इदं श्रुतानुसारेण धीरपुरुषै: ।
एवमेव कर्तव्यमविरहितं सिद्धिकामै: ॥ ५० ॥

उपर्युक्त पूजाविधान को भलीभाँति जानकर आगमानुसार मुक्तिकामी धीरपुरुषों को निरन्तर जिनपूजा करनी चाहिए ॥ ५० ॥

**॥ इति पूजाविधिर्नाम चतुर्थं पञ्चाशकम् ॥**

# ५
# प्रत्याख्यानविधि पञ्चाशक

श्रावक को जिनपूजा के पश्चात् प्रत्याख्यान करना चाहिए। इसलिए जिनपूजा के पश्चात् प्रत्याख्यान की विधि कहने हेतु मङ्गलाचरण करते हैं।

*मङ्गलाचरण*

नमिऊण वद्धमाणं समासओ सुत्तजुत्तिओ वोच्छं ।
पच्चक्खाणस्स विहिं मंदमइविबोहणट्ठाए ।। १ ।।

नत्वा वर्धमानं समासतः सूत्रयुक्तितः वक्ष्ये ।
प्रत्याख्यानस्य विधिं मन्दमतिविबोधनार्थाय ।। १ ।।

वर्धमान स्वामी को नमस्कार करके मन्दबुद्धि वालों के बोध के लिए संक्षेप में आगम और युक्ति के आधार पर प्रत्याख्यान की विधि कहूँगा ।। १ ।।

*प्रत्याख्यान के अर्थ और भेद*

पच्चक्खाणं नियमो चरित्तधम्मो य होंति एगट्ठा ।
मूलुत्तरगुणविसयं चित्तमिणं वण्णियं समए ।। २ ।।

प्रत्याख्यानं नियमश्चारित्रधर्मश्च भवन्ति एकार्थाः ।
मूलोत्तरगुणविषयं चित्रमिदं वर्णितं समये ।। २ ।।

प्रत्याख्यान, नियम और चारित्रधर्म एक ही अर्थ वाले हैं। आत्महित की दृष्टि से प्रतिकूल प्रवृत्ति के त्याग की मर्यादापूर्वक प्रतिज्ञा करना प्रत्याख्यान कहलाता है। यह प्रत्याख्यान मूलगुण और उत्तरगुण के दो भेद से दो प्रकार का होता है। साधु के पाँच महाव्रत और श्रावक के पाँच अणुव्रत मूलगुण प्रत्याख्यान हैं। साधु के पिण्डविशुद्धि आदि गुण तथा श्रावक के दिग्विरति इत्यादि व्रत उत्तरगुण हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे भी अनेक भेद होते हैं। इसलिए मूलगुण और उत्तरगुण प्रत्याख्यान शास्त्र में अनेकशः वर्णित हैं। मूलगुणों का पोषण करने में जो सहायक होते हैं, वे उत्तरगुण कहलाते हैं ।। २ ।।

*यहाँ किस प्रत्याख्यान का वर्णन होगा, इसका निर्देश करते हैं*

इह पुण अद्धारूवं णवकारादि पतिदिणोवओगित्ति ।
आहारगोयरं जइगिहीण भणिमो इमं चेव ।। ३ ।।

इह पुनरद्धारूपं नवकारादि प्रतिदिनोपयोगीति ।
आहारगोचरं यतिगृहिणां भणाम इदं चैव ॥ ३ ॥

नवकार आदि दस प्रकार के कालिक प्रत्याख्यान आहार सम्बन्धी होने से साधु-श्रावकों को प्रायः प्रतिदिन उपयोग में आते हैं, इसलिए इस प्रकरण में उन्हीं का विवेचन कर रहे हैं। ये प्रत्याख्यान दस हैं — १. नवकार, २. पौरुषीय, ३. पुरिमड्ढ, ४. एकाशन, ५. एकठाण, ६. आयंबिल, ७. अभत्त (उपवास), ८. चरिम, ९ अभिग्रह, १०. विगय। ये दस प्रत्याख्यान काल की मर्यादा पूर्वक किये जाने के कारण कालिक प्रत्याख्यान कहे जाते हैं ॥ ३ ॥

*द्वारों का निर्देश*

गहणे आगारेसुं सामइए चेव विहिसमाउत्तं ।
भेए भोगे सयपालणाएँ अणुबंधभावे य ॥ ४ ॥

ग्रहणे आकारेषु सामायिक एव विधिसमायुक्तम् ।
भेदे भोगे स्वयं पालनायामनुबन्धभावे च ॥ ४ ॥

विधिपूर्वक ग्रहण, आगार (आपवादिक स्थितियाँ), सामायिक, भेद, भोग, नियम-पालन और अनुबन्ध — इन सात द्वारों के आधार पर कालिक प्रत्याख्यान का विधिपूर्वक वर्णन किया जायेगा ॥ ४ ॥

**१. ग्रहणद्वार**

*कौन किसके पास किस प्रकार प्रत्याख्यान ले, इसका निर्देश*

गिण्हति सयंगहीयं काले विणएण सम्ममुवउत्तो ।
अणुभासंतो पइवत्थु जाणगो जाणगसगासे ॥ ५ ॥

गृह्णाति स्वयंगृहीतं काले विनयेन सम्यगुपयुक्तो ।
अनुभाषमाणः प्रतिवस्तु ज्ञायको ज्ञायकसकाशे ॥ ५ ॥

प्रत्याख्यान के स्वरूप का जानकार जीव स्वयं के निश्चय के आधार पर प्रत्याख्यान के स्वरूप के जानकार गुरु के पास से उचित समय पर विनय एवं उपयोगपूर्वक गुरु प्रत्याख्यान का जो पाठ बोले उसे (मन में) स्वयं बोलते हुए सम्यग् रूप से प्रत्याख्यान ग्रहण करे।

**विशेष :** प्रत्याख्यान दर्शन, ज्ञान, विनय, अनुभाषण, पालना और भाव — इन शुद्धियों से युक्त हो तो शुद्ध कहा जाता है ॥ ५ ॥

एत्थं पुण चउभंगो विण्णेओ जाणगेयरगओ उ ।
सुद्धासुद्धा पढमंतिमा उ सेसेसु उ विभासा ॥ ६ ॥

अत्र पुनश्चतुर्भङ्गो विज्ञेयो ज्ञायकेतरगतस्तु।
शुद्धाशुद्धा प्रथमान्तिमा तु शेषेषु तु विभाषा ।। ६ ।।

यहाँ प्रत्याख्यान के स्वरूप के जानकार और जानकार से भिन्न व्यक्ति के भेद से प्रत्याख्यान के चार भेद होते हैं — १. ज्ञायक के समीप ज्ञायक प्रत्याख्यान ले, २. ज्ञायक के समीप अज्ञायक प्रत्याख्यान ले, ३. अज्ञायक के समीप ज्ञायक प्रत्याख्यान ले और ४. अज्ञायक के समीप अज्ञायक प्रत्याख्यान ले। इन चार भेदों में प्रथम विशुद्ध और अन्तिम बिल्कुल अशुद्ध प्रत्याख्यान है। द्वितीय और तृतीय शुद्धाशुद्ध हैं अर्थात् कुछ दृष्टियों से शुद्ध हैं और कुछ दृष्टियों से अशुद्ध हैं ।। ६ ।।

*दूसरे और तीसरे प्रकार क्यों शुद्ध हैं और क्यों अशुद्ध हैं इसका स्पष्टीकरण*

बिइए जाणावेउं ओहेणं तइय जेट्ठगाइंमि।
कारणओ उ ण दोसो इहरा होइत्ति गहणविही ।। ७ ।।

द्वितीये ज्ञापयित्वा ओघेन तृतीये ज्येष्ठकादौ।
कारणतस्तु न दोष इतरथा भवतीति ग्रहणविधिः ।। ७ ।।

जानकार गुरु अज्ञानी को प्रत्याख्यान कराते समय वह प्रत्याख्यान कब आयेगा, उसमें कल्प्य और अकल्प्य वस्तुएँ कौन-कौन हैं — इत्यादि को ठीक तरह से समझाकर प्रत्याख्यान देवे तो वह प्रत्याख्यान शुद्ध है।

तीसरे भंग (अज्ञायक के समीप ज्ञायक के प्रत्याख्यान लेने) में गुरु या संसारी बड़े भाई आदि जो प्रत्याख्यान के स्वरूप से अनभिज्ञ हों उनके पास जानकार साधु विनय-पालन आदि पुष्ट कारणों से प्रत्याख्यान ले तो शुद्ध है। पुष्ट कारण के बिना ले तो अशुद्ध है ।। ७ ।।

## २. आगारद्वार

दो चेव णमोक्कारे आगारा छच्च पोरसीए उ।
सत्तेव य पुरिमड्ढे एक्कासणगम्मि अट्ठेव ।। ८ ।।

सत्तेगट्ठाणस्स उ अट्ठेवायंबिलस्स आगारा।
पंच अभत्तट्ठस्स उ छ प्पाणे चरिम चत्तारि ।। ९ ।।

पंच चउरो अभिग्गहि णिव्विइए अट्ठ णव य आगारा।
अप्पाउरणे पंच उ हवंति सेसेसु चत्तारि ।। १० ।।

णवणीओगाहिमए अद्दवदहिपिसियघयगुले चेव।
णव आगारा तेसिं सेसदवाणं च अट्ठेव ।। ११ ।।

द्वौ चैव नमस्कारे आगारौ षट् च पौरुष्यां तु।
सप्तैव च पूर्वार्धे एकाशनके अष्टैव ।। ८ ।।

सप्तैकस्थानस्य तु अष्टैवाचामाम्लस्य आगाराः।
पञ्च अभक्तार्थस्य तु षट् पाने चरिमे चत्वारि ।। ९ ।।

पञ्च चत्वारः अभिग्रहे निर्विकृतिके अष्ट नव च आगाराः।
अप्रावरणे पञ्च तु भवन्ति शेषेषु चत्वारि ।। १० ।।

नवनीतावगहिमके आद्रवदधिपिशितघृतगुले चैव।
नव आगाराः तेषां शेषद्रवाणां च अष्टैव ।। ११ ।।

उपर्युक्त गाथाओं का विस्तृत भावार्थ निम्नवत् है —

१. *नवकार* — नवकार अर्थात् सूर्योदय से दो घड़ी (४८ मिनट) पश्चात् नवकार गिने जाने तक आहार का त्याग करना। यहाँ सूर्योदय के बाद दो घड़ी पूर्ण होना और नवकार मंत्र गिनना दोनों का ग्रहण करना चाहिए। इसलिए दो घड़ी के पहले नवकार गिन लें तो प्रत्याख्यान पूरा न होगा तथा दो घड़ी के बाद भी जब तक नवकार न गिना जाये, तब तक भी प्रत्याख्यान पूरा नहीं होगा। दो घड़ी के बाद नवकार गिनने से प्रत्याख्यान पूरा होगा।

नवकार प्रत्याख्यान में अन्नत्थणाभोगेणं और सहसागारेणं—ये दो आगार (छूट) हैं।

अन्नत्थणाभोगेणं शब्द में अन्नत्थ और अनाभोग — ये दो शब्द हैं। अन्नत्थ का अर्थ है अन्यथा नहीं होना और अनाभोग का अर्थ है विस्मरण अर्थात् विस्मरण से प्रत्याख्यान का अन्यथा नहीं होना। अन्नत्थ शब्द का जिस प्रत्याख्यान में जितने आगार होते हैं उन सभी के साथ सम्बन्ध होता है। इसका अनाभोग आदि अपवादों के साथ प्रत्याख्यान करता हूँ — ऐसा अर्थ होगा। प्रत्याख्यान या उसके समय का विस्मरण हो जाने के कारण त्यक्त वस्तुओं को खा लेने से प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है।

सहसागारेणं (सहसाकार) अर्थात् अज्ञानवश त्याग की गयी वस्तु को अचानक मुँह में डाल लेने से नियम भंग नहीं होता है।

२. *पोरिसी* (पौरुषी) / *सड्ढपोरिसी* (सार्धपौरुषी) : पौरुषी याने पुरुष के शरीर के बराबर छाया जिस काल में हो वह काल पौरुषी कहलाता है। सूर्योदय के बाद दिन का एक चौथाई भाग बीत जाने पर पुरुष की छाया उसके शरीर की लम्बाई के बराबर होती है। इसलिए दिन का चौथा भाग पौरुषी कहलाता है — इसे प्रहर भी कहते हैं, अर्थात् सूर्योदय से एक प्रहर तक आहार-

त्याग पौरुषी तथा डेढ़ प्रहर तक आहार का त्याग सड्ढपोरिसी (सार्धपौरुषी) कहलाता है।

इस पौरुषी और सार्धपौरुषी के प्रत्याख्यान में नवकारशी के दो और पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं — ये चार अर्थात् कुल छह आगार (अपवाद) हैं ।

*पच्छन्नकालेणं* (प्रच्छन्नकालेन) : अर्थात् अदृश्य काल। जब बादल आदि से सूर्य ढँक जाये तो परछाईं नहीं पड़ती है, ऐसे में छाया के आधार पर प्रहर का ज्ञान नहीं हो सकने के कारण अन्य किसी अनुमान आदि से प्रत्याख्यान का समय जानकर आहार किया जाये तो समय न हुआ हो तो भी प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है।

*दिसामोहेणं* ( दिशामोहेन ) : भ्रम से पूर्व दिशा को पश्चिम दिशा समझकर प्रत्याख्यान के समय से पहले भोजन हो जाये तो प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है।

*साहुवयणेणं* (साधुवचनेन) : सूर्योदय के पश्चात् तीन चौथाई प्रहर हो तो साधुओं को पात्रों का प्रतिलेखन करने के लिए पौरुषी पढ़ाने की विधि करनी होती है। उस समय कोई साधु पौरुषी हो गयी — ऐसा कहे, उससे दूसरा साधु प्रत्याख्यान की पौरुषी हो गयी — ऐसा समझ ले। पौरुषी हो गयी कहने वाले साधु का आशय पात्रों के प्रतिलेखन की पौरुषी का होता है, किन्तु कोई साधु उसे प्रत्याख्यान की पौरुषी समझकर समय से पहले आहार-पानी करे तो प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है।

**विशेष :** प्रच्छन्नकाल आदि तीन कारणों से भ्रमवश भोजन पहले हो जाये और बाद में भोजन करते-करते पता चल जाये कि अभी समय नहीं हुआ है तो तुरन्त भोजन बन्द कर देना चाहिए और समय पूरा होने पर बाकी भोजन करना चाहिए। समय नहीं हुआ जानकर भी भोजन करते रहने पर प्रत्याख्यान भंग होता है।

*सव्वसमाहिवत्तियागारेणं* (सर्वसमाधिप्रत्ययागारेण) : इसमें सर्व, समाधि, प्रत्यय और आगार — ये चार शब्द हैं। सर्व अर्थात् सम्पूर्ण, समाधि = स्वस्थता (आर्त-रौद्र ध्यान का त्याग), प्रत्यय = कारण, आगार = छूट। अर्थात् सम्पूर्ण समाधि के लिए छूट। पौरुषी अथवा सार्धपौरुषी का प्रत्याख्यान करने के बाद शरीर में असह्य पीड़ा हो जाये और अधैर्यता के कारण आर्त-रौद्र ध्यानरूप असमाधि होने लगे तो समाधि को बनाये रखने के लिए प्रत्याख्यान के समय के पहले ही यदि औषधि, भोजन आदि लेना पड़े तो नियम भंग नहीं होता है।

३. *पुरिमड्ढ-अवड्ढ* (पूर्वार्ध / अपार्ध) अर्थात् दिन का प्रथमार्ध भाग पुरिमड्ढ कहलाता है। सूर्योदय से दोपहर तक आहार-त्याग पुरिमड्ढ प्रत्याख्यान कहलाता है। अवड्ढ में अप और अर्ध दो शब्द हैं। अप अर्थात् पीछे का। अपराह्न के आधे का आधा भाग अपार्ध कहलाता है। अर्थात् सूर्योदय से तीन प्रहर तक आहार का त्याग अवड्ढ कहलाता है। पुरिमड्ढ और अवड्ढ में पोरिसी के छः आगार और महत्तरागार — ये सात आगार या अपवाद हैं।

*महत्तरागार* : महत्तर अर्थात् प्रत्याख्यान से जितनी कर्म निर्जरा होती है उससे अधिक कर्म-निर्जरा का कारण उपस्थित होने पर या कोई महत्त्वपूर्ण कार्य आ जाने पर समय से पहले भोजन करना पड़े तो छूट है। जैसे कोई साधु बीमार पड़ गया हो या जिनमन्दिर या संघ पर कोई आपत्ति आ पड़ी हो और उसका निवारण उसी व्यक्ति को करना पड़े जिसने पुरिमड्ढ आदि का प्रत्याख्यान किया हो तो ऐसे कार्य को करने के लिए प्रत्याख्यान को समय से पहले पूरा करना आवश्यक होने से पहले पूरा करे तो नियम भंग नहीं होता है।

४. *एकासण-बियासण* (एकाशन-द्व्यशन) : एकाशन अर्थात् एक बार भोजन करना और दूसरा अर्थ है एक आसन अर्थात् एक ही स्थान पर बैठकर एक बार भोजन करना एकासन कहलाता है। उसी प्रकार एक ही आसन पर बैठकर दो बार भोजन करना बियासण कहलाता है।

एकासण और बियासण में नवकार के दो आगार और पुरिमड्ढ के अन्तिम दो आगार तथा सागारिआगारेणं, आउंटणपसारेणं, गुरुअब्भुट्ठाणेणं, पारिट्ठा-वणियागारेणं — ये चार, इस प्रकार कुल आठ आगार हैं। इनमें से प्रथम चार का वर्णन हो गया है। शेष चार इस प्रकार हैं —

(क) सागारिआगारेणं (सागारिकागारेण) अर्थात् गृहस्थ सम्बन्धी छूट। साधु को गृहस्थ के समक्ष भोजन नहीं करना चाहिए, किन्तु भोजन करते समय कोई गृहस्थ अचानक आ जाये तो साधु को भोजन बन्द कर देना चाहिए और ऐसा लगे कि गृहस्थ देर तक रुकेगा तो दूसरी जगह जाकर भोजन कर लेना चाहिए, इससे एकासन प्रत्याख्यान का भंग नहीं होता है।

गृहस्थों के लिए यह आगार इस प्रकार है — भोजन शुरु करने के बाद ऐसा व्यक्ति आ जाये जिसकी नजर लगने से खाना नहीं पचता हो तो एकासणा वाला गृहस्थ दूसरे स्थान पर जाकर भोजन करे तो नियम भंग नहीं होता है।

(ख) आउंटणपसारेणं (आकुंचनप्रसारेण) : यदि कोई व्यक्ति पूरा भोजन करने तक स्थिर न बैठ सके और पैर आदि अंगों को संकुचित करे या

फैलाये तो उसका नियम भंग नहीं होता है।

(ग) गुरुअब्भुट्ठाणेणं (गुरुअभ्युत्थानेन) : सम्मान्य आचार्य या कोई नये साधु पधारें और उस समय विनय के लिए उठना पड़े तो एकासणा का भंग नहीं होता है, क्योंकि विनय अवश्य करनी चाहिए।

(घ) पारिट्ठावणियागारेणं (पारिष्ठापनिकागारेण) : कभी-कभी भिक्षा में आहार अधिक आ जाने के कारण अवशिष्ट भाग का परित्याग करना पड़ता है। अवशिष्ट भाग का परित्याग नहीं करना पड़े — इसके लिए एकासणा करके उठ जाने के बाद भी कोई साधु उस अवशिष्ट अंश का भोजन करे तो नियम भंग नहीं होता है, क्योंकि परित्याग करने में साधु को बहुत दोष लगता है और आगमानुसार अपवाद से भोजन करे तो लाभ होता है।

५. *एकठाण* (एक स्थान) : एक ही स्थान पर बैठकर भोजन करना एकठाण कहलाता है। इसमें उपर्युक्त आठ आगारों में से आउंटणपसारेणं को छोड़कर सात आगार हैं। इसमें आउंटणपसारण नहीं होने से पैर को फैलाना आदि नहीं हो सकता है, अर्थात् इसमें पद्मासन लगाकर ही बैठना होता है तथा शरीर के एक हाथ और मुँह के अतिरिक्त कोई अंग नहीं हिलना चाहिए। एकासण और एकठाण में दो तरह का भेद होता है —

(क) एकासण में बैठक के अतिरिक्त शरीर के सभी अंग हिला सकते हैं, जबकि एकठाण में केवल एक हाथ और मुँह ही हिला सकते हैं।

(ख) एकासण तिविहार भी हो सकता है, जबकि एकठाण चौविहार ही होता है।

६. *आयंबिल* (आचाम्ल) : आच का अर्थ होता है मांड़ और अम्ल का अर्थ होता है खट्टा रस। जिसमें भात-उड़द आदि के साथ साधन के रूप में मांड़ और खट्टा रस — ये दो पदार्थ या कोई एक उपयोग में लाया जाता है, वह आयंबिल प्रत्याख्यान कहलाता है।

आयंबिल में नवकार के दो, पुरिमड्ढ के दो तथा लेवालेवेणं, गिहत्थसंसट्ठेणं, उक्खित्तविवेगेणं और परिट्ठावणियागारेणं — ये चार इस प्रकार कुल आठ आगार हैं। इनमें से नवकार के दो, पुरिमड्ढ के दो तथा परिट्ठावणियागारेणं — इन पाँच का विवेचन हो गया है, शेष तीन का अर्थ इस प्रकार है —

(क) लेवालेवेणं (लेपालेपेन) — आयंबिल में भोजन का पात्र अकल्प्य विगय (घृतादि) वस्तु से लिप्त हो और उस पात्र को हाथ आदि से पोंछा जाये फिर भी उस पात्र में घृतादि की चिकनाहट रह जाये और उसमें आहार किया

जाये तो भी आयंबिल भंग नहीं होता है।

(ख) गिहत्थसंसट्ठेणं (गृहस्थ संसृष्टेन) : आहार देने वाला गृहस्थ यदि विगय (विकृति) आदि अकल्प्य वस्तु से लिप्त करछुल आदि पात्र से परोसे तो वह अकल्प्य वस्तु से मिश्रित आहार खाने के बाद भी नियम भंग नहीं होता है।

(ग) उक्खित्तविवेगेणं (उत्क्षिप्तविवेकेन) : रोटी, भात आदि सूखी वस्तु पर आयंबिल में अकल्प्य पिण्डविगय (लड्डू) आदि वस्तु पड़ी हो तो उसे अलग करके उठा लेने के बाद सूखी रोटी, भात आदि खाया जाये तो कोई नियम भंग नहीं होता है, किन्तु यदि नरम गुड़ आदि ढीली वस्तु पड़ी हो तो वह कल्प्य नहीं है, क्योंकि उसके ढीली होने के कारण वह वस्तु जिस पर रखी गयी हो उस पर चिपक जाती है। इसलिए उस पर से उठा लेने के बाद भी उसका अंश शेष रह जाता है, अत: वह आयम्बिल में खाने योग्य नहीं है।

७. *अभक्तार्थ* : जिसमें भोजन का प्रयोजन ही नहीं है ऐसा प्रत्याख्यान अभक्तार्थ अर्थात् उपवास है। इस उपवास-प्रत्याख्यान में सूर्योदय से अभक्तार्थ प्रत्याख्यान करता हूँ ऐसा नियम होने से एक बार थोड़ा भी भोजन करने के बाद शेष दिन का उपवास करना मान्य नहीं है अर्थात् सम्पूर्ण उपवास ही मान्य है।

इसमें नवकार के दो, पुरिमड्ढ के अन्तिम दो और परिट्ठावणियागारेणं — ये पाँच आगार हैं। ये पाँच पहले ही कहे जा चुके हैं, किन्तु परिट्ठावणियागारेणं आगार में इतना विशेष है —

तिविहार उपवास किया हो तो पानी पीने की छूट के साथ अवशिष्ट भोजन भी खाया जा सकता है। यदि चौविहार उपवास किया हो और पानी और भोजन दोनों अवशिष्ट हों और उन्हें प्रतिस्थापित करने अर्थात् फेंकने के अतिरिक्त कोई विकल्प न हो तो उन दोनों का उपभोग किया जा सकता है, क्योंकि जिसको फेंकना पड़ता है उसे ही उपयोग में लाने (खाने) की छूट है।

८. *पानी के आगार* : मुनियों को सदा अचित्त पानी पीना होता है। गृहस्थों को भी एकासण आदि में अचित्त पानी पीना होता है। इसलिए यहाँ अचित्त पानी का आगार कहा जा रहा है। अचित्त पानी के लेवेण, अलेवेण, अच्छेण, बहुलेण, ससित्थेण और असित्थेण — ये छ: आगार हैं।

(क) लेवेण (लेप-युक्त) : चावल, तिल, खजूर आदि का धोया हुआ पानी।

(ख) अलेवेण (लेप-रहित) : जिस पानी में खाद्य वस्तुओं के कण आदि न हो वह अलेप पानी कहलाता है, यथा — राख, चूने आदि का पानी।

(ग) अच्छेण (स्वच्छ) : तीन बार उबालने पर अचित्त बना हुआ पानी अच्छ कहलाता है।

(घ) बहुलेण : बहुल अर्थात धोवन। चावल, तिल आदि को धोने से जो पानी निकला हो वह बहुल है।

(ङ) ससित्थेण (ससिक्थेन) : ससिक्त अर्थात् अनाज के दाने वाला, माँड़ में या चावल के धोवन वगैरह में अनाज का कोई दाना रह गया हो तो ससिक्थ है।

(च) असित्थेण (असिक्थेन) अर्थात् अनाज के दाने के बिना। जिसमें अनाज का दाना न हो, ऐसा माँड़ अथवा चावल का धोवन इत्यादि असिक्थ है।

ससिक्थ और असिक्थ का भावार्थ यह है कि लेवेण इत्यादि आगारों में जो पानी की छूट है, उसमें अनाज का कण न हो तो ज्यादा अच्छा है, किन्तु यदि कोई कण आ जाये तो छूट है।

९. *चरिम* : अर्थात् अन्तिम, यहाँ चरिम शब्द से दिन और वर्तमान भव दोनों का अन्तिम भाग विवक्षित है। इसलिए चरिम के दिवसचरिम और भवचरिम — ये दो भेद हैं। दिवस के अन्तिम भाग (सूर्यास्त) तक अथवा दूसरे दिन के सूर्योदय के पहले तक किया गया प्रत्याख्यान दिवसचरिम प्रत्याख्यान है तथा जीवन के अन्तिम समय तक (जीवनपर्यन्त) किया गया प्रत्याख्यान भवचरिम प्रत्याख्यान कहा जाता है। दिवसचरिम प्रत्याख्यान में सूर्यास्त तक या दूसरे दिन के सूर्योदय तक दो, तीन या चार प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है और भवचरिम प्रत्याख्यान में जीवनपर्यन्त तीन या चार प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है।

दिवसचरिम और भवचरिम में अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं और सव्वसमाहिवत्तियागारेणं — ये चार आगार हैं, जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

१०. *अभिग्गह* (अभिग्रह) : विशिष्ट नियम या प्रतिज्ञा लेना अभिग्रह है, इसमें चार आगार होते हैं, जो चरिम प्रकरण में कहे जा चुके हैं और पाँचवाँ चोलपट्टागारेणं होता है। जिस साधु ने उपाश्रय में बिल्कुल निर्वस्त्र रहने का नियम लिया हो उसको अचानक किसी गृहस्थ के आने पर चोलपट्ट पहनने की छूट है।

११. *विगय* (विकृति) : घी आदि विगय (विकृति) का त्याग विगय प्रत्याख्यान कहलाता है। घी, तेल आदि विकार करने वाले होने के कारण विगय (विकृति) कहलाते हैं। विगय के दस भेद हैं, जो इस प्रकार हैं— १. दही, २.

घी, ३. दूध, ४. तेल, ५. गुड़, ६. तली हुई वस्तुएँ, ७. मक्खन, ८. मधु, ९. मांस और १०. मदिरा। इनमें से अन्तिम चार विगय को महाविगय कहते हैं और वे अभक्ष्य भी हैं।

विगय के द्रव और पिण्ड – ये दो भेद हैं। उसमें मक्खन, तली हुई वस्तुएँ, मांस, दही, घी, गुड़ – इन छह पिण्डविगय के त्याग में आयंबिल के आठ और पडुच्चमक्खिएणं – ये नौ आगार हैं। दूध इत्यादि चार द्रवविगय के त्याग में उक्खित्तविवेगेणं को छोड़ कर पिण्डविगय के शेष आठ आगार हैं। विगयप्रत्याख्यान के नौ आगारों में पडुच्चमक्खिएणं को छोड़कर आठ आगारों का वर्णन हो चुका है।

पडुच्चमक्खिएणं (प्रतीत्यम्रक्षितेन) — प्रतीत्यम्रक्षित आगार का अर्थ है अपेक्षाकृत चुपड़ा हुआ। बिल्कुल रुक्ष की अपेक्षा जो थोड़ा (नहीं के बराबर) चुपड़ा हो वह प्रतीत्यम्रक्षित है। आटे में तेल या घी डालकर बनायी गयी रोटी आदि को यदि विगय-प्रत्याख्यान वाला खाये तो नियम भंग नहीं होता है। यदि ज्यादा डालकर या लगाकर खाया जाये तो नियम भंग होता है ॥ ८-११ ॥

*आगारों का प्रयोजन*

वयभंगो गुरुदोसो थेवस्सवि पालणा गुणकरी उ ।
गुरुलाघवं च णेयं धम्मम्मि अओ उ आगारा ॥ १२ ॥

व्रतभङ्गो गुरुदोषः स्तोकस्यापि पालना गुणकरी तु ।
गुरुलाघवं च ज्ञेयं धर्मे अतस्तु आगाराः ॥ १२ ॥

नियम भंग से अशुभ कर्मबन्ध इत्यादि महान् दोष लगते हैं, क्योंकि उसमें भगवदाज्ञा की विराधना होती है। जबकि छोटे भी नियम के पालन से कर्म निर्जरा रूप महान् लाभ होता है, क्योंकि उसमें शुभ अध्यवसाय होता है। धर्म में लाभ और अलाभ का विचार करके जिस प्रकार भी अधिक लाभ हो उस प्रकार करना चाहिए। इसीलिए प्रत्याख्यान में आगार रखे गये हैं ॥ १२ ॥

### ३. सामायिक द्वार

*प्रत्याख्यान साधुओं को भी लाभकारी है*

सामइएवि हु सावज्जचागरूवे उ गुणकरं एयं ।
अपमायवुड्ढिजणगत्तणेण आणाउ विण्णेयं ॥ १३ ॥

सामायिकेऽपि खलु सावद्यत्यागरूपे तु गुणकरमेतत् ।
अप्रमादवृद्धिजनकत्वेन आज्ञातो विज्ञेयम् ॥ १३ ॥

**प्रश्न :** पाप से बचने के लिए प्रत्याख्यान है और साधुओं ने सभी पाप-व्यापारों के त्यागरूप सामायिक को स्वीकार किया है तो उन साधुओं को प्रत्याख्यान से क्या लाभ है ?

**उत्तर :** सभी पापव्यापारों के त्यागरूप सामायिक में भी यह प्रत्याख्यान-ग्रहण भगवान् की आज्ञा होने से तथा अप्रमाद की वृद्धि का कारण होने से लाभकारी ही है। धर्म भगवान् की आज्ञा का पालन करने में है ।। १३ ।।

*प्रत्याख्यान से अप्रमाद की वृद्धि में अनुभव-प्रमाण*

एत्तो य अप्पमाओ जायइ एत्थमिह अणुहवो पायं ।
विरतीसरणपहाणे सुद्धपवित्तीसमिद्धफलो ।। १४ ।।

इतश्च अप्रमादो जायते अत्रेह अनुभवः प्रायः ।
विरतिस्मरणप्रधानः शुद्धप्रवृत्तिसमृद्धिफलः ।। १४ ।।

प्रत्याख्यान से सामायिक में अप्रमाद की वृद्धि होती है, इसमें अनुभव प्रमाण है अर्थात् प्रत्याख्यान करने वालों को प्रायः अप्रमाद की वृद्धि का अनुभव होता है। इससे आन्तर और बाह्य – ये दो लाभ होते हैं। अप्रमाद विरति का स्मरण कराता है – यह आन्तर लाभ है और अप्रमाद से सम्पूर्णतया शुद्ध प्रवृत्ति होती है – यह बाह्य लाभ है। यद्यपि सामायिक में रहते हुए साधु अशुद्ध प्रवृत्ति का त्याग कर देता है, फिर भी प्रमाद, रोग, सत्त्व-गुण का अभाव आदि कारणों से अथवा दूषित आहार के सेवन आदि से साधु-जीवन में दोष आ जाना सम्भव है। प्रत्याख्यान से इन सबका नाश हो जाता है और सत्त्व-गुण की अभिवृद्धि होती है ।। १४ ।।

*तिविहार आदि प्रत्याख्यान से समभाव भंग नहीं होता*

ण य सामाइयमेयं बाहइ भेयगहणेवि सव्वत्थ ।
समभाव-पवित्तिणिवित्तिभावओ ठाणगमणं व ।। १५ ।।

न च सामायिकमेतद् बाधते भेदग्रहणेऽपि सर्वत्र ।
समभावप्रवृतिनिवृत्तिभावतः स्थानगमनमिव ।। १५ ।।

**प्रश्न :** प्रत्याख्यान करने वाला चारों आहार का त्याग कर दे तब तो ठीक, अन्यथा तिविहार आदि अमुक प्रकार के आहार का त्याग करे तो उसमें सामायिक का भंग होगा। क्योंकि जिसका त्याग नहीं किया है उसके प्रति उसका रागभाव है और जिसका त्याग किया है उसके प्रति उसका द्वेषभाव है। इसी राग और द्वेषभाव के कारण उसकी सामायिक अर्थात् समभाव का भंग होता है।

**उत्तर :** प्रत्याख्यान तिविहार आदि भेद से लिया जाये तो भी वह सामायिक का बाधक नहीं होता है, क्योंकि तिविहार आदि प्रत्याखान करने वाला त्याग नहीं किये गये आहार में प्रवृत्ति और त्याग किये गये आहार में निवृत्ति समभावपूर्वक करता है। जिस प्रकार साधु को एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाने में छोड़े हुए स्थान के प्रति द्वेष नहीं होता है और स्वीकार किये गये स्थान के प्रति राग नहीं होता है, अपितु दोनों स्थानों के प्रति समभाव होता है। उसी प्रकार त्यक्त और अत्यक्त भोजन के प्रति उसमें समभाव ही होता है ॥ १५ ॥

*सामायिक में आगार क्यों नहीं – इसका समाधान*

सामइए आगारा महल्लतरगेवि णेह पण्णत्ता ।
भणिया अप्पतरेऽवि हु णवकाराइम्मि तुच्छमिणं ॥ १६ ॥

समभावे च्चिय तं जं जायइ सव्वत्थ आवकहियं च ।
ता तत्थ ण आगारा पण्णत्ता किमिह तुच्छंति? ॥ १७ ॥

सामयिके आगारा महत्तरकेऽपि नेह प्रज्ञप्ताः ।
भणिता अल्पतरेऽपि खलु नवकारादौ तुच्छमिदम् ॥ १६ ॥
समभावे चैव तद् यज्जायते सर्वत्र यावत्कथितं च ।
तत् तत्र न आगाराः प्रज्ञप्ताः किमिह तुच्छमिति ॥ १७ ॥

**पूर्वपक्ष** — सर्वसावद्ययोग के त्यागरूप सामायिक का प्रत्याख्यान जीवनपर्यन्त (मन, वचन, कायपूर्वक) त्रिविध होने से तप के प्रत्याख्यान से बड़ा होने पर भी उसमें आगारों (अपवादों) का विधान नहीं किया गया है और नवकार आदि का प्रत्याख्यान छोटा होने पर भी उसमें आगारों (अपवादों) का विधान है, यह युक्तियुक्त नहीं है ॥ १६ ॥

**उत्तरपक्ष** — आगारों की आवश्यकता वहाँ होती है जहाँ भंग का प्रसंग हो। सर्वसावद्ययोग के त्यागरूप सामायिक में (मित्र-शत्रु आदि) सभी पदार्थों पर जीवनपर्यन्त समभाव होने के कारण प्रत्येक प्रवृत्ति समभावपूर्वक ही होती है। बीमारी आदि के समय अपवाद का सेवन करना पड़े तो वह भी समभाव पूर्वक ही होता है। इसलिए सामायिक भंग होने का प्रश्न ही नहीं उठता है और इसीलिए वहाँ आगारों (अपवादों) की जरूरत भी नहीं होती है। अत: इसमें असंगति कहाँ है ? ॥ १७ ॥

*सामायिक में निराशंस भाव की सिद्धि*

तं खलु णिरभिस्संगं समयाए सव्वभावविसयं तु ।
कालावहिम्मिवि परं भंगभया णावहित्तेण ॥ १८ ॥

तत् खलु निरभिष्वङ्गं समतया सर्वभावविषयं तु ।
कालावधावपि परं भङ्गभयात् नावधित्वेन ।। १८ ।।

यह सामायिक अपेक्षा रहित है, क्योंकि सभी भावों का विषय समता है अर्थात् सामायिक में सभी पदार्थों पर समभाव होता है, अतः उसमें अपेक्षा नहीं होती है ।। १८ ।।

**प्रश्न :** सर्वसावद्ययोग का त्याग सर्वकाल तक नहीं होता है, क्योंकि उसमें जीवनपर्यन्त — इस प्रकार काल की मर्यादा है। इसलिए इसमें वर्तमान जीवन के बाद मैं पाप करूँगा — ऐसी अपेक्षा है। यदि इस जीवन के बाद भी पाप करने की अपेक्षा न हो तो यावज्जीवन कहकर उसे मर्यादित करने की क्या आवश्यकता है। इसलिए यावज्जीवन कहकर यह कैसे कह सकते हैं कि सामायिक अपेक्षा से रहित है ?

**उत्तर :** सामायिक में जीवनपर्यन्त ऐसी मर्यादा प्रतिज्ञाभंग के भय से रखी जाती है न कि अपेक्षा से। क्योंकि जीवनपूर्ण होने के बाद यदि मोक्ष नहीं मिला तो पाप होना है। इसलिए सामायिक काल मर्यादापूर्वक होने पर भी निरभिष्वङ्ग (निरपेक्ष) है।

*सामायिक में आगारों की अनावश्यकता की दृष्टान्त से सिद्धि*

मरणजयज्झवसियसुहडभावतुल्लमिह हीणणाएण ।
अववायाण ण विसओ भावेयव्वं पयत्तेणं ।। १९ ।।

मरणजय-अध्यवसितसुभट-भावतुल्यमिह हीनज्ञातेन ।
अपवादानां ण विषयो न भावयितव्यं प्रयत्नेन ।। १९ ।।

सामायिक सुभटभाव के समान है अर्थात् युद्ध के समय योद्धा के हृदय में जैसा भाव होता है वैसा ही भाव सामायिक को स्वीकार करने वाले के मन में होता है। योद्धा के हृदय में 'मरना' या 'विजय प्राप्त करना' — ये दो निर्णय होते हैं। ऐसे निर्णय वाले योद्धा के मन में शत्रु का आक्रमण होने पर भी पीछे हट जाना, डर जाना आदि विचार आते ही नहीं हैं। उसी प्रकार साधु को भी सामायिक में 'मरना' या 'कर्मरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना' ये दो निर्णय होते हैं अर्थात् 'मर जाऊँगा, किन्तु सामायिक भंग नहीं करूँगा', ऐसा दृढ़ निश्चय होता है।

**विशेष :** योद्धा भाव का उदाहरण इस प्रसंग में सामायिक से निम्न स्तर का और लौकिक है, क्योंकि सामायिक करने वाले की विजय अनेक भवों तक होती है, जबकि योद्धा की विजय उसी भव तक सीमित है और उसका हृदय रागादि आन्तरिक शत्रुओं से पराभूत होता है ।। १९ ।।

*अयोग्य को सामायिक देने का निषेध*

एत्तो च्चिय पडिसेहो दढं अजोग्गाण वण्णिओ समए ।
एयस्स पाइणोऽवि हु बीयं ति विही य अइसइणा ।। २० ।।

अत एव प्रतिषेधः दृढम् अयोग्यानां वर्णितः समये ।
एतस्य पातिनोऽपि खलु बीजमिति विधिश्च अतिशायिना ।। २० ।।

सामायिक सुभट भावतुल्य होने से अयोग्यों के लिए शास्त्र में निषिद्ध है। जो इस व्रत से पतित हो जाता है, उसके लिए भी उसके बीज मात्र संस्कार भी विशिष्ट लाभप्रद होते हैं ।

**प्रश्न :** यदि अयोग्य के लिए सामायिक निषिद्ध है तो भगवान् महावीर ने यह जानते हुए भी कि यह दीक्षा छोड़ देगा, गौतम स्वामी को भेजकर जो त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में उन्हीं के द्वारा मारे गये सिंह का जीव था, उस किसान को दीक्षा क्यों दिलवाई ?

**उत्तर :** भगवान् यह जानने के साथ-साथ कि यह किसान दीक्षा छोड़ देगा, यह भी जानते थे कि इसके लिए थोड़े समय के लिए भी दीक्षा मुक्ति का कारण होगी । दीक्षा छोड़ने से नुकसान होगा, लेकिन उसके संस्कार रूपी बीज मात्र से नुकसान से अधिक लाभ होगा, यह जानकर भगवान् ने दीक्षा दिलवाई थी, इसलिए उसमें कोई दोष नहीं है ।। २० ।।

*प्रत्याख्यान में आगार मूल भाव के बाधक नहीं होते हैं*

तस्स उ पवेसणिग्गमवारणजोगेसु जह उ अववाया ।
मूलाबाहाएँ तहा णवकारइम्मि आगारा ।। २१ ।।

तस्य तु प्रवेशनिर्गम-वारण-योगेषु यथा तु अपवादाः ।
मूलाबाधया तथा नवकारादौ आगाराः ।। २१ ।।

मरना या विजय प्राप्त करना — ऐसे संकल्प वाला योद्धा भी विजय प्राप्त करने के लिए युद्ध में प्रवेश करता है, कभी मौका देखकर निकल भी जाता है, कभी स्वयं लड़ना बन्द कर देता है, कभी शत्रु को रोकता है — इस प्रकार अनेक अपवादों का सेवन करता है, लेकिन उन अपवादों से उसके मूल संकल्प पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। उसी प्रकार नवकार आदि प्रत्याख्यान के आगार (अपवाद) उसके मूल भाव को प्रभावित नहीं करते हैं ।। २१ ।।

*मूलाबाधा को ही स्पष्ट करते हैं*

ण य तस्स तेसुऽवि तहा णिरभिस्संगो उ होई परिणामो ।
पडियारलिंगसिद्धो उ णियमओ अण्णहारूवो ।। २२ ।।

न च तस्य तेष्वपि तथा निरभिष्वङ्गस्तु भवति परिणामः ।
प्रतीकारलिङ्गसिद्धस्तु नियमतः अन्यथारूपः ।। २२ ।।

अपवादों के होने पर भी योद्धा या साधु का जीवन के प्रति अनासक्त भाव (निःस्पृह परिणाम) अन्यथा नहीं होता है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो साधु उसकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त को स्वीकार करने रूप प्रतिकार और योद्धा शरण की खोज रूप प्रतिकार करता, किन्तु ऐसा दोनों में नहीं देखा जाता है ।। २२ ।।

ण य पढमभाववाघायमो उ एवंपि अवि य तस्सिद्धी ।
एवं चिय होइ दढं इहरा वामोहपायं तु ।। २३ ।।

न च प्रथमभावव्याघातमो तु एवमपि अपि च तत्सिद्धिः ।
एवमेव भवति दृढम् इतरथा व्यामोहपादं तु ।। २३ ।।

अपवादों को स्वीकार करना या युद्ध में प्रवेश-निर्गम आदि करना, मूलभाव (साधु के लिए समत्व को प्राप्त करना और योद्धा के लिए विजय प्राप्त करना) में बाधक नहीं है, अपितु उन अपवादों से मूलभाव की सिद्धि की ही सम्भावना दृढ़ हो जाती है। अपवादों को स्वीकार नहीं करने से साधु की सामायिक और योद्धा की विजयेच्छा मूढ़ता तुल्य हैं। ये अपवाद समभाव और विजय की सिद्धि में साधन का काम करते हैं ।। २३ ।।

उभयाभावेऽवि कुतोऽवि अग्गओ हंदि एरिसो चेव ।
तक्काले तब्भावो चित्तखओवसमओ णेओ ।। २४ ।।

उभयाभावेऽपि कुतोऽपि अग्रतो हंदि ईदृशश्चैव ।
तत्काले तद्भावश्चित्रक्षयोपशमतो ज्ञेयः ।। २४ ।।

**प्रश्न :** यद्यपि सामायिक योद्धा के अध्यवसाय के समान है, फिर भी कालान्तर में किसी जीव का पतन तो होता ही है, इसलिए सामायिक को सापवाद मानना ही उपयुक्त है ?

**उत्तर :** कालान्तर में अर्थात् साधु के सामायिक लेने के बाद और योद्धा के युद्ध करते समय किसी कारणवश (साधु के पक्ष में परीषह आदि और योद्धा के पक्ष में शत्रुभय आदि कारणों से) दोनों (साधु के वर्तमान भवक्षय और मोक्ष तथा योद्धा के मरण और शत्रु-विजय) का अभाव हो तो भी साधु के सामायिक स्वीकार करते समय और योद्धा के युद्ध में प्रवेश करते समय उसका भाव (साधु का सामायिक स्वीकार रूप परिणाम तथा योद्धा का विजय का अध्यवसाय) ऐसा ही होता है। अर्थात् मरना या विजय प्राप्त करना, ऐसा ही भाव होता है। कोई

अपवाद स्वीकार करने का भाव नहीं होता है।

ऐसा कैसे होता है ? इसका निर्देश करते हैं :

कर्मक्षयोपशम अनेक तरह से होता है, इसलिए उसमें उस प्रकार के कर्मक्षयोपशम ही कारण हैं। साधु को सामायिक स्वीकार करते समय और योद्धा को युद्ध में प्रवेश करते समय कर्मक्षयोपशम ही ऐसा होता है, जिससे भविष्य में जिसका परिणाम भंग होता है, उसको भी किसी तरह के अपवाद की अपेक्षा के बिना मरना या विजय पाना — ऐसा अध्यवसाय हो जाता है। वह यह नहीं सोचता कि उसे अपवाद स्वीकार करने पड़ेंगे ।। २४ ।।

### ४. भेदद्वार

आहारजाइओ एस एत्थ एक्कोऽवि होति चउभेओ ।
असणाइजाइभेया णाणाइपसिद्धिओ णेओ ।। २५ ।।

आहारजातित एषोऽत्र एकोऽपि भवति चतुर्भेदः ।
अशनादिजातिभेदाद् ज्ञानादिप्रसिद्धितो ज्ञेयः ।। २५ ।।

जाति की दृष्टि से आहार एक होने पर भी प्रत्याख्यान की अपेक्षा से अशन, पान, खादिम और स्वादिम के भेद से आहार चार प्रकार का होता है। ज्ञान आदि की सिद्धि के लिए ये चार भेद जानना जरूरी है अर्थात् आहार के भेदों का ज्ञान होने से द्विविध-आहार आदि प्रत्याख्यान करते समय उसके अनुसार श्रद्धा, पालन आदि होता है ।। २५ ।।

णाणं सद्दहणं गहण पालणा विरतिवुड्ढि चेव एवंति ।
होइ इहरा उ मोहा विवज्जओ भणियभावाणं ।। २६ ।।

ज्ञानं श्रद्धानं ग्रहणं पालना विरतिवृद्धिरेव एवमिति ।
भवति इतरथा तु मोहाद् विपर्ययो भणितभावानाम् ।। २६ ।।

सर्वप्रथम आहार के चार भेदों का ज्ञान होता है। फिर तद्विषयक रुचि होती है, फिर द्विविध-आहार आदि भेद वाले प्रत्याख्यान को स्वीकार करने का भाव होता है, फिर उसका उपयुक्त पालन होता है, तत्पश्चात् आहार सम्बन्धी विरति की वृद्धि होती है। ये सब आहार के भेदों का ज्ञान होने पर सम्भव होते हैं। यदि भेदों का वर्णन न किया जाये तो उपर्युक्त ज्ञान, श्रद्धा आदि का होना सम्भव नहीं है ।। २६ ।।

असणं ओयणसत्तुगमुग्गजगाराइ खज्जगविही य ।
खीराई सूरणाई मंडगपभिई य विण्णेयं ।। २७ ।।

अशनं ओदनसक्तुकमुद्गजगार्यादि खाद्यकविधिश्च ।
क्षीरादि सूरणादि मण्डकप्रभृतिश्च विज्ञेयम् ।। २७ ।।

चावल आदि अनाज, सत्तू, मूँग आदि दलहन, रबड़ी और तली हुई वस्तुएँ आदि पकवान के अनेक प्रकार एवं दूध, दही, छाछ तथा सूरण आदि कन्द और सभी प्रकार की सब्जियों आदि को अशन जानना चाहिए ।। २७ ।।

पाणं सोवीरजवोदगाइ चित्तं सुराइगं चेव ।
आउक्काओ सव्वो कक्कडगजलाइयं च तहा ।। २८ ।।

पानं सौवीरयवोदकादि चित्रं सुरादिकं चैव ।
अप्कायः सर्वः कर्कटकजलादिकं च तथा ।। २८ ।।

माँड़, यव आदि का धोया हुआ पानी, विविध प्रकार की मदिरा आदि, कुएँ का पानी आदि, ककड़ी खजूर आदि के भीतर का जल तथा आम आदि फलों का धोया हुआ पानी इत्यादि सभी पान जानना चाहिए ।। २८ ।।

भत्तोसं दन्ताई खज्जूरं नालकेरदक्खादी ।
कक्कडिगंबगफणसाइ बहुविहं खाइमं णेयं ।। २९ ।।

भक्तौषं दन्तादि खर्जूरं नारिकेलद्राक्षादि ।
कर्कटकाम्रकपनसादि बहुविधं खादिमं ज्ञेयम् ।। २९ ।।

भुने हुए चने, गेहूँ आदि अनाज, गुड़ आदि से संस्कृत पदार्थ तथा खजूर, नारियल, द्राक्षा, ककड़ी, आम, कटहल आदि अनेक प्रकार के फल खादिम जानना चाहिए ।। २९ ।।

दंतवणं तंबोलं चित्तं तुलसीकुहेडगाई य ।
महुपिप्पलिसुंठाई अणेगहा साइमं होइ ।। ३० ।।

दन्तपवनं ताम्बूलं चित्रं तुलसीकुहेडकादि च ।
मधुपिप्पलीसुंठ्यादि अनेकधा स्वादिमं भवति ।। ३० ।।

दातून, पान का पत्ता, सुपारी, इलायची, लवंग, कर्पूर आदि सुगन्धित द्रव्यों के मिश्रण रूप ताम्बूल, तुलसी, जीरा, हल्दी, माक्षिक, पीपल, सोंठ, हरड़ आदि अनेक प्रकार के स्वादिम हैं ।। ३० ।।

लेसुद्देसेणेए भेया एएसिँ दंसिया एवं ।
एयाणुसारओ च्चिय सेसा सयमेव विण्णेया ।। ३१ ।।

लेशोद्देशेन एते भेदा एतेषां दर्शिता एवम् ।
एतदनुसारत एव शेषाः स्वयमेव विज्ञेयाः ।। ३१ ।।

इस प्रकार अशनादि चार प्रकार के आहारों के संक्षेप में ये भेद दिखलाये गये हैं। इसी के अनुसार शेष वस्तुओं में से कौन वस्तु किस प्रकार के आहार के अन्तर्गत आती है — यह जान लेना चाहिए ।। ३१ ।।

*साधु भी त्रिविधाहार प्रत्याख्यान ले सकते हैं*

तिविहाइभेयओ खलु एत्थ इमं वण्णियं जिणिंदेहिं ।
एत्तो च्चिय भेएसुवि सुहुमंति बुहाणमविरुद्धं ।। ३२ ।।

त्रिविधादिभेदतः खलु अत्रेदं वर्णितं जिनेन्द्रैः ।
अत एव भेदेष्वपि सूक्ष्ममिति बुधानामविरुद्धम् ।। ३२ ।।

जिनेश्वरों ने आहार-प्रत्याख्यान का त्रिविध आहार आदि के भेद से वर्णन किया है। ऐसा नहीं है कि आहार प्रत्याख्यान का तात्पर्य चतुर्विध आहार ही हो, अपितु त्रिविध आहार आदि भी हो सकता है, क्योंकि उसमें पानी के छह आगारों का उल्लेख किया गया है। यही कारण है कि अशन-पानादि आहार के चार भेदों में से किसी का भी प्रत्याख्यान अविरोधपूर्वक किया जा सकता है अर्थात् मुनियों के इस अभिग्रह में कि मैं अमुक प्रकार का ही अशन या पान लूँगा में बुद्धजीवियों को कोई विरोध नहीं दिखता है। यह विषय सूक्ष्म होने के कारण विवेकीजन उसे अच्छी तरह समझ सकते हैं ।। ३२ ।।

*अन्यों का विरोध*

अण्णे भणंति जतिणो तिविहाहारस्स ण खलु जुत्तमिणं ।
सव्वविरइउ एवं भेयग्गहणे कहं सा उ ।। ३३ ।।

अन्ये भणन्ति यतेस्त्रिविधाहारस्य न खलु युक्तमिदम् ।
सर्वविरते एवं भेदग्रहणे कथं सा तु ।। ३३ ।।

दूसरे (दिगम्बर) कहते हैं कि साधु को त्रिविध आहार का प्रत्याख्यान उपयुक्त नहीं है, क्योंकि उनके सर्वविरति होती है। यदि इस प्रकार त्रिविध आहार विशेष का प्रत्याख्यान उनके लिए माना जाये तो सर्वविरति कैसे कही जायेगी? अर्थात् सर्व आहार का प्रत्याख्यान हो तो सर्वविरति कही जायेगी। त्रिविध आहार में सभी आहारों का त्याग नहीं होने से सर्वविरति नहीं कही जा सकती है ।। ३३ ।।

*उपर्युक्त विरोध का निराकरण*

अपमायवुड्डिजणगं एयं एत्थंति दंसियं पुव्वं ।
तब्भोगमित्तकरणे सेसच्चागा तओ अहिगो ।। ३४ ।।

अप्रमादवृद्धिजनकम् एतद् अत्रेति दर्शितं पूर्वम् ।
तद्भोगमात्रकरणे शेषत्यागात् तकोऽधिकः ।। ३४ ।।

आहार का प्रत्याख्यान सर्वविरति में भी अप्रमादवर्धक होता है — ऐसा इसी पञ्चाशक की तेरहवीं गाथा में कहा गया है। त्रिविध आहार में केवल पानी का उपयोग मात्र करने और शेष तीन प्रकार के आहारों का त्याग करने से अप्रमाद और बढ़ता है। अर्थात् सर्वविरति रूप सामायिक से जो अप्रमाद हुआ हो उसमें त्रिविध आहार प्रत्याख्यान से वृद्धि होती है। इसलिए साधु को भी त्रिविध आहार-प्रत्याख्यान उचित है ।। ३४ ।।

*विशिष्ट अवस्था में साधु द्विविधाहार प्रत्याख्यान भी कर सकता है*

एवं कहंचि कज्जे दुविहस्सवि तण्ण होति चिंतमिणं ।
सच्चं जइणो णवरं पाएण ण अण्णपरिभोगो ।। ३५ ।।

एवं कथञ्चित् कार्ये द्विविधस्यापि तन्न भवति चिन्त्यमिदम् ।
सत्यं यतेः केवलं प्रायेण न अन्यपरिभोगः ।। ३५ ।।

**पूर्वपक्ष :** साधुओं के लिए त्रिविध आहार-प्रत्याख्यान स्वीकार किया जाये तो अस्वस्थता आदि परिस्थितियों में द्विविध आहार के भी प्रत्याख्यान को क्यों न स्वीकार किया जाये ? इसलिए आपका त्रिविध आहार का प्रत्याख्यान विचारणीय है।

**उत्तरपक्ष :** आपकी बात सत्य है। साधु को प्रायः अस्वस्थता आदि विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त खादिम और स्वादिम आहार नहीं होता है, क्योंकि शास्त्रानुसार वेदना आदि छह कारणों से भोजन करना आवश्यक है। खादिम और स्वादिम — इन छह कारणों में उपयोगी नहीं होते हैं। किन्तु विशेष परिस्थिति में स्वादिम की छूट होने से साधु के द्वारा द्विविध आहार-प्रत्याख्यान लिया जा सकता है ।। ३५ ।।

## ५. भोगद्वार

विहिणा पडिपुण्णम्मि भोगो विगए य थेवकाले उ ।
सुहधाउजोगभावे चित्तेणमणाकुलेण तहा ।। ३६ ।।
काऊण कुसलजोगं उचियं तक्कालगोयरं णियमा ।
गुरुपडिवत्तिप्पमुहं मंगलपाढाइयं चेव ।। ३७ ।।

सरिऊण विसेसेणं पच्चक्खायं इमं मए पच्छा ।
तह संदिसाविऊणं विहिणा भुंजंति धम्मरया ।। ३८ ।।

विधिना प्रतिपूर्णे भोगो विगते च स्तोककाले तु ।
शुभधातुयोगभावे चित्तेनानाकुलेन तथा ।। ३६ ।।

कृत्वा कुशलयोगं उचितं तत्कालगोचरं नियमात् ।
गुरुप्रतिपत्तिप्रमुखं मङ्गलपाठादिकं चैव ।। ३७ ।।

स्मृत्वा विशेषेण प्रत्याख्यातम् इदं मया पश्चात् ।
तथा संदेश्य विधिना भुञ्जन्ति धर्मरताः ।। ३८ ।।

विधिपूर्वक प्रत्याख्यान के पूर्ण होने के थोड़े समय बाद वात-पित्त-कफ — इन तीन धातुओं के सम बनने और कायादि योगों के स्वस्थ बनने पर शान्तचित्त से भोजन करना चाहिए। गोचरी करने के परिश्रम से शरीर की धातुएँ विषम बन जाती हैं और शरीर अस्वस्थ हो जाता है। इसलिए थोड़े समय बाद जब धातुएँ सम हो जायें और शारीरिक योग स्वस्थ हो जाये तब शान्तचित्त से भोजन करना चाहिए ।। ३६ ।।

धर्म में अनुरक्त जीव अपनी भूमिका के अनुसार भोजन के समय अर्थात् भोजन से पूर्व करने योग्य क्रियाएँ — जैसे माँ-बाप, धर्माचार्य और देव की उचित पूजा, परिवार में जो बीमार हो उसकी सेवा आदि तथा नमस्कार मन्त्र का पाठ आदि करके मैंने यह प्रत्याख्यान किया है — ऐसा विशेष रूप से याद करके बड़ों की आज्ञा लेकर विधिपूर्वक भोजन करते हैं ।। ३७-३८ ।।

## ६. स्वयं पालनद्वार

सयपालणा य एत्थं गहियम्मिवि ता इमम्मि अन्नेसिं ।
दाणे उवएसम्मि य ण होंति दोसा जहऽण्णत्थ ।। ३९ ।।

कयपच्चक्खाणोऽवि य आयरियगिलाणबालवुड्ढाणं ।
देज्जाऽसणाइ संते लाभे कयवीरियायारो ।। ४० ।।

संविग्गअन्नसंभोइयाण दंसेज्ज सड्ढगकुलाणि ।
अतरंतो वा संभोइयाण जह वा समाहीए ।। ४१ ।।

स्वयंपालना च अत्र गृहीतेऽपि तस्माद् अस्मिन् अन्येभ्यः ।
दाने उपदेशे च न भवन्ति दोषा यथाऽन्यत्र ।। ३९ ।।

कृतप्रत्याख्यानोऽपि च आचार्यग्लान-बाल-वृद्धेभ्यः ।
दद्याद् अशनादि सति लाभे कृतवीर्याचारः ।। ४० ।।

संविग्नान्यसाम्भोगिकानां देशयेत् श्राद्धककुलानि ।
अतरंतो वा साम्भोगिकानां यथा वा समाधिना ।। ४१ ।।

आहार-प्रत्याख्यान ग्रहण करने पर स्वयं पालन करता हुआ दूसरों को आहार देने और स्वयं भोजन कराने तथा समान सामाचारी वाले साधुओं को इन-इन घरों से आहार मिलेगा, इत्यादि आहार सम्बन्धी उपदेश देने में दोष नहीं लगता है, जैसा कि अन्यत्र प्राणातिपात-विरमण आदि में लगता है।

**तात्पर्य :** प्राणातिपातविरति आदि व्रतों का स्वीकार त्रिविध (मनसा, वाचा, कर्मणा) होने के कारण प्राणातिपात विरमण व्रत करने वाला प्राणातिपात आदि पाप करने को कहे या अनुमोदन करे तो व्रत भंग होता है, किन्तु आहार-प्रत्याख्यान में आहार देने या आहार सम्बन्धी उपदेश देने से प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है ।। ३९ ।।

इसी प्रकार आहार का प्रत्याख्यान करने वाले साधु को भी यदि आचार्य, बीमार, बालक और वृद्ध साधुओं के लिए कल्प्य आहार मिल सके तो भिक्षाटन करनी चाहिए और इस प्रकार आत्मशक्ति के अनुरूप प्रयत्न करके उनको अशनादि आहार उपलब्ध कराना चाहिए ।। ४० ।।

तथा नये आये हुए मोक्षाभिलाषी भिन्न सामाचारी वाले साधुओं को दानमना गृहस्थों के घर बतलाना चाहिए अथवा बीमार होने के कारण समान सामाचारी वाले साधुओं के लिए आहार न ला सकें तो उन्हें भी श्रद्धालु दाता गृहस्थों के घरों को बतलाना चाहिए अथवा स्वयं को और दूसरे साधुओं को जैसी सुविधा हो वैसा करना चाहिए ।। ४१ ।।

*श्रावकों के लिए दान-उपदेश की विधि*

एवमिह सावगाणवि दाणुवएसाइ उचियमो णेयं ।
सेसम्मिवि एस विही तुच्छस्स दिसादवेक्खाए ।। ४२ ।।

एवमिह श्रावकाणामपि दानोपदेशादि उचितमेव ज्ञेयम् ।
शेषेऽपि एषः विधिः तुच्छस्य दिगाद्यपेक्षया ।। ४२ ।।

श्रावकों के लिए भी इसी प्रकार शक्ति हो तो सुसाधुओं को आहार का दान देना और शक्ति न हो तो श्रद्धालुओं के घर बतलाना आदि उचित है — ऐसा जानना चाहिए। शेष वस्त्रादि के विषय में भी यही विधि है अर्थात् शक्ति हो तो वस्त्रादि का दान करें अन्यथा दाताओं के घर बतलावें।

गरीब श्रावक जो सभी साधुओं को वस्त्र नहीं दे सकता है वह दिशा की

अपेक्षा से – दिशा के सम्बन्ध से दान दे। गृहस्थ जिस आचार्य से प्रतिबोधित हुआ हो वह उसके लिए दिश् (दिशा) होता है और धर्म पाने वाले गृहस्थ का उस आचार्य के साथ दिशा का सम्बन्ध कहा जाता है। दिशा की अपेक्षा से दान देने का तात्पर्य जिससे प्रतिबुद्ध हुआ हो उस आचार्य को दान देना है ।। ४२ ।।

*गरीब श्रावकसम्बन्धी दान की विधि*

संतेअरलद्धिजुएअराइभावेसु होइ तुल्लेसु ।
दाणं दिसाइभेए तीएऽदिंतस्स आणादी ।। ४३ ।।

सदितरलब्धियुतेतरादिभावेषु भवति तुल्येषु ।
दानं दिगादिभेदे तयाऽददत आज्ञादय: ।। ४३ ।।

श्रावक को भेदभाव के बिना सभी साधुओं को दान करना चाहिए, किन्तु जो श्रावक सभी साधुओं को दान देने में असमर्थ हो उसे जिस साधु के पास वस्त्रादि न हो उसको देना चाहिए। यदि सभी साधुओं के पास वस्त्रादि न हो तो जो साधु वस्त्रादि प्राप्त करने में असमर्थ हो उसे देना चाहिए।

अब यदि सभी के पास वस्त्रादि हों और सभी प्राप्त करने में समर्थ हों, अथवा किसी भी साधु के पास वस्त्रादि न हों और कोई भी प्राप्त करने में समर्थ न हो, अर्थात् सभी एक समान हों तो ऐसे में सीमित शक्ति वाले श्रावक को दिशा-निर्देश करने वाले आदि सम्बन्ध के भेद से दान देना चाहिए, अर्थात् जिस साधु का अपने ऊपर उपकार हो उसको और उसके शिष्य-परिवार को देना चाहिए। ऐसी स्थिति में यदि श्रावक दिशा-निर्देशक के सम्बन्ध के अनुसार दान न दे तो जिनेश्वर की आज्ञा-भंग का दोष लगेगा ।। ४३ ।।

## ७. अनुबन्धद्वार

*प्रत्याख्यान परिणाम के अनुबन्ध का कारण*

भोत्तूणमुचियजोगं अणवरयं जो करेइ अवहितो ।
णियभूमिगाएँ सरिसं एत्थं अणुबंधभावविही ।। ४४ ।।

भुक्त्वा उचितयोगम् अनवरतं य: करोति अव्यथित: ।
निजभूमिकाया: सदृशम् अत्र अनुबन्धभावविधि: ।। ४४ ।।

जो साधु भोजन करके मानसिक और शारीरिक उदासीनता से रहित होकर अपनी भूमिका के अनुरूप सदा उचित प्रयत्न करता है, उसके आहार के प्रत्याख्यान में अनुबन्ध भाव होता है अर्थात् उसके प्रत्याख्यान के परिणाम का विच्छेद नहीं होता है ।। ४४ ।।

*गुर्वाज्ञा का माहात्म्य*

गुरुआएसेणं वा जोगंतरगंपि तदहिगं तमिह ।
गुरुआणाभंगम्मि य सव्वेऽणत्था जओ भणितं ।। ४५ ।।

छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं· मासद्धमासखमणेहिं ।
अकरिंतो गुरुवयणं अणंतसंसारिओ होति ।। ४६ ।।

गुर्वादेशेन वा योगान्तरकमपि तदधिकं तदिह ।
गुर्वाज्ञाभङ्गे च सर्वे अनर्था यतो भणितम् ।। ४५ ।।

षष्ठाष्टमदशमद्वादशैः मासार्धमासक्षमणैः ।
अकुर्वन् गुरुवचनम् अनन्तसंसारिको भवति ।। ४६ ।।

जो गुरु के आदेश से अपनी भूमिका के अनुरूप कार्य से भिन्न अन्य कार्य करे तो भी उसे प्रत्याख्यान तो होता ही है, क्योंकि अपनी भूमिका के अनुरूप कार्य से गुरु के द्वारा कहा गया कार्य प्रधान है अर्थात् गुर्वाज्ञा प्रधान है। गुर्वाज्ञा के भंग होने पर सभी अनर्थ होते हैं। इसीलिए शास्त्र में कहा गया है कि छः, आठ, दश, बारह, पन्द्रह उपवास और मासक्षमण करे, किन्तु यदि गुरु की आज्ञा नहीं माने तो वह अनन्त संसारी होता है ।। ४५-४६ ।।

**विशेष** : गुरु संविग्न और गीतार्थ होता है, वह जिनेश्वर की आज्ञा के अनुसार ही आज्ञा करता है। इसलिए उसकी आज्ञा का उल्लंघन जिनेश्वर की आज्ञा का उल्लंघन होता है। जिनेश्वर की आज्ञा का उल्लंघन मिथ्यात्व के उदय से होने वाला कदाग्रहरूप है। कदाग्रह अनन्त संसार का कारण है। मिथ्यात्व के उदय से होने वाले कदाग्रह के कारण तप और चारित्र का पालन करने वाला भी अनन्त संसारी होता है ।

*प्रत्याख्यान से अविद्यमान वस्तु का भी लाभ*

बज्झाभावेऽवि इमं पच्चक्खंतस्स गुणकरं चेव ।
आसवनिरोहभावा आणाआराहणाओ य ।। ४७ ।।

बाह्याभावेऽपि इदं प्रत्याख्यातुः गुणकरं चैव ।
आस्रवनिरोधभावाद् आज्ञाराधनाच्च ।। ४७ ।।

जो वस्तु अपने पास न हो (और भविष्य में मिलने की सम्भावना भी न हो) उस वस्तु का प्रत्याख्यान भी लाभ ही करता है, क्योंकि उससे आस्रव का निरोध होता है — विरति होती है और सर्वज्ञ की आज्ञा का पालन होता है ।। ४७ ।।

**भावार्थ :** वस्तु न हो तो भी यदि उसका प्रत्याख्यान न किया हो तो उसके त्याग का लाभ नहीं मिलता है, क्योंकि हृदय में उसकी अपेक्षा तो होती ही है। जिस प्रकार कोई पाप न करने पर भी यदि उसके त्याग का नियम नहीं लेता है तो पाप लगता है, क्योंकि उसके अन्त:करण में पाप करने की अपेक्षा होती है। उसी प्रकार वस्तु न हो और भविष्य में मिलने वाली भी न हो तो भी उसका त्याग न करने से तज्जन्य लाभ नहीं मिलता है। इस प्रकार अविद्यमान वस्तु का प्रत्याख्यान भी सफल होता है, अत: उसे करना चाहिए।

*उपर्युक्त नियम का दृष्टान्त*

न य एत्थं एगंतो सगडाहरणादि एत्थ दिट्ठंतो ।
संतंपि णासइ लहुं होइ असंतंपि एमेव ।। ४८ ।।

न च अत्र एकान्त: शकटाहरणादि अत्र दृष्टान्त: ।
सदपि नश्यति लघु भवति असदपि एवमेव ।। ४८ ।।

अविद्यमान वस्तु भविष्य में कभी मिलेगी ही नहीं — ऐसा सर्वथा सत्य नहीं है। विद्यमान वस्तु भी अचानक नष्ट हो जाती है और अविद्यमान वस्तु भी अचानक मिल जाती है अर्थात् कभी-कभी जिस वस्तु की कोई सम्भावना भी न हो वह मिल जाती है। इस विषय में गाड़ी का उदाहरण है।

**विशेष :** एक बार एक मुनि अनेक भव्य जीवों को उपर्युक्त उपदेश दे रहे थे। उसे सुनकर एक ब्राह्मण ने उपहास करने के लिए मुनि के पास जाकर ऐसा प्रत्याख्यान लिया कि ''मैं गाड़ी नहीं खाऊँगा''।

एक दिन वह ब्राह्मण जंगल से भूखा-प्यासा आ रहा था कि एक राजकुमारी उसे सामने मिली। उस राजकुमारी ने गाड़ी के आकार का पक्वान्न ब्राह्मण को खिलाने का नियम किया था। वह पक्वान्न तैयार करके ब्राह्मण को ढूँढ़ ही रही थी कि यह ब्राह्मण उसे मिला। उसने पक्वान्न ब्राह्मण को दिया। ब्राह्मण ने पक्वान्न को गाड़ी के आकार का देखकर खाने से इनकार कर दिया। फलत: मुनि की बात उसे सत्य प्रतीत हुई — इस प्रकार कभी-कभी असम्भव भी सम्भव हो जाता है ।। ४८ ।।

*प्रत्याख्यान विषयरहित नहीं है*

ओहेणाविसयंपि हु ण होइ एयं कहिंचि णियमेण ।
मिच्छासंसज्जियकम्मओ तहा सव्वभोगाओ ।। ४९ ।।

ओघेनाविषयमपि खलु न भवति एतत् क्वचित् नियमेन ।
मिथ्यासंसज्जितकर्मत: तथा सर्वभोगात् ।। ४९ ।।

सामान्यतया प्रत्याख्यान निर्विषय नहीं होता है अर्थात् अविद्यमान वस्तु का नहीं होता है, अपितु विद्यमान वस्तु का ही होता है, क्योंकि भिन्न-भिन्न देश में भिन्न-भिन्न काल में सभी वस्तुओं का उपभोग होता ही है। जिस प्रकार गाड़ी के उदाहरण में पक्वान्न गाड़ी नहीं होने पर भी गाड़ी के आकार का होने के कारण गाड़ी ही कहा जाता है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न वस्तुओं में भिन्न-भिन्न आकार होता है, उन वस्तुओं का भोग सम्भव है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक वस्तु खाद्य नहीं हो सकती है। अत: सभी वस्तुओं का भोग सम्भव है ।। ४९ ।।

*विरागी जीव का प्रत्याख्यान सफल है*

विरईए संवेगा तक्खयओ भोगविगमभावेण।
सफलं सव्वत्थ इमं भवविरहं इच्छमाणस्स ।। ५० ।।

विरते: संवेगात् तत्क्षयत: भोगविगमभावेन।
सफलं सर्वत्रेदं भवविरहं इच्छत: ।। ५० ।।

भवविरह की इच्छा वाले जीव का विद्यमान या अविद्यमान सर्ववस्तु सम्बन्धी प्रत्याख्यान सफल है, क्योंकि मोक्षाभिलाषा और विरति से जिसका प्रत्याख्यान किया है उसका चारित्रमोहादि कर्म का क्षय होने से भोग नहीं होता है ।। ५० ।।

**।। इति प्रत्याख्यानविधिर्नाम पञ्चमं पञ्चाशकम् ।।**

# ६

# स्तवविधि पञ्चाशक

चौथे पञ्चाशक जो में पूजाविधि कही गयी है, वह द्रव्यस्तव है और पाँचवें पञ्चाशक में जो प्रत्याख्यानविधि कही गयी है, वह भावस्तव है। अब इस पञ्चाशक में दोनों का स्वरूप कहने हेतु मङ्गलाचरण करते हैं :

*मङ्गलाचरण*

नमिऊण जिणं वीरं तिलोगपुज्जं समासओ वोच्छं ।
थयविहिमागमसुद्धं सपरेसिमणुग्गहट्ठाए ।। १ ।।

नत्वा जिनं वीरं त्रिलोकपूज्यं समासतो वक्ष्ये ।
स्तवविधिमागमशुद्धं स्वपरेषामनुग्रहार्थाय ।। १ ।।

तीनों लोकों में पूजनीय भगवान् महावीर को प्रणाम करके मैं अपने और दूसरों के कल्याण के लिए आगमानुसार शुद्ध स्तवविधि का निरूपण करूँगा ।। १ ।।

*स्तव के दो प्रकार*

दव्वे भावे य थओ दव्वे भावथयरागओ सम्मं ।
जिणभवणादिविहाणं भावथओ चरणपडिवत्ती ।। २ ।।

द्रव्ये भावे च स्तवो द्रव्ये भावस्तवरागतः सम्यक् ।
जिनभवनादिविधानं भावस्तवः चरणप्रतिपत्तिः ।। २ ।।

स्तव द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का होता है। भावस्तव के लिए अनुरागपूर्वक जिनमन्दिर या जिनप्रतिमा का सम्यक् निर्माण करना या करवाना द्रव्यस्तव है और मन, वचन और काय से विरक्त रहना ही भावस्तव है। दूसरे शब्दों में मनोभावों की शुद्धि ही भावस्तव है ।। २ ।।

*द्रव्यस्तव*

जिणभवणबिंबठावणजत्तापूजाइ सुत्तओ विहिणा ।
दव्वत्थउत्ति नेयं भावत्थयकारणत्तेण ।। ३ ।।

जिनभवन-बिम्बस्थापन-यात्रापूजादि सूत्रतो विधिना ।
द्रव्यस्तव इति ज्ञेयं भावस्तवकारणत्वेन ।। ३ ।।

शास्त्रोक्त विधिपूर्वक जिनमन्दिर का निर्माण, जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा, तीर्थों की यात्रा और जिनप्रतिमा की पूजा करना भावस्तव का निमित्त कारण होने से द्रव्यस्तव कहे जाते हैं ।। ३ ।।

*द्रव्यस्तव किस प्रकार के भाव से भावस्तव का कारण बनते हैं — इसका निरूपण*

विहियाणुट्ठाणमिणंति एवमेयं सया करेंताणं ।
होइ चरणस्स हेऊ णो इहलोगादवेक्खाए ।। ४ ।।

विहितानुष्ठानमिदमिति एवमेतत् सदा कुर्वताम् ।
भवति चरणस्य हेतुः नो इहलोकाद्यपेक्षया ।। ४ ।।

ये जिनभवन निर्माण आदि धार्मिक अनुष्ठान आगमों में विहित माने गये हैं। भावपूर्वक जिनभवन आदि अनुष्ठान करने वाले के वे अनुष्ठान सर्वविरति का कारण बनते हैं। यदि ये जिनभवनादि धार्मिक अनुष्ठान इहलोक या परलोक में भौतिक सुख पाने के लिए किये जाँय तो वे निदान से दूषित बन जाते है और भावस्तव का कारण नहीं बनते हैं ।। ४ ।।

एवं चिय भावथए आणाआराहणाउ रागोऽवि ।
जं पुण इय विवरीयं तं दव्वथओवि णो होई ।। ५ ।।

एवमेव भावस्तवे आज्ञाराधनाद् रागोऽपि ।
यत् पुनरिति विपरीतं तद् द्रव्यस्तवोऽपि न भवति ।। ५ ।।

उपर्युक्त प्रकार का द्रव्यस्तव केवल भावस्तव का निमित्त ही नहीं होता है, अपितु आप्तवचनों का पालन करने के कारण भावस्तव के प्रति सम्मान (भक्ति भाव) भी उत्पन्न करता है। यदि यही जिनभवनादि सम्बन्धी धार्मिक अनुष्ठान भौतिक सुखों की अपेक्षा से किया जाये तो वह भावस्तव तो क्या द्रव्यस्तव भी नहीं होता है ।। ५ ।।

*आप्तोपदेश से विपरीत प्रवृत्ति द्रव्यस्तव भी नहीं*

भावे अइप्पसंगो आणाविवरीयमेव जं किंचि ।
इह चित्ताणुट्ठाणं तं दव्वथओ भवे सव्वं ।। ६ ।।

जं वीयरागगामी अह तं णणु गरहितंपि हु स एवं ।
सिय उचियमेव जं तं आणाआराहणा एवं ।। ७ ।।

भावे अतिप्रसङ्ग आज्ञाविपरीतमेव यत्किञ्चित् ।
इह चित्रानुष्ठानं तद्द्रव्यस्तव भवेत् सर्वम् ।। ६ ।।

यद् वीतरागगामी अथ तत् ननु गर्हितमपि खलु स एवम् ।
स्याद् उचितमेव यत्तत् आज्ञाराधना एवम् ॥ ७ ॥

आप्तवचन से किञ्चित् भी विपरीत प्रतीत होने वाले अनुष्ठानों को यदि द्रव्यस्तव कहा जाये तो अतिव्याप्ति दोष आ जायेगा और फिर यहाँ आप्तवचन से विपरीत जो हिंसादि विभिन्न क्रियाएँ होंगी वे सभी द्रव्यस्तव हो जायेंगी, जो उचित नहीं है ॥ ६ ॥

**पूर्वपक्ष :** जब जिनसम्बन्धी अनुष्ठान जिनाज्ञा के विपरीत होने पर भी द्रव्यस्तव है, तब अतिप्रसंग आने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

**उत्तरपक्ष :** यदि ऐसा माना जाये तो जिन को गाली देना इत्यादि निन्द्य क्रियाएँ भी द्रव्यस्तव हो जायेंगी, क्योंकि वे भी जिनसम्बन्धी हैं।

**पूर्वपक्ष :** आज्ञा से विपरीत जिन सम्बन्धी अनुष्ठान उचित हों तो ही द्रव्यस्तव हैं, जिन को गाली देना इत्यादि अनुष्ठान उचित नहीं हैं, इसलिए वे क्रियाएँ द्रव्यस्तव नहीं हो सकतीं हैं।

**उत्तरपक्ष :** ऐसा मानना आप्तवचन का पालन नहीं है, क्योंकि आप्तवचन से विरुद्ध उचित हो ही नहीं सकता है अर्थात् जो अनुष्ठान आप्तवचन से विरुद्ध हो वह उचित अनुष्ठान नहीं है ॥ ७ ॥

*उचित करना ही आप्तवचन का पालन है*

उचियं खलु कायव्वं सव्वत्थ सया णरेण बुद्धिमता ।
इइ फलसिद्धी णियमा एस च्चिय होइ आणत्ति ॥ ८ ॥

उचितं खलु कर्तव्यं सर्वत्र सदा नरेण बुद्धिमता ।
इति फलसिद्धिः नियमादेषैव भवति आज्ञेति ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य को हमेशा देश, काल और परिस्थिति के अनुसार जो उचित हो उसे ही करना चाहिए। उचित करने से निश्चय ही फलप्राप्ति होती है और यही आप्तवचन है ॥ ८ ॥

*बहुमान शून्य अनुष्ठान द्रव्यस्तव नहीं है*

जं पुण एयविउत्तं एगंतेणेव भावसुण्णंति ।
तं विसयम्मिवि ण तओ भावथयाहेउतो णेयं ॥ ९ ॥

यत्पुनरेतद्वियुक्तम् एकान्तेनैव भावशून्यमिति ।
तद्विषयेऽपि न तको भावस्तवाहेतुतो ज्ञेयम् ॥ ९ ॥

जो अनुष्ठान औचित्यरहित हो और आदरभाव से सर्वथा शून्य हो, वह

जिनेन्द्रदेव सम्बन्धी हो तो भी द्रव्यस्तव नहीं होता है। क्योंकि आस्थाशून्य अनुष्ठान भावस्तव का कारण नहीं होता है ।। ९ ।।

*बहुमानशून्य अनुष्ठान भावस्तव का अहेतुक है — इसका कारण*

समयम्मि दव्वसद्दो पायं जं जोगगयाए रूढोत्ति ।
णिरुवचरितो उ बहुहा पओगभेदोवलंभावो ।। १० ।।

समये द्रव्यशब्दः प्रायो यद्योग्यतायां रूढ इति ।
निरुपचरितस्तु बहुधा प्रयोगभेदोपलम्भात् ।। १० ।।

जो अनुष्ठान भावस्तव का कारण न बने वह अनुष्ठान द्रव्यस्तव नहीं है, क्योंकि शास्त्र में द्रव्य शब्द प्रायः किसी तरह की औपचारिकता के बिना योग्यता के अर्थ में रूढ़ है अर्थात् जिसमें भावरूप में परिणत होने की योग्यता हो उसे द्रव्य शब्द से सम्बोधित किया जाता है। शास्त्र में ऐसे अनेक प्रयोग उपलब्ध होते हैं, जिनमें द्रव्य शब्द योग्यता का सूचक है ।। १० ।।

*द्रव्य शब्द के योग्यतावाचक अर्थ का शास्त्र में प्रयोग*

मिउपिंडो दव्वघडो सुसावगो तह य दव्वसाहुत्ति ।
साहू य दव्वेदवो एमाइ सुए जओ भणितं ।। ११ ।।

मृत्पिण्डो द्रव्यघटः सुश्रावकस्तथा च द्रव्यसाधुरिति ।
साधुश्च द्रव्यदेव एवमादि श्रुते यतो भणितम् ।। ११ ।।

मिट्टी का पिण्ड द्रव्य है, क्योंकि उसमें घट बनने की योग्यता है। अच्छा श्रावक द्रव्यसाधु है और साधु द्रव्यदेव है — इस प्रकार शास्त्र में कहा गया है। तात्पर्य यह है कि मिट्टी भले ही पिण्डाकार है, लेकिन उसमें घड़ा बनने की योग्यता है। उससे घड़ा बन सकता है, इसलिए वह द्रव्यघट है। सुश्रावक में साधु बनने की योग्यता है, इसलिए उसे द्रव्यसाधु कहा जाता है और साधु में देव बनने की योग्यता होने के कारण उसे द्रव्यदेव कहा जाता है ।। ११ ।।

*अप्रधान द्रव्यस्तव*

ता भावत्थयहेऊ जो सो दवत्थओ इहं इट्ठो ।
जो उ व णेवंभूओ स अप्पहाणो परं होति ।। १२ ।।

तद् भावस्तवहेतुर्यः स द्रव्यस्तव इहेष्टः ।
यस्तु वा नैवम्भूतः स अप्रधानः परं भवति ।। १२ ।।

जो भावस्तव का हेतु है वही द्रव्यस्तव है, यही यहाँ अभीष्ट है। अतः जो

उक्त प्रकार के भाव की योग्यता वाला द्रव्यस्तव नहीं है, वह अप्रधान द्रव्यस्तव है ॥ १२ ॥

*द्रव्य शब्द का अयोग्यता अर्थ में प्रयोग*

अप्पाहण्णेऽवि इहं कत्थइ दिट्ठो उ दव्वसद्दोत्ति ।
अंगारमद्दगो जह दव्वायरिओ सयाऽभव्वो ॥ १३ ॥

अप्राधान्येऽपि इह कुत्रचिद् दृष्टस्तु द्रव्यशब्द इति ।
अङ्गारमर्दको यथा द्रव्याचार्यः सदाऽभव्यः ॥ १३ ॥

केवल योग्यता के अर्थ में ही नहीं, अयोग्यता के अर्थ में भी कहीं-कहीं द्रव्य शब्द का प्रयोग देखा गया है। जैसे — अंगारमर्दक नामक आचार्य योग्यतारहित होने के कारण द्रव्याचार्य था और वह आजीवन मुक्ति के अयोग्य रहा ॥ १३ ॥

*प्रस्तुत विषय का उपसंहार*

अप्पाहण्णा एवं इमस्स दव्वत्थवत्तमविरुद्धं ।
आणाबज्झत्तणओ न होइ मोक्खंगया णवरं ॥ १४ ॥

अप्राधान्यादेवमस्य द्रव्यस्तवत्वमविरुद्धम् ।
आज्ञाबाह्यत्वाद् न भवति मोक्षाङ्गता नवरम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार अयोग्यता के अर्थ में भी द्रव्यशब्द का प्रयोग होने से भावस्तव का कारण नहीं बनने वाले अनुष्ठान को द्रव्यस्तव के रूप में मानना योग्य है। हाँ ! इतना अवश्य है कि उससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि वह योग्यता रहित होने से आप्त-वचन के बाहर है ॥ १४ ॥

*अप्रधान द्रव्यस्तव से भी अल्प फल की प्राप्ति*

भोगादिफलविसेसो उ अत्थि एत्तोवि विसयभेदेण ।
तुच्छो उ तगो जम्हा हवति पगारंतरेणावि ॥ १५ ॥

भोगादिफलविशेषस्तु अस्ति इतोऽपि विषयभेदेन ।
तुच्छस्तु तको यस्माद् भवति प्रकारान्तरेणापि ॥ १५ ॥

सांसारिक विषय-भोगों आदि की प्राप्ति तो द्रव्यस्तव से भी होती है। क्योंकि स्तव के विषय की अपेक्षा से तो द्रव्यस्तव के विषय वीतराग भगवान् हैं। वीतराग भगवान् विषयक कोई भी अनुष्ठान आज्ञाबाह्य हो तो भी सर्वथा निष्फल नहीं जाता है। इसलिए अप्रधान द्रव्यस्तव आज्ञाबाह्य होने पर भी मनोज्ञ फल देता है, किन्तु वह तुच्छ है। क्योंकि वह फल तो प्रकारान्तर अर्थात् बालतप आदि से भी मिलता है। जो फल दूसरे कारणों से मिलता हो वही वीतराग सम्बन्धी अनुष्ठान

से भी मिले तो वीतराग सम्बन्धी अनुष्ठान की विशेषता ही क्या रही ? अर्थात् कुछ भी नहीं ।। १५ ।।

*प्रधानद्रव्यस्तव में द्रव्यत्व की सिद्धि*

उचियाणुट्ठाणाओ विचित्तजइजोगतुल्लमो एस ।
जं ता कह दव्वत्थओ ? तद्दारेणऽप्पभावाओ ।। १६ ।।

उचितानुष्ठानाद् विचित्रयतियोगतुल्य एषः ।
यत्तत् कथं द्रव्यस्तवः ? तद्द्वारेणाल्पभावात् ।। १६ ।।

भावस्तव का कारण नहीं बनने वाले अनुष्ठान द्रव्यस्तव हैं, यदि यह बात मान ली जाती है तो फिर भाववस्तव का कारण बनने वाले जिनभवन निर्माण आदि अनुष्ठान द्रव्यस्तव क्यों होंगे ? भावस्तव क्यों नहीं होंगे ? यह प्रश्न उपस्थित होता है, क्योंकि ये अनुष्ठान आप्तकथित होने के कारण साधुओं के ग्लानसेवा, स्वाध्याय आदि कार्यों के समान ही होते हैं और साधुओं के उपर्युक्त कार्य भावस्तव कहे जाते हैं तो इन अनुष्ठानों को भी भावस्तव क्यों नहीं कहा जाता है?

इसका समाधान यह है कि — साधुओं के उपर्युक्त कार्यों से होने वाले शुभ अध्यवसाय की अपेक्षा जिनभवन निर्माण आदि अनुष्ठानों से होने वाले शुभ अध्यवसाय कम होते हैं, इसलिए वे द्रव्यस्तव हैं ।। १६ ।।

*भावस्तव की अपेक्षा द्रव्यस्तव की असारता*

जिणभवणादिविहाणद्दारेणं एस होति सुहजोगो ।
उचियाणुट्ठाणंपि य तुच्छो जइजोगतो णवरं ।। १७ ।।

जिनभवनादिविधानद्वारेण एषो भवति शुभयोगः ।
उचितानुष्ठानमपि च तुच्छो यतियोगतः केवलम् ।। १७ ।।

यद्यपि जिनभवन निर्माण आदि के रूप में द्रव्य-स्तव साधु के योग अर्थात् प्रवृत्ति की तरह शुभ होता है और आप्तवचन होने के कारण विहित क्रियारूप भी होता है तो भी साधु के योग की अपेक्षा तुच्छ है। क्योंकि साधुओं की प्रवृत्तियाँ स्वरूप से ही शुभ होती हैं। जबकि द्रव्यस्तव जिनभवन निर्माण आदि कार्यों के द्वारा ही शुभ है, स्वरूप से नहीं, उसमें थोड़ा पाप भी होता है ।। १७ ।।

*द्रव्यस्तव की असारता का कारण*

सव्वत्थ निरभिसंगत्तणेण जइजोगमो महं होइ ।
एसो उ अभिस्संगा कत्थइ तुच्छेऽवि तुच्छो उ ।। १८ ।।

सर्वत्र निरभिष्वङ्गत्वेन यतियोगो महान् भवति ।
एषस्तु अभिष्वङ्गात् कुत्रचित् तुच्छेऽपि तुच्छस्तु ।। १८ ।।

साधु द्रव्य आदि सभी प्रवृत्तिओं में निस्संग होता है, इसलिए उसके क्रिया-व्यापार द्रव्यस्तव की अपेक्षा उत्तम हैं। द्रव्यस्तव करने वाले गृहस्थ तो शरीर, स्त्री और पुत्रादि में आसक्त होते हैं, इसलिए गृहस्थों का द्रव्यस्तव साधुओं की प्रवृत्ति की अपेक्षा कभी-कभी तो तुच्छ से भी तुच्छ होता है ।। १८ ।।

*आसक्ति के कारण द्रव्यस्तव की असारता का स्पष्टीकरण*

जम्हा उ अभिस्संगो जीवं दूसेइ णियमतो चेव ।
तद्दूसियस्स जोगो विसघारियजोगतुल्लोत्ति ।। १९ ।।

यस्मात्तु अभिष्वङ्गो जीवं दूषयति नियमतश्चैव ।
तद्दूषितस्य योगो विषघारितयोगतुल्य इति ।। १९ ।।

क्योंकि आसक्तिरूप मल जीव को अवश्य ही दूषित कर देता है और दूषित जीव का व्यापार विष से आक्रान्त पुरुष के व्यापार के समान होता है, अर्थात् जिस प्रकार विष से आक्रान्त पुरुष में चेतना के धूमिल होने से उसका व्यापार अल्प-सार्थक ही होता है, उसी प्रकार आसक्ति वाले जीव का व्यापार भी अल्पशुद्ध ही होता है ।। १९ ।।

*साधु का व्यापार सर्वथा शुद्ध*

जइणो अदूसियस्सा हेयाओ सव्वहा णियत्तस्स ।
सुद्धो उ उवादेए अकलंको सव्वहा सो उ ।। २० ।।

यते अदूषितस्य हेयात् सर्वथा निवृत्तिस्य ।
शुद्धस्तु उपादेये अकलङ्कः सर्वथा सस्तु ।। २० ।।

आसक्ति से रहित, अकलुषित तथा हिंसादि पापकर्मों से सर्वथा मुक्त साधु का महाव्रतादि में प्रवृत्ति रूप व्यापार शुद्ध ही होता है, इसलिए साधु का क्रिया-व्यापार हमेशा निर्दोष होता है ।। २० ।।

*भावस्तव और द्रव्यस्तव में भेद*

असुहतरंडुत्तरणप्पाओ दव्वत्थओऽसमत्तो य ।
णदिमादिसु इयरो पुण समत्तबाहुत्तरणकप्पो ।। २१ ।।

कडुगोसहादिजोगा मंथररोगसमसण्णिहो वावि ।
पढमो विणोसहेणं तक्खयतुल्लो य बितिओ उ ।। २२ ।।

पढमाउ कुसलबंधो तस्स विवागेण सुगइमादीया ।
तत्तो परंपराए बितिओऽवि हु होइ कालेणं ।। २३ ।।

अशुभतरण्डोत्तरणप्रायो द्रव्यस्तव असमाप्तश्च ।
नद्यादिषु इतरः पुनः समाप्तबाहूत्तरणकल्पः ।। २१ ।।

कटुकौषधादियोगाद् मन्थररोगशमसन्निभो वापि ।
प्रथमो विनौषधेन तत्क्षयतुल्यश्च द्वितीयस्तु ।। २२ ।।

प्रथमात् कुशलबन्धः तस्य विपाकेन सुगत्यादयः ।
ततः परम्परया द्वितीयोऽपि खलु भवति कालेन ।। २३ ।।

द्रव्यस्तव किंचित् सावद्य होने से नदी आदि में पतवार से नाव खेकर पार जाने की क्रिया के समान सापेक्ष है और मोक्ष के लिए भावस्तव की अपेक्षा रखने वाला होने के कारण अपूर्ण है, जबकि भावस्तव आत्मपरिणामरूप होने के कारण बाह्यद्रव्य की अपेक्षा से रहित होने के कारण नदी आदि में हाथ से तैरकर पार जाने की क्रिया के समान निरपेक्ष है और द्रव्यस्तव की अपेक्षा से रहित मोक्ष का कारण होने से पूर्ण है ।। २१ ।।

द्रव्यस्तव बाह्यद्रव्यों की अपेक्षा रखने वाला होने के कारण कड़वी औषधि आदि से दीर्घकालीन रोग के उपशमित हो जाने के समान है, जबकि भावस्तव औषधि के बिना ही उस रोग के निर्मूल नष्ट हो जाने के समान है ।। २२ ।।

द्रव्यस्तव से पुण्यानुबन्धी पुण्यकर्म का बन्ध होता है, उसके उदय से सुगति, शुभसत्व आदि मिलता है। उसके बाद परम्परा से थोड़े समय के बाद भावस्तव का योग भी मिलता है ।। २३ ।।

*भावस्तव की महत्ता*

चरणपडिवत्तिरूवो थोयव्वोचियपवित्तिओ गुरुओ ।
संपुण्णाणाकरणं कयकिच्चे हंदि उचियं तु ।। २४ ।।

चरणप्रतिपत्तिरूपः स्तोतव्योचितप्रवृत्तितो गुरुकः ।
सम्पूर्णाज्ञाकरणं कृतकृत्ये हंदि उचितं तु ।। २४ ।।

चारित्र की स्वीकृतिरूप भावस्तव वीतराग भगवान् से सम्बन्धित उचित प्रवृत्ति होने के कारण महान् है। वस्तुतः वीतराग की सम्पूर्ण आज्ञा का पालन ही उचित प्रवृत्ति है। द्रव्यस्तव सम्पूर्ण आज्ञा का पालन रूप नहीं है ।। २४ ।।

*साधु ही सम्पूर्ण आज्ञा का पालक*

णेयं च भावसाहुं विहाय अण्णो चएति काउं जे[१] ।
सम्मं तग्गुणणाणाभावा तह कम्मदोसा य ॥ २५ ॥

नेदं च भावसाधुं विहाय अन्यः शक्नोति कर्तुम् ।
सम्यक् तद्गुणज्ञानाभावात् तथा कर्मदोषाच्च ॥ २५ ॥

भावसाधु के अतिरिक्त दूसरा कोई भी सम्पूर्ण आज्ञा का पालन नहीं कर सकता है, क्योंकि भाव साधुत्व से रहित अन्य व्यक्तियों को सम्पूर्ण आज्ञापालन से प्राप्त होने वाला यथार्थ लाभ नहीं मिलता है। साथ ही उनमें चारित्रमोहनीय आदि कर्मों का दोष भी होता है ॥ २५ ॥

*अन्य आचार्य भी भावस्तव को महान् मानते हैं*

इत्तो च्चिय फुल्लामिसथुईपडिवत्तिपूयमज्झंमि ।
चरिमा गरुई इट्ठा अण्णेहिवि णिच्चभावाओ ॥ २६ ॥

इत एव पुष्पामिषस्तुतिप्रतिपत्तिपूजामध्ये ।
चरमा गुर्वी इष्टा अन्यैरपि नित्यभावात् ॥ २६ ॥

जिन-आज्ञा का पूर्णतः पालन साधु से ही हो सकता है। इसी कारण अन्य आचार्य भी पुष्प-पूजा, आहार-दान, स्तुति और चारित्र स्वीकार (प्रतिपत्ति) — इन चार पूजाओं में से अन्तिम पूजा (चारित्र स्वीकार) को महान् मानते हैं, क्योंकि वह प्रतिक्षण होती है, जबकि पुष्पादि पूजा कभी-कभी होती है ॥ २६ ॥

*दोनों स्तव परस्पर सम्बद्ध हैं*

दव्वत्थयभावत्थयरूवं एयमिह होति दट्ठव्वं ।
अण्णोऽण्णसमणुविद्धं णिच्छयतो भणियविसयं तु ॥ २७ ॥

द्रव्यस्तवभावस्तवरूपं एतदिह भवति द्रष्टव्यम् ।
अन्योऽन्यसमनुबिद्धं निश्चयतो भणितविषयं तु ॥ २७ ॥

जिनभवन निर्माण आदि द्रव्यस्तव और चारित्रस्वीकार रूप भावस्तव — ये दोनों भिन्न-भिन्न होने पर भी परमार्थ से परस्पर सम्बद्ध हैं। इन दोनों के अधिकारी पहले कह दिये गये हैं, अर्थात् द्रव्यस्तव का अधिकारी गृहस्थ है और भावस्तव का साधु, किन्तु गौण रूप से गृहस्थ को भी भावस्तव होता है और साधु को द्रव्यस्तव। इसलिए दोनों स्तव परस्पर सम्बद्ध हैं ॥ २७ ॥

---

१. 'जे' इति पादपूरणे निपातः ।

*साधु के द्रव्यस्तव की पुष्टि*

जइणोवि हु दव्वत्थयभेदो अणुमोयणेण अत्थित्ति ।
एयं च एत्थ णेयं इय सुद्धं तंतजुत्तीए ।। २८ ।।

यतेरपि खलु द्रव्यस्तवभेद अनुमोदनेन अस्तीति ।
एतच्च अत्र ज्ञेयं इति शुद्धं तन्त्रयुक्तया ।। २८ ।।

साधु को भी जिनपूजा एवं दर्शन आदि से हुए हर्ष, प्रशंसा रूप अनुमोदन से द्रव्यस्तव होता है। इस अनुमोदन को द्रव्यस्तव प्रकरण में वर्णित शास्त्र-युक्ति से सम्यक् प्रकार से जानना चाहिए ।। २८ ।।

तंतम्मि वंदणाए पूयणसक्कारहेउ उस्सग्गो ।
जतिणोऽवि हु णिद्दिट्ठो ते पुण दव्वत्थयसरूवे ।। २९ ।।

तन्त्रे वन्दनायां पूजनसत्कारहेतुरुत्सर्गः ।
यतेरपि खलु निर्दिष्टः तौ पुनो द्रव्यस्तवस्वरूपौ ।। २९ ।।

चैत्यवन्दन के 'अरिहंत चेइयाणं' सूत्र में साधु के लिए भी पूजन-सत्कार के लिए कायोत्सर्म कहा गया है। वे पूजन और सत्कार द्रव्यस्तव रूप हैं। इसलिए साधु को द्रव्यस्तव भी होता है, इसका अनुमोदन शास्त्रसम्मत है ।। २९ ।।

*पूजा और सत्कार का स्वरूप*

मल्लाइएहिं पूआ सक्कारो पवरवत्थमादीहिं ।
अण्णे विवज्जओ इह दुहावि दव्वत्थओ एत्थ ।। ३० ।।

माल्यादिभिः पूजा सत्कारः प्रवरवस्त्रादिभिः ।
अन्ये विपर्यय इह द्विधाऽपि द्रव्यस्तवोऽत्र ।। ३० ।।

पुष्पमाला आदि से की जाने वाली पूजा पूजा है और उत्तम वस्त्र आदि से की जाने वाली पूजा सत्कार है। कुछ आचार्यों का मन्तव्य इसके विपरीत है। उनका कहना है कि उत्तम वस्त्र आदि से की गई पूजा पूजा है और पुष्पमाला आदि से की गई पूजा सत्कार है। यहाँ पूजन और सत्कार — दोनों द्रव्यस्तव हैं ।। ३० ।।

*साधु के द्रव्यस्तव की पुनः पुष्टि*

ओसरणे बलिमादी ण चेह जं भगवयावि पडिसिद्धं ।
ता एसमणुण्णाओ उचियाणं गम्मती तेण ।। ३१ ।।

अवसरणे बल्यादि न चेह यद् भगवताऽपि प्रतिषिद्धम् ।
तदेषोऽनुज्ञात उचितानां गम्यते तेन ।। ३१ ।।

समवसरण में पूजा आदि का निषेध नहीं किया गया है, क्योंकि वह भी द्रव्यस्तव है। राजा आदि का यह द्रव्यस्तव भगवान् को अनुमत है ।। ३१ ।।

ण य भगवं अणुजाणति जोगं मुक्खविगुणं कदाचिदपि ।
ण य तयणुगुणोवि तओ ण बहुमतो होति अण्णेसिं ।। ३२ ।।

न च भगवान् अनुजानाति योगं मोक्षविगुणं कदाचिदपि ।
न च तदनुगुणोऽपि तको न बहुमतो भवति अन्येषाम् ।। ३२ ।।

भगवान् मोक्ष के प्रतिकूल व्यापार की अनुमति कभी भी नहीं देते हैं, क्योंकि वे सदा और सर्वत्र पारमार्थिक परोपकार करने की भावना वाले होते हैं और ऐसा नहीं हो सकता कि साधुओं को मोक्ष के अनुकूल क्रिया में बहुमान न हो ।। ३२ ।।

*द्रव्यस्तव भगवान् को सम्मत है — इसकी दूसरी युक्ति*

जो चेव भावलेसो सो चेव य भगवतो बहुमतो उ ।
ण तओ विणेयरेणंति अत्थओ सोवि एमेव ।। ३३ ।।

य एव भावलेश: स एव च भगवतो बहुमतस्तु ।
न तको विनेतरेणेति अर्थत: सोऽपि एवमेव ।। ३३ ।।

जो थोड़ा सा भी भावस्तव है वह ही भगवान् द्वारा स्वीकृत है और वह द्रव्यस्तव के बिना सम्भव नहीं है। इस प्रकार अर्थापत्ति होने से द्रव्यस्तव भी भगवान् द्वारा स्वीकृत है ।। ३३ ।।

कज्जं इच्छंतेणं अणंतरं कारणंपि इट्ठं तु ।
जह आहारजतित्तिं इच्छंतेणेह आहारो ।। ३४ ।।

कार्यमिच्छता अनन्तरं कारणमपि इष्टं तु ।
यथा आहारजतृप्तिमिच्छतेह आहार: ।। ३४ ।।

भावस्तव रूप कार्य की इच्छा करने वाले के लिए भाव का कारणरूप द्रव्यस्तव भी इष्ट होता है। जिस प्रकार आहार से उत्पन्न तृप्ति को चाहने वाले के लिए आहार करना भी इष्ट होता है ।। ३४ ।।

जिणभवणकारणाइवि भरहादीणं ण वारितं तेण ।
जह तेसिं चिय कामा सल्लविसादीहिं णाएहिं ।। ३५ ।।

जिनभवनकारणाद्यपि भरतादीनां न वारितं तेन ।
यथा तेषामेव कामा: शल्यविषादिभि: ज्ञातै: ।। ३५।।

आदिनाथ भगवान् ने भरत आदि को जिस प्रकार शल्य, विष आदि के उदाहरण देकर विषयभोगों का निषेध किया है, उसी प्रकार जिनभवन निर्माण आदि का निषेध नहीं किया है। यदि आदिनाथ भगवान् को जिनभवन निर्माण आदि अनुमत नहीं होता तो वे विषयभोगों की तरह उनका भी निषेध करते ॥ ३५ ॥

ता तंपि अणुमयं चिय अप्पडिसेहाउ तंतजुत्तीए ।
इय सेसाणवि एत्थं अणुमोयणमादि अविरुद्धं ॥ ३६ ॥

तत् तदपि अनुमतमेव अप्रतिषेधात् तन्त्रयुक्तया ।
इति शेषाणामपि अत्र अनुमोदनमादि अविरुद्धम् ॥ ३६ ॥

भगवान् ने जिनभवन निर्माण आदि का निषेध नहीं किया है, इस शास्त्रयुक्ति से यह सिद्ध है कि जिनभवन आदि का निर्माण उनको अभिमत है। इसी प्रकार साधुओं को भी जिन बिम्बदर्शन से होने वाली प्रसन्नता आदि से द्रव्यस्तव सम्बन्धी अनुमोदन सङ्गत है ॥ ३६ ॥

*साधुओं के द्रव्यस्तव होने की पुनः पुष्टि*

जं च चउद्धा विणओ भणिओ उवयारिओ उ जो तत्थ ।
सो तित्थगरे णियमा ण होइ दव्वत्थयादण्णो ॥ ३७ ॥

यच्च चतुर्धा विनयो भणित औपचारिकस्तु यः तत्र ।
सः तीर्थकरे नियमान्न भवति द्रव्यस्तवादन्यः ॥ ३७ ॥

दशवैकालिक के विनयसमाधि अध्ययन आदि में जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार रूप चार प्रकार की विनय कही गयी है, उसमें जो औपचारिक विनय है वह तीर्थंकर के विषय में द्रव्यस्तव से भिन्न नहीं है अर्थात् द्रव्यस्तव रूप ही है ॥ ३७ ॥

एयस्स उ संपाडणहेउं तह चेव वंदणाए उ ।
पूजणमादुच्चारणमुववण्णं होइ जइणोवि ॥ ३८ ॥

एतस्य तु सम्पादनहेतुं तथैव वन्दनायां तु ।
पूजनाद्युच्चारणमुपपन्नं भवति यतेरपि ॥ ३८ ॥

द्रव्यस्तवरूप औपचारिक विनय करने के लिए ही चैत्यवन्दन में पूजा आदि का उल्लेख है, इसलिए साधु के लिए भी मर्यादानुकूल द्रव्यस्तव संगत है ॥ ३८ ॥

इहरा अणत्थगं तं ण य तयणुच्चारणेण सा भणिता ।
ता अहिसंधारणओ संपाडणमिट्ठमेयस्स ॥ ३९ ॥

इतरथा अनर्थकं तन्न च तदनुच्चारणेन सा भणिता ।
तद् अभिसंधारणात् सम्पादनमिष्टमेतस्य ।। ३९ ।।

पूजा, चैत्यवंदन आदि में सूत्र-पाठ का उच्चारण यदि द्रव्यस्तव के लिए न हो तो वह निरर्थक होता है, क्योंकि आगम में सूत्र-पाठ के उच्चारण के बिना वन्दना नहीं कही गयी है, अर्थात् सूत्र-पद के उच्चारण के बिना वन्दना हो ही नहीं सकती है। इसलिए साधु कायोत्सर्गपूर्वक स्तवन-पाठ रूप द्रव्यस्तव करें – यही शास्त्रसम्मत है ।। ३९ ।।

*साधु साक्षात् द्रव्यस्तव क्यों नहीं करे – इसका समाधान*

सक्खा उ कसिणसंयमदव्वाभावेहिं णो अयं इट्ठो ।
गम्मइ तंतठितीए भावपहाणा हि मुणउत्ति ।। ४० ।।

साक्षात्तु कृत्स्नसंयमद्रव्याभावाभ्यां न अयमिष्टः ।
गम्यते तन्त्रस्थित्या भावप्रधाना हि मुनय इति ।। ४० ।।

सर्वथा प्राणातिपातविरमणरूप सम्पूर्ण अहिंसा महाव्रत के पालन करने वाले तथा पूर्ण अपरिग्रही साधुओं के लिए साक्षात् द्रव्य-पूजा करना शास्त्रसम्मत नहीं है – ऐसा शास्त्रनीति से लगता है। साधुओं के लिए स्नानादि शास्त्र निषिद्ध हैं, क्योंकि मुनियों में भाव की प्रधानता होती है। इसलिए मुनियों के लिए भाव से ही पूजा करना उपयुक्त है ।। ४० ।।

*गृहस्थ साक्षात् पूजा करने का अधिकारी*

एएहिंतो अण्णे जे धम्महिगारिणो हु तेसिं तु।
सक्खं चिय विण्णेओ भावंगतया जतो भणितं।। ४१ ।।

अकसिणपवत्तयाणं विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो।
संसारपयणुकरणे दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो।। ४२ ।।

एतोभ्योऽन्ये ये धर्माधिकारिणः खलु तेषां तु।
साक्षादेव विज्ञेयो भावाङ्गतया यतो भणितम्।। ४१ ।।

अकृत्स्नप्रवर्तकानां विरताविरतानामेषः खलु युक्तः।
संसारप्रतनुकरणे द्रव्यस्तवे कूपदृष्टान्तः।। ४२ ।।

मुनियों से भिन्न जो धर्माधिकारी जीव हैं, उनके लिए साक्षात् द्रव्यस्तव का विधान है, क्योंकि वह द्रव्यस्तव शुभभाव का कारण होता है। इसका आवश्यकनिर्युक्ति में विवेचन किया गया है ।। ४१ ।।

एकदेश संयमवाले देशविरति श्रावकों के लिए भव कम करने में यह

द्रव्यस्तव योग्य है। इसकी स्पष्टता के लिए कूप-खनन का दृष्टान्त दिया जाता है ।। ४२ ।।

**विशेष :** तीसरे पञ्चाशक की १०वीं गाथा में इस दृष्टान्त का वर्णन किया जा चुका है, अत: वहाँ द्रष्टव्य है।

*आवश्यक में जिनभवनादि का भी विधान*

सो खलु पुप्फाईओ तत्थुत्तो न जिणभवणमाईवि ।
आईसद्दा वुत्तो तयभावे कस्स पुप्फाई ।। ४३ ।।

स: खलु पुष्पादिक: तत्रोक्त: न जिनभवनाद्यपि ।
आदिशब्दादुक्त: तदभावे कस्य पुष्पादि: ।। ४३ ।।

**प्रश्न :** आवश्यकसूत्र में 'दव्वत्थओ पुप्फाई' कहकर पुष्प, दीप, धूप आदि द्रव्यस्तव हैं — यह कहा गया है, किन्तु यहाँ जिनभवन निर्माण आदि को द्रव्यस्तव कहा है, ऐसा क्यों ?

**उत्तर :** पुष्पादि शब्द में आदि शब्द से जिनभवन निर्माण आदि का भी सूचन हो जाता है। क्योंकि जिनभवन आदि न हो तो पुष्पादि से पूजा किसकी होगी ? ।। ४३ ।।

*साधुओं को द्रव्यस्तव के अनुमोदन का निषेध नहीं*

णणु तत्थेव य मुणिणो पुप्फाइनिवारणं फुडं अत्थि।
अत्थि तयं सयकरणं पडुच्च नऽणुमोयणाईवि।। ४४ ।।

ननु तत्रैव च मुने: पुष्पादिनिवारणं स्फुटमस्ति।
अस्ति तकं स्वयंकरणं प्रतीत्य नानुमोदनाद्यपि।। ४४ ।।

**प्रश्न :** आवश्यक सूत्र में मुनियों द्वारा पुष्पादि से पूजा करने का स्पष्ट निषेध किया गया है तो उनको द्रव्यस्तव कैसे होगा ?

**उत्तर :** वहाँ साधुओं को स्वयं पुष्पादि पूजा करने का निषेध किया गया है न कि अनुमोदना आदि का भी। साधु सामान्यतया दूसरों से द्रव्यस्तव करवा सकते हैं ।। ४४ ।।

सुव्वइ य वइररिसिणा कारवणंपि हु अणुट्ठियमिमस्स।
वायगगंथेसु तहा एयगया देसणा चेव।। ४५ ।।

श्रूयते च वैरऋषिणा कारापणमपि अनुष्ठितमस्य।
वाचकग्रन्थेषु तथा एकगता देशना एव।। ४५ ।।

ऐसा सुना जाता है कि वज्र ऋषि के द्वारा भी दूसरों से द्रव्यस्तव

(पूजाविधान) करवाया गया था और आवश्यकनिर्युक्ति में साधुओं के लिए द्रव्य-पूजा के उपदेश का विधान है ही। वस्तुतः साधुओं को पुष्पादि से स्वयं पूजा करने का निषेध है, किन्तु दूसरों से करवाने का निषेध नहीं है ।। ४५ ।।

दव्वत्थओवि एवं आणापरतंतभावलेसेण ।
समणुगउच्चिय णेओऽहिगारिणो सुपरिसुद्धोत्ति ।। ४६ ।।

द्रव्यस्तवोऽपि एवमाज्ञापरतन्त्रभावलेशेन ।
समनुगत एव ज्ञेयोऽधिकारिणः सुपरिशुद्ध इति ।। ४६ ।।

जिस प्रकार भावस्तव द्रव्यस्तव से युक्त है, उसी प्रकार योग्य गृहस्थ द्वारा किया गया परिशुद्ध द्रव्यस्तव भी भावस्तव से युक्त है, ऐसा जिनवचन है। द्रव्यस्तव भगवान के प्रति बहुमान रूप भाव से युक्त होता है अर्थात् द्रव्यस्तव से उत्पन्न होने वाला भाव (अल्पशुभभाव) अल्पभावस्तव रूप है। इस प्रकार द्रव्यस्तव भी भाव से युक्त होने के कारण भावस्तव कहा जाता है ।। ४६ ।।

*सुपरिशुद्ध द्रव्यस्तव का लक्षण*

लोगे सलाहणिज्जो विसेसजोगाउ उण्णइणिमित्तं ।
जो सासणस्स जायइ सो णेओ सुपरिसुद्धोत्ति ।। ४७ ।।

लोके श्लाघनीयो विशेषयोगाद् उन्नतिनिमित्तम् ।
यः शासनस्य जायते स ज्ञेयः सुपरिशुद्ध इति ।। ४७ ।।

जो लोक में प्रशंसनीय हो और जिसके कारण विशिष्ट भाव उत्पन्न होते हों तथा जिनशासन की प्रभावना होती हो, ऐसा द्रव्यस्तव सुपरिशुद्ध द्रव्यस्तव है ।। ४७ ।।

*द्रव्यस्तव में भावलेश के समावेश का प्रमाण*

तत्थ पुण वंदणाइंमि उचियसंवेगजोगओ णियमा ।
अत्थि खलु भावलेसो अणुहवसिद्धो विहिपराणं ।। ४८ ।।

तत्र पुन वन्दनादौ उचितसंवेगयोगतो नियमात् ।
अस्ति खलु भावलेशोऽनुभवसिद्धो विधिपराणाम् ।। ४८ ।।

द्रव्यस्तव में चैत्यवन्दन, स्तुति, प्रणिधान, चन्दनादि से पूजा आदि में अपनी-अपनी भूमिका के अनुरूप उत्साह से अंशतः शुभभाव अवश्य होता है। इसमें आगमोक्त विधिपूर्वक चैत्यवन्दनादि करने वालों का अनुभव प्रमाण है ।। ४८ ।।

*द्रव्यस्तव से भावलेश होने में कारण*

दव्वत्थयारिहत्तं सम्मं णाऊण भयवओ तंमि ।
तह उ पयट्टंताणं तब्भावाणुमइओ सो चेव ।। ४९ ।।

द्रव्यस्तवार्हत्वं सम्यग् ज्ञात्वा भगवतः तस्मिन् ।
तथा तु प्रवर्तमानानां तद्भावानुमतेः स चैव ।। ४९ ।।

भगवान् महनीय गुणों से युक्त हैं, इसलिए द्रव्यस्तव के योग्य हैं — ऐसा अच्छी तरह जानकर जो जीव द्रव्यस्तव में विधिपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं, उनकी आंशिक भाव-विशुद्धि अनुभवसिद्ध है। यह भावविशुद्धि जिनगुणों के अनुमोदन से होती है। इस प्रकार द्रव्यस्तव और भावस्तव परस्पर सम्बद्ध हैं ।। ४९ ।।

**उपसंहार**

अलमेत्थ पसंगेणं उचियत्तं अप्पणो मुणेऊणं ।
दोवि इमे कायव्वा भवविरहत्थं बुहजणेणं ।। ५० ।।

अलमत्र प्रसङ्गेन उचितत्वम् आत्मनो ज्ञात्वा ।
द्वावपि इमौ कर्तव्यौ भवविरहार्थं बुधजनेन ।। ५० ।।

अब यहाँ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। अपनी क्षमता को जानकर अपने संसार का अन्त करने के लिए बुद्धिमान् लोगों ( साधुओं और श्रावकों ) को द्रव्य और भाव — ये दोनों स्तव करने चाहिए ।। ५० ।।

**।। इति स्तवविधिर्नाम षष्ठ पञ्चाशकम् ।।**

# ७

# जिनभवननिर्माणविधि पञ्चाशक

छठवें पञ्चाशक में स्तवविधि कही गयी है। उसमें द्रव्यस्तव और भावस्तव के विषय में कहा गया है। जिनभवन-निर्माण द्रव्यस्तव रूप है, इसलिए सातवें पञ्चाशक में जिनभवन-निर्माण-विधि कहने से पूर्व मङ्गलाचरण करते हैं :

*मङ्गलाचरण*

नमिऊण वद्धमाणं वोच्छं जिणभवणकारणविहाणं ।
संखेवओ महत्थं गुरूवएसाणुसारेणं ।। १ ।।

नत्वा वर्धमानं वक्ष्ये जिनभवनकारणविधानम् ।
सङ्क्षेपतो महार्थं गुरूपदेशानुसारेण ।। १ ।।

वर्धमान स्वामी को नमस्कार करके गुरु के उपदेशानुसार महान् अर्थ को धारण करने वाली जिनभवन-निर्माण-विधि को संक्षेप में कहूँगा ।। १ ।।

*अधिकारी व्यक्ति को जिनभवन कराना चाहिए*

अहिगारिणा इमं खलु कारेयव्वं विवज्जए दोसो ।
आणाभंगाउ च्चिय धम्मो आणाएँ पडिबद्धो ।। २ ।।

अधिकारिणा इदं खलु कारयितव्यं विपर्यये दोषः ।
आज्ञाभङ्गादेव धर्म आज्ञायां प्रतिबद्धः ।। २ ।।

जिनभवन-निर्माण योग्य व्यक्ति के द्वारा करवाया जाना चाहिए। अयोग्य व्यक्ति के द्वारा करवाने पर अशुभ कर्मबन्ध रूप दोष लमता है, क्योंकि यदि अयोग्य व्यक्ति जिनभवन का निर्माण करवायेगा तो आज्ञा का भंग होगा। चूँकि धर्म आज्ञापालन में निहित है, इसलिए आज्ञाभंग से दोष लगेगा ।। २ ।।

*आज्ञा का महत्त्व*

आराहणाइ तीए पुण्णं पावं विराहणाए उ ।
एयं धम्मरहस्सं विण्णेयं बुद्धिमंतेहिं ।। ३ ।।

आराधनायाः तस्याः पुण्यं पापं विराधनायास्तु ।
एतद्धर्मरहस्यं विज्ञेयं बुद्धिमद्भिः ।। ३ ।।

आप्त-वचन (आज्ञा) का पालन करने से पुण्य अर्थात् शुभ कर्म का

बन्ध होता है और उसकी विराधना करने से पाप अर्थात् अशुभ कर्म का बन्ध होता है। यही धर्म का रहस्य है। बुद्धिजीवियों के द्वारा इस रहस्य को जानना चाहिए ।। ३ ।।

*जिनभवन बनवाने के योग्य जीव का स्वरूप*

अहिगारी उ गिहत्थो सुहसयणो वित्तसंजुओ कुलजो ।
अक्खुद्दो धिइबलिओ मइमं तह धम्मरागी अ ।। ४ ।।
गुरुपूयाकरणरई सुस्सूसाइगुणसंगओ चेव ।
णायाऽहिगयविहाणस्स धणियं माणप्पहाणो य ।। ५ ।।

अधिकारी तु गृहस्थः शुभस्वजनो वित्तसंयुतः कुलजः ।
अक्षुद्रो धृतिबलिको मतिमान् तथा धर्मरागी च ।। ४ ।।
गुरुपूजाकरणरतिः शुश्रूषादिगुणसङ्गतश्चैव ।
ज्ञानाधिगतविधानस्य धनिकं मानप्रधानश्च ।। ५ ।।

जिनभवन निर्माण कराने का अधिकारी वह है जो गृहस्थ हो, शुभभाव वाला स्वधर्मी हो, समृद्ध हो, कुलीन हो, कंजूस न हो, धैर्यवान् हो, बुद्धिमान हो और धर्मानुरागी हो ।। ४ ।।

गुरु (माता, पिता और धर्माचार्य आदि) की स्तुति करने में तत्पर हो, शुश्रूषादि आठ गुणों[१] से युक्त हो, जिनभवन की निर्माण-विधि का ज्ञाता हो और आगमों को अधिक महत्त्व देने वाला हो ।। ५ ।।

*जिनमन्दिर बनवाने हेतु उक्त गुणों की आवश्यकता*

एसो गुणड्ढिजोगा अणेगसत्ताण तीइ विणिओगा ।
गुणरयणवियरणेणं तं कारिंतो हियं कुणइ ।। ६ ।।

एष गुणर्द्धियोगाद् अनेकसत्त्वानां तस्या विनियोगात् ।
गुणरत्नवितरणेन तत् कारयन् हितं करोति ।। ६ ।।

जिनमन्दिर का निर्माण कराने की योग्यता वाला व्यक्ति जिनमन्दिर का निर्माण कराते समय उक्त गुणरूपी ऋद्धि से युक्त होने से उन गुणोंरूपी रत्नों (सम्यग्दर्शन आदि) को अनेक जीवों को देकर उनका हित करते हुए अपना हित करता है। इस प्रकार अपने और दूसरों के हित के लिए जिनमन्दिर बनवाने वाले व्यक्ति में उक्त गुणों का होना आवश्यक है ।। ६ ।।

---

१. शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा ।
ऊहाऽपोहोऽर्थविज्ञानं, तत्त्वज्ञानं तु धीगुणाः ।।

*जिनमन्दिर निर्माण द्वारा होने वाले हित का स्वरूप*

तं तह पवत्तमाणं दट्ठुं केइ गुणरागिणो मग्गं ।
अण्णे उ तस्स बीयं सुहभावाओ पवज्जंति ।। ७ ।।

तत्तथा प्रवर्तमानं दृष्ट्वा केचिद् गुणरागिणो मार्गम् ।
अन्ये तु तस्य बीजं शुभभावात् प्रपद्यन्ते ।। ७ ।।

उस योग्य व्यक्ति को जिनमन्दिर निर्माण करवाते देखकर कुछ गुणानुरागी मोक्षमार्ग को प्राप्त करते हैं तथा दूसरे गुणानुराग रूप शुभपरिणाम से मोक्ष प्राप्ति के लिये बीजस्वरूप सम्यग्दर्शन आदि को प्राप्त करते हैं ।। ७ ।।

*जिनशासन सम्बन्धी शुभभाव सम्यग्दर्शन का बीज है*

जो च्चिय सुहभावो खलु सव्वन्नुमयम्मि होइ परिसुद्धो ।
सो च्चिय जायइ बीयं बोहीए तेणणाएण ।। ८ ।।

य एव शुभभावः खलु सर्वज्ञानुमते भवति परिशुद्धः ।
स एव जायते बीजं बोधेः स्तेनज्ञातेन ।। ८ ।।

सर्वज्ञदेव द्वारा स्वीकृत जिनशासन के प्रति जो शुभभाव हैं वे परिशुद्ध हैं और वे ही शुभभाव सम्यग्दर्शन का हेतु बनते हैं। इस विषय में एक चोर का दृष्टान्त है, जिसने फाँसी की सजा पाने के लिए जाते समय मुनियों की धार्मिक क्रियाओं को देखकर उनकी प्रशंसा की और भवान्तर में उसको सत्यबोध रूप फल मिला ।। ८ ।।

*जिनभवन निर्माण-विधि*

जिणभवणकारणविही सुद्धा भूमी दलं च कट्ठाई ।
भियगाणइसंधाणं सासयवुड्ढी य जयणा य ।। ९ ।।

जिनभवनकारणविधिः शुद्धा भूमिः दलं च काष्ठादि ।
भृतकानतिसन्धानं स्वाशयवृद्धिश्च यतना च ।। ९ ।।

१. शुद्धभूमि – जहाँ जिनमन्दिर बनवाना हो वह भूमि निर्दोष होनी चाहिए। २. दलशुद्धि – जिससे जिनमन्दिर बनता है वह काष्ठादि शुद्ध होना चाहिए। ३. भृतकानतिसन्धान – काम करने वालों का शोषण नहीं करना चाहिए। ४. स्वाशयवृद्धि – शुभ अध्यवसायों की वृद्धि करनी चाहिए। ५. यतना अर्थात् जिनमन्दिर बनवाते समय कम से कम दोष लगें, ऐसी सावधानी रखनी चाहिए। यह जिनमन्दिर बनवाने की विधि है।

यह द्वारगाथा है। अगली दसवीं गाथा से उपर्युक्त भूमिशुद्धि आदि पाँच द्वारों का विवेचन होगा ।। ९ ।।

## १. भूमिशुद्धि द्वार

*भूमिशुद्धि के दो प्रकार*

दव्वे भावे य तहा सुद्धा भूमी पएसऽकीला य ।
दव्वेऽपत्तिगरहिया अण्णेसिं होइ भावे उ ॥ १० ॥

द्रव्ये भावे च तथा शुद्धा भूमि: प्रदेशकीला च ।
द्रव्ये अप्रीतिकरहिता अन्येषां भवति भावे तु ॥ १० ॥

द्रव्य और भाव — इन दो प्रकारों से भूमि की शुद्धि होती है। सदाचारी लोगों के रहने लायक हो, भूमि में काँटे, हड्डियाँ आदि न हों — यह द्रव्यशुद्धि है और दूसरे लोगों को कोई आपत्ति न हो — यह भावशुद्धि है ॥ १० ॥

*अयोग्य प्रदेश में जिनमन्दिर निर्माण से होने वाले दोष*

अपदेसंमि ण वुड्ढी कारवणे जिणघरस्य ण य पूया ।
साहूणमणणुवाओ किरियाणासो उ अववाए ॥ ११ ॥
सासणगरिहा लोए अहिगरणं कुच्छियाण[1] संपाए ।
आणादीया दोसा संसारणिबंधणा घोरा ॥ १२ ॥

अप्रदेशे न वृद्धिकारणे जिनगृहस्य न च पूजा ।
साधूनामननुपात: क्रियानाशस्तु अवपाते ॥ ११ ॥
शासनगर्हा लोके अधिकरणं कुत्सितानां सम्पाते ।
आज्ञादयो दोषा: संसारनिबन्धना घोरा: ॥ १२ ॥

अयोग्य क्षेत्र में जिनमन्दिर निर्माण से भूमि एवं परिवेश की अशुद्धता से तथा असदाचारी लोगों के प्रभाव से उस जिनमन्दिर की न तो वृद्धि होती है और न पूजा। धर्मभ्रंश के भय से दर्शनादि के लिए साधु भी वहाँ नहीं आते हैं। यदि वहाँ साधु आते भी हैं तो उनके आचार का नाश होता है ॥ ११ ॥

अयोग्य स्थान पर मन्दिरनिर्माण से लोक में जैन-शासन की निन्दा होती है। वहाँ कुत्सित लोगों के आने-जाने से कलह होता है तथा आज्ञाभंग, मिथ्यात्व और विराधनारूप भयंकर दोष लगते हैं, जो घोर संसार-बन्धन के कारण हैं ॥ १२ ॥

*भूमि में काँटे होने से होने वाले दोष*

कीलादिसल्लजोगा होंति अणिव्वाणमादिया दोसा ।
एएसि वज्जणट्ठा जइज्ज इह सुत्तविहिणा उ ॥ १३ ॥

---

१. 'कुत्थियाण' इति पाठान्तरम्।

कीलादिशल्ययोगाद् भवन्ति अनिर्वाणादयो दोषाः ।
एतेषां वर्जनार्थाय यतेत इह सूत्रविधिना तु ।। १३ ।।

जिनमन्दिर की भूमि में काँटे, हड्डियाँ आदि अशुभ वस्तु रूप शल्य होने से अशान्ति, धनहानि, असफलता आदि दोष होते हैं। इन दोषों को दूर करने के लिए शास्त्रोक्त विधि से प्रयत्न करना चाहिए ।। १३ ।।

*भूमि भाव से भी शुद्ध होनी चाहिए*

धम्मत्थमुज्जएणं[1] सव्वस्सापत्तियं ण कायव्वं ।
इय संजमोऽवि सेओ एत्थ य भयवं उदाहरणं ।। १४ ।।

धर्मार्थमुद्यतेन सर्वस्याप्रीतिकं न कर्तव्यम् ।
इति संयमोऽपि श्रेयोऽत्र च भगवान् उदाहरणम् ।। १४ ।।

जिनभवन निर्माण आदि द्वारा कर्मक्षय रूप धर्म करने हेतु उद्यत व्यक्ति को ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे किसी को अप्रसन्नता हो। क्योंकि ऐसा करना धर्म के विरुद्ध है। किसी से अप्रीति नहीं करने से चारित्र भी प्रशंसनीय बनता है। इस विषय में भगवान् महावीर का दृष्टान्त दृष्टव्य है ।। १४ ।।

*भगवान् महावीर का दृष्टान्त*

सो तावसासमाओ तेसिं अप्पत्तियं मुणेऊणं ।
परमं अबोहिबीयं ततो गतो हंतऽकालेऽवि ।। १५ ।।

स तापसाश्रमात् तेषां अप्रीतिकं ज्ञात्वा ।
परमम्अबोधिबीजं ततो गतो हन्त अकालेऽपि ।। १५ ।।

तापसों को मुझसे अप्रीति होती है और यह अप्रीति सम्यग्दर्शन के अभाव का महान् कारण है — ऐसा जानकर भगवान् महावीर तापस-आश्रम से चातुर्मास अर्थात् वर्षा ऋतु में ही चल दिये। वर्षाऋतु ( चातुर्मास ) में साधुओं को विहार नहीं करना चाहिए, फिर भी वे अप्रीति को जानकर विहार कर गये ।। १५ ।।

*सबको अप्रीति का त्याग करना चाहिए*

इय सव्वेणवि सम्मं सक्कं अप्पत्तियं सइ जणस्स ।
णियमा परिहरियव्वं इयरंमि सतत्तचिंता उ ।। १६ ।।

इति सर्वेणापि सम्यक् शक्यं अप्रीतिकं सकृज्जनस्य ।
नियमात् परिहर्तव्यमितरस्मिन् स्वतत्त्वचिन्ता तु ।। १६ ।।

भगवान् महावीर की तरह ही जिनभवन आदि निर्माण की इच्छा वाले

---

१. 'मुज्जुएणं' इति पाठान्तरम्।

तथा संयम को स्वीकार करने की इच्छा वाले व्यक्ति को लोगों की अप्रीति का यथाशक्य परिहार अवश्य करना चाहिए। यदि लोगों में व्याप्त अज्ञानता आदि के कारण अप्रीति का त्याग न कर सकें तो अपने को वहाँ से दूर कर लेना चाहिए ।। १६ ।।

### २. दलविशुद्धि द्वार

कट्ठादीवि[1] दलं इह सुद्धं जं देवतादुववणाओ ।
णो अविहिणोवणीयं सयं च कारावियं जण्णो ।। १७ ।।

काष्ठाद्यपि दलमिह शुद्धं यद् देवताद्युपवनात् ।
न अविधिनोपनीतं स्वयं कारितं यन्न ।। १७ ।।

जिनमन्दिर निर्माण के लिए काष्ठ, पत्थर आदि भी शुद्ध होने चाहिए। व्यन्तर अधिष्ठित जंगल (अथवा घर) इत्यादि में से लाया गया काष्ठादि अशुद्ध है, क्योंकि व्यन्तराधिष्ठित जंगल से काष्ठादि लाने से वह व्यन्तर क्रोधित होकर जिनमन्दिर को नुकसान पहुँचा सकता है। पशुओं को शारीरिक या मानसिक कष्ट देकर अनुचित रीति से लाया गया काष्ठादि अशुद्ध है। स्वयं वृक्ष कटवाकर लाया गया काष्ठादि भी अशुद्ध है ।। १७ ।।

*दल की शुद्धि-अशुद्धि को जानने का उपाय*

तस्सवि य इमो णेओ सुद्धासुद्धपरिजाणणोवाओ ।
तक्कहगहणादिम्मी सउणेयरसण्णिवातो जो ।। १८ ।।

तस्यापि च अयं ज्ञेयः शुद्धाशुद्धपरिज्ञानोपायः ।
तत्कथाग्रहणादौ शकुनेतरसन्निपातो यः ।। १८ ।।

उस दल अर्थात् काष्ठ आदि को खरीदने की बात चलती हो या उसको खरीदा जा रहा हो तो उस समय होने वाले शकुन और अपशकुन दल आदि की शुद्धि और अशुद्धि जानने के उपाय हैं। अर्थात् उस समय यदि शकुन हो तो दल आदि शुद्ध है और अपशकुन हो तो उसे अशुद्ध समझना चाहिए ।। १८ ।।

*शकुन-अपशकुन का स्वरूप*

णंदादि सुहो सद्दो भरिओ कलसो य[2] सुंदरा पुरिसा ।
सुहजोगाइ य सउणो कंदियसद्दादि इतरो उ ।। १९ ।।

नन्द्यादिशुभशब्दो भृतः कलशश्च सुन्दराः पुरुषाः ।
शुभयोगादि च शकुनः क्रन्दितशब्दादि इतरस्तु ।। १९ ।।

---

१. 'कट्ठादिवि' इति पाठान्तरम्।

२. 'ऽथ' इति पाठान्तरम्।

नन्दी आदि बारह प्रकार के वाद्ययन्त्र[१], घण्टे आदि की शुभ ध्वनि, जल से भरे कलश, सुन्दर आकृति वाले पुरुष और मन आदि योगों की शुभ प्रवृत्ति शकुन हैं अर्थात् इष्टकार्य की सिद्धि के सूचक हैं। आक्रन्दन युक्त शब्द आदि अपशकुन हैं ।। १९ ।।

*दल लाने में भी शकुन आदि देखना चाहिए*

सुद्धस्सवि गहियस्सा पसत्थदियहम्मि सुहमुहुत्तेणं ।
संकामणम्मिवि पुणो विण्णेया सउणमादीया ।। २० ।।

शुद्धस्यापि गृहीतस्य प्रशस्तदिवसे शुभमुहूर्तेन ।
सङ्क्रामणेऽपि पुनर्विज्ञेयाः शकुनादयः ।। २० ।।

शुभ दिन को शुभ मुहूर्त में खरीदे गये दल को जहाँ खरीदा गया हो वहाँ से दूसरी जगह ले जाने में भी शकुन और शुभ दिन इत्यादि का ध्यान रखना चाहिए ।। २० ।।

### ३. भृतकानतिसन्धान द्वार

*मजदूरों को शोषित नहीं करना चाहिए*

कारवणेवि य तस्सिह भितमाणऽतिसंधणं ण कायव्वं ।
अवियाहिगप्पदाणं दिट्ठादिट्ठप्फलं एयं ।। २१ ।।

कारणेऽपि च तस्येह भृतकानामतिसन्धानं न कर्तव्यम् ।
अप्यधिकप्रदानं दृष्टादृष्ट - फलम् एतत् ।। २१ ।।

जिनमन्दिर निर्माण सम्बन्धी कोई भी कार्य कराते समय मजदूरों का शोषण नहीं करना चाहिए, अपितु अधिक मजदूरी देनी चाहिए। अधिक मजदूरी देने से इहलोक और परलोक सम्बन्धी शुभ फल मिलता है।। २१ ।।

*मजदूरों को अधिक पैसा देने से इहलोक सम्बन्धी फल*

ते तुच्छगा वराया अहिगेण दढं उविंति परितोसं ।
तुट्ठा य तत्थ कम्मं तत्तो अहिगं पकुव्वंति ।। २२ ।।

ते तुच्छका वराका अधिकेन दृढमुपयान्ति परितोषम् ।
तुष्टाश्च तत्र कर्म ततोऽधिकं प्रकुर्वन्ति ।। २२ ।।

वे बेचारे मजदूर गम्भीर नहीं होते हैं, वे दीन होते हैं। निश्चित की गयी

---

१. भंभा मउंद मद्दल कदंब झल्लरि हुडुक्क कंसाला ।
वीणा वंसो पडहो संखो पणवो य बारसमो ।।

मजदूरी से अधिक मजदूरी देने से वे अत्यन्त सन्तुष्ट हो जाते हैं और सन्तुष्ट होकर पहले से अधिक काम करते हैं ।। २२ ।।

*मजदूरों को अधिक पैसा देने से परलोक सम्बन्धी फल*

धम्मपसंसाएँ तहा केइ णिबंधंति बोहिबीयाइं ।
अण्णे उ लहुयकम्मा एत्तो च्चिय संपबुज्झंति ।। २३ ।।

धर्मप्रशंसया तथा केचित् निबध्नन्ति बोधिबीजानि ।
अन्ये तु लघुकर्माण इत एव सम्प्रबुध्यन्ते ।। २३ ।।

अधिक धन देने से जिन-शासन की प्रशंसा होती है। इससे कुछ लोग शासन के प्रति आकर्षित होकर बोधिबीज (सम्यग्दर्शन के कारणों) को प्राप्त करते हैं और दूसरे लघु कर्म वाले कुछ मजदूर आदि प्रतिबोध को प्राप्त करते हैं ।। २३ ।।

लोगे य साहुवाओ अतुच्छभावेण सोहणो धम्मो ।
परिसुत्तमप्पणीतो पभावणा चेव तित्थस्स ।। २४ ।।

लोके च साधुवादोऽतुच्छभावेन शोभनो धर्मः ।
पुरुषोत्तमप्रणीतः प्रभावना चैव तीर्थस्य ।। २४ ।।

जिनभवन निर्माण कराने वाले की उदारता से सभ्य समाज में जैनधर्म श्रेष्ठ है और उत्तम पुरुषों के द्वारा कहा गया है — इस प्रकार जिन-शासन की प्रभावना होती है ।। २४ ।।

## ४. स्वाशयवृद्धि द्वार

*स्वाशयवृद्धि का निमित्त*

सासयवुड्ढीवि इहं भुवणगुरुजिणिंदगुणपरिण्णाए ।
तब्बिंबठावणत्थं[१] सुद्धपवित्तीएँ णियमेण ।। २५ ।।

स्वाशयवृद्धिरपि इह भुवनगुरुजिनेन्द्रगुणपरिज्ञया ।
तद्बिम्बस्थापनार्थं शुद्धप्रवृत्तेः नियमेन ।। २५ ।।

स्वाशयवृद्धि अर्थात् शुभ परिणाम की वृद्धि। जिनभवन निर्माण में तीनों लोक में सम्मान्य जिनेन्द्रदेव के गुणों के यथार्थ ज्ञान से एवं जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा के लिए की गयी प्रवृत्ति से शुभ परिणाम की वृद्धि अवश्य होती है ।। २५ ।।

१. 'तब्बिंबट्ठवणत्थं' इति पाठान्तरम्।

*स्वाशयवृद्धि का स्वरूप*

पेच्छिस्सं इत्थमहं वंदणगणिमित्तमागए साहू ।
कयपुण्णे भगवंते गुणरयणणिही महासत्ते ।। २६ ।।
पडिबुज्झिस्संति इहं दट्टूण जिणिंदबिंबमकलंकं ।
अण्णेवि भव्वसत्ता काहिंति ततो परं धम्मं ।। २७ ।।
ता एयं मे वित्तं जमेत्थमुवओगमेति अणवरयं ।
इय चिंताऽपरिवडिया सासयवुड्ढी उ मोक्खफला ।। २८ ।।

प्रेक्षिष्येऽत्राहं वन्दनकनिमित्तमागतान् साधून् ।
कृतपुण्यान् भगवतो गुणरत्ननिधीन् महासत्त्वान् ।। २६ ।।
प्रतिभोत्स्यन्ते इह दृष्ट्वा जिनेन्द्रबिम्बमकलङ्कम् ।
अन्येऽपि भव्यसत्त्वाः करिष्यन्ति ततः परं धर्मम् ।। २७ ।।
तदेतत् मे वित्तं यदत्र उपयोगमेति अनवरतम् ।
इति चिन्ताऽप्रतिपतिता स्वाशयवृद्धिस्तु मोक्षफला ।। २८ ।।

मैं जिनभवन में वन्दनार्थ आये हुए पुण्यवान्, गुणरूपी रत्नों के धनी महासत्त्व वाले साधु-भगवन्तों को देखूँगा ।। २६ ।।

जिनमन्दिर में निर्दोष जिनप्रतिमा को देखकर दूसरे भव्यजीव भी प्रतिबोध को प्राप्त करेंगे और श्रेष्ठ धर्म का अनुष्ठान करेंगे ।। २७ ।।

इसलिए जो धन जिनमन्दिर के निर्माण में निरन्तर लगाया जा रहा है यही धन मेरा है, उसके अतिरिक्त पराया धन है — इस प्रकार के सतत शुभ विचार से शुभ परिणाम की वृद्धि होती है और उससे मोक्षरूपी फल मिलता है ।। २८ ।।

## ५. यतना द्वार

*जिनमन्दिर निर्माण में यतना की आवश्यकता*

जयणा य पयत्तेणं कायव्वा एत्थ सव्वजोगेसु ।
जयणा उ धम्मसारो जं भणिया वीयरागेहिं ।। २९ ।।

यतना च प्रयत्नेन कर्तव्या अत्र सर्वयोगेषु ।
यतना तु धर्मसारो यद् भणिता वीतरागैः ।। २९ ।।

जिनभवन के निर्माण हेतु लकड़ी लाना, भूमि खोदना आदि कार्यों में जीवहिंसा न हो इसके लिए सावधानी रखनी चाहिए, क्योंकि वीतराग भगवान् ने यथाशक्ति जीवरक्षा में सावधानी को ही धर्म का सार कहा है ।। २९ ।।

जयणा उ धम्मजणणी जयणा धम्मस्स पालणी चेव ।
तव्वुड्ढिकरी जयणा एगंतसुहावहा जयणा ।। ३० ।।
यतना तु धर्मजननी यतना धर्मस्य पालनी चैव ।
तद्वृद्धिकरी यतना एकान्तसुखावहा यतना ।। ३० ।।

यतना (जीवरक्षा में सावधानी) धर्म की माता है। यतना ही धर्म का पालन कराने वाली है, यतना धर्म की वृद्धि करने वाली है और यतना सर्वथा सुखकारिणी है ।। ३० ।।

जयणाएँ वट्टमाणो जीवो सम्मत्तणाणचरणाणं ।
सद्धाबोहासेवणभावेणाराहगो भणितो ।। ३१ ।।
यतनया वर्तमानो जीवः सम्यक्त्वज्ञानचरणानाम् ।
श्रद्धाबोधासेवनभावेनाराधको भणितः ।। ३१ ।।

जिनेश्वरों ने यतना-पूर्वक कार्य करने वाले जीव को श्रद्धा, बोध और आसेवन के भाव से क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र का आराधक कहा है ।। ३१ ।।

*यतना निवृत्तिप्रधान है*

एसा य होइ णियमा तदहिगदोसविणिवारणी जेण ।
तेण णिवित्तिपहाणा विण्णेया बुद्धिमंतेहिं ।। ३२ ।।
एषा च भवति नियमात् तदधिकदोषविनिवारणी येन ।
तेन निवृत्तिप्रधाना विज्ञेया बुद्धिमद्भिः ।। ३२ ।।

यद्यपि यतना (सावधानीपूर्वक की गयी क्रिया) में थोड़ी आरम्भादिक हिंसा तो होती है, इसलिए थोड़ी दोषयुक्त है। फिर भी इससे नियमतः बड़े-बड़े दोष दूर हो जाते हैं। इसलिए बुद्धिशालियों को यतना को निवृत्ति-प्रधान ही जानना चाहिए ।। ३२ ।।

*जिनभवन निर्माण में यतना का स्वरूप*

सा इह परिणयजलदलविसुद्धिरूवा उ होइ णायव्वा ।
अण्णारंभणिवित्तीएँ अप्पणाऽहिट्ठणं चेवं ।। ३३ ।।
सेह परिणतजलदलविशुद्धिरूपा तु भवति ज्ञातव्या ।
अन्यारम्भनिवृत्त्या आत्मनाऽधिष्ठानं चैवम् ।। ३३ ।।

जिनमन्दिर निर्माण में प्रासुक जल और दल की विशुद्धि यतना है तथा अन्य खेती-बारी आदि आरम्भों का त्याग करके जिनभवन निर्माण के समय

उपस्थित रहना भी यतना है। मन्दिर के कार्य में स्वयं उपस्थित रहने से यथायोग्य जीवों की रक्षा करवाते हुए मजदूरों से काम करवाया जा सकता है ।। ३३ ।।

*यतना की निवृत्ति-प्रधानता का समर्थन*

एवं च होइ एसा पवित्तिरूवावि भावतो णवरं ।
अकुसलणिवित्तिरूवा अप्पबहुविसेसभावेणं ।। ३४ ।।

एवं च भवति एषा प्रवृत्तिरूपाऽपि भावतः केवलम् ।
अकुशलनिवृत्तिरूपा अल्पबहुविशेषभावेन ।। ३४ ।।

इस प्रकार जिनभवन सम्बन्धी यतना प्रवृत्तिरूप होने पर भी आरम्भ अल्प होने और हिंसा की निवृत्तिरूप भावों के अधिक होने से परमार्थतः निवृत्ति-रूप है ।

**भावार्थ :** जिनभवन सम्बन्धी यतना में थोड़ी हिंसा होती है, किन्तु साथ ही खेती आदि बड़े-बड़े हिंसा कार्य (आरम्भ) बन्द हो जाते हैं। इसलिए यहाँ आरम्भ कम होता है और अधिक आरम्भ से निवृत्ति होती है। इसलिए यतना परमार्थ से निवृत्तिरूप है ।। ३४ ।।

*उक्त विषय में आदिजिन का दृष्टान्त*

एत्तो च्चिय णिद्दोसं सिप्पादिविहाणमो जिणिंदस्स ।
लेसेण सदोसंपि हु बहुदोसनिवारणत्तेण ।। ३५ ।।

इत एव निर्दोषं शिल्पादिविधानं जिनेन्द्रस्य ।
लेशेन सदोषमपि खलु बहुदोषनिवारणत्वेन ।। ३५ ।।

इसीलिए श्रीआदिनाथ भगवान् ने शिल्पकला, राजनीति आदि का जो उपदेश दिया है, वह थोड़ा दोषयुक्त होने पर भी निर्दोष है, क्योंकि उससे लोगों के अनेक दोष दूर हो गये।

**विशेष :** भगवान् ने शिल्पकला, राजनीति आदि का उपदेश देकर लोगों को शान्तिमय जीवन जीने की कला सिखलायी, जिससे जीवों में परस्पर किसी भी तरह का संघर्ष नहीं हुआ और सभी प्रकार के नीतिविहीन आचार बन्द हो गये। इस प्रकार थोड़ी सी सदोष प्रवृत्ति करके उन्होंने महान् दोषों को दूर किया ।। ३५ ।।

*भगवान् की शिल्पकलादि की प्रवृत्ति निर्दोष है*

वरबोहिलाभओ सो सव्वुत्तमपुण्णसंजुओ भयवं ।
एगंतपरहियरतो विसुद्धजोगो महासत्तो ।। ३६ ।।

जं बहुगुणं पयाणं तं णाऊणं तहेव दंसेइ ।
ते रक्खंतस्स ततो जहोचितं कह भवे दोसो ? ।। ३७ ।।

वरबोधिलाभकः सः सर्वोत्तमपुण्यसंयुतो भगवान् ।
एकान्तपरहितरतो विशुद्धयोगो महासत्त्वः ।। ३६ ।।

यद् बहुगुणं प्रजानां तद् ज्ञात्वा तथैव दर्शयति ।
तान् रक्षतः ततो यथोचितं कथं भवेद् दोषः ।। ३७ ।।

अप्रतिपाति सम्यग्दर्शन युक्त और सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न, महापुण्यवान्, सर्वहितकारी, विशुद्ध मन, वचन और काय वाले तथा महासत्त्व वाले श्री आदिनाथ भगवान् ने लोगों को जिससे अधिक लाभ हो उस ज्ञान को जानकर लोगों को बतलाया और यथोचित (स्वकर्तव्यपालन रूप) शिल्पादि का शिक्षण देकर प्रजा की अनेक अनर्थों से रक्षा की, ऐसे भगवान् को दोष कैसे लगेगा ? ।। ३६-३७ ।।

*बालक रक्षण के सिद्धान्त से उक्त विषय का समर्थन*

तत्थ पहाणो अंसो बहुदोसनिवारणाउ जगगुरुणो ।
नागादिरक्खणे जह कड्डणदोसेवि सुहजोगो ।। ३८ ।।

खड्डातडम्मि विसमे इट्ठसुयं पेच्छिऊण कीलंतं ।
तप्पच्चवायभीया तदाणणट्ठा गया जणणी ।। ३९ ।।

दिट्ठो य तीएँ णागो तं पति एंतो दुतो उ खड्डाए ।
तो कड्ढितो तगो[१] तह पीडाइवि सुद्धभावाए ।। ४० ।।

तत्र प्रधानोंऽशो बहुदोषनिवारणाज्जगद्गुरोः ।
नागादिरक्षणे यथा कर्षणदोषेऽपि शुभयोगः ।। ३८ ।।

गर्तातटे विषमे इष्टसुतं प्रेक्ष्य क्रीडन्तम् ।
तत्प्रत्यपायभीता तदानयनार्थं गता जननी ।। ३९ ।।

दृष्टश्च तया नागः तं प्रति आयन् द्रुतस्तु गर्तायाः ।
ततः कर्षितः तकः तथा पीडायामपि शुद्धभावया ।। ४० ।।

भगवान् आदिनाथ के द्वारा किये गये शिल्पादि विधान में यद्यपि थोड़ी हिंसा होती है, फिर भी प्रधान रूप से वह शुभ प्रवृत्ति ही है, क्योंकि उससे अनेक महान् दोषों का निवारण भी होता है। जिस प्रकार सर्पादि से रक्षा करने के लिए माता के द्वारा बालक को खींचना पीड़ायुक्त होने पर भी वहाँ माता का आशय तो शुभ ही माना गया है ।। ३८ ।।

---

१. 'तगा' इति पाठान्तरम्।

गड्ढे के ऊँचे-नीचे किनारे पर अपने प्रिय पुत्र को खेलते देखकर उसको चोट न लग जाये इस भय से उसको लाने के लिए माता गई ।। ३९ ।।

इतने में उसने बालक की तरफ तेजी से आते एक सर्प को देखा। देखते ही माता ने बचाने के भाव से गड्ढे में से बालक को खींच लिया। खींचने में बालक को पीड़ा तो हुई, किन्तु शुद्धभाव होने से इस पीड़ा से अधिक अनर्थ रूप बालक की मृत्यु का निवारण हो गया ।। ४० ।।

एयं च एत्थ जुत्तं इहराऽहिगदोसभावओऽणत्थो ।
तप्परिहारेऽणत्थो अत्थो च्चिय तत्तओ णेओ ।। ४१ ।।

एतच्चात्र युक्तमितरथाधिकदोषभावतोऽनर्थः ।
तत्परिहारेऽनर्थोऽर्थ एव तत्त्वतो ज्ञेयः ।। ४१ ।।

यहाँ बालक को खींचने में पीड़ा होने पर भी माता के द्वारा बालक को खींचना उचित ही है। यदि नहीं खींचती तो सर्प बालक को दंश मार देता और बालक मर जाता। अतः मृत्यु रूप भयंकर अनर्थ से बचाने के लिए खींचने रूप अल्प अनर्थ किया गया है तो भी वह परमार्थ से अर्थ रूप अर्थात् उचित ही है ।। ४१ ।।

## यतनाद्वार का उपसंहार

एवं निवित्तिपहाणा विण्णेया भावओ अहिंसेयं ।
जयणावओ उ विहिणा पूजादिगयावि एमेव ।। ४२ ।।

एवं निवृत्तिप्रधाना विज्ञेया भावतोऽहिंसेयम् ।
यतनावतस्तु विधिना पूजादिगताऽपि एवमेव ।। ४२ ।।

इस प्रकार भूमिशुद्धि आदि में विधिपूर्वक सावधानी रखने वाले व्यक्ति की जिनमन्दिर-निर्माण सम्बन्धी प्रवृत्ति में जीवहिंसा होने पर भी वह अधिक आरम्भ की क्रियाओं की निवृत्ति कराने वाली होने के कारण परमार्थ से अहिंसा ही है। इसी प्रकार जिनपूजा, जिनमहोत्सव आदि सम्बन्धी प्रवृत्ति भी अधिक जीवहिंसा से निवृत्ति कराने वाली होने के कारण परमार्थ से अहिंसा ही है ।। ४२ ।।

### *जिनमन्दिर निर्माण के बाद की विधि*

णिप्फाइऊण एवं जिणभवणं सुंदरं तहिं बिंबं ।
विहिकारियमह विहिणा पइट्ठवेज्जा लहुं चेव ।। ४३ ।।

निष्पाद्य एवं जिनभवनं सुन्दरं तस्मिन् बिम्बम् ।
विधिकारितमथ विधिना प्रतिष्ठापयेद् लघु चैव ।। ४३ ।।

उक्त विधि से सुन्दर जिनमन्दिर तैयार करवाकर उसमें विधिपूर्वक तैयार करायी गई जिनप्रतिमा को विधिपूर्वक शीघ्र प्रतिष्ठित कराना चाहिए ।। ४३ ।।

*जिनमन्दिर निर्माण का फल*

एयस्स फलं भणियं इय आणाकारिणो उ सड्ढस्स ।
चित्तं सुहाणुबंधं णिव्वाणंतं जिणिंदेहिं ।। ४४ ।।

एतस्य फलं भणितमिति आज्ञाकारिणस्तु श्राद्धस्य ।
चित्रं शुभानुबन्धं निर्वाणान्तं जिनेन्द्रैः ।। ४४ ।।

आप्तवचन का पालन करने वाले श्रावक को मुक्ति न मिलने तक देवगति और मनुष्यगति में अभ्युदय और कल्याण की सतत परम्परा रूप जिनभवन निर्माण का जो फल मिलता है उससे अन्ततः मोक्ष मिलता है, ऐसा जिनेश्वरों ने कहा है ।। ४४ ।।

*जिनबिम्बप्रतिष्ठा की भावना का फल*

जिणबिंबपइट्ठावण – भावज्जियकम्मपरिणतिवसेणं ।
सुगतीइ पइट्ठावणमणहं सदि अप्पणो चेव ।। ४५ ।।

जिनबिम्बप्रतिष्ठापन – भावार्जितकर्मपरिणतिवशेन ।
सुगतौ प्रतिष्ठापनमनघं सदा आत्मनश्चैव ।। ४५ ।।

पच्चीसवीं गाथा में कहे गये जिनबिम्बप्रतिष्ठा के भाव से उपार्जित पुण्यानुबन्धी पुण्य के फल से जीव को सदा देवलोक आदि सुगति की प्राप्ति होती है अर्थात् जब तक मोक्ष न मिले तब तक वह देवलोक या मनुष्यलोक में ही उत्पन्न होता है ।। ४५ ।।

*साधुदर्शन की भावना का फल*

तत्थवि य साहुदंसणभावज्जियकम्मतो उ गुणरागो ।
काले य साहुदंसणमहक्कमेणं गुणकरं तु ।। ४६ ।।

तत्रापि च साधुदर्शनभावार्जितकर्मतस्तु गुणरागः ।
काले च साधुदर्शनम् अथ क्रमेण गुणकरं तु ।। ४६ ।।

छब्बीसवीं गाथा में कही गयी साधुदर्शन की भावना से उपार्जित कर्म से सुगति में भी स्वाभाविक गुणानुराग होता है, इसलिए समय आने पर साधु का दर्शन होता है और साधुदर्शन से क्रमशः आत्मा में नये-नये गुण प्रकट होते हैं ।। ४६ ।।

*अन्य जीवों के प्रतिबोध की भावना का फल*

पडिबुज्झिस्संतऽन्ने भावज्जियकम्मओ य पडिवत्ती ।
भावचरणस्स जायति एगंतसुहावहा णियमा ।। ४७ ।।

प्रतिभोत्स्यन्तेऽन्ये भावार्जितकर्मतश्च प्रतिपत्तिः ।
भावचरणस्य जायते एकान्तसुखावहा नियमात् ।। ४७ ।।

सत्ताइसवीं गाथानुसार मन्दिर-निर्माण से दूसरे लोग भी प्रतिबोध को प्राप्त करेंगे — इस भाव से उपार्जित कर्म से सर्वथा सुखदायी मोक्षसुख देने वाले भाव-चारित्र की नियम से प्राप्ति होती है ।। ४७ ।।

*स्थिर शुभचिन्ता का फल*

अपरिवडियसुहचिंताभावज्जियकम्मपरिणतीए उ ।
गच्छति इमीइ अंतं ततो य आराहणं लहइ ।। ४८ ।।

अप्रतिपतितशुभचिन्ताभावार्जित कर्मपरिणत्यास्तु ।
गच्छति अस्या अन्तं ततश्च आराधनं लभते ।। ४८ ।।

अट्ठाइसवीं गाथा के अनुसार जो धन जिनमन्दिर में लग रहा है, वही मेरा है – ऐसे स्थिर शुभचिन्तारूप भाव से उपार्जित शुभकर्म के विपाक से जीव स्वीकृत चारित्र का अन्त तक निर्वाह करता है अर्थात् आजीवन चारित्र का सम्यक् पालन करता है और विशुद्ध चारित्र का आराधक बनता है, क्योंकि जिसके चारित्र का पतन नहीं हुआ है, वही जीव अन्तिम समय में चारित्र का आराधक बन सकता है ।। ४८ ।।

*निश्चयनय से चारित्र की आराधना*

णिच्छयणया जमेसा चरणपडिवत्तिसमयतो पभिति ।
आमरणंतमजस्सं संजमपरिपालणं विहिणा ।। ४९ ।।

निश्चयनयाद् यदेषा चरणप्रतिपत्तिसमयतः प्रभृति ।
आमरणन्तमजस्रं संयमपरिपालनं विधिना ।। ४९ ।।

चारित्र स्वीकार करने से लेकर मृत्युपर्यन्त लगातार विधिपूर्वक संयम का पालन करना निश्चयनय से चारित्राराधना है ।। ४९ ।।

*आराधना का फल*

आराहगो य जीवो सत्तट्ठभवेहिँ पावती णियमा ।
जंमादिदोसविरहा सासयसोक्खं तु णिव्वाणं ।। ५० ।।

आराधकश्च जीवः सप्ताष्टभवैः प्राप्नोति नियमात् ।
जन्मादिदोषविरहात् शाश्वतसौख्यं तु निर्वाणम् ।। ५० ।।

इस प्रकार ज्ञानादि की आराधना करने वाला जीव सात या आठ भवों में जन्म-मरणादि दोषों से रहित शाश्वत-सुख वाले मोक्ष को प्राप्त करता है।

**विशेष :** यहाँ सात या आठ भव जघन्य आराधना की अपेक्षा से हैं। उत्कृष्ट आराधना से उसी भव में भी मोक्ष मिल सकता है ।। ५० ।।

**।। इति जिनभवननिर्माणविधिर्नाम सप्तमं पञ्चाशकम् ।।**

# ८

# जिनबिम्बप्रतिष्ठाविधि पञ्चाशक

सातवें पञ्चाशक में जिनमन्दिर निर्माण की विधि कही गयी है। जिनमन्दिर जिनबिम्ब से अधिष्ठित होता है। इसलिए आठवें पञ्चाशक में जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा-विधि कहने हेतु मङ्गलाचरण करते हैं :

*मङ्गलाचरण*

नमिऊण देवदेवं वीरं सम्मं समासओ वोच्छं ।
जिणबिंबपइट्ठाए विहिमागमलोयणीतीए ।। १ ।।

नत्वा देवदेवं वीरं सम्यक् समासतो वक्ष्ये ।
जिनबिम्बप्रतिष्ठाया विधिमागमलोकनीत्या ।। १ ।।

इन्द्रादि द्वारा पूज्य देवाधिदेव भगवान् महावीर को प्रणाम करके आगम और लोक — इन दोनों नीतियों के अनुसार जिनबिम्बप्रतिष्ठाविधि का सम्यक् एवं संक्षिप्त विवेचन करूँगा।

**विशेष :** यहाँ लोक शब्द से यह सूचित किया गया है कि कभी जिनमत के अनुकूल लोकनीति का भी अनुसरण करना होता है ।। १ ।।

*जिनबिम्ब बनवाने सम्बन्धी विधि का निरूपण*

जिणबिंबस्स पइट्ठा पायं कारावियस्स जंतेण ।
तक्कारवणंमि विहिं पढमं चिय वण्णिमो ताव ।। २ ।।

जिनबिम्बस्य प्रतिष्ठा प्राय: कारितस्य यत्नेन ।
तत्कारणे विधिं प्रथममेव वर्णयामस्तावत् ।। २ ।।

प्राय: दूसरों से बनवाये गये जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा की जाती है। अत: सर्वप्रथम जिनबिम्ब को बनवाने की विधि का वर्णन कर रहा हूँ ।। २ ।।

*जिनबिम्ब निर्माण के प्रति शुद्ध-बुद्धि का स्वरूप*

सोऊं णाऊण गुणे जिणाण जायाएँ सुद्धबुद्धीए ।
किच्चमिणं मणुयाणं जम्मफलं एत्तियं चेव एत्थ ।। ३ ।।

श्रुत्वा ज्ञात्वा गुणान् जिनानां जातायां शुद्धबुद्धौ ।
कृत्यमिदं मनुजानां जन्मफलं एतावदेवात्र ॥ ३ ॥

जिन-भगवान् के वीतरागता, तीर्थप्रवर्तन आदि गुणों को गुरु से सुनकर और जानकर, विचार के शुद्ध होने पर जीव की ऐसी बुद्धि होती है कि जिनबिम्ब बनवाना मनुष्य का कर्तव्य है और यही मनुष्य जन्म का फल है ॥ ३ ॥

गुणपगरिसो जिणा खलु तेसिं बिंबस्स दंसणंपि सुहं ।
कारावणेण तस्स उ अणुग्गहो अत्तणो परमो ॥ ४ ॥

गुणप्रकर्षो जिना: खलु तेषां बिम्बस्य दर्शनमपि सुखम् ।
कारणेन तस्य तु अनुग्रहो आत्मन: परम: ॥ ४ ॥

भगवान् जिनेन्द्रदेव अतिशय गुण सम्पन्न होते हैं। उनके बिम्ब का दर्शन भी कल्याणकारी होता है। उनकी प्रतिमा को बनवाने से स्वयं को एवं दूसरों को भी उत्कृष्ट लाभ होता है ॥ ४ ॥

मोक्खपहसामियाणं मोक्खत्थं उज्जएण कुसलेणं ।
तग्गुणबहुमाणादिसु जइयव्वं सव्वजत्तेणं ॥ ५ ॥

मोक्षपथस्वामिकानां मोक्षार्थम् उद्यतेन कुशलेन ।
तद्गुणबहुमानादिषु यतितव्यं सर्वयत्नेन ॥ ५ ॥

अतएव मोक्ष के लिए उद्यत बुद्धिशाली जीव को मोक्षमार्ग के स्वामी जिनेन्द्रदेव के उन असाधारण गुणों का प्रयत्नपूर्वक बहुमान करना चाहिए अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के लिए जिनेन्द्रदेव के गुणों को महान् समझना चाहिए ॥ ५ ॥

तग्गुणबहुमाणाओ तह सुहभावेण बज्झती णियमा ।
कम्मं सुहाणुबंधं तस्सुदया सव्वसिद्धित्ति ॥ ६ ॥

तद्गुणबहुमानात् तथा शुभभावेन बध्यते नियमात् ।
कर्म शुभानुबन्धं तस्योदयात् सर्वसिद्धिरिति ॥ ६ ॥

मोक्षमार्ग के अधिकारी जिनेन्द्रदेव के गुणों की प्रशंसा करने से तथा उनके प्रति शुभभाव रखने से शुभ-कर्मों का अनुबन्ध अवश्य होता है और उन कर्मों के उदय से सभी अभीष्ट फलों की प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

*जिनबिम्ब निर्माण की विधि*

इय सुद्धबुद्धिजोगा काले संपूइऊण कत्तारं ।
विभवोचियमप्पेज्जा मोल्लं अणहस्स सुहभावो ॥ ७ ॥

इति शुद्धबुद्धियोगात् काले सम्पूज्य कर्त्तारम् ।
विभवोचितमर्पयेत् मूल्यम् अनघस्य शुभभाव: ॥ ७ ॥

उपर्युक्त प्रकार की शुद्ध बुद्धि से जिनबिम्ब निर्माण कराने वाले जीव को उदारता से शुभ अध्यवसायपूर्वक निर्दोष शिल्पी का उचित समय पर भोजनादि से सम्मान करके अपने वैभव के अनुसार उसको उचित मूल्य देना चाहिए ॥ ७ ॥

*दूषित शिल्पी को मूल्य देने की विधि*

तारिसयस्साभावे तस्सेव हितत्थमुज्जुओ णवरं ।
णियमेज्ज बिंबमोल्ल जं उचियं कालमासज्ज[1] ॥ ८ ॥

तादृशकस्याभावे तस्यैव हितार्थमुद्यत: केवलम् ।
नियमयेद् बिम्बमूल्यं यदुचितं कालमासाद्य ॥ ८ ॥

निर्दोष चरित्रवाले शिल्पकार न मिलने पर दूषित चरित्रवाले शिल्पकार से मूर्ति निर्माण करवानी पड़े तो उस शिल्पकार के हित के लिए जिनबिम्ब निर्माण के समय उसका मूल्य निर्धारित कर लेना चाहिए, जैसे — इतने बिम्ब इतने रुपयों में तुम्हें बनाने हैं और रुपयों का भुगतान अंशत: किया जायेगा।

**विशेष :** ऐसा करने से दूषित शिल्पकार उस द्रव्य का परस्त्रीगमन, जुआ, शराब आदि दुर्व्यसनों में उपयोग नहीं कर सकेगा और इस प्रकार बिम्ब बनाने से मिला द्रव्य, जो कि देवद्रव्य है, के भक्षण का दोष भी नहीं लगेगा। अंशत: पैसा देने से वह जीवनोपयोगी वस्तुओं को ही खरीद सकेगा ॥ ८ ॥

*दूषित शिल्पी को निर्दोष शिल्पी के बराबर मूल्य देने से होने वाले दोष*

देवस्सपरीभोगो अणेगजम्मेसु दारुणविवागो ।
तंमि स होइ णिउत्तो पावो जो कारओ इहरा ॥ ९ ॥

देवस्वपरिभोगोऽनेकजन्मसु दारुविपाक: ।
तस्मिन् स भवति नियुक्त: पापो य: कारक इतरथा ॥ ९ ॥

यदि दूषित चरित्रवाले शिल्पी से प्रतिमा निर्माण करवाने का मूल्य निश्चित नहीं किया गया तो वह देवद्रव्य का भक्षण करेगा और देवद्रव्य का भक्षण करने से अशुभ-कर्म का बन्ध होगा, जो अनन्त भव-भ्रमण में (नरकादि में) भयंकर दु:खरूप फल देता है। भयंकर अशुभ फलवाले देवद्रव्य भक्षण रूप कार्य में जो शिल्पी मूल्य निर्धारण किये बिना नियुक्त किया जाता है, वह शिल्पी पाप

१. 'कालमासस्स' इति पाठान्तरम् ।

रूप प्रवृत्ति ही करता है। इसलिए ऐसे शिल्पी को मूल्य निश्चित किये बिना नियुक्त नहीं करना चाहिए ।। ९ ।।

जं जायइ परिणामे असुहं सव्वस्स तं न कायव्वं ।
सम्मं णिरूविऊणं गाढगिलाणस्स वाऽपत्थं ।। १० ।।

यज्जायते परिणामेऽशुभं सर्वस्य तन्न कर्तव्यम् ।
सम्यक् निरूप्य गाढग्लानस्य वाऽपथ्यम् ।। १० ।।

जिस प्रकार किसी अत्यन्त बीमार व्यक्ति को अपथ्य भोजन नहीं देना चाहिए, क्योंकि हमें ज्ञात है कि अपथ्य भोजन उसके लिए हानिकारक है। उसी प्रकार भली-भाँति विचारकर जो कार्य परिणामस्वरूप सबके लिए दारुण हो उसे नहीं करना चाहिए ।। १० ।।

आणागारी आराहणेण तीए ण दोसवं होति ।
वत्थुविवज्जासम्मिवि छउमत्थो सुद्धपरिणामो ।। ११ ।।

आज्ञाकारी आराधनेन तस्या न दोषवान् भवति ।
वस्तु विपर्यासेऽपि छद्मस्थः शुद्धपरिणामः ।। ११ ।।

उपर्युक्त आज्ञा के अनुसार कार्य करने पर भी छद्मस्थता के कारण यदि कुछ विपरीत हो जाये तो भी आज्ञा के अनुसार कार्य करने वाला दोषी नहीं होता है, क्योंकि वह आज्ञा का आराधक होता है और उसका परिणाम शुद्ध होता है।

**अर्थघटन :** यदि जिनबिम्ब का मूल्य देने पर भी छद्मस्थता के कारण देवद्रव्य के रक्षण के बदले भक्षण हो जाये तो भी उक्त विधि के अनुसार जिनबिम्ब का मूल्य देकर आज्ञा की आराधना करने के कारण दूसरे को देवद्रव्य भक्षण कराने का दोष नहीं लगता है, क्योंकि उसका परिणाम शुद्ध है ।। ११ ।।

*परिणाम शुद्ध होने का कारण*

आणापवित्तिओ च्चिय सुद्धो एसो ण अण्णहा णियमा।
तित्थगरे बहुमाणा तदभावाओ य णायव्वो।। १२ ।।

आज्ञाप्रवृत्तित एव शुद्ध एषः न अन्यथा नियमात्।
तीर्थङ्करे बहुमानात् तदभावाच्च ज्ञातव्यः।। १२ ।।

आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने से परिणाम शुद्ध ही होता है। आज्ञा के विपरीत प्रवृत्ति करने से परिणाम शुद्ध नहीं होता है। आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने वाले को तीर्थङ्कर के प्रति बहुमान होता है और तीर्थङ्कर के प्रति बहुमान

होने के कारण परिणाम शुद्ध होता है। आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति नहीं करने वाले का तीर्थङ्कर के प्रति बहुमान नहीं होता है और इसीलिए उसका परिणाम भी शुद्ध नहीं होता है ।। १२ ।।

*आज्ञा की प्रधानता का कारण*

समतिपवित्ती सव्वा आणाबज्झत्ति भवफला चेव ।
तित्थगरुद्देसेणवि ण तत्तओ सा तदुद्देसा ।। १३ ।।
स्वमतिप्रवृत्तिः सर्वा आज्ञाबाह्येति भवफला चैव ।
तीर्थङ्करोद्देशेनापि न तत्त्वतः सा तदुद्देशा ।। १३ ।।

साधु या श्रावक सम्बन्धी कोई प्रवृत्ति यदि अपनी मति के अनुसार हो तो वह आज्ञारहित होने से सांसारिक फल देने वाली ही होती है, क्योंकि संसार को पार करने के साधनों में आज्ञा ही प्रमाण है। अपनी मति के अनुसार प्रवृत्ति यदि तीर्थङ्कर को उद्दिष्ट करके हो तो भी संसारबन्धन का ही कारण होती है, क्योंकि वह परमार्थ से तीर्थङ्कर को उद्दिष्ट नहीं होती है। आज्ञानुसारी प्रवृत्ति ही परमार्थ से तीर्थङ्कर को उद्दिष्ट हो सकती है ।। १३ ।।

मूढा अणादिमोहा तहा तहा एत्थ संपयट्टंता ।
तं चेव य मण्णंता अवमण्णंता ण याणंति ।। १४ ।।
मूढा अनादिमोहात् तथा तथा अत्र सम्प्रवर्तमानाः ।
तमेव च मन्यमाना अवमन्यमाना न जानन्ति ।। १४ ।।

कुछ मूर्ख लोग भगवान् जिनेन्द्रदेव को लक्ष्य में रखकर जिनपूजा आदि कार्य करते हैं, किन्तु वे भगवान् की आज्ञा का पालन नहीं करते हैं। वे यह नहीं समझते कि वे एक ओर जिनपूजा करके तीर्थङ्कर को अपना आराध्यदेव मानते हैं और दूसरी ओर उनकी आज्ञा का उल्लंघन करके उनकी ही अवज्ञा करते हैं। इसका कारण यह है कि वे अनादिकाल से मोह के वशीभूत हैं ।। १४ ।।

**उपसंहार**

मोक्खत्थिणा तओ इह आणाए चेव सव्वजत्तेणं ।
सव्वत्थवि जइयव्वं संमंति कयं पसंगेण ।। १५ ।।
मोक्षार्थिना तत इह आज्ञयैव सर्वयत्नेन ।
सर्वत्रापि यतितव्यं सम्यगिति कृतं प्रसङ्गेन ।। १५ ।।

इसीलिए मोक्ष के अभिलाषी को आज्ञा के अनुसार ही सावधानीपूर्वक सर्वत्र भलीभाँति प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार प्रसंगवश आज्ञा की प्रधानता की बात यहाँ पूर्ण हुई ।। १५ ।।

*प्रतिष्ठाविधि का प्रतिपादन*

णिप्फण्णस्स य सम्मं तस्स पइट्ठावणे विही एस ।
सुहजोएण पवेसो आयतणे ठाणठवणा य ।। १६ ।।

निष्पन्नस्य च सम्यक् तस्य प्रतिष्ठापने विधिरेषः ।
शुभयोगेन प्रवेश आयतने स्थानस्थापना च ।। १६ ।।

अच्छी तरह से निर्मित उस प्रतिमा के स्थापन की विधि इस प्रकार है — शुभ मुहूर्त में उसका मन्दिर में प्रवेश कराना चाहिए और उस बिम्ब को उचित स्थान पर स्थापित करना चाहिए ।। १६ ।।

*भूमिशुद्धी तथा सत्कार का प्रतिपादन*

तेणेव खेत्तसुद्धी हत्थसयादिविसया णिओगेण ।
कायव्वो सक्कारो य गंधपुप्फादिएहिँ तहिं ।। १७ ।।

तेनैव क्षेत्रशुद्धिः हस्तशतादिविषया नियोगेन ।
कर्तव्यः सत्कारश्च गन्धपुष्पादिकैस्तस्मिन् ।। १७ ।।

प्रतिष्ठा के समय उसी शुभ मुहूर्त में जिनमन्दिर के चारों ओर सौ हाथ तक जमीन को अवश्य ही शुद्ध कर लेना चाहिए अर्थात् सौ हाथ की परिधि के अन्दर स्थित हड्डी, माँस अथवा अन्य अपवित्र वस्तु को हटा देना चाहिए और मन्दिर में गन्ध, पुष्प आदि से प्रतिमा का पूजन (सत्कार) करना चाहिए ।। १७ ।।

*प्रतिष्ठा में देवपूजा का विधान*

दिसिदेवयाण पूया सव्वेसिं तह य लोगपालाणं ।
ओसरणकमेणऽण्णे सव्वेसिं चेव देवाणं ।। १८ ।।

दिग्देवतानां पूजा सर्वेषां तथा च लोकपालानाम् ।
अवसरणक्रमेणाऽन्ये सर्वेषां चैव देवानाम् ।। १८ ।।

सभी इन्द्रादि देवताओं की पूजा करनी चाहिए और सभी लोकपाल देवों, यथा — सोम, यम, वरुण और कुबेर का पूर्व आदि दिशा में जिस क्रम से वे स्थित हैं, उसी क्रम से उनकी पूजा करनी चाहिए। दूसरे पञ्चाशक में बताये गये समवसरण की रचना के क्रम से सभी देवों की पूजा करनी चाहिए — ऐसा दूसरे विद्वानों का मन्तव्य है ।। १८ ।।

*असंयमी देवों की पूजा क्यों ? इसका समाधान*

जमहिगयबिंबसामी सव्वेसिं चेव अब्भुदयहेऊ ।
ता तस्स पइट्ठाए तेसिं पूयादि अविरुद्धं ।। १९ ।।

यदधिकृत बिम्बस्वामी सर्वेषामेव अभ्युदयहेतुः ।
तत् तस्य प्रतिष्ठायां तेषां पूजादि अविरुद्धम् ।। १९ ।।

प्रस्तुत बिम्ब के स्वामी तीर्थङ्कर भगवान् इन्द्रादि सभी देवों के अभ्युदय के कारण होते हैं, अतः प्रतिष्ठा के समय उन देवताओं की पूजा योग्य है ।। १९ ।।

साहम्मिया य एए महिड्ढिया सम्मदिट्ठिणो जेण ।
एत्तो च्चिय उचियं खलु एतेसिं एत्थ पूजादी ।। २० ।।

साधर्मिकाश्च एते महर्द्धिकाः सम्यग्दृष्टयः येन ।
अतएव उचितं खलु एतेषामत्र पूजादि ।। २० ।।

वे दिक्पाल इत्यादि देव साधर्मिक हैं, क्योंकि वे जिनेन्द्रदेव के भक्त हैं। वे महान् ऋद्धिवाले और सम्यग्दृष्टि होते हैं। इसीलिए प्रतिष्ठा में उनका पूजन, सत्कार आदि उचित है ।। २० ।।

*अधिवासन का प्रतिपादन*

तत्तो सुहजोएणं सत्थाणे[1] मंगलेहिँ ठवणा उ ।
अहिवासणमुचिएणं गंधोदगमादिणा एत्थ ।। २१ ।।

ततः शुभयोगेन स्वस्थाने मङ्गलैः स्थापना तु ।
अधिवासनमुचितेन गन्धोदकादिना अत्र ।। २१ ।।

दिग्देवतादि की पूजा के उपरान्त शुभ मुहूर्त में चन्दन आदि का विलेपन करके पूर्वनिश्चित स्थान पर माङ्गलिक गीतों के बीच जिनप्रतिमा की स्थापना करनी चाहिए। फिर उसको सुगन्धित जलादि से यथोचित वासयुक्त बनाना चाहिए ।। २१ ।।

*बिम्ब के पास कलशों की स्थापना*

चत्तारि पुण्णकलसा पहाणमुद्दाविचित्तकुसुमजुया ।
सुहपुण्णचत्तचउतंतुगोच्छया होंति पासेसु ।। २२ ।।

चत्वारि पूर्णकलशाः प्रधानमुद्राविचित्रकुसुमयुताः ।
शुभपूर्णचत्रचतुस्तन्तुकावस्तृताः भवन्ति पार्श्वेषु ।। २२ ।।

जिनप्रतिमा के चारों ओर जल से परिपूर्ण चार कलश रखने चाहिए। जिनमें स्वर्णादि मुद्रा, रुपया या रत्न डाला गया हो तथा विविध पुष्पों से युक्त हों और उन पी सूत के कच्चे धागे बँधे हुए हों ।। २२ ।।

---

१. 'सट्ठाणे' इति पाठान्तरम् ।

*बिम्ब के समक्ष मंगलदीप आदि रखना*

मंगलदीवा य तहा घयगुलपुण्णा सुभिक्खुभक्खा य ।
जववारयवण्णयसत्थिगादि सव्वं महारंमं ।। २३ ।।

मङ्गलदीपाश्च तथा घृतगुडपूर्णाः शुभेक्षुभक्ष्याणि च ।
यववारकवर्णकस्वस्तिकादि सर्वं महारम्यम् ।। २३ ।।

बिम्ब के समक्ष घी और गुड़ से युक्त मंगलदीप रखना चाहिए तथा अच्छे गन्ने के टुकड़े और मिष्ठान्न आदि रखना चाहिए तथा जौ के अंकुर, चन्दन का स्वस्तिक आदि सभी प्रकार के रमणीय आकार बनाना चाहिए ।। २३ ।।

मंगलपडिसरणाइं चित्ताइं रिद्धिविद्धिजुत्ताइं ।
पढमदियहंमि चंदणविलेवणं चेव गंधड्ढं ।। २४ ।।

मङ्गलप्रतिसरणानि चित्राणि ऋद्धिवृद्धियुक्तानि ।
प्रथमदिवसे चन्दनविलेपनमेव गन्धाढ्यम् ।। २४ ।।

पहले दिन (अधिवासन करने के दिन) ऋद्धि और वृद्धि — इन दो औषधियों से युक्त विचित्र मांगलिक कंगन प्रतिमा के हाथ में बाँधना चाहिए और प्रतिमा पर कस्तूरी, कपूर आदि सुगन्धित पदार्थों के मिश्रण वाले चन्दन का लेप करना चाहिए ।। २४ ।।

चउणारीओमिणणं णियमा अहिगासु णत्थि उ विरोहो ।
णेवत्थं च इमासिं जं पवरं तं इहं सेयं ।। २५ ।।

चतुर्नार्यवमानं नियमादधिकासु नास्ति तु विरोधः ।
नेपथ्यं च आसां यत् प्रवरं तदिह श्रेयः ।। २५ ।।

उस प्रतिमा को चार पवित्र नारियाँ प्रोंखन (न्यौछावर) करें। चार से अधिक नारियाँ हो जायें तो भी कोई आपत्ति नहीं है। इस अनुष्ठान में उनकी वस्त्र आदि वेशभूषा उत्तम हो तो अति श्रेयस्कर है ।। २५ ।।

*उत्तम वस्त्र क्यों ?*

जं एयवइयरेणं सरीरसक्कारसंगयं चारु ।
कीरइ तयं असेसं पुण्णणिमित्तं मुणेयव्वं ।। २६ ।।

यदेतद्व्यतिकरेण शरीरसत्कारसङ्गतं चारु ।
क्रियते तर्कमशेषं पुण्यनिमित्तं ज्ञातव्यम् ।। २६ ।।

जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा के निमित्त शरीरशोभा के लिए सुन्दर वस्त्रों को

धारण करना आदि शुभकर्म का कारण जानना चाहिए, क्योंकि ऐसा करना उत्तम पुरुष के प्रति बहुमान को प्रकट करता है ॥ २६ ॥

*शरीरभूषा पुण्यबन्ध का कारण है*

तित्थगरे बहुमाणा आणाआराहणा कुसलजोगा ।
अणुबंधसुद्धिभावा रागादीणं अभावा य ॥ २७ ॥

तीर्थङ्करे बहुमानाद् आज्ञाराधनात् कुशलयोगात् ।
अनुबन्धशुद्धिभावाद् रागादीनामभावाच्च ॥ २७ ॥

प्रतिष्ठा आदि में सुन्दर वस्त्र धारण करने से १. तीर्थङ्कर के प्रति सम्मान होता है, २. भगवान् के उपदेश का पालन होता है, ३. शास्त्रोक्त होने से शुभ प्रवृत्ति होती है, ४. सतत कर्मक्षयोपशम होने से आत्मा निर्मल होती है और ५. आज्ञा पालनार्थ शरीरशोभा करने से रागादि का अभाव होता है। अत: सुन्दर वस्त्र पुण्यबन्ध का कारण बनते हैं ॥ २७ ॥

*चूमने से इसी लोक में मिलने वाला फल*

दिक्खियजिणोमिणणओ दाणाओ सत्तितो तहेयम्मि ।
वेहव्वं दारिद्दं च होंति ण कयाति नारीणं ॥ २८ ॥

दीक्षितजिनावमानतो दानात् शक्तित: तथैतस्मिन् ।
वैधव्यं दारिद्र्यं च भवन्ति न कदाचित् नारीणाम् ॥ २८ ॥

अधिवासित जिनबिम्ब का प्रोखण[1] करने से और उसके लिए यथाशक्ति दान देने से स्त्रियों को कभी भी वैधव्य ( विधवापन ) और दारिद्र्य प्राप्त नहीं होता है ॥ २८ ॥

*अधिवासन के समय वैभव के ठाठ से उत्कृष्ट पूजा का विधान*

उक्कोसिया य पूजा पहाणदव्वेहिं एत्थ कायव्वा ।
ओसहिफलवत्थसुवण्णमुत्तारयणाइएहिं च ॥ २९ ॥
चित्तबलिचित्तगंधेहिं चित्तकुसुमेहिं चित्तवासेहिं ।
चित्तेहिं विऊहेहिं भावेहिं विहवसारेण ॥ ३० ॥

उत्कर्षिका च पूजा प्रधानद्रव्यैरत्र कर्तव्या ।
औषधिफलवस्त्रसुवर्णमुक्ता - रत्नादिकैश्च ॥ २९ ॥

---

१. पुंखणग ( प्रोङ्खणक ) — चुमाना, विवाह की एक रीति।
देखिए : प्राकृत-हिन्दी कोश, पृ० ५८५

चित्रबलिचित्रगन्धैः चित्रकुसुमैश् चित्रवासैः।
चित्रैर्व्यूहैर्भावैर्विभव - सारेण ।। ३० ।।

अधिवासन के समय चन्दन, कपूर, पुष्प आदि उत्तम द्रव्य, अक्षत वगैरह औषधि, नारियल आदि फल, वस्त्र, सुवर्ण, मोती, रत्न आदि विविध प्रकार के उपहार, कोष्ठपुटपाक अर्थात् इत्र आदि सुगन्धित द्रव्य, विविध पुष्प, दूसरी वस्तुओं को भी सुगन्धित बनाने वाले विविध चूर्ण और भक्तिभाव वाली उत्तम रचनाओं से जिनेन्द्रदेव के वैभव को प्रकट करके जिनबिम्ब की उत्कृष्ट पूजा करनी चाहिए ।। २९-३० ।।

*पूजा में इतना आदर करने का कारण*

एयमिह मूलमंगल एत्तो च्चिय उत्तराविं सक्कारा।
ता एयम्मि पयत्तो कायव्वो बुद्धिमंतेहिं ।। ३१ ।।

एतदिह मूलमङ्गलमित एव उत्तरेऽपि सत्काराः ।
तदेतस्मिन् प्रयत्नः कर्तव्यो बुद्धिमद्भिः ।। ३१ ।।

प्रतिष्ठा के समय जिनबिम्ब की उत्कृष्ट पूजा मूलमंगल है। इस मूलमंगल से ही प्रतिष्ठा होने के बाद प्रतिष्ठित जिनबिम्ब का सत्कार उत्तरोत्तर बढ़ता है, क्योंकि मूलमंगल उत्तरोत्तर सत्कारवृद्धि का कारण है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को इस मूलमंगल में उद्यम करना चाहिए ।। ३१ ।।

*उत्कृष्ट पूजा के बाद की विधि*

चितिवंदण थुतिवुड्डी उस्सग्गो साहु सासणसुराए।
थयसरण पूय काले ठवणा मंगल्लपुव्वा उ ।। ३२ ।।

चैत्यवन्दनं स्तुतिवृद्धिरुत्सर्गः साधु शासनसुरायाः ।
स्तवस्मरणं पूजा काले स्थापना मङ्गलपूर्वा तु ।। ३२ ।।

उत्कृष्ट पूजा करने के पश्चात् चैत्यवन्दन करना चाहिए, फिर वर्धमान स्तुति बोलनी चाहिए (जिस स्तुति में उत्तरोत्तर धर्मानुराग बढ़ता जाये वह वर्धमान स्तुति कहलाती है), फिर शासनदेवी की आराधना के लिए एकाग्रचित्त होकर कायोत्सर्ग करना चाहिए, फिर स्तवस्मरण (कायोत्सर्ग में 'लोगस्स'/'चतुर्विंशतिस्तव' का चिन्तन) करना चाहिए, फिर मङ्गलोच्चारणपूर्वक जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा करनी चाहिए ।। ३२ ।।

*प्रतिष्ठा के बाद की विधि*

पूया वंदणमुस्सग्ग पारणा भावथेज्जकरणं च।
सिद्धाचलदीवसमुद्दमंगलाणं च पाढो उ ।। ३३ ।।

पूजा वन्दनमुत्सर्गः पारणा भावस्थैर्यकरणञ्च ।
सिद्धाचलद्वीपसमुद्रमङ्गलानाञ्च पाठस्तु ।। ३३ ।।

प्रतिष्ठित जिनबिम्ब की पुष्पादि से पूजा करनी चाहिए। फिर चैत्यवन्दन करना चाहिए, फिर उपसर्गों की शान्ति के लिए कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग करने के पश्चात् (अर्थात् पारणा के पश्चात्) चित्त की स्थिरता करनी चाहिए अर्थात् एकाग्रचित्त होना चाहिए। आशीर्वाद के लिए सिद्धों की पर्वत, द्वीप, समुद्र आदि की उपमा वाली मंगलगाथाएँ बोलनी चाहिए ।। ३३ ।।

*आशीर्वाद सम्बन्धी मांगलिक गाथा*

जह सिद्धाण पतिट्ठा तिलोगचूडामणिम्मि सिद्धिपदे ।
आचंदसूरियं तह होउ इमा सुप्पतिट्ठत्ति ।। ३४ ।।

यथा सिद्धानां प्रतिष्ठा त्रिलोकचूडामणौ सिद्धिपदे ।
आचन्द्रसूर्यौ तथा भवतु इयं सुप्रतिष्ठेति ।। ३४ ।।

जिस प्रकार त्रिभुवन चूड़ामणिरूप सिद्धालय में सिद्ध भगवंतों की प्रतिष्ठा है तथा जैसे चन्द्र और सूर्य शाश्वत हैं, उसी प्रकार यह प्रतिष्ठा भी शाश्वत बने ।। ३४ ।।

एवं अचलादीसुवि मेरुप्पमुहेसु होति वत्तव्वं ।
एते मंगलसद्दा तम्मि सुहनिबंधणा दिट्ठा ।। ३५ ।।

एवमचलादिष्वपि मेरुप्रमुखेषु भवति वक्तव्यम् ।
एते मङ्गलशब्दास्तस्मिन् शुभनिबन्धना दृष्टाः ।। ३५ ।।

जिस प्रकार सिद्धों की उपमा से मंगल गाथा कही गयी, उसी प्रकार मेरु पर्वत, जम्बूद्वीप, लवण समुद्र आदि शाश्वत पदार्थों की उपमा से भी आशीर्वाद की मंगल गाथाएँ बोलनी चाहिए। प्रतिष्ठा के समय ऐसे मंगलवचन कल्याणकारी बनते हैं — ऐसा शास्त्रज्ञों के द्वारा कहा गया है ।। ३५ ।।

*मांगलिक गाथाएँ बोलने से इष्टसिद्धि*

सोउं मंगलसद्दं सउणंमि जहा उ इट्ठसिद्धित्ति ।
एत्थंपि तहा संमं विण्णेया बुद्धिमंतेहिं ।। ३६ ।।

श्रुत्वा मङ्गलशब्दं शकुने यथा तु इष्टसिद्धिरिति ।
अत्रापि तथा सम्यग् विज्ञेया बुद्धिमद्भिः ।। ३६ ।।

जिस प्रकार शकुन-शास्त्र के अनुसार विजय आदि मांगलिक शब्द

सुनने से इष्टसिद्धि होती है, उसी प्रकार प्रतिष्ठा में भी मंगलवचनों से इष्टसिद्धि होती है — ऐसा विद्वानों को जानना चाहिए ।। ३६ ।।

*मांगलिक शब्द बोलने में मतान्तर*

अण्णे उ पुण्णकलसादिठावणे उदहिमंगलादीणि ।
जंपंतऽण्णे सव्वत्थ भावतो जिणवरा चेव ।। ३७ ।।

अन्ये तु पूर्णकलशादिस्थापने उदधिमंगलादीनि ।
जल्पन्ति अन्ये सर्वत्र भावतो जिनवराश्चैव ।। ३७ ।।

कुछ आचार्य पूर्णकलश, मंगलदीप आदि रखते समय समुद्र, अग्नि आदि मंगल शब्द बोलते हैं। कुछ आचार्यों का कथन है कि परमार्थ से जिनेन्द्रदेव ही मंगलरूप हैं, इसलिए प्रत्येक कार्य करने से पूर्व भावपूर्वक जिनेन्द्रदेव के नामों का ही उच्चारण करना चाहिए ।। ३७ ।।

*संघपूजा और संघ की महत्ता*

सत्तीएँ संघपूजा विसेसपूजाउ बहुगुणा एसा ।
जं एस सुए भणिओ तित्थयराणंतरो संघो ।। ३८ ।।

शक्त्या संघपूजा विशेषपूजातो बहुगुणा एषा ।
यदेषः श्रुतेर्भणितः तीर्थङ्करानन्तरः संघः ।। ३८ ।।

प्रतिष्ठा हो जाने के बाद यथाशक्ति श्रमणप्रधान चतुर्विध संघ की पूजा करनी चाहिए, क्योंकि संघ के एक भाग रूप धर्माचार्य आदि की पूजा से संघ-पूजा अधिक फलवाली है। इसका कारण यह है कि शास्त्र में कहा गया है कि तीर्थङ्कर के बाद पूज्य के रूप में संघ का स्थान है और फिर धर्माचार्यों का स्थान आता है। तीर्थङ्कर बनने में संघ हेतु होता है। इसलिए धर्माचार्य की पूजा से भी अधिक संघपूजा का महत्त्व है ।। ३८ ।।

*संघ की व्याख्या और तीर्थङ्करपूज्यता*

गुणसमुदाओ संघो पवयण तित्थंति होंति एगट्ठा ।
तित्थगरोऽवि य एयं[१] णमए गुरुभावतो चेव ।। ३९ ।।

गुणसमुदायः सङ्घः प्रवचनं तीर्थमिति भवन्ति एकार्थाः ।
तीर्थङ्करोऽपि न एतं नमति गुरुभावत एव ।। ३९ ।।

अनेक जीवों के ज्ञानादि गुणों का समूह संघ कहलाता है। यहाँ प्रवचन और तीर्थ — ये दोनों शब्द एकार्थवाची हैं, जिनका अर्थ होता है — संघ। अर्थात्

१. 'एणं' इति पाठान्तरम्।

पुरुष आदि बाह्य आकार रूप संघ नहीं है, अपितु गुणसमुदाय रूप है। इसलिए तीर्थङ्कर भी देशना के पहले गुरुभाव से संघ को नमस्कार करते हैं ।। ३९ ।।

**विशेष :** प्रवचन अर्थात् प्रकृष्ट वचन जिसे द्वादशांगी के लिए प्रयुक्त किया जाता है और जीव जिससे भवरूप समुद्र को पार करते हैं – वह भी तीर्थ कहलाता है। यहाँ तीर्थ शब्द का अर्थ द्वादशाङ्गी भी होता है। द्वादशाङ्गी का आधार संघ है। संघ के बिना द्वादशाङ्गी नहीं रह सकती। इसलिए द्वादशाङ्गी आधेय और संघ आधार है। आधार और आधेय के अभेद की विवक्षा से प्रवचन और तीर्थ को संघ कहा जाता है ।

*तीर्थङ्कर द्वारा संघ को प्रणाम करने का आगम[1] से समर्थन*

तप्पुव्विया अरिहया पूजितपूया य विणयकम्मं च ।
कयकिच्चोवि जह कहं कहेति णमते तहा तित्थं ।। ४० ।।

तत्पूर्विका अर्हत्ता पूजितपूजा च विनयकर्म च ।
कृतकृत्योऽपि यथा कथां कथयति नमति तथा तीर्थम् ।। ४० ।।

प्रवचनवात्सल्य आदि हेतुओं से तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध होता है, अत: तीर्थङ्करत्व में संघ कारण है। लोग बड़े लोगों से पूजित व्यक्ति की पूजा करते हैं। तीर्थङ्कर संघ की पूजा करते हैं – ऐसा सोचकर लोग भी उस संघ की पूजा करते हैं। तीर्थङ्कर बनने में संघ निमित्त होने से उपकारी है। विनय करने से कृतज्ञता धर्म का पालन होता है और धर्म का मूल विनय है – यह सूचित होता है – इन तीन कारणों से तीर्थङ्कर संघ को नमस्कार करते हैं।

तीर्थङ्कर कृतकृत्य होने के बाद भी तीर्थङ्कर नामकर्म के उदय से उचित प्रवृत्ति में संलग्न वे जिस प्रकार धर्मदेशना करते हैं, उसी प्रकार संघ को नमस्कार भी करते हैं ।। ४० ।।

*संघपूजा से सभी पूज्यों की पूजा*

एयम्मि पूजियम्मी णत्थि तयं जं ण पूजियं होइ ।
भुअणेऽवि पूयणिज्जं ण गुणट्ठाणं ततो अण्णं ।। ४१ ।।

एतस्मिन् पूजिते नास्ति तकं यन्न पूजितं भवति ।
भुवनेऽपि पूजनीयं न गुणस्थानं ततो अन्यम् ।। ४१ ।।

संघ की पूजा होने पर विश्व में कोई ऐसा पूज्य नहीं बचता है, जिसकी

---

१. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ५६७ ।

पूजा न हो गयी हो, अर्थात् संघ की पूजा करने से सभी पूज्यों की पूजा हो जाती है, क्योंकि समस्त लोक में संघ के अतिरिक्त दूसरा अन्य कोई गुणी पूज्य नहीं है ।। ४१ ।।

*संघ के एकदेश की पूजा करने से सम्पूर्ण संघ की पूजा*

तप्पूयापरिणामो हंदि महाविसयमो मुणेयव्वो ।
तद्देसपूयणम्मिवि देवयपूयादिणाएण ।। ४२ ।।

तत्पूजापरिणामो हंदि महाविषयो ज्ञातव्यः ।
तद्देशपूजनेऽपि दैवतपूजादिज्ञातेन ।। ४२ ।।

संघ के एक भाग की पूजा करने पर भी पूजा का परिणाम सम्पूर्ण संघ सम्बन्धी होता है अर्थात् भाव सम्पूर्ण संघ की पूजा करने का ही होता है। जैसे देवता, राजा आदि के एक अंग की पूजा करने से देवता अथवा राजा के सम्पूर्ण शरीर की पूजा करने का भाव होता है ।। ४२ ।।

*संघ पूजा आसन्नसिद्धिक का लक्षण है*

आसन्नसिद्धियाणं लिंगमिणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
संघंमि चेव पूया सामण्णेणं गुणणिहिम्मि ।। ४३ ।।

आसन्नसिद्धिकानां लिङ्गमेतद् जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।
सङ्घ एव पूजा सामान्येन गुणनिधौ ।। ४३ ।।

किसी प्रकार के भेदभाव के बिना ही गुणों के निधानरूप संघ की पूजा करना आसन्नसिद्धिक (निकट भविष्य में मोक्ष पाने वाले) का लक्षण है — ऐसा तीर्थङ्करों ने कहा है ।। ४३ ।।

*संघपूजा की महत्ता*

एसा उ महादाणं एस च्चिय होति भावजण्णोत्ति ।
एसा गिहत्थसारो एस च्चिय संपयामूलं ।। ४४ ।।

एषा तु महादानम् एषैव भवति भावयज्ञ इति ।
एषा गृहस्थसार एषैव सम्पदामूलम् ।। ४४ ।।

संघपूजा महादान है। यही भावयज्ञ वास्तविक यज्ञ है। यही (संघपूजा) गृहस्थधर्म का सार है और यही सम्पत्ति का मूल है ।। ४४ ।।

*संघपूजा का फल*

एतीएँ फलं णेयं परमं णेव्वाणमेव णियमेण ।
सुरणरसुहाइं अणुसंगियाइं इह किसिपलाल व ।। ४५ ।।

एतस्या: फलं ज्ञेयं परमं निर्वाणमेव नियमेन ।
सुरनरसुखानि आनुषंगिकाणि इह कृषिपलालमिव ।। ४५ ।।

इस संघपूजा का मुख्य फल निर्वाण (मोक्ष) ही जानना चाहिए और इसके आनुषंगिक फल देवलोक और मनुष्यलोक के सुख हैं। जिस प्रकार खेती का मुख्य-फल अनाज की प्राप्ति है, किन्तु अनाज के साथ पुआल भी मिलता है, उसी प्रकार संघपूजा का मुख्य-फल मोक्ष है तथा देव और मनुष्यरूप शुभ गति की प्राप्ति आनुसङ्गिक हैं ।। ४५ ।।

*प्रतिष्ठा के बाद के कार्यों का विधान*

कयमेत्थ पसंगेणं उत्तरकालोचियं इहऽण्णंपि ।
अणुरूवं कायव्वं तित्थुण्णतिकारगं णियमा ।। ४६ ।।

कृतमत्र प्रसङ्गेन उत्तरकालोचितम् इहान्यदपि ।
अनुरूपं कर्तव्यं तीर्थोन्नतिकारकं नियमात् ।। ४६ ।।

प्रतिष्ठा के अधिकार में प्रसंगवश संघपूजा का विवेचन यहाँ किया गया। प्रतिष्ठा के पश्चात् तीर्थ की उन्नति करने वाले अमारि (हिंसा-निवारण) घोषणा आदि अन्य अनुकूल कार्य भी अवश्य करने चाहिए ।। ४६ ।।

*स्वजन और साधर्मिक की विशेषरूप से पूजा*

उचिओ जणोवयारो विसेसओ णवरि सयणवग्गम्मि ।
साहम्मियवग्गम्मि य एयं खलु परमवच्छल्लं ।। ४७ ।।

उचितो जनोपचारविशेषतो नवरि स्वजनवर्गे ।
साधर्मिकवर्गे च एतत्खलु परमवात्सल्यम् ।। ४७ ।।

प्रतिष्ठा के पश्चात् स्वजनवर्ग का विशेष रूप से लोकपूजा रूप सत्कार करना चाहिए, क्योंकि स्वजनवर्ग व्यावहारिक दृष्टि से नजदीक का होता है। स्वजनवर्ग के बाद दूसरे सहधर्मियों का भी लोकपूजा रूप सत्कार करना चाहिए। इससे स्वजनों और सहधर्मियों के प्रति उत्तम वात्सल्यभाव होता है ।। ४७ ।।

*अष्टाह्निका महोत्सव का विधान*

अट्ठाहिया य महिमा सम्मं अणुबंधसाहिगा केई ।
अण्णे उ तिण्णि दियहे णिओगओ चेव कायव्वो ।। ४८ ।।

अष्टाह्निका च महिमा सम्यगनुबन्धसाधिका केचित् ।
अन्ये तु त्रीन् दिवसान् नियोगतश्चैव कर्तव्य: ।। ४८ ।।

प्रतिष्ठा के अवसर पर शुद्धभाव से आठ दिनों तक महोत्सव करना चाहिए। इससे प्रतिष्ठित बिम्बपूजा का विच्छेद नहीं होता है — ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। जबकि अन्य आचार्य तीन दिनों तक महोत्सव अवश्य करना चाहिए — ऐसा कहते हैं ।। ४८ ।।

*कंकणमोचन*

तत्तो विसेसपूयापुव्वं विहिणा पडिस्सरोमुयणं ।
भूयबलिदीणदाणं एत्थंपि ससत्तिओ किंपि ।। ४९ ।।

ततो विशेषपूजापूर्वं विधिना प्रतिसरोन्मोचनम् ।
भूतबलिदीनदानमत्रापि स्वशक्तित: किमपि ।। ४९ ।।

महोत्सव पूर्ण होने के पश्चात् पहले की अपेक्षा और अच्छी तरह से पूजा करके कंकणमोचन (प्रतिमाजी को बाँधे गये मंगलसूत्र को खोलने रूप कार्य) करना चाहिए। इस अवसर पर भी आर्थिक स्थिति और भावना के अनुसार प्रेतों को पुष्प, फल, अक्षत और सुगन्धित जल से पकाया गया अन्न आदि चढ़ाने रूप भूतबलि और अनुकम्पारूप दान करना चाहिए ।। ४९ ।।

*उपसंहार*

तत्तो पडिदिणपूयाविहाणओ तह तहेह कायव्वं ।
विहिताणुट्ठाणं खलु भवविरहफलं जहा होति ।। ५० ।।

तत: प्रतिदिनपूजाविधानतस्तथा तथेह कर्तव्यम् ।
विहितानुष्ठानं खलु भवविरहफलं यथा भवति ।। ५० ।।

इसके बाद प्रतिदिन शास्त्रोक्त विधि से चैत्यवंदन, स्नात्र, पूजा आदि उसी प्रकार करनी चाहिए जिस प्रकार करने से संसार-विरह का नाश हो ।। ५० ।।

**।। इति जिनबिम्बप्रतिष्ठाविधिर्नाम अष्टमं पञ्चाशकम् ।।**

# ९

# यात्राविधि पञ्चाशक

स्तवविधि नामक षष्ठ पञ्चाशक की तीसरी गाथा में जिनभवन, जिनबिम्ब, यात्रा, पूजा इत्यादि को द्रव्यपूजा कहा गया है। इसलिए सप्तम पञ्चाशक में जिन-भवनविधि और अष्टम पञ्चाशक में जिनबिम्बप्रतिष्ठा-विधि कही गयी है। अब नवम पञ्चाशक में यात्राविधि कहने के लिए ग्रन्थकार मंगलाचरण कर रहे हैं —

*मङ्गलाचरण*

नमिऊण वद्धमाणं सम्मं संखेवओ पवक्खामि ।
जिणजत्ताएँ विहाणं सिद्धिफलं सुत्तणीईए ।। १ ।।

नत्वा वर्द्धमानं सम्यक् संक्षेपतः प्रवक्ष्यामि ।
जिनयात्राया विधानं सिद्धिफलं सूत्रनीत्या ।। १ ।।

भगवान् वर्धमान को नमस्कार करके संक्षेप में आगमानुसार मोक्षफलदायी जिन-यात्रा विधि का अच्छी तरह से विवेचन करूँगा ।। १ ।।

*सम्यग्दर्शन के आठ आचार*

दंसणमिह मोक्खंगं परमं एयस्स अट्ठहाऽऽयारो ।
णिस्संकादी भणितो पभावणंतो जिणिंदेहिं ।। २ ।।

दर्शनमिह मोक्षाङ्गं परमं एतस्य अष्टधाऽऽचारः ।
निःशंकादिर्भणितः प्रभावनान्तो जिनेन्द्रैः ।। २ ।।

जैनशासन में सम्यग्दर्शन मोक्ष का प्रधान कारण है। जिनेन्द्रदेव ने सम्यग्दर्शन के निःशंकित से लेकर प्रभावना तक आठ आचार (भेद) कहे हैं। यद्यपि आचार सम्यग्दर्शन युक्त जीवों के हैं, लेकिन गुण और गुणी अभिन्न हैं, इसलिए गुणी के आचार गुण के आचार कहलाते हैं। इसलिए यहाँ सम्यग्दर्शन के आठ आचार (भेद) कहे गये हैं। ये आठ आचार (भेद) इस प्रकार हैं —

१. *निःशंकित* — तीर्थङ्करवचन के प्रति सन्देह का अभाव।

२. *निःकांक्षित* — इन्द्रियजन्य सांसारिक सुखों की इच्छा न करना।

३. *निर्विचिकित्सा* — रत्नत्रय से पवित्र साधु के मलिन अथवा रुग्ण शरीर को देखकर ग्लानि न करना।

४. *अमूढ़दृष्टि* — मिथ्यामार्ग और मिथ्यामार्ग के धारक जीवों का मन, वचन और काय से अनुमोदन न करना।

५. *उपबृंहणा* — आराधक के गुणों की प्रशंसा करके उसके गुणों की वृद्धि करना।

६. *स्थिरीकरण* — स्वयं को एवं अन्य व्यक्तियों को धर्म में स्थिर करना।

७. *वात्सल्य* — साधर्मिक का भोजन वस्त्रादि से सम्मान करना।

८. *प्रभावना* — दूसरे जीव जैनशासन के प्रति आकृष्ट हों, ऐसा आचरण करना।

*जिनयात्रा प्रभावना का कारण है*

पवरा पभावणा इह असेसभावंमि तीएँ सब्भावा ।
जिणजत्ता य तयंगं जं पवरं ता पयासोऽयं ।। ३ ।।

प्रवरा प्रभावनेह अशेषभावे तस्याः सद्भावात् ।
जिनयात्रा च तदंगं यत्प्रवरं तत्प्रयासोऽयम् ।। ३ ।।

सम्यग्दर्शन के आठ आचारों में प्रभावना प्रधान आचार है, क्योंकि जो निःशंकित आदि आचारों से युक्त है वही शासन की प्रभावना कर सकता है। जिनयात्रा जिनशासन की प्रभावना का प्रधान कारण है, इसलिए यहाँ जिनयात्रा विधि का वर्णन किया गया है ।। ३ ।।

*जिनयात्रा शब्द का अर्थ*

जत्ता महूसवो खलु उद्दिस्स जिणे स कीरई जो उ ।
सो जिणजत्ता भण्णइ तीएँ विहाणं तु दाणाइ ।। ४ ।।

यात्रा महोत्सवः खलु उद्दिश्य जिनान् स क्रियते यस्तु ।
सो[१] जिनयात्रा भण्यते तस्याः विधानन्तु दानादि ।। ४ ।।

वह महोत्सव जो जिनों को उद्दिष्ट करके किया जाता है, जिनयात्रा है। उस जिनयात्रा की विधि दानादि रूप है ।। ४ ।।

*महोत्सव में करने योग्य दानादि का निर्देश*

दाणं तवोवहाणं सरीरसक्कारमो जहासत्ति ।
उचितं च गीतवाइय थुतिथोत्ता पेच्छणादी[२] या ।। ५ ।।

---

१. सो = यात्रामहोत्सव इत्यर्थः।

२. 'पेथणादी' इति पाठान्तरम्।

दानं तप-उपधानं शरीरसत्कारं यथाशक्तिः ।
उचितं च गीतवादितं स्तुतिस्तोत्राणि प्रेक्षणादि च ।। ५ ।।

जिनयात्रा महोत्सव में यथाशक्ति १. दान, २. तप, ३. शरीरशोभा, ४. उचित गीतवाद्य, ५. स्तुतिस्तोत्र, ६. प्रेक्षणक आदि (आदि पद से स्तवन, कथा, रथपरिभ्रमण आदि) करना चाहिए। यह द्वार-गाथा है। आगे इन द्वारों का क्रमशः विवेचन किया जा रहा है ।। ५ ।।

*दानद्वार का विवरण*

दाणं अणुकंपाए दीणाणाहाण सत्तिओ णेयं ।
तित्थंकरणातेणं साहूण य पत्तबुद्धीए ।। ६ ।।

दानमनुकम्पाया दीनानाथेभ्यः शक्तितो ज्ञेयम् ।
तीर्थङ्करज्ञातेन साधूनां च पात्रबुद्धया ।। ६ ।।

जिनयात्रा में दीनों, अनाथों को दयापूर्वक यथाशक्ति अन्नादि का दान करना चाहिए, क्योंकि तीर्थङ्करों ने भी अनुकम्पा दान किया है। वे ज्ञानादि-गुणरूप-रत्नों के आगार हैं — ऐसी सुपात्र बुद्धि से उनको दान देना चाहिए ।। ६ ।।

*तपद्वार का विवरण*

एकासणाइ णियमा तवोवहाणंपि एत्थ कायव्वं ।
तत्तो भावविसुद्धी णियमा विहिसेवणा चेव ।। ७ ।।

एकाशनादि नियमात् तप-उपधानमपि अत्र कर्तव्यम् ।
ततो भावविशुद्धिः नियमाद् विधिसेवना चैव ।। ७ ।।

जिनयात्रा में एकाशन, उपवास आदि **तप भी अवश्य** करना चाहिए। इससे भावविशुद्धि अवश्य होती है और **धर्मार्थियों को** भावविशुद्धि ही उपादेय है तथा जिनयात्रा में तप करने से विधि का पालन होता है ।। ७ ।।

*शरीरभूषा द्वार का विवरण*

वत्थविलेवणमल्लादिएहिं विविहो सरीरसक्कारो ।
कायव्वो जहसत्तिं पवरो देविंदणाएण ।। ८ ।।

वस्त्रविलेपनमाल्यादिभिः विविधः शरीरसत्कारः ।
कर्तव्यो यथाशक्ति प्रवरो देवेन्द्रज्ञातेन ।। ८ ।।

जिस प्रकार भगवान् के जन्मादि के समय देवेन्द्र सम्पूर्ण विभूतियों एवं आदर के साथ शरीर शोभा करते हैं, उसी प्रकार दूसरों को भी अपने सामर्थ्य के

अनुसार वस्त्र, विलेपन, माला आदि विविध द्रव्यों से सर्वोत्तम शरीरशोभा करनी चाहिए ।। ८ ।।

*उचित गीतवाद्य द्वार*

उचियमिह गीयवाइयमुचियाण वयाइएहिं जं रम्मं ।
जिणगुणविसयं सद्धम्मबुद्धिजणगं अणुवहासं ।। ९ ।।

उचितमिह गीतवादितमुचितानां वचनादिकैर्यद्रम्यम् ।
जिनगुणविषयं सद्धर्मबुद्धिजनकमनुपहासम् ।। ९ ।।

योग्य जीवों के वचन आदि भावों से जो रमणीय हो, जिसमें जिन की वीतरागता आदि गुणों का वर्णन हो, जो सद्धर्म (जैनधर्म) के प्रति आकर्षण पैदा करने वाला हो और जो उपहसनीय न हो — ऐसा गीतवाद्य योग्य माना गया है। जिनयात्रा में ऐसा ही गीतवाद्य होना चाहिए ।। ९ ।।

*स्तुतिस्तोत्र द्वार का विवरण*

थुइथोत्ता पुण उचिया गंभीरपयत्थविरइया जे उ ।
संवेगवुड्डिजणगा समा य पाएण सव्वेसिं ।। १० ।।

स्तुतिस्तोत्राणि पुनरुचितानि गम्भीरपदार्थविरचितानि यानि तु ।
संवेगवृद्धिजनकानि समानि च प्रायेण सर्वेषाम् ।। १० ।।

गम्भीर भावों से विरचित, संवेगवर्द्धक और बोले जाने वाले पदों को प्राय: सभी समझ सकें — ऐसे योग्य स्तुति-स्तोत्र जिनयात्रा में बोलना चाहिए ।। १० ।।

*प्रेक्षणक द्वार का विवरण*

पेच्छणगावि णडादी धम्मियणाडयजुआ इहं उचिया ।
पत्थावो पुण णेओ इमेसिमारंभमादीओ ।। ११ ।।

प्रेक्षणकान्यपि नटादीनि धार्मिकनाटकयुतानि इह उचितानि ।
प्रस्ताव: पुनर्ज्ञेय एषामारम्भादि: ।। ११ ।।

जिनयात्रा में जिनजन्मोत्सव, भरतदीक्षा आदि वृत्तान्त वाले धार्मिक नाटक आदि दृश्य भी उचित हैं, क्योंकि वे भव्य श्रोताओं में संवेग उत्पन्न करते हैं। नाटकादि दृश्य महोत्सव के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में करने चाहिए ।। ११ ।।

*दान कब करें ?*

आरंभे च्चिय दाणं दीणादीण मणतुट्ठिजणणत्थं।
रण्णाऽमाघायकारणमणहं गुरुणा ससत्तीए।। १२ ।।

आरम्भ एव दानं दीनादीनां मनस्तुष्टिजननार्थम्।
राज्ञाऽमाघातकारणमनघं गुरुणा स्वशक्त्या।। १२ ।।

दीन आदि गरीबों के मनस्तोष के लिए महोत्सव के प्रारम्भ में ही अनुकम्पा दान करना चाहिए तथा सिद्धान्त के ज्ञाता गुरु अपनी शक्ति के अनुसार राजा को उपदेश देकर हिंसा से आजीविका चलाने वाले मछुआरों आदि की आजीविका की व्यवस्था करवाकर उनसे होने वाली हिंसा को रुकवावे तथा राजा से कर आदि माफ करवावे ।। १२ ।।

*साधु को राजा की आज्ञा लेकर उसके देश में रहना चाहिए*

विसयपवेसे रण्णो उ दंसणं ओग्गहादि[1]कहणा य।
अणुजाणावण विहिणा तेणाणुण्णाएँ संवासो।। १३ ।।
विषयप्रवेशे राज्ञस्तु दर्शनमवग्रहादिकथना च।
अनुज्ञापनं विधिना तेनानुज्ञाते संवासः।। १३ ।।

साधुको राजा के देश में प्रवेश करके राजा या राजा की अनुपस्थिति में युवराज से मिलना चाहिए और राजा के पूछने पर कि आपके आने का कारण क्या है — अवग्रह (भूभागग्रहण) की बात करनी चाहिए। साधु को आज्ञा लेकर ही निवास करना चाहिए ।। १३ ।।

*राज अवग्रह की याचना से होने वाला लाभ*

एसा पवयणणीती एवं वसंताण णिज्जरा विउला ।
इहलोयम्मिवि दोसा ण होंति णियमा गुणा होंति ।। १४ ।।
एषा प्रवचनीतिरेवं वसतां निर्जरा विपुला ।
इहलोकेऽपि दोषाः न भवन्ति नियमाद् गुणा भवन्ति ।। १४ ।।

इस प्रकार राजा से उसके अवग्रह की याचना करना आगमविधि सम्मत है। इस विधि से राजा के देश में रहने वाले साधुओं को निम्न लाभ होते हैं — १. तीसरे महाव्रत का निरतिचार पालन होने और जिनाज्ञा की आराधना होने से कर्मों की बहुत निर्जरा होती है। २. इस लोक में भी शत्रु-उपद्रव आदि अनर्थ नहीं होते हैं तथा ३. राजा द्वारा साधु का सम्मान करने से लोक में भी साधु सम्माननीय होता है। इस प्रकार से अनेक लाभ होते हैं ।। १४ ।।

*उपदेश से सन्तुष्ट राजा द्वारा जीवहिंसा का निवारण*

दिट्ठो पवयणगुरुणा राया अणुसासिओ य विहिणा उ ।
तं नत्थि जण्ण वियरइ कित्तियमिह आमघाउत्ति ? ।। १५ ।।

---
१. 'उग्गहादि' इति पाठान्तरम् ।

दृष्टः प्रवचनगुरुणा राजा अनुशासितश्च विधिना तु ।
तत्रास्ति यन्न वितरति कियदिह अमाघात इति ॥ १५ ॥

मुख्य आचार्य राजा से मिलकर विधिपूर्वक उपदेश दें तो उपदेश से सन्तुष्ट राजा ऐसी कोई वस्तु नहीं जो न दे दे। फिर तो जिनयात्रा के अवसर पर जीवहिंसा निवारण कौन-सा बड़ा काम है? अर्थात् जीवहिंसा का निवारण तो राजा कर ही सकता है ॥ १५ ॥

*राजा को उपदेश देने की विधि*

एत्थमणुसासणविही भणिओ सामण्णगुणपसंसाए ।
गंभीराहरणेहिं उत्तीहि य भावसाराहिं ॥ १६ ॥

अत्रानुशासनविधिर्भणितः सामान्यगुणप्रशंसया ।
गम्भीराहरणैरुक्तिभिश्च भावसाराभिः ॥ १६ ॥

साधु को राजा के पास जाकर जैनशासन से अविरुद्ध विनय, दाक्षिण्य और सज्जनता आदि गुणों की प्रशंसा करनी चाहिए। महापुरुषों के उत्तम उदाहरण देने चाहिए और भाव भरे नीतिपरक संवादों का वर्णन करना चाहिए। यही राजा को उपदेश देने की विधि है ॥ १६ ॥

*यात्रा के उपलक्ष्य में राजा को दिये जाने वाले उपदेश का स्वरूप*

सामण्णे मणुयत्ते धम्माउ[१] णरीसरत्तणं णेयं ।
इय मुणिऊणं सुंदर! जत्तो एयम्मि कायव्वो ॥ १७ ॥

इड्ढीण मूलमेसो सव्वासिं जणमणोहराणंति ।
एसो य जाणवत्तं णेओ संसारजलहिम्मि ॥ १८ ॥

सामान्ये मनुजत्वे धर्मात् नरेश्वरत्वं ज्ञेयम् ।
इति ज्ञात्वा सुन्दर ! यत्न एतस्मिन् कर्तव्यः ॥ १७ ॥

ऋद्धीनां मूलमेषः सर्वासां जनमनोहराणामिति ।
एषश्च यानपात्रं ज्ञेयः संसारजलधौ ॥ १८ ॥

हे श्रेष्ठ पुरुष ! मनुष्य के रूप में सभी मनुष्य समान होते हैं, फिर अपने पुण्यकर्म रूप धर्म से मनुष्य राजा बनता है। यह जानकर धर्म में प्रयत्न करना चाहिए ॥ १७ ॥

लोगों के चित्त को प्रसन्न करने वाली मनुष्य और देवलोक सम्बन्धी

---

१. 'धम्माओ' इति पाठान्तरम् ।

सभी सम्पत्तियों का कारण धर्म है और धर्म ही संसाररूपी समुद्र को पार कराने वाला जहाज है ।। १८ ।।

जायइ य सुहो एसो उचियत्थापायणेण सव्वस्स ।
जत्ताएँ वीयरागाण विसयसारत्तओ पवरो ।। १९ ।।
जायते च शुभ एष उचितार्थापादनेन सर्वस्य ।
यात्रया वीतरागाणां विषयसारत्वतः प्रवरः ।। १९ ।।

वीतरागी भगवान् जिनेन्द्रदेव की यात्रा के द्वारा उचित कार्य करने से सबका शुभ होता है और उनके गुणों का अतिशय प्रकट होता है। यही श्रेष्ठ धर्म है ।। १९ ।।

एतीएँ सव्वसत्ता सुहिया खु[१]अहेसि तंमि कालंमि ।
एण्हिंपि आमघाएण कुणसु तं चेव एतेसिं ।। २० ।।
एतया सर्वसत्त्वाः सुखिता एव अभूवन् तस्मिन् काले ।
इदानीमपि अमाघातेन कुरुष्व तदेव एतेषाम् ।। २० ।।

जिनेन्द्रदेव के जन्मादि के समय सभी जीव सुखी थे, इसलिए हे महाराज ! इस समय भी इस जिनयात्रा में अमारि-प्रवर्तन (हिंसा-निवारण) के माध्यम से सभी जीवों को अभयदान देकर सुखी करें ।। २० ।।

*आचार्य की अनुपस्थिति में करणीय कार्य*

तम्मि असंते राया दट्ठव्वो सावगेहिवि कमेणं ।
कारेयव्वो य तहा दाणेणवि आमघाउत्ति ।। २१ ।।
तस्मिन् असति राजा द्रष्टव्यः श्रावकैरपि क्रमेण ।
कारयितव्यश्च तथा दानेनापि अमाघात इति ।। २१ ।।

आचार्य न हों तो श्रावकों को भी प्रचलित रीतिरिवाज के अनुसार राजा से मिलना चाहिए और उसे समझाकर जीवहिंसा बन्द करवानी चाहिए। यदि समझाने से राजा न माने तो उसे धन देकर भी यह कार्य करवाना चाहिए ।। २१ ।।

*हिंसाजनक आजीविका बन्द करने वाले को दान देने की विधि*

तेसिंपि घायगाणं दायव्वं सामपुव्वगं दाणं।
तत्तियदिणाण उचियं कायव्वा देसणा य सुहा।। २२ ।।

१. अत्र 'खु' शब्दोऽवधारणार्थे प्रयुक्तः ।

तेषामपि घातकानां दातव्यं सामपूर्वकं दानम्।
तावद्दिनानां उचितं कर्तव्या देशना च शुभा ।। २२ ।।

जीवहिंसा से आजीविका चलाने वाले मछुआरों आदि को भी जितने दिन महोत्सव हो उतने दिन उनको अन्नादि का दान देना चाहिए तथा उन्हें अहिंसा का शुभ उपदेश देना चाहिए ।। २२ ।।

*हिंसकों को दान देने से लाभ*

तित्थस्स वण्णवाओ एवं लोगम्मि बोहिलाभो य ।
केसिंचि होइ परमो अण्णेसिं बीयलाभोत्ति ।। २३ ।।

तीर्थस्य वर्णवाद एवं लोके बोधिलाभश्च ।
केषाञ्चिद् भवति परम अन्येषां बीजलाभ इति ।। २३ ।।

हिंसकों को दान देकर हिंसा बन्द करवाने से लोक में जिनशासन की प्रशंसा होती है और इससे कितने लघुकर्मी जीवों को सम्यग्दर्शन का उत्तम लाभ होता है तथा अन्य कितने जीवों को सम्यग्दर्शन के बीज की प्राप्ति होती है ।। २३ ।।

जा चिय गुणपडिवत्ती सव्वण्णुमयम्मि होइ पडिसुद्धा ।
स च्चिय जायति बीयं बोहीए तेणणाएणं ।। २४ ।।

या एव गुणप्रतिपत्तिः सर्वज्ञमते भवति परिशुद्धा ।
सा एव जायते बीजं बोधेः स्तेनज्ञातेन ।। २४ ।।

(क्योंकि) जिनशासन के सम्बन्ध में यदि थोड़ी भी गुणप्रतिपत्ति हो तो वह ही सम्यग्दर्शन का कारण बनता है। इस विषय में चोर का उदाहरण है।

**विशेष :** यह उदाहरण सप्तम पञ्चाशक की आठवीं गाथा में कहा गया है ।। २४ ।।

*श्रावक भी यदि राजा से मिलने में समर्थ न हों तो क्या करना चाहिए*

इय सामत्थाभावे दोहिवि वग्गेहिं पुव्वपुरिसाणं ।
इय सामत्थजुयाणं बहुमाणो होति कायव्वो ।। २५ ।।

इति सामर्थ्याभावे द्वाभ्यामपि वर्गाभ्यां पूर्वपुरुषाणाम् ।
इति सामर्थ्ययुतानां बहुमानं भवति कर्तव्यः ।। २५ ।।

आचार्य और श्रावक – दोनों यदि राजा से हिंसा बन्द करवाने में समर्थ न हो सकें तो उन दोनों को राजा से मिलकर हिंसा बन्द करवाने वाले पूर्व

महापुरुषों/पूर्वजों का अन्त:करण से सम्मान करना चाहिए ।। २५ ।।

ते धण्णा सप्पुरिसा जे एयं एवमेव णिस्सेसं ।
पुव्विं करिंसु किच्चं जिणजत्ताए विहाणेणं ।। २६ ।।

ते धन्याः सत्पुरुषाः य एतद् एवमेव निःशेषम् ।
पूर्वमकार्षुः कृत्यं जिनयात्रायां विधानेन ।। २६ ।।

वे पूर्वज (महापुरुष) धन्य हैं, प्रशंसनीय हैं, जिन्होंने जिनयात्रा में राजा आदि को उपदेश देकर तथा हिंसकों को दान देकर हिंसा बन्द करायी थी ।। २६ ।।

अम्हे उ तह अधण्णा धण्णा उण एत्तिएण जं तेसिं ।
बहुमण्णामो चरियं सुहावहं धम्मपुरिसाणं ।। २७ ।।

वयं तु तथा अधन्याः धन्याः पुनरि यता यत्तेषाम् ।
बहुमन्यामहे चरितं सुखावहं धर्मपुरुषाणाम् ।। २७ ।।

हम तो अधन्य हैं, क्योंकि हम जिनयात्रादि को शास्त्रोक्त विधि से करने में असमर्थ हैं। फिर भी इतने धन्य तो हैं ही कि हम उन धर्मप्रधान महापुरुषों के सुखद आचरण का सम्मान करते हैं ।। २७ ।।

*पूर्वमहापुरुषों के सम्मान का फल*

इय बहुमाणा तेसिं गुणाणमणुमोयणा णिओगेणं ।
तत्तो तत्तुल्लं चिय होइ फलं आसयविसेसा ।। २८ ।।

इति बहुमानात्तेषां गुणानामनुमोदना नियोगेन ।
ततः तत्तुल्यमेव भवति फलं आशयविशेषात् ।। २८ ।।

इस प्रकार उन महापुरुषों का सम्मान करने से उनके गुणों की अनुमोदना अवश्य होती है और हिंसा निवारणरूप विशेष भाव होने से उन पूर्व पुरुषों के समान कर्मक्षय आदि का फल मिलता है। क्योंकि शुभाशुभ कर्मबन्ध का मुख्य कारण उसका अध्यवसाय वैसा ही है। अतः शुभ भावानुरूप फल की प्राप्ति अवश्य होती है ।। २८ ।।

*कल्याणकों की आराधना का विधान*

कयमेत्थ पसंगेण तवोवहाणादियावि[1] णियसमए ।
अणुरूवं कायव्वा जिणाण कल्लाणदियहेसु ।। २९ ।।

कृतमत्रप्रसङ्गेन तप-उपधानादिका अपि निजसमये ।
अनुरूपं कर्तव्याः जिनानां कल्याणदिवसेषु ।। २९ ।।

---

१. 'तवोवहाणादिणोऽवि' इति पाठान्तरम् ।

दानपूर्वक जीवहिंसा निवारण का प्रसंग यहाँ पूरा हुआ। भगवान् जिनेन्द्रदेव के कल्याणक के दिनों में यथावसर तप, शरीरभूषा आदि भी करनी चाहिए ॥ २९ ॥

*कल्याणकों का स्वरूप और फल*

पंचमहाकल्लाणा सव्वेसिं जिणाण होंति णियमेण ।
भुवणच्छेरयभूया कल्लाणफला य जीवाणं ॥ ३० ॥

पञ्चमहाकल्याणानि सर्वेषां जिनानां भवन्ति नियमेन ।
भुवनाश्चर्यभूतानि कल्याणफलानि च जीवानाम् ॥ ३० ॥

सभी तीर्थङ्करों के पाँच महान् कल्याणक अवश्य होते हैं और तीनों लोकों के सभी जीवों के लिए ये कल्याणक आश्चर्यजनक कल्याणकारी फल देने वाले होते हैं, अर्थात् इन कल्याणकों की आराधना से जीवों को मोक्षफल मिलता है ॥ ३० ॥

गब्भे जम्मे य तहा णिक्खमणे चेव णाणणेव्वाणे ।
भुवणगुरूण जिणाणं कल्लाणा होंति णायव्वा ॥ ३१ ॥

गर्भे जन्मे च तथा निष्क्रमणे चैव ज्ञाननिर्वाणे ।
भुवनगुरूणां जिनानां कल्याणानि भवन्ति ज्ञातव्यानि ॥ ३१ ॥

तीनों लोकों के नाथ तीर्थङ्करों के गर्भ में आगमन, जन्म, निष्क्रमण, केवलज्ञान की प्राप्ति और मोक्षप्राप्ति – इन पाँच प्रसंगों पर सभी जीवों का कल्याण होता है, इसलिए इन प्रसंगों को कल्याणक कहा जाता है ॥ ३१ ॥

*देव भी कल्याणकों की रचना करते हैं*

तेसु य दिणेसु धन्ना देविंदाई करिंति भत्तिणया ।
जिणजत्तादि विहाणा कल्लाणं अप्पणो चेव ॥ ३२ ॥

तेषु च दिनेषु धन्या देवेन्द्रादयः कुर्वन्ति भक्तिनताः ।
जिनयात्रादि विधानात् कल्याणं आत्मन एव ॥ ३२ ॥

उन्हीं गर्भादि कल्याणकों के समय भगवद्भक्ति के कारण विनीत पुण्यशाली देवेन्द्रादि भी जिनयात्रा, पूजा, स्नात्र आदि अनुष्ठानों के माध्यम से ही स्व-पर कल्याण करते हैं ॥ ३२ ॥

*मनुष्यों को भी कल्याणकों की आराधना करनी चाहिए*

इय ते दिणा पसत्था ता सेसेहिंपि तेसु कायव्वं ।
जिणजत्तादि सहरिसं ते य इमे वद्धमाणस्स ॥ ३३ ॥

इति ते दिनाः प्रशस्ताः तस्मात् शेषैरपि तेषु कर्तव्यम् ।
जिनयात्रादि सहर्षं ते च इमे वर्द्धमानस्य ।। ३३ ।।

इस प्रकार वे कल्याणक दिन उत्तम होते हैं, क्योंकि उनसे जीवों का कल्याण होता है अर्थात् उनकी आराधना से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए देवताओं के अतिरिक्त मनुष्यों द्वारा भी उन कल्याणक के दिनों में हर्षपूर्वक जिनयात्रादि करनी चाहिए। भगवान् महावीर वर्तमान शासन के अधिपति हैं, इसलिए उनके पाँच कल्याणक दिनों का विवरण यहाँ दिया जा रहा है ।। ३३ ।।

*भगवान् महावीर के पाँच कल्याणक दिन*

आसाढसुद्धछट्ठी चेत्ते तह सुद्धतेरसी चेव ।
मग्गसिरकिण्हदसमी वइसाहे सुद्धदसमी य ।। ३४ ।।
कत्तियकिण्हे चरिमा गब्भाइदिणा जहक्कमं एते ।
हत्थुत्तरजोएणं चउरो तह सातिणा चरमो ।। ३५ ।।

आषाढशुद्धषष्ठी चैत्रे तथा शुद्धत्रयोदश्येव ।
मार्गशीर्षकृष्णदशमी वैशाखे शुद्धदशमी च ।। ३४ ।।
कार्तिककृष्णे चरमा गर्भादि दिनानि यथाक्रमं एतानि ।
हस्तोत्तरयोगेन चत्वारि तथा स्वातिना चरमः ।। ३५ ।।

भगवान् महावीर के पाँच कल्याणक क्रमशः इस प्रकार हैं — १. आषाढ़ शुक्ला षष्ठी को गर्भाधान, २. चैत्रमास की शुक्लपक्ष की त्रयोदशी को जन्म, ३. अगहन मास के कृष्णपक्ष की दशमी के दिन निष्क्रमण, ४. वैशाखमास की शुक्लपक्ष की दशमी को केवलज्ञान की प्राप्ति और ५. कार्तिकमास की कृष्णपक्ष की अमावस्या को निर्वाण। इनमें से गर्भ, जन्म, निष्क्रमण और केवलज्ञान — इन चार कल्याणकों में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग था और अन्तिम निर्वाण कल्याणक के समय में स्वाति नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग था ।। ३४-३५ ।।

*महावीर स्वामी के कल्याणक कहने के हेतु*

अहिगयतित्थविहाया भगवंति णिदंसिया इमे तस्स ।
सेसाणवि एवं चिय णियणियतित्थेसु विण्णेया ।। ३६ ।।

अधिकृततीर्थविधाता भगवानिति निदर्शितानीमानि तस्य ।
शेषाणामपि एवमेव निजनिजतीर्थेषु विज्ञेयानि ।। ३६ ।।

भगवान् महावीर वर्तमान अवसर्पिणी काल के भरतक्षेत्र के शासन

संस्थापक हैं, इसलिए उनके कल्याणक दिनों का वर्णन किया गया। जिस प्रकार वर्तमान शासन में भगवान् महावीर के कल्याणक दिनों की आराधना की जाती है, उसी प्रकार शेष ऋषभदेव आदि तेईस तीर्थङ्करों के कल्याणक दिन भी उनके अपने अपने शासनकाल में जानना चाहिए।

अर्थात् जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के ऋषभदेव आदि चौबीस जिनों के जो कल्याणक दिन हैं, वे ही कल्याणक दिन बाँकी के चार भरतक्षेत्र और चार ऐरावत क्षेत्रों के चौबीस जिनों के हैं। जैसे महावीर स्वामी के जो कल्याणक दिन हैं, वे ही दिन दूसरे चार भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों में चौबीसवें तीर्थङ्कर के हैं ।। ३६ ।।

*कल्याणकों में महोत्सव करने से लाभ*

तित्थगरे बहुमाणो अब्भासो तह य जीयकप्पस्स ।
देविंदादिअणुगिती गंभीरपरूवणा लोए ।। ३७ ।।

वण्णो य पवयणस्सा इयजत्ताए जिणाण णियमेणं ।
मग्गाणुसारिभावो जायइ एत्तो च्चिय विसुद्धो ।। ३८ ।।

तीर्थङ्करे बहुमानो अभ्यासः तथा च जीतकल्पस्य ।
देवेन्द्राद्यनुकृतिर्गम्भीरप्ररूपणा लोके ।। ३७ ।।

वर्णश्च प्रवचनस्य इति यात्रया जिनानां नियमेन ।
मार्गानुसारिभावो जायते इत एव विशुद्धः ।। ३८ ।।

कल्याणक के दिनों में जिनयात्रा (जिन-महोत्सव) करने से इस प्रकार लाभ हैं — (१) ये वे दिन होते हैं जब भगवान् का जन्म इत्यादि हुआ था — इस भावना से तीर्थङ्कर का सम्मान होता है। (२) पूर्वपुरुषों के द्वारा आचरित परम्परा (जीतकल्प) का अभ्यास होता है। (३) देव, इन्द्र आदि द्वारा निर्वाहित परम्परा का अनुकरण होता है। (४) यह जिन-महोत्सव साधारण नहीं अपितु गम्भीर-सहेतुक है — ऐसी लोक में प्रसिद्धि है। (५) इससे लोक में जिनशासन की ख्याति होती है और (६) जिनयात्रा से ही विशुद्ध मार्गानुसारी भाव (मोक्षमार्ग के अनुकूल अध्यवसाय ) होता है ।। ३७-३८ ।।

*विशुद्ध मार्गानुसारीभाव की महत्ता*

तत्तो सयलसमीहियसिद्धी णियमेण अविकलं जं सो ।
कारणमिमीएँ भणिओ जिणेहिं जियरागदोसेहिं ।। ३९ ।।

ततः सकलसमीहितसिद्धिः नियमेन अविकलं यत्सः ।
कारणमस्या भणितो जिनैः जितरागद्वेषैः ।। ३९ ।।

विशुद्ध मार्गानुसारीभाव से सभी वांछित अर्थों की सिद्धि अवश्य होती है, क्योंकि राग और द्वेष को जीतने वाले अर्हतों ने विशुद्ध मार्गानुसारी भाव को सकल वांछित अर्थों की सिद्धि का सफल हेतु कहा है ॥ ३९ ॥

*उपर्युक्त हेतु का कारण*

मग्गाणुसारिणो खलु तत्ताभिणिवेसओ सुभा चेव ।
होइ समत्ता चेट्ठा असुभावि य णिरणुबंधत्ति ॥ ४० ॥

मार्गानुसारिणः खलु तत्त्वाभिनिवेशतः शुभा एव ।
भवति समस्ता चेष्टा अशुभाऽपि च निरनुबन्धेति ॥ ४० ॥

मार्गानुसारी भाव वाले के आत्म-तत्त्व या सम्यक्त्व के अभिमुख होने से उसकी सभी क्रियाएँ शुभ ही होती हैं और यदि अशुभ होती हैं तो निरनुबन्ध अर्थात् फिर से बन्धन नहीं करने वाली होती हैं ॥ ४० ॥

*निरनुबन्ध क्रिया का कारण*

सो कम्मपारतंता वट्टइ तीए ण भावओ जम्हा ।
इय जत्ता इय बीयं एवंभूयस्स भावस्स ॥ ४१ ॥

सः कर्मपारतन्त्र्याद् वर्तते तस्यां न भावतो यस्मात् ।
इति यात्रा इति बीजं एवम्भूतस्य भावस्य ॥ ४१ ॥

मार्गानुसारी तत्त्वाभिमुखी (तत्त्व के आग्रह वाले) जीव की अशुभक्रिया में पूर्वोपार्जितकर्म की परतन्त्रता ही कारण है, भाव से वह अशुभ क्रिया नहीं करता है। इसलिए उसकी अशुभ क्रिया निरनुबन्ध है। ऐसे मार्गानुसारीभाव का मूल जिनकल्याणक सम्बन्धी जिनयात्रा महोत्सव है ॥ ४१ ॥

*कल्याणक के दिनों में रथादि का विधान*

ता रहणिक्खमणादिवि एते उ दिणे पडुच्च कायव्वं ।
जं एसो च्चिय विसओ पहाणमो तीएँ किरियाए ॥ ४२ ॥

तस्माद् रथनिष्क्रमणाद्यपि एतानि तु दिनानि प्रतीत्य कर्तव्यम् ।
यदेष एव विषयः प्रधानः तस्याः क्रियायाः ॥ ४२ ॥

कल्याणक दिवसों में जिनमहोत्सव करने से तीर्थङ्कर का अति सम्मान होता है। इसलिए इन दिनों में जिनबिम्ब से युक्त रथ, शिबिका आदि भी शहर में घुमानी चाहिए। ये सब कल्याणक के दिनों में ही करना चाहिए, क्योंकि इन सब कार्यों के लिए कल्याणक के दिन ही उत्तम हैं ॥ ४२ ॥

*कल्याणक दिवसों में यात्रा की महत्ता का कारण*

विसयप्पगरिसभावे किरियामेत्तंपि बहुफलं होइ ।
सक्किरियावि हु ण तहा इयरम्मि अवीयरागिव्व ।। ४३ ।।

विषयप्रकर्षभावे क्रियामात्रमपि बहुफलं भवति ।
सत्क्रियाऽपि खलु न तथा इतरस्मिन् अवीतरागीव ।। ४३ ।।

क्रिया का विषय यदि उत्कृष्ट हो तो सामान्य क्रिया करने से भी बहुत लाभ होता है और यदि क्रिया का विषय उत्कृष्ट न हो तो विशिष्ट प्रकार की क्रिया से भी बहुत लाभ नहीं होता है। जैसे वीतरागी भगवान् उत्कृष्ट गुणों वाले होने के कारण उनकी पूजादि सामान्य क्रिया बहुत फलदायिनी होती है, जबकि जो वीत-रागी नहीं हैं उनकी विशिष्ट पूजा करने से भी बहुत लाभ नहीं होता है। इन कल्याणकों के दिनों के अतिरिक्त दूसरे दिनों में जिनमहोत्सव करने से बहुत लाभ नहीं होता है ।। ४३ ।।

*कल्याणक के दिनों में महोत्सव सम्बन्धी उपदेश*

लद्धूण दुल्लहं ता मणुयत्तं तह य पवयणं जइणं ।
उत्तमणिदंसणेसुं बहुमाणो होइ कायव्वो ।। ४४ ।।

लब्ध्वा दुर्लभं तस्मात् मनुजत्वं तथा च प्रवचनं जैनम् ।
उत्तमनिदर्शनेषु बहुमानो भवति कर्तव्यः ।। ४४ ।।

कल्याणक के दिनों में जिनमहोत्सव इन्द्रादि देवों ने भी किया है और यह बहुत फल देने वाला है, इसलिए दुर्लभ मनुष्ययोनि और जिनशासन पाकर सात्त्विक जीवों के दृष्टान्तों को जीवन में अपनाना चाहिए। अर्थात् कल्याणक के दिनों में जिनयात्रा अवश्य करनी चाहिए ।। ४४ ।।

*सभी महोत्सवों से सम्बन्धित सर्वसाधारण उपदेश*

एसा उत्तमजत्ता उत्तमसुयवण्णिया सदि बुहेहिं ।
सेसा य उत्तमा खलु उत्तमरिद्धीएँ कायव्वा ।। ४५ ।।
इयराऽतब्बहुमाणोऽवण्णा य इमीएँ णिउणबुद्धीए ।
एयं विचिंतियव्वं गुणदोसविहावणं परमं ।। ४६ ।।

एषा उत्तम यात्रा उत्तमश्रुतवर्णिता सकृद् बुधैः ।
शेषा च उत्तमा खलु उत्तमऋद्ध्या कर्तव्या ।। ४५ ।।
इतरथाऽतद्बहुमानोऽवज्ञा च अस्यां निपुणबुद्ध्या ।
एतद्विचिन्तितव्यं गुणदोषविभावनं परमम् ।। ४६ ।।

कल्याणक के दिनों में की गई जिनयात्रा का जो वर्णन ऊपर किया गया है, वह उत्तम है तथा शास्त्रोक्त दूसरे महोत्सव भी उत्तम हैं, इसलिए बुद्धिजीवी लोगों द्वारा इन महोत्सवों को सदा समृद्धिपूर्वक करना चाहिए ॥ ४५ ॥

समृद्धिपूर्वक महोत्सव न करने से अथवा महोत्सव ही नहीं करने से उस महोत्सव का विधान करने वाले शास्त्र या महोत्सव करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों की अवज्ञा होती है। क्योंकि यह साधारण सा नियम है कि शास्त्रोक्त वचन का पालन व महापुरुषों के कृत्यों का अनुसरण न करना, उनका अपमान करना है। इसलिए सम्मान का अभाव और अवज्ञा का भलीभाँति विचार कर लेना चाहिए, क्योंकि सभी अनुष्ठानों में गुणदोष की विचारणा मुख्य है ॥ ४६ ॥

*लोकरूढ़ि से किये जाने वाले महोत्सवों का निषेध*

जेट्ठम्मि विज्जमाणे उचिए अणुजेट्ठपूयणमजुत्तं ।
लोगाहरणं च तहा पयडे भगवंतवयणम्मि ॥ ४७ ॥

ज्येष्ठे विद्यमाने उचिते अनुज्येष्ठपूजनमयुक्तम् ।
लोकाहरणं च तथा प्रकटे भगवद्वचने ॥ ४७ ॥

जिस प्रकार पिता आदि बड़े लोग विद्यमान हों तो छोटे पुत्रादि को मुखिया के रूप में मान-सम्मान देना उपयुक्त नहीं है। उसी प्रकार जगत् के जीवों के सामने सर्वश्रेष्ठ जिनागम के विद्यमान होने पर लौकिक उदाहरणों को ग्रहण करना अयुक्त है। अर्थात् लोक में पिण्डदान, श्राद्ध आदि महोत्सव किये जाते हैं, इसलिए मुझे भी वैसे ही महोत्सव करने चाहिए — यह ठीक नहीं है, क्योंकि वे अयुक्त हैं ॥ ४७ ॥

लोगो गुरुतरगो खलु एवं सति भगवतोऽवि इट्ठोत्ति ।
मिच्छत्तमो य एयं एसा आसायणा परमा ॥ ४८ ॥

लोको गुरुतरकः खलु एवं सति भगवतोऽपि इष्ट इति ।
मिथ्यात्वञ्च एतदेषा आशातना परमा ॥ ४८ ॥

जिनागम के होते हुए लोकरूढ़ि से महोत्सव करने से लोक जिनागम से भी बड़ा प्रमाणभूत बन गया। इस प्रकार लोक को प्रमाण मानने में लोक भगवान् से भी बड़ा हो गया। लोक को भगवान् से बड़ा मानना मिथ्यात्व है (क्योंकि वास्तविकता यह है कि भगवान् लोक से बड़े हैं)। इससे सर्वज्ञदेव की महान् आशातना होती है। इसलिए सर्वज्ञवचन को ही प्रधान मानना चाहिए ॥ ४८ ॥

*सर्वसाधारण जिनाज्ञा का स्वरूप*

इय अण्णत्थऽवि सम्मं णाउं गुरुलाघवं विसेसेण ।
इट्ठे पयट्टियव्वं एसा खलु भगवतो आणा ॥ ४९ ॥

इति अन्यत्रापि सम्यग् ज्ञात्वा गुरुलाघवं विशेषेण ।
इष्टे प्रवर्तितव्यम् एषा खलु भगवत आज्ञा ॥ ४९ ॥

महोत्सव के अतिरिक्त अन्य अनुष्ठानों में भी गुरुता-लघुता को भली-भाँति जानकर इष्ट अनुष्ठान में प्रवृत्ति होनी चाहिए – यही भगवान् का आदेश है ॥ ४९ ॥

*उपसंहार*

जत्ताविहाणमेयं णाऊणं गुरुमुहाउ धीरेहिं ।
एवं चिय कायव्वं अविरहियं भत्तिमंतेहिं ॥ ५० ॥
यात्राविधानमेतद् ज्ञात्वा गुरुमुखाद् धीरैः ।
एवमेव कर्तव्यम् अविरहितं भक्तिमद्भिः ॥ ५० ॥

श्रद्धालु एवं सज्जन मनुष्यों द्वारा गुरुमुख से इस जिनमहोत्सव विधि को जानकर उसी प्रकार हमेशा करना चाहिए अर्थात् जिनयात्राओं का आयोजन करना चाहिए ॥ ५० ॥

**॥ इति यात्राविधिर्नाम नवमं पञ्चाशकम् ॥**

# १०

# उपासकप्रतिमाविधि पञ्चाशक

नवम प्रकरण में यात्रा महोत्सव की विधि रूप द्रव्यस्तव का विस्तृत विवेचन किया गया है। अब यहाँ भावस्तव का विवेचन किया जा रहा है। यत: श्रावक-धर्म का अधिकार है, अत: सर्वप्रथम श्रावक के योग्य भावस्तव के अन्तर्गत ग्यारह प्रतिमाओं का विवेचन करने के लिए ग्रन्थकार मङ्गलाचरण कर रहे हैं —

*मङ्गलाचरण*

नमिऊण महावीरं भव्वहियट्ठाएँ लेसओ किंपि ।
वोच्छं समणोवासगपडिमाणं सुत्तमग्गेणं ।। १ ।।

नत्वा महावीरं भव्यहितार्थाय लेशत: किमपि ।
वक्ष्ये श्रमणोपासकप्रतिमानां सूत्रमार्गेण ।। १ ।।

भगवान् महावीर को नमस्कार करके मैं भव्यजीवों के हितार्थ श्रावक के अभिग्रह विशेषरूप प्रतिमा के सम्बन्ध में संक्षेप में (दशाश्रुतस्कन्ध) आगम के अनुसार कुछ कहूँगा ।। १ ।।

*श्रावक की प्रतिमाओं की संख्या*

समणोवासगपडिमा एक्कारस जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
दंसणपडिमादीया सुयकेवलिणा जतो भणियं ।। २ ।।

श्रमणोपासकप्रतिमा एकादश जिनवरै: प्रज्ञप्ता: ।
दर्शनप्रतिमादिका: श्रुतकेवलिना यतो भणितम् ।। २ ।।

भगवान् जिनेन्द्रदेव ने श्रावक की दर्शनप्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमाएँ कही हैं, जिससे श्रुतकेवली भद्रबाहु ने भी प्रतिमाएँ कही हैं। (जिनेन्द्रदेव ने जो कहा है, वही श्रुतकेवली कहेंगे। यत: श्रुतकेवली कह रहे हैं, अत: यह सिद्ध है कि जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है) ।। २ ।।

*श्रुतकेवली के द्वारा कही गयीं प्रतिमाओं के नाम*

दंसण-वय-सामाइय-पोसह-पडिमा-अबंभ- सच्चित्ते ।
आरंभ - पेस - उद्दिट्ठवज्जए समणभूए य ।। ३ ।।

दर्शन-व्रत-सामायिक-पौषध-प्रतिमा-अब्रह्म - सचित्ते ।
आरम्भ-प्रेष्य-उद्दिष्टवर्जक: श्रमणभूतश्च ॥ ३ ॥

दर्शन, व्रत, सामायिक, पौषध, नियम, अब्रह्मवर्जन, सचित्तवर्जन, आरम्भवर्जन, प्रेष्यवर्जन, उद्दिष्टवर्जन और श्रमणभूत – ये श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ हैं ॥ ३ ॥

*दर्शनप्रतिमा का स्वरूप*

दंसणपडिमा णेया सम्मत्तजुयस्स जा इहं बोंदी ।
कुग्गहकलंकरहिया मिच्छत्तखओवसमभावा ॥ ४ ॥

दर्शनप्रतिमा ज्ञेया सम्यक्त्वयुतस्य या इह बोन्दि: ।
कुग्रहकलंकरहिता मिथ्यात्वक्षयोपशमभावात् ॥ ४ ॥

यहाँ सम्यक्त्व से युक्त जीव का शरीर दर्शनप्रतिमा है। दर्शनप्रतिमाधारी मिथ्यात्व के क्षयोपशम से युक्त होने के कारण कदाग्रह के कलंक से रहित होता है।

**विशेष :** सम्यग्दर्शन के पालनरूप दर्शनप्रतिमा होने पर भी यहाँ सम्यग्दृष्टि के शरीर को दर्शनप्रतिमा कहा गया है – इसका स्पष्टीकरण सातवीं गाथा में किया जायेगा ॥ ४ ॥

मिच्छत्तं कुग्गहकारणंति खओवसममुवगए तम्मि ।
ण तओ कारणविगलत्तणेण सदि विसविगारो व्व ॥ ५ ॥

मिथ्यात्वं कुग्रहकारणमिति क्षयोपशममुपगते तस्मिन् ।
न तक: कारणविकलत्वेन सकृद् विषविकार इव ॥ ५ ॥

मिथ्यात्व कदाग्रह का कारण होता है। मिथ्यात्व का क्षयोपशम हो जाने पर कारणहीनता के कारण कदाग्रह भी नहीं रहता है। जिस प्रकार शरीर में विष ही न हो तो उसका विकार भी नहीं होगा, क्योंकि विषविकार का कारण विष है। उसी प्रकार मिथ्यात्व रूप कारण के बिना कदाग्रह रूप कार्य भी नहीं होता है ॥ ५ ॥

*दर्शनप्रतिमाधारी जीव का स्वरूप*

होइ अणाभोगजुओ ण विवज्जयवं तु एस धम्मम्मि ।
अत्थिक्कादिगुणजुतो सुहाणुबंधी णिरतियारो ॥ ६ ॥

भवति अनाभोगयुतो न विपर्ययवान् तु एष धर्मे ।
आस्तिक्यादिगुणयुत: शुभानुबन्धी निरतिचार: ॥ ६ ॥

दर्शनप्रतिमा वाला जीव ज्ञानावरणीय कर्मों के उदय से श्रुतचारित्ररूप धर्म में कुछ अज्ञानी हो सकता है, किन्तु विपरीत अवधारणा वाला नहीं हो सकता है, क्योंकि वह कदाग्रहरहित होता है। वह दर्शनप्रतिमा वाला जीव आस्तिक्य, अनुकम्पा, निर्वेद, संवेग और प्रशम — इन पाँच गुणों से युक्त होता है तथा शुभानुबन्ध (अर्थात् प्रशस्त परिणाम और उसके फल का सातत्य) से युक्त और शंकादि अतिचारों से रहित होता है ।। ६ ।।

*दर्शनप्रतिमा का अर्थ शरीर क्यों ?*

बोंदी य एत्थ पडिमा विसिट्ठगुणजीवलोगओ[१] भणिया ।
ताएरिसगुणजोगा सुहो उ सो खावणत्थत्ति ।। ७ ।।

बोन्दिश्चात्र प्रतिमा विशिष्टगुणजीवलोकतो भणिता ।
तयेदृशगुणयोगात् शुभस्तु सः ख्यापनार्थमिति ।। ७ ।।

संसाराभिनन्दी (संसार में ही आनन्द मानने वाले) जीवों की अपेक्षा मार्गाभिमुखी (मोक्षमार्ग में संलग्न) जीव विशिष्ट गुणवाले हैं। विशिष्ट गुणवाले मार्गाभिमुखी आदि जीवों से दर्शनप्रतिमाधारी अधिक शुभ हैं, क्योंकि वे जिनाज्ञा को सत्य मानकर उन गुणों से युक्त होते हैं। ये गुण कायिकरूप होने से काया से व्यक्त होते हैं, इसीलिए प्रतिमा का अर्थ शरीर किया गया है ।। ७ ।।

*दूसरी व्रतप्रतिमा का स्वरूप*

एवं वयमाईसुवि दट्ठव्वमिणंति णवरमेत्थ वया ।
घेप्पंतऽणुव्वया खलु थूलगपाणवहविरयादी ।। ८ ।।

एवं व्रतादिष्वपि द्रष्टव्यमिदमिति केवलमत्र व्रतानि ।
गृह्यन्तेऽणुव्रतानि खलु स्थूलकप्राणवधविरत्यादीनि ।। ८ ।।

दर्शनप्रतिमा की ही तरह व्रत आदि दूसरी सभी प्रतिमाओं में भी प्रतिमा शब्द का अर्थ शरीर ही समझना चाहिए। दूसरी व्रतप्रतिमा में स्थूल-प्राणातिपातविरमण आदि पाँच अणुव्रत ही स्वीकृत किये जाते हैं ।। ८ ।।

*सम्यक्त्व की प्राप्ति के कितने समय बाद व्रतों की प्राप्ति होती है ?*

सम्मत्तोवरि ते सेसकम्मुणो अवगए पुहुत्तम्मि ।
पलियाण होंति णियमा सुहायपरिणामरूवा उ ।। ९ ।।

सम्यक्त्वोपरि ते शेषकर्मणो अपगते पृथक्त्वे ।
पल्यानां भवन्ति नियमात् शुभात्मपरिणामरूपाणि तु ।। ९ ।।

---

१. 'जीवलोयओ' इति पाठान्तरम् ।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् उस समय कर्मों की जितनी स्थिति है, उसमें से दो से लेकर नव पल्योपम तक की स्थिति घटे तब अणुव्रतों की प्राप्ति अवश्य होती है। अणुव्रत क्षायोपशमिक भावरूप होते हैं, इसलिए आत्मा के प्रशस्त परिणाम हैं ।। ९ ।।

*व्रतप्रतिमा में गुणदोषों की स्थिति*

बंधादि असक्किरिया संतेसु इमेसु पहवइ ण पायं ।
अणुकंपधम्मसवणादिया उ पहवति विसेसेण ।। १० ।।

बन्धादिरसत्क्रिया सत्सु एषु प्रभवति न प्राय: ।
अनुकम्पाधर्मश्रवणादिका तु प्रभवति विशेषेण ।। १० ।।

इन अणुव्रतों के होने पर व्रत के अतिचाररूप बन्ध, वध आदि अयोग्य क्रियाएँ प्राय: नहीं होती हैं तथा जीवदया, धर्मशास्त्रश्रवण आदि क्रियाएँ विशेषत: होती हैं। इस प्रकार निरतिचार पाँच अणुव्रतों के पालनरूप व्रतप्रतिमा है ।। १० ।।

*सामायिक शब्द का अर्थ*

सावज्जजोगपरिवज्जणादिरूवं तु होइ विण्णेयं ।
सामाइयमित्तरियं गिहिणो परमं गुणट्ठाणं ।। ११ ।।

सावद्ययोगपरिवर्जनादिरूपं तु भवति विज्ञेयम् ।
सामायिकमित्वरिकं गृहिण: परमं गुणस्थानम् ।। ११ ।।

सावद्ययोग के त्याग और निरवद्ययोग के सेवन को सामायिक कहा जाता है। यह एक मुहूर्त (दो घड़ी) आदि थोड़े समय के लिए होती है। सामायिक श्रावक का प्रधान गुणस्थान है। यहाँ गुणस्थान का तात्पर्य चौदह गुणस्थानों से नहीं, अपितु देशविरति की अलग-अलग कक्षाओं में से एक है ।। ११ ।।

*सामायिक के प्रधान गुणस्थान होने का कारण*

सामाइयंमि उ कए समणो इव सावओ जतो भणितो ।
बहुसो विहाणमस्स य तम्हा एयं जहुत्तगुणं ।। १२ ।।

सामायिके तु कृते श्रमण इव श्रावको यतो भणित: ।
बहुश: विधानमस्य च तस्मादेतद् यथोक्तगुणम् ।। १२ ।।

सामायिक करता हुआ श्रावक साधु की तरह मोक्षसुख के परमसाधनरूप समभाव का अनुभव करता है और वह साधु के समान होता है। इसलिए निर्युक्तिकार ने अनेक बार सामायिक करने का विधान किया है ।। १२ ।।

*सामायिक में गुण-दोष की स्थिति*

मणदुप्पणिहाणादि ण होंति एयम्मि भावओ संते ।
सतिभावावट्ठियकारिया य सामण्णबीयंति ।। १३ ।।

मनोदुष्प्रणिधानादीनि न भवन्ति एतस्मिन् भावतः सति ।
स्मृतिभावावस्थितकारिता च श्रामण्यबीजमिति ।। १३ ।।

सामायिक के भाव होने पर मनोदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान और कायदुष्प्रणिधान नहीं होते हैं, अपितु समत्वभाव में सजगता और अवस्थिति होती है, क्योंकि सामायिक साधुत्व (मुनित्व) का बीज है ।। १३ ।।

*पोषधप्रतिमा का स्वरूप*

पोसेइ कुसलधम्मे जं ताऽऽहारादिचागणुट्ठाणं ।
इह पोसहोत्ति भण्णति विहिणा जिणभासिएणेव ।। १४ ।।

पोषयति कुशलधर्मान् यत् तदाहारादित्यागानुष्ठानम् ।
इह पोषध इति भण्यते विधिना जिनभाषितेनैव ।। १४ ।।

जिससे धर्म का पोषण होता है, ऐसी जिनभाषित विधि से आहार, देहसत्कार, अब्रह्मचर्य और लौकिक-व्यापार — इन चार का त्याग करना पोषध कहलाता है ।। १४ ।।

*पोषध के चार भेद*

आहारपोसहो खलु सरीरसक्कारपोसहे चेव ।
बंभव्वावारेसु य एयगया धम्मवुड्ढित्ति ।। १५ ।।

आहारपोषधः खलु शरीरसत्कारपोषधश्चैव ।
ब्रह्मव्यापारयोश्च एतद्गता धर्मवृद्धिरिति ।। १५ ।।

त्याग की दृष्टि से पोषध चार प्रकार का होता है — आहार-त्यागपोषध, शरीरसत्कार-त्यागपोषध, ब्रह्मचर्यपोषध और व्यापार-त्यागपोषध। आहारादि के त्याग से धर्म की वृद्धि होती है ।। १५ ।।

*पोषध में त्याज्य पाँच अतिचार*

अप्पडिदुप्पडिलेहियसेज्जासंथारयाइ वज्जेति ।
सम्मं च अणणुपालणमाहारादीसु एयम्मि ।। १६ ।।

अप्रतिदुष्प्रतिलेखित - शय्यासंस्तारकादि वर्जयति ।
सम्यक् च अननुपालनमाहारादिषु एतस्मिन् ।। १६ ।।

पोषधप्रतिमाधारी पोषध में अप्रत्युपेक्षित-दुष्प्रत्युपेक्षित-शय्यासंस्तारक (सोने के लिए बिस्तर), अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-शय्यासंस्तारक, अप्रत्युपेक्षित-दुष्प्रत्युपेक्षित-उच्चारप्रश्रवणभूमि और अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-उच्चारप्रश्रवणभूमि इन चार का त्याग करता है ॥ १६ ॥

*पाँचवीं कायोत्सर्गप्रतिमा का स्वरूप*

सम्ममणुव्वयगुणवयसिक्खावयवं थिरो य णाणी य।
अट्ठमिचउद्दसीसुं पडिमं ठाएगराईयं ॥ १७ ॥

सम्यगणुव्रतगुणव्रतशिक्षाव्रतवान् स्थिरश्च ज्ञानी च।
अष्टमीचतुर्दश्योः प्रतिमां तिष्ठत्येकरात्रिकाम् ॥ १७ ॥

सम्यग् अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत वाला अर्थात् पूर्वोक्त चार प्रतिमाओं वाला, अविचल सत्त्वधारी और प्रतिमाविधि का ज्ञाता श्रावक अष्टमी और चतुर्दशी — इन पर्वदिवसों में सम्पूर्ण रात्रि कायोत्सर्ग प्रतिमा में स्थित रहे ॥ १७ ॥

*शेष दिनों में कायोत्सर्ग प्रतिमाधारी का जीवन*

असिणाणवियडभोई मउलियडो दिवसबंभयारी य।
रत्तिं परिमाणकडो पडिमावज्जेसु दियहेसु ॥ १८ ॥

अस्नानविकटभोजी मौलिकृतो दिवसब्रह्मचारी च।
रात्रिं परिमाणकृतः प्रतिमावर्जेषु दिवसेषु ॥ १८ ॥

कायोत्सर्ग प्रतिमाधारी को प्रतिमा वर्जित दिनों में १. स्नान नहीं करना चाहिए, २. रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए, ३. धोती की कच्छी नहीं बाँधनी चाहिए, ४. दिन में सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए और ५. रात्रि में स्त्रीभोग का परिसीमन ( परिमाण ) करना चाहिए ॥ १८ ॥

*कायोत्सर्ग में क्या सोचना चाहिए ?*

झायइ पडिमाएँ ठिओ तिलोगपुज्जो जिणे जियकसाए।
णियदोसपच्चणीयं अण्णं वा पंच जा मासा ॥ १९ ॥

ध्यायति प्रतिमायां स्थितो त्रिलोकपूज्यान् जिनान् जितकषायान्।
निजदोषप्रत्यनीकमन्यद्वा पञ्च यावन्मासान् ॥ १९ ॥

कायोत्सर्ग-प्रतिमावाला कायोत्सर्ग धारण करते समय कषायजित और त्रिलोकपूज्य जिनों का ध्यान करता है अथवा अपने रागादि दोषों की आलोचना रूप ध्यान करता है। इस प्रतिमा का उत्कृष्ट काल पाँच महीना है ॥ १९ ॥

*छठीं अब्रह्मवर्जन प्रतिमा का स्वरूप*

पुव्वोइयगुणजुत्तो विसेसओ विजियमोहणिज्जो य ।
वज्जइ अबंभमेगंतओ उ राइंपि थिरचित्तो ।। २० ।।

पूर्वोदितगुणयुक्तो विशेषतो विजितमोहनीयश्च ।
वर्जयति अब्रह्ममेकान्ततस्तु रात्रिमपि स्थिरचित्तः ।। २० ।।

पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन, व्रत, सामायिक, पोषध और कायोत्सर्ग — इन पाँच प्रतिमारूप गुणों से युक्त और पाँचवीं प्रतिमा द्वारा विशेष रूप से काम पर विजय पाने वाला श्रावक छठीं अब्रह्मवर्जन प्रतिमा में अविचलित चित्तवाला होकर रात्रि में भी काम-वासना का पूर्णतया त्याग करता है।

**विशेष :** पाँचवीं और छठीं प्रतिमा में यही भेद है कि पाँचवीं प्रतिमा में रात्रि में मैथुन-सेवन का सर्वथा त्याग नहीं होता है, जबकि छठीं में उसका सर्वथा त्याग होता है ।। २० ।।

*चित्त की स्थिरता के उपाय*

सिंगारकहाविरओ इत्थीएँ समं रहम्मि णो ठाइ ।
चयइ य अतिप्पसंगं तहा विहूसं च उक्कोसं ।। २१ ।।

शृङ्गारकथाविरतः स्त्रिया समं रहसि न तिष्ठति ।
त्यजति चातिप्रसङ्गं तथा विभूषां च उत्कृष्टाम् ।। २१ ।।

छठीं प्रतिमा धारण करने वाले श्रावक को १. शृंगारिक कथाएँ नहीं करनी चाहिए, २. स्त्री के साथ एकान्त में नहीं बैठना चाहिए, क्योंकि एकान्त स्थान चित्त की अस्थिरता का कारण है, ३. स्त्रियों से प्रकट में भी अतिपरिचय नहीं रखना चाहिए तथा शरीर के विशेष शृंगार का भी त्याग करना चाहिए ।। २१ ।।

*छठीं प्रतिमा का काल*

एवं जा छम्मासा एसोऽहिगतो इहरहा दिट्ठं ।
जावज्जीवंपि इमं वज्जइ एयम्मि लोगम्मि ।। २२ ।।

एवं यावत् षण्मासान् एषोऽधिकृत इतरथा दृष्टम् ।
यावज्जीवमपि इदं वर्जयति एतस्मिन् लोके ।। २२ ।।

अब्रह्मवर्जन रूप प्रतिमाधारी श्रावक शृंगारकथा आदि के त्यागपूर्वक उत्कृष्टता से छः महीने तक अब्रह्म का त्याग करता है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ श्रावक आजीवन अब्रह्म का त्याग करते हैं — ऐसा इस लोक में देखा गया है।

अर्थात् जिसको प्रतिमा का वहन किये बिना ब्रह्मचर्य का पालन करना है वह छः महीना ही नहीं, अपितु जीवन भर इस व्रत का पालन कर सकता है ।। २२ ।।

*सातवीं सचित्तवर्जन प्रतिमा*

सच्चित्तं आहारं वज्जइ असणादियं णिरवसेसं ।
असणे चाउलउंबिगचणगादी सव्वहा सम्मं ।। २३ ।।

सच्चित्तमाहारं वर्जयति अशनादिकं निरवशेषम् ।
अशने तन्दुलोम्बिकाचणकादि सर्वथा सम्यक् ।। २३ ।।

सातवीं प्रतिमाधारी श्रावक अशन आदि चारों प्रकार के सचित्त भोजन का त्याग करता है। वह अशन में चाँवल, गेहूँ, चना, तिल आदि का विशुद्धभाव से सम्पूर्णतया अपक्व, दुष्पक्व, तुच्छौषधि आदि का इस प्रकार त्याग करता है कि अतिचार न लगे ।। २३ ।।

पाणे आउक्कायं सचित्तरससंजुअं तहऽण्णंपि ।
पंचुंबरिकक्कडिगाइयं च तह खाइमे सव्वं ।। २४ ।।

पाने अप्कायां सचित्तरससंयुतं तथाऽन्यदपि ।
पञ्चोम्बरिकर्कटिकादिकं च तथा खादिमे सर्वम् ।। २४ ।।

सातवीं प्रतिमा वाला श्रावक पेय आहार में सचित्त पानी या तुरन्त पड़े हुए सचित्त लवण आदि के रस से मिश्रित काँजी आदि के पानी का भी त्याग करता है और खादिम में त्रसकायिक जीवों से युक्त सभी प्रकार के पञ्चोदम्बर फलों जैसे — उदुम्बर, बरगद, प्लक्ष, काकोदुम्बर और पीपल तथा ककड़ी आदि का त्याग करता है ।। २४ ।।

दंतवणं तंबोलं हरेडगादी य साइमे सेसं ।
सेसपयसमाउत्तो जा मासा सत्त विहिपुव्वं ।। २५ ।।

दन्तधावनं ताम्बूलं हरीतक्यादि च स्वादिमे शेषम् ।
शेषपदसमायुक्तो यावन्मासान् सप्त विधिपूर्वम् ।। २५ ।।

(और वह) स्वादिम में दातून, पान (ताम्बूल), हरड़ आदि सभी प्रकार के स्वादिम का त्याग करता है। पूर्व की छः प्रतिमाओं से युक्त श्रावक सात महीने तक विधिपूर्वक सभी प्रकार के स्वादिम का त्याग करता है ।। २५ ।।

*आठवीं आरम्भवर्जन प्रतिमा का स्वरूप*

वज्जइ सयमारंभं सावज्जं कारवेइ पेसेहिं ।
पुव्वप्पओगओ च्चिय वित्तिणिमित्तं सिढिलभावो ।। २६ ।।

वर्जयति स्वयमारम्भं सावद्यं कारयति प्रेष्यैः ।
पूर्वप्रयोगत एव वृत्तिनिमित्तं शिथिलभावः ।। २६ ।।

आठवीं प्रतिमा वाला श्रावक खेती आदि आरम्भयुक्त कार्य स्वयं छोड़ देता है। ऐसे काम वह नौकरों से करवाता है। उसमें भी प्रतिमा स्वीकार करने के पहले आजीविका का जो साधन था, उसे ही आजीविका के निमित्त उदासीन भाव से कराता है ।। २६ ।।

*स्वयं आरम्भ न करें और नौकरों से करायें तो क्या लाभ ?*

निग्घिणतेगंतेणं एवंवि हु होइ चेव परिचत्ता ।
एद्दहमेत्तोऽवि इमो वज्जिज्जंतो हियकरो उ ।। २७ ।।

भव्वस्साणावीरिय - संफासणभावतो णिओगेणं ।
पुव्वोइयगुणजुत्तो ता वज्जति अट्ठ जा मासा ।। २८ ।।

निर्घृणतैकान्तेन एवमपि खलु भवति चैव परित्यक्ता ।
इयन्मात्रोऽपि अयं वर्ज्यमानः हितकरस्तु ।। २७ ।।

भव्यस्याज्ञावीर्य-संस्पर्शनभावात् नियोगेन ।
पूर्वोदित-गुणयुक्तस्तावद् वर्जयति अष्ट यावन्मासान् ।। २८ ।।

स्वयं आरम्भ करने और दूसरों से आरम्भ करवाने — इन दोनों में क्रूरता तो है, किन्तु स्वयं आरम्भ न करने से जितनी कम हिंसा होगी उतनी तो हितकर होती ही है। अब प्रश्न यह उठता है कि स्वयं तो आरम्भ थोड़ा करते हैं, किन्तु दूसरों से करवाते हैं तो उसमें अधिक हिंसा होती है, क्योंकि हिंसा करने वाले बहुत हैं। तो अपनी थोड़ी हिंसा का त्याग करके औरों से अधिक हिंसा करवाना कहाँ तक समीचीन है ?

उत्तर : स्वयं की थोड़ी सी हिंसा का त्याग भी हितकर ही है। जिस प्रकार भयानक रोग से ग्रसित व्यक्ति का रोग थोड़ा-सा कम हो जाये तो भी उसके लिए हितकर ही होता है।

इसके दो कारण हैं — एक तो हिंसात्याग रूप जिनाज्ञा का पालन और दूसरा हिंसात्याग में अपनी आन्तरिक सामर्थ्य। अतः इन दोनों का पालन अवश्य होता है।

पहले की सात प्रतिमाओं से युक्त श्रावक आठवीं प्रतिमा में उत्कृष्टतापूर्वक आठ महीने तक स्वयं आरम्भ का त्याग करता है ।। २७-२८ ।।

*नौवीं प्रेष्यवर्जन प्रतिमा का स्वरूप*

पेसेहिऽवि आरंभं सावज्जं कारवेइ णो गुरुयं ।
अत्थी संतुट्ठो वा एसो पुण होति विण्णेओ ।। २९ ।।
निक्खित्तभरो[१] पायं पुत्तादिसु अहव सेसपरिवारे ।
थेवममत्तो य तहा सव्वत्थवि परिणओ नवरं ।। ३० ।।
लोगव्ववहारविरओ बहुसो संवेगभावियमई य ।
पुव्वोदियगुणजुत्तो णव मासा जाव विहिणा उ ।। ३१ ।।

प्रेष्यैरपि आरम्भं सावद्यं कारयति नो गुरुकम् ।
अर्थी सन्तुष्टो वा एषः पुन भवति विज्ञेयः ।। २९ ।।
निक्षिप्तभरः प्रायः पुत्रादिषु अथवा शेषपरिवारे ।
स्तोकममत्वश्च तथा सर्वत्रापि परिणतः केवलम् ।। ३० ।।
लोकव्यवहारविरतो बहुशः संवेगभावितमतिश्च ।
पूर्वोदितगुणयुक्तो नव मासान् यावद् विधिना तु ।। ३१ ।।

नौवीं प्रतिमा में श्रावक नौकरों से भी खेती आदि आरम्भ नहीं करवाता (बिस्तर लगवाने जैसे छोटे कार्यों का निषेध नहीं है)। नौकरों या दूसरों से आरम्भ रूप कार्य न करवाने वाला व्यक्ति या तो धनवान् होता है या अतिशय सन्तोषी गरीब ।। २९ ।।

इस प्रतिमाधारी श्रावक पारिवारिक जिम्मेदारियों को योग्य पुत्रों अथवा पारिवारिकजनों या नौकरों पर छोड़ देता है। वह धनधान्यादि के प्रति हमेशा अल्प ममत्व रूप परिणाम वाला होता है ।। ३० ।।

वह अधिकांश लोकव्यवहार से निवृत्त होता है। निरन्तर भवभोगों से भयभीत बुद्धि वाला होता है। यह श्रावक पहले की सभी प्रतिमाओं से युक्त होता है और उत्कृष्टता से नौ महीने तक शास्त्रोक्त विधि से इस प्रतिमा का पालन करता है ।। ३१ ।।

*दसवीं उद्दिष्टवर्जन प्रतिमा का स्वरूप*

उद्दिट्ठकडं भत्तंपि वज्जती किमुय सेसमारंभं ? ।
सो होइ उ खुरमुंडो सिहलिं वा धारती कोई ।। ३२ ।।
जं णिहियमत्थजायं पुट्ठो णियएहिं णवर सो तत्थ ।
जइ जाणइ तो साहे अह णवि तो बेइ णवि जाणे ।। ३३ ।।

---

१. मूले 'भरा' इति पाठः ।

जतिपज्जुवासणपरो सुहुमपयत्थेसु णिच्चतल्लिच्छो ।
पुव्वोदियगुणजुत्तो दस मासा कालमासे(णे)णं ।। ३४ ।।

उद्दिष्टकृतं भक्तमपि वर्जयति किमुत शेषमारम्भम् ।
सो भवति तु क्षुरमुण्डः शिखां वा धारयति कोऽपि ।। ३२ ।।

यन्निहितमर्थजातं पृष्टो निजकैः केवलं सः तत्र ।
यदि जानाति तदा साधयति अथ नैव तदा ब्रूते नैव जाने ।। ३३ ।।

यतिपर्युपासनपरः सूक्ष्मपदार्थेषु नित्यतल्लिप्सः ।
पूर्वोदितगुणयुक्तो दशमासान् कालमानेन ।। ३४ ।।

दसवीं प्रतिमा में श्रावक अपने लिए बने हुए भोजन का भी त्याग करता है, फिर दूसरे आरम्भ की तो बात ही क्या है ? वह अपना सिर मुड़वा लेता है। उनमें से कोई चोटी (शिखा) भी रखता है ।। ३२ ।।

भूमि आदि में रखे गये धनादि के विषय में पुत्रादि के पूछने पर कि वह कहाँ रखा है ? यदि वह जानता है, तो बतला देता है, यदि नहीं जानता है तो कह देता है कि वह नहीं जानता है अर्थात् पूछने पर वह धन सम्बन्धी सूचना तो दे देता है, किन्तु अपनी ओर से स्वयं पहल नहीं करता है ।। ३३ ।।

दसवीं प्रतिमाधारी श्रावक साधुसेवा में तत्पर और सर्वज्ञभाषित जीवादि सूक्ष्म पदार्थों का सतत चिन्तन करता रहता है। वह पहले की नौ प्रतिमाओं का पालन करते हुए दस महीने तक इस प्रतिमा का पालन करता है ।। ३४ ।।

*ग्यारहवीं श्रमणभूत प्रतिमा का स्वरूप*

खुरमुंडो लोएण व रयहरणं उग्गहं व घेत्तूण ।
समणब्भूओ विहरइ धम्मं काएण फासंतो ।। ३५ ।।

ममकारेऽवोच्छिणे वच्चति सण्णायपल्लि दट्ठुं जे ।
तत्थवि जहेव साहू गेण्हति फासुं तु आहारं ।। ३६ ।।

पुव्वाउत्तं कप्पति पच्छाउत्तं तु ण खलु एयस्स ।
ओदणभिलिंगसूवादि सव्वमाहारजायं तु ।। ३७ ।।

क्षुरमुण्डो लोचेन वा रजोहरणमवग्रहं वा गृहीत्वा ।
श्रमणभूतो विहरति धर्मं कायेन स्पृशन् ।। ३५ ।।

ममकारेऽव्यवच्छिन्ने व्रजति संज्ञातपल्लिं द्रष्टुं यः ।
तत्रापि यथैव साधुः गृह्णाति प्रासुकं तु आहारम् ।। ३६ ।।

पूर्वायुक्तं कल्पते पश्चादायुक्तं तु न खलु एतस्य।
ओदनभिलिङ्गसूपादि: सर्वमाहारजातं तु ।। ३७ ।।

ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक उस्तरा से या हस्तलोंच से मुंडित होकर साधु के उपकरण — रजोहरण और पात्रादि लेकर श्रमण के समान मन से ही नहीं काया से भी चारित्रधर्म का पालन करते हुए विहार करता है ।। ३५ ।।

ममत्वभाव से युक्त होने पर वह अपने ज्ञाति (सम्बन्धी)-जनों से मिलने जाता है, किन्तु वहाँ पर भी साधु की ही तरह प्रासुक आहार ग्रहण करता है। भाव यह है कि ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक का स्वजनों के प्रति प्रेम का सर्वथा अभाव नहीं होता है, इसलिए यदि वह उनसे मिलने जाना चाहे तो जा सकता है, किन्तु उनके द्वारा दिया गया अनेषणीय भोजन नहीं करता है ।। ३६ ।।

ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक को स्वजन के घर पहुँचने से पहले तैयार किये गये भोजन में भात, मसूर की दाल आदि लेना चाहिए। उसके पहुँचने के बाद तैयार किया गया भोजन उसके लिए कल्प्य नहीं है, क्योंकि गृहस्थ उसके लिए भात आदि अधिक बनाने का संकल्प करेगा — ऐसी सम्भावना रहती है ।। ३७ ।।

*ग्यारहवीं प्रतिमा का उत्कृष्ट और सभी प्रतिमाओं का जघन्य काल*

एवं उक्कोसेणं एक्कारस मास जाव विहरेइ।
एगाहादियरेणं एयं सव्वत्थ पाएणं ।। ३८ ।।

एवमुत्कृष्टेन एकादश मासान् यावद् विहरति।
एकाहादीतरेण एतत्सर्वत्र प्रायेण ।। ३८ ।।

उपर्युक्त प्रकार से साधु के आचार का पालन करते हुए उत्कृष्टता से ग्यारह महीने तक मासकल्पादि पूर्वक विहार करे। जघन्य से इस प्रतिमा का काल एक अहोरात्र, दो अहोरात्र और तीन अहोरात्र है। इस प्रकार जितना विहार कर सके करे। सभी प्रतिमाओं का जघन्यकाल प्राय: इसी प्रकार है। 'प्राय:' ऐसा कहकर यह बतलाया गया है कि अन्तर्मुहूर्त आदि भी जघन्यकाल हो सकते हैं। जघन्यकाल मृत्यु या प्रव्रजित होने पर होता है अन्यथा नहीं ।। ३८ ।।

यहाँ अन्तिम सात प्रतिमाएँ आवश्यकचूर्णि में दूसरी तरह कही गयी हैं। वे इस प्रकार हैं — रात्रिभोजन का त्याग पाँचवीं प्रतिमा, सचित्त आहार का त्याग छठीं प्रतिमा, दिन में अब्रह्म का सर्वथा त्याग और रात्रि में अब्रह्म का परिमाण करना सातवीं प्रतिमा। दिन और रात्रि में भी अब्रह्म का सर्वथा त्याग करना, स्नान

न करना आदि आठवीं प्रतिमा। स्वयं आरम्भ नहीं करना नौवीं प्रतिमा। दूसरों से भी आरम्भ न करवाना दसवीं प्रतिमा तथा अपने लिए बनाये गये भोजन का त्याग और श्रमणभूत प्रतिमा में कहे अनुसार साधु आचार का पालन ग्यारहवीं प्रतिमा है।

इस प्रकार श्रावकप्रतिमाओं का वर्णन पूरा हुआ।

*प्रतिमा पूर्ण होने के बाद क्या करें ?*

भावेऊणऽत्ताणं उवेइ पव्वज्जमेव सो पच्छा ।
अहवा गिहत्थभावं उचियत्तं अप्पणो णाउं ।। ३९ ।।

भावयित्वाऽऽमानमुपैति प्रव्रज्यामेव सः पश्चात् ।
अथवा गृहस्थभावमुचितत्त्वमात्मनो ज्ञात्वा ।। ३९ ।।

प्रतिमा के आचरण से आत्मा को भावित करके अपनी योग्यता को जानकर यदि साधुता के योग्य है तो दीक्षा ले और यदि साधु बनने के योग्य न लगे तो गृहस्थ ही बना रहे ।। ३९ ।।

*आत्मा को भावित करके दीक्षा लेने का कारण*

गहणं पव्वज्जाए जओ अजोगाण णियमतोऽणत्थो ।
तो तुलिऊणऽप्पाणं धीरा एयं पवज्जंति ।। ४० ।।

तुलणा इमेण विहिणा एतीए हंदि नियमतो णेया ।
णो देसविरइकंडयपत्तीएँ विणा जमेसत्ति ।। ४१ ।।

ग्रहणं प्रव्रज्याया यत अयोग्यानां नियमतोऽनर्थः ।
ततः तुलयित्वाऽऽत्मानं धीरा एतां प्रव्रजन्ति ।। ४० ।।

तुलना अनेन विधिना एतस्या हंदि नियमतो ज्ञेया ।
नो देशविरतिकण्डकप्राप्त्या विना यदेषेति ।। ४१ ।।

अयोग्य व्यक्तियों के द्वारा दीक्षा को स्वीकार करना नियमतः अनर्थकारी होता है, इसलिए बुद्धिमान् पुरुष अपनी योग्यता की समीक्षा करने के उपरान्त ही प्रव्रजित होते हैं ।। ४० ।।

प्रव्रज्या की योग्यता का परीक्षण प्रतिमागत आचरण से ही होता है, क्योंकि देशविरति स्वीकार करने की मनोवृत्ति या अध्यवसाय के बिना अर्थात् भावपूर्वक देशविरति स्वीकार किये बिना प्रव्रज्या नहीं होती है ।। ४१ ।।

*योग्यता परीक्षण के बाद दीक्षित होने का लाभ*

तीए य अविगलाए बज्झा चेट्ठा जहोदिया पायं ।
होति णवरं विसेसा कत्थति लक्खिज्जए ण तहा ।। ४२ ।।

तस्याञ्च अविकलायां बाह्या चेष्टा यथोदिता प्राय: ।
भवति केवलं विशेषा क्वचिद् लक्ष्यते न तथा ।। ४२ ।।

योग्यता परीक्षणपूर्वक ली हुई दीक्षा को परिपूर्ण दीक्षा कहा जाता है। परिपूर्ण दीक्षा में प्रतिलेखना आदि सामाचारी की अनुपालनरूप चेष्टा आगमों के अनुसार होती है।

पुष्ट कारणों से अपवाद स्वीकार करने वाले पुरुष में आगमानुसारी क्रिया सामान्यतया होती है, किन्तु स्थूलदृष्टिवाले जीवों को वह (अपवाद अवस्था वाली क्रिया) सामान्य अवस्था वाली क्रिया की तरह स्पष्ट दिखलायी नहीं देती है ।। ४२ ।।

*परिपूर्ण दीक्षा में आगमानुसार क्रिया होने का कारण*

भवणिव्वेयाउ जतो मोक्खे रागाउ णाणपुव्वाओ ।
सुद्धासयस्स एसा ओहेणवि वण्णिया समए ।। ४३ ।।

भवनिर्वेदाद् यत: मोक्षे रागाद् ज्ञानपूर्वात् ।
शुद्धाशयस्य एषा ओघेनापि वर्णिता समये ।। ४३ ।।

सम्यग्ज्ञान होने पर जिन कारणों से संसार से वैराग्य होता है, उन्हीं कारणों से मोक्ष के प्रति राग होता है। अत: शुद्धाशय वाले श्रावक के लिए इस पूर्ण दीक्षा का सामान्य स्वरूप आगम में वर्णित है ।। ४३ ।।

*शुद्ध परिणाम वाले को चारित्र की प्राप्ति में आगम प्रमाण*

तो समणो जइ सुमणो भावेण य जइ ण होइ पावमणो ।
सयणे य जणे य समो समो य माणावमाणेसु ।। ४४ ।।

तत: समणो यदि सुमना भावेन च यदि न भवति पापमना: ।
स्वजने च जने च सम: समश्च मानापमानयो: ।। ४४ ।।

अब प्राकृत भाषागत 'समण' शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं — समण शब्द में मण पद का अर्थ मन है अर्थात् जो मनवाला है वह समण है। यहाँ सामान्य मन विवक्षित नहीं है, क्योंकि सभी पञ्चेन्द्रिय जीव मनवाले होते हैं, इसलिए सद्गुण सम्पन्न और निर्दोष मनवाले के अर्थ में सुमण विवक्षित है, जो धर्मध्यानादि गुणों से युक्त मनवाला हो और प्राणातिपात आदि पापों से युक्त मन वाला न हो वह 'समण' है।

जो स्वजन और परजन में समान भाव वाला हो तथा मान-अपमान में समभावपूर्वक बर्ताव करे, वह 'समण' है।

**विशेष :** यहाँ 'समण' शब्द की इस प्रकार व्युत्पत्ति करने का आशय यह है कि वस्तुत: चारित्र के धनी शुद्ध अध्यवसाय वाले को ही समणत्व की प्राप्ति होती है — ऐसा जानना चाहिए ।। ४४ ।।

*प्रतिमा का पालन किये बिना भी दीक्षायोग्य बना जा सकता है*

ता कम्मखओवसमा जो एयपगार[१]मंतरेणावि ।
जायति जहोइयगुणो तस्सवि एसा तहा णेया ।। ४५ ।।

एत्तो च्चिय पुच्छादिसु हंदि विसुद्धस्स सति पयत्तेणं ।
दायव्वा गीतेणं भणियमिणं सव्वदंसीहिं ।। ४६ ।।

तह तम्मि तम्मि जोए सुत्तुवओगपरिसुद्धभावेण ।
दरदिण्णाएऽवि जओ पडिसेहो वण्णिओ एत्थ ।। ४७ ।।

पव्वाविओ सियत्ति य मुंडावेउमिच्चाइ जं भणियं ।
सव्वं च इमं सम्मं तप्परिणामे हवति[२] पायं ।। ४८ ।।

तस्मात् कर्मक्षयोपशमाद्य एतत्प्रकारमन्तेरणापि ।
जायते यथोदितगुण: तस्यापि एषा तथा ज्ञेया ।। ४५ ।।

अत एव पृच्छादिषु हंदि विशुद्धस्य सकृत्प्रयत्नेन ।
दातव्या गीतेन भणितमिदं सर्वदर्शिभि: ।। ४६ ।।

तथा तस्मिंस्तस्मिन् योगे सूत्रोपयोगपरिशुद्धभावेन ।
दरदत्तायामपि यत: प्रतिषेधो वर्णितोऽत्र ।। ४७ ।।

प्रव्राजित: स्यादिति च मुण्डापयितुमित्यादि यद्भणितम् ।
सर्वञ्चेदं सम्यक् तत्परिणामे भवति प्राय: ।। ४८ ।।

जैसा कि पहले कहा गया है कि संसार से भयभीत (उदासीन) होने के कारण प्रशस्त अध्यवसाय वाले जीव को दीक्षा दी जाती है, उसी प्रकार जो जीव कम आयु के कारण प्रतिमा का सेवन किये बिना भी ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम से प्रव्रज्या के योग्य गुणों वाला बन जाता है, उसको भी प्रतिमा का सेवन करने वाले की तरह दीक्षा दी जाती है। अर्थात् प्रतिमा का पालन किये बिना भी प्रव्रज्या के योग्य होने पर दीक्षा दी जा सकती है ।। ४५ ।।

इसीलिए गीतार्थ (सूत्रविद) को हमेशा प्रयत्नपूर्वक पृच्छादि में विशुद्ध जीव को दीक्षा देनी चाहिए – ऐसा केवलियों ने कहा है।

---

१. 'एयगार' इति पाठान्तरम् ।

२. 'हवइ' इति भवनीयम् ।

**भावार्थ :** गीतार्थ को अपरिचित दीक्षार्थी से पूछना चाहिए कि वह कौन है ? कहाँ से आया है ? दीक्षा क्यों लेना चाहता है ? (पृच्छा)। यदि वह उचित उत्तर देता है तो उसे प्रव्रज्या का स्वरूप समझाना चाहिए (धर्म-कथन)। प्रव्रज्या का स्वरूप कहने के बाद वह योग्य है कि नहीं ? इसका परीक्षण छह महीना या यथोचित समय तक करना चाहिए (परीक्षा)। इस प्रकार पृच्छा, कथन और परीक्षण से जो विशुद्ध लगे उसे दीक्षा देनी चाहिए, ऐसी जिनेन्द्रदेव की आज्ञा है ।। ४६ ।।

आगमोपयोग से परिशुद्ध भाव वाले गुरु के द्वारा प्रव्रज्या काल में यदि दीक्षार्थी अयोग्य सिद्ध होता है तो प्रव्रज्या की शेष क्रियाओं (मुण्डन, छेदोपस्थापनीय चारित्र प्रदान आदि) का निषेध किया गया है ।। ४७ ।।

**भावार्थ :** कल्पभाष्य में प्रव्रज्यासूत्र का अभिप्राय निम्नवत् है — १. सम्भवत: अनुपयोग आदि से अयोग्य को दीक्षा दे दी हो और बाद में पता चले कि वह अयोग्य है तो उसका मुण्डन नहीं करना चाहिए। फिर भी आचार्य यदि लोभ आदि से मुण्डन करते हैं तो आज्ञाभंग आदि दोष लगते हैं । २. यदि मुण्डन कर दिया हो तो प्रतिलेखना आदि साध्वाचार नहीं सिखाना चाहिए, क्योंकि सिखाने पर दोष लगता है । ३. यदि सिखा दिया है तो बड़ी दीक्षा नहीं देनी चाहिए, नहीं तो दोष लगता है । ४. यदि बड़ी दीक्षा (छेदोपस्थापन) दे दी हो तो उसके साथ मण्डल में बैठकर भोजन नहीं करना चाहिए । ५. यदि मण्डल में भोजन करने के बाद पता चले कि वह अयोग्य है तो उसको अपने पास नहीं रखना चाहिए ।

इस प्रकार आगम में 'मुण्डापयितुम्' इत्यादि जो कहा है उससे यह सिद्ध हुआ कि पृच्छादि से विशुद्ध जीव को ही दीक्षा देनी चाहिए। प्राय: जिसकी दीक्षा का परिणाम अच्छा हुआ हो उसी को दीक्षा दी जाती है ।। ४८ ।।

*उस काल में प्रतिमाधारी को दीक्षा देना अधिक संगत है*

जुत्तो पुण एस कमो ओहेणं संपयं विसेसेणं ।
जम्हा असुहो कालो दुरणुचरो संजमो एत्थ ।। ४९ ।।

युक्त: पुनरेष: क्रम ओघेन साम्प्रतं विशेषेण ।
यस्मादशुभ: कालो दुरनुचर: संयमोऽत्र ।। ४९ ।।

यद्यपि प्रतिमापालन के बिना भी दीक्षा हो सकती है, फिर भी सामान्यतया पहले प्रतिमा का सेवन हो फिर दीक्षा दी जाये — यही योग्य है। उसमें भी वर्तमान काल में और अधिक योग्य है, क्योंकि अभी समय अशुभ है और संयम पालन

करना कठिन है। इसलिए दीक्षार्थी को प्रतिमा का अभ्यास करना चाहिए ।। ४९ ।।

*प्रतिमापूर्वक दीक्षा की योग्यता का अन्य दर्शनों से समर्थन*

तंतंतरेसुवि इमो आसमभेओ पसिद्धओ चेव ।
ता इय इह जइयव्वं भवविरहं इच्छमाणेहिं ।। ५० ।।

तन्त्रान्तरेष्वपि अयमाश्रमभेद: प्रसिद्धकश्चैव ।
तदितीह यतितव्यं भवविरहमिच्छद्भि: ।। ५० ।।

दूसरे दर्शनों में भी ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास — इन चार आश्रमों की अलग-अलग भूमिकाएँ प्रसिद्ध ही हैं अर्थात् सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य का पालन फिर गृहस्थ, वानप्रस्थ और फिर संन्यास आश्रम का पालन — यह क्रम प्रसिद्ध है। इसलिए संसार-सागर से मुक्ति पाने की इच्छा वाले लोगों को प्रतिमा-पूर्वक दीक्षा-ग्रहण करने में प्रयत्न करना चाहिए ।। ५० ।।

**।। इति उपासकप्रतिमाविधिर्नाम दशमं पञ्चाशकम् ।।**

# ११

# साधुधर्मविधि पञ्चाशक

श्रावकधर्म के प्रतिपादन के पश्चात् अब साधुधर्म का विवेचन करने हेतु मंगलाचरण करते हैं —

*मङ्गलाचरण*

नमिऊण वद्धमाणं मोक्खफलं परममंगलं सम्मं ।
वोच्छामि साहुधम्मं समासओ भावसारं तु ॥ १ ॥

नत्वा वर्द्धमानं मोक्षफलं परममङ्गलं सम्यक् ।
वक्ष्यामि साधुधर्मं समासतो भावसारं तु ॥ १ ॥

मोक्षफल के हेतुभूत परमकल्याणकारी वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार करके मैं भावप्रधान साधुधर्म को संक्षेप में कहूँगा ॥ १ ॥

**विशेष :** साधुधर्म में भाव की तथा श्रावकधर्म में द्रव्य की प्रधानता होती है।

*साधु का स्वरूप*

चारित्तजुओ साहू तं दुविहं देससव्वभेएण ।
देसचरित्ते ण तओ इयरम्मि उ पंचहा तं च ॥ २ ॥

चारित्रयुतः साधुः तद् द्विविधं देशसर्वभेदेन ।
देशचारित्रे न तक इतरस्मिंस्तु पञ्चधा तच्च ॥ २ ॥

जो चारित्रयुक्त हो वह साधु है। देशचारित्र और सर्वचारित्र के भेद से चारित्र दो प्रकार होता है। जो देशचारित्र से युक्त है वह साधु नहीं गृहस्थ है। साधु सर्वविरति रूप चारित्रवाला होता है। सर्वविरति रूप चारित्र पाँच प्रकार का है ॥ २ ॥

*चारित्र के पाँच प्रकार*

सामाइयत्थ पढमो छेओवट्ठावणं भवे बीयं ।
परिहारविसुद्धीयं सुहुमं तह संपरायं च ॥ ३ ॥

तत्तो य अहक्खायं खायं सव्वम्मि जीवलोगम्मि ।
जं चरिऊण सुविहिया वच्चंति अणुत्तरं मोक्खं ।। ४ ।।
सामायिकात्र प्रथमः छेदोपस्थापनं भवेद् द्वितीयम् ।
परिहारविशुद्धिकं सूक्ष्मं तथा सम्परायञ्च ।। ३ ।।
ततश्च यथाख्यातं ख्यातं सर्वस्मिन् जीवलोके ।
यच्चरित्वा सुविहिता व्रजन्ति अनुत्तरं मोक्षम् ।। ४ ।।

प्रथम सामायिक, द्वितीय छेदोपस्थापन, तृतीय परिहारविशुद्धि, चतुर्थ सूक्ष्मसम्पराय और पंचम यथाख्यात — ये पाँच प्रकार के चारित्र हैं। यथाख्यातचारित्र समस्त जीवलोक में प्रसिद्ध ही है, जिसका आचरण करके साधु परम पद मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

चारित्र के सामायिकादि पाँच भेदों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है —

१. **सामायिक** — सामायिक शब्द का प्रकृति-प्रत्यय इस प्रकार होगा — सम + आ + √इ + घञ् (अ) + इक। यहाँ सम का अर्थ है — राग-द्वेषादि से रहित समताभाव। आ पूर्वक √इ धातु का अर्थ होता है आना, जिसमें भाववाचक घञ् प्रत्यय लगाने पर आय बनता है। पुनः तद्धित इक प्रत्यय लगाने पर (सम + आय + इक) सामायिक शब्द बनता है। सामायिक सभी सावद्य योगों से विरतिरूप है। सामायिक के इत्वर अल्पकालिक और यावत्कथित (जीवन-पर्यन्त) — ये दो भेद हैं। इत्वर-सामायिक भरत और ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के तीर्थ में जिसे महाव्रत नहीं दिये गये हैं — ऐसे नवदीक्षित साधु को होती है। यावत्कथित सामायिक भरत-ऐरावत क्षेत्र में चौबीस में से बीच के बाईस तीर्थङ्करों और महाविदेह में सभी तीर्थङ्करों के तीर्थ में रहने वाले साधुओं को होती है, क्योंकि उनको दूसरा छेदोपस्थापन चारित्र नहीं होता है।

२. **छेदोपस्थापन** — जिसमें पूर्वपर्याय का छेद करके महाव्रतों का उपस्थान — आरोपण किया जाता है, उसे छेदोपस्थापन चारित्र करते हैं। यह सातिचार और निरतिचार के भेद से दो प्रकार का होता है। इत्वर सामायिक वाले नवदीक्षित साधु को छेदोपस्थापन देना अथवा एक तीर्थङ्कर के तीर्थ से दूसरे तीर्थङ्कर के तीर्थ में जाने वाले को छेदोपस्थापन चारित्र देना निरतिचार चारित्र है। मूलगुणों का घात करने वाले को फिर से महाव्रतों का आरोपण करना सातिचार छेदोपस्थापन चारित्र है।

३. **परिहारविशुद्धि** — तपविशेष को परिहार कहा जाता है। जिसमें परिहार तप से विशुद्धि की गई हो वह परिहारविशुद्धि चारित्र है। इसके दो भेद

हैं — निर्विशमानक (वर्तमान में परिहारविशुद्धि करने वाले साधु निर्विशमानक हैं) और निर्विष्टकायिक (जिसने परिहारविशुद्धि का सेवन कर लिया हो वह निर्विष्टकायिक साधु है), परिहारविशुद्धि चारित्र साधु से अभिन्न होने से उपर्युक्त चारित्र दो प्रकार का होता है।

इस चारित्र में नौ साधुओं का समूह होता है, जिनमें से चार परिहार तपका सेवन करें और दूसरे चार उनकी सेवा करें और एक वाचनाचार्य हो। परिहार तप जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का होता है, जो इस प्रकार है —

| | जघन्य | मध्यम | उत्कृष्ट |
|---|---|---|---|
| **गर्मी** | एक दिन का उपवास | छट्ठ : दो उपवास | अट्ठम : तीन दिन का उपवास |
| **सर्दी** | दो दिन का उपवास | तीन दिन का उपवास | चार दिन का उपवास |
| **बरसात** | तीन दिन का उपवास | चार दिन का उपवास | पाँच दिन का उपवास |

पारणे में आयम्बिल करें तथा सात प्रकार की भिक्षा (असंसृष्टा, संसृष्टा, उद्धृता, अल्पलेपा, अवगृहीता, प्रगृहीता तथा उज्झितधर्मा) में से प्रथम दो भिक्षाएँ कभी भी न लें। शेष पाँच में से प्रतिदिन 'आज मुझे दो ही भिक्षाएँ (एक आहार और एक पानी) लेनी है' ऐसा दो भिक्षा का अभिग्रह करके तीन भिक्षा का त्याग करें, ऐसा छह महीने तक करें। शेष पाँच साधु छह महीने तक प्रतिदिन उपर्युक्त प्रकार से दो भिक्षा का अभिग्रहपूर्वक आयम्बिल करें। फिर जो सेवा करने वाले थे वे छह महीने तक परिहार तप करें और जो पहले परिहार तप करने वाले थे वे उनकी सेवा करें। फिर वाचनाचार्य छह महीने तक परिहार तप करें और शेष आठ में से सात उनकी सेवा करें और एक वाचनाचार्य बने। इस प्रकार परिहारकल्प का समय अठारह महीना होता है। इस कल्प के पूर्ण होने पर जिनकल्प को स्वीकार करें अथवा गच्छ में रहें। जिसने तीर्थङ्कर के पास परिहारकल्प स्वीकार किया हो, वह उनके पास रह सकता है, दूसरे किसी के पास नहीं।

४. **सूक्ष्मसम्पराय** — जिससे संसारभ्रमण होता है उसे सम्पराय कहते हैं। कषायों से संसारभ्रमण होता है, इसलिए कषायें सम्पराय हैं। कषायों के अत्यन्त सूक्ष्म होने पर सूक्ष्मसम्पराय होता है। यह दो प्रकार का होता है — १. विशुद्ध्यमानक (क्षपक और उपशम श्रेणी में उत्तरोत्तर बढ़ने वाले) और २. क्लिश्यमानक (उपशम श्रेणी में गिरने वाले)।

५. **यथाख्यात** — जिनेन्द्रदेव ने जैसा कहा है वैसा चारित्र यथाख्यात

चारित्र है। कषायरहित चारित्र को श्रेष्ठ चारित्र कहा है, इसलिए कषायरहित चारित्र यथाख्यात चारित्र है। यह चारित्र उपशमक और क्षपक छद्मस्थ वीतराग तथा सयोगीकेवली और अयोगीकेवली को होता है ।। ३-४ ।।

चारित्र के छेदोपस्थापन आदि भेद भी सामायिक के ही भेद हैं, इसलिए इस प्रकरण में सामायिक का ही विवेचन किया जायेगा, छेदोपस्थापनादि का नहीं।

*सामायिक का स्वरूप*

समभावो सामाइयं तणकंचण-सत्तुमित्तविसओत्ति ।
निरभिस्संगं चित्तं उचियपवित्तिप्पहाणं च ।। ५ ।।

समभावः सामायिकं तृणकञ्चन-शत्रुमित्रविषय इति ।
निरभिष्वङ्गं चित्तमुचितप्रवृत्तिप्रधानञ्च ।। ५ ।।

तृण-स्वर्ण रूप निर्जीव वस्तुओं में और शत्रु-मित्र रूप चेतन पदार्थों में समभाव रखना सामायिक है, अर्थात् निरभिष्वंग (रागद्वेषरहित) और उचित प्रवृत्ति से युक्त मन उत्तम सामायिक है। यहाँ केवल निरभिष्वंग ही नहीं, अपितु उचितप्रवृत्ति सहित चित्त ही सामायिक है — ऐसा जानना चाहिए ।। ५ ।।

*ज्ञान-दर्शन के बिना सामायिक नहीं होगा*

सति एयम्मि उ णियमा णाणं तह दंसणं च विण्णेयं ।
एएहिं विणा एयं ण जातु केसिंचि सद्धेयं ।। ६ ।।
सति एतस्मिंस्तु नियमाद् ज्ञानं तथा दर्शनञ्च विज्ञेयम् ।
एताभ्यां विना एतन्न जातु केषाञ्चित् श्रद्धेयम् ।। ६ ।।

सामायिक के होने पर ज्ञान और दर्शन अवश्य होते हैं। किन्तु ज्ञान और दर्शन के बिना सामायिक नहीं हो सकती है। इसलिए ज्ञान और दर्शन के बिना सामायिक पर श्रद्धा नहीं करनी चाहिए ।। ६ ।।

*विशिष्ट श्रुतरहित चारित्री को भी ज्ञान और दर्शन होता है*

गुरुपारतंत णाणं सद्दहणं एयसंगयं चेव ।
एत्तो उ चरित्तीणं मासतुसादीण निद्दिट्ठं ।। ७ ।।

गुरुपारतन्त्र्यं ज्ञानं श्रद्धानमेतत्सङ्गतञ्चैव ।
अतस्तु चारित्रीणां माषतुषादीनां निर्दिष्टम् ।। ७ ।।

ज्ञान-दर्शन के बिना सामायिक नहीं होती है, इसीलिए आगम में प्रसिद्ध अति-जड़, मासतुस आदि साधुओं को भी गुरु के प्रति निष्ठा रूप ज्ञान और उस

ज्ञान के अनुरूप दर्शन होता है, अर्थात् ऐसे साधुओं का गुरु के प्रति समर्पण भाव ही उनका ज्ञान और दर्शन है — ऐसा केवलियों ने कहा है, क्योंकि ज्ञान का फल गुरु के प्रति समर्पण से मिलता है।

मासतुस साधुओं का उदाहरण इस प्रकार है — एक आचार्य थे जो वाचना देते-देते ऊबकर अपने अशिक्षित साधु भ्राता को धन्यवाद देने लगे कि मेरा भाई परतन्त्र नहीं है, वह वाचना देने से मुक्त है। वे अपने आपको वाचना देने की वजह से परतन्त्र समझने लगे थे। अत: मरणोपरान्त अशुभ विचारणा के कारण ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से श्रुतज्ञान पर श्रद्धा होते हुए भी उसका अध्ययन नहीं कर सके। गुरुजी ने उनको 'मा रुस मा तुस' याने 'राग द्वेष मत करो' इस प्रकार संक्षेप में श्रुत का अर्थ कह दिया, लेकिन वे 'मा रुस मा तुस' को भी ठीक से नहीं कह पाते थे। वे मास-तुस कहते थे, फिर भी गुरुभक्ति के कारण कालान्तर में उनको केवलज्ञान प्राप्त हुआ ॥ ७ ॥

*साधु धर्म का स्वरूप*

धम्मो पुण एयस्सिह सम्माणुट्ठाणपालणारूवो ।
विहिपडिसेहजुयं तं आणासारं मुणेयव्वं ॥ ८ ॥

धर्मः पुन एतस्येह सम्यगनुष्ठानपालनारूपः ।
विधिप्रतिषेधयुतं तदाज्ञासारं ज्ञातव्यम् ॥ ८ ॥

प्रतिलेखन आदि शुभ अनुष्ठानों का पालन करना साधु का धर्म है। यह अनुष्ठान 'ध्यान करना चाहिए', 'हिंसा नहीं करनी चाहिए' — इस प्रकार विधि और प्रतिषेधपूर्वक आगमानुसार होना चाहिए, यही जिनाज्ञा का सार है ॥ ८ ॥

*अगीतार्थ भी शुभ अनुष्ठान का पालन कर सकता है*

अग्गीयस्स इमं कह ? गुरुकुलवासाउ, कह तओ गीओ ?।
गीयाणाकरणाओ, कहमेयं ? णाणतो चेव ॥ ९ ॥

अगीतस्य इदं कथम् ? गुरुकुलवासात् कथं तको गीतः ।
गीताज्ञाकरणात्, कथमेतत् ? ज्ञानतश्चैव ॥ ९ ॥

**प्रश्न :** जिसने आगम का अध्ययन नहीं किया है वह शुभानुष्ठान का पालन कैसे कर सकता है ?

**उत्तर :** गुरुकुलवास से शुभानुष्ठान का पालन कर सकता है।

**प्रश्न :** अगीतार्थ गुरुकुलवास से शुभानुष्ठान का पालन कैसे कर सकता है ?

**उत्तर :** अगीतार्थ गुरुकुलवास में गीतार्थ की आज्ञा का पालन करने के कारण गीतार्थ है। गीतार्थ के लिए शुभानुष्ठान का पालन दुष्कर नहीं है।

**प्रश्न :** अगीतार्थ गीतार्थ की आज्ञा का पालन कैसे करता है ?

**उत्तर :** उस प्रकार के ज्ञान से अगीतार्थ यह तो जानता ही है कि मेरे गुरु आगम के ज्ञाता हैं और मेरे हितकारी हैं — इसी ज्ञान से वह गीतार्थ की आज्ञा का पालन करता है ।। ९ ।।

चारित्तओ च्चिय दढं मग्गणुसारी इमो हवइ पायं ।
एत्तो हिते पवत्तति तह णाणातो सदंधोव्व ।। १० ।।

चारित्रत एव दृढं मार्गानुसारी अयं भवति प्रायः ।
इत हिते प्रवर्तते तथा ज्ञानात् सदन्धवत् ।। १० ।।

चारित्र से ही प्रायः चारित्री अतिशय मार्गानुसारी (मोक्षमार्ग के अनुकूल प्रवृत्ति करने वाला) बनता है। मार्गानुसारी होने के कारण गुरु के प्रति तथाविध ज्ञान अर्थात् — ये मेरे गुरु आगम ज्ञाता हैं और मेरे हितकारी हैं — ऐसा ज्ञान होता है। इस ज्ञान के कारण गुर्वाज्ञा-पालन आदि हितकारी कार्यों में उसकी प्रवृत्ति होती है। इस विषय में सदन्ध का उदाहरण द्रष्टव्य है — जिस प्रकार एक अच्छा अन्धा अपने सहायक के वचन के अनुसार ही वर्तन करके अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है, उसी प्रकार मार्गानुसारी अगीतार्थ चारित्री भी गुर्वाज्ञापालनादि हितकारी कार्यों में प्रवृत्ति करता है ।। १० ।।

अंधोऽणंधो व्व सदा तस्साणाए तहेव लंघेइ ।
भीमंपि हु कंतारं भवकंतारं इय अगीतो ।। ११ ।।

अन्धोऽनन्ध इव सदा तस्याज्ञया तथैव लङ्घयति ।
भीममपि खलु कान्तारं भवकान्तारमित्यगीतः ।। ११ ।।

जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति नेत्रवाले के कथनानुसार चलकर नेत्रवान् की ही तरह भयंकर जंगल पार कर लेता है, उसी प्रकार अगीतार्थ गुर्वाज्ञापालन आदि से गीतार्थ की तरह संसाररूपी जंगल पार कर लेता है ।। ११ ।।

*आज्ञा-प्रधान शुभानुष्ठान ही साधु धर्म है — इस विषय का आगमवचन से समर्थन*

आणारुइणो चरणं आणाए च्चिय इमंति वयणाओ ।
एत्तोऽणाभोगम्मिवि पण्णवणिज्जो इमो होइ ।। १२ ।।

आज्ञारुचेः चरणमाज्ञयैव इदमिति वचनात् ।
इतोऽनाभोगेऽपि प्रज्ञापनीयोऽयं भवति ॥ १२ ॥

जिसको आप्तोपदेश में रुचि हो उसी को चारित्र प्राप्त होता है, क्योंकि आप्त की आज्ञा से ही चारित्र प्राप्त होता है, ऐसा आगमवचन है। आज्ञा में रुचि रखने वाले को प्रायः अज्ञान नहीं होता है, फिर भी यदि किसी विषय में अज्ञानतावश कोई असत् प्रवृत्ति हो जाये तो उसे सुखपूर्वक समझाया जा सकता है। इस प्रकार आज्ञा में रुचि रखने वाले जीव को प्रज्ञापनीय होने से चारित्र प्राप्त होता है। इसलिए 'आज्ञाप्रधान शुभानुष्ठान धर्म है' ऐसा कहा जाता है ॥ १२ ॥

*साधु के लिए जिन की आज्ञा*

एसा य परा आणा पयडा जं गुरुकुलं ण मोत्तव्वं ।
आचारपढमसुत्ते एत्तो च्चिय दंसियं एयं ॥ १३ ॥

एषा च परा आज्ञा प्रकटा यद् गुरुकुलं न मोक्तव्यम् ।
आचारप्रथमसूत्रे यत एव दर्शितमेतत् ॥ १३ ॥

यह स्पष्ट और प्रकृष्ट जिनाज्ञा है कि गुरुकुलवास का त्याग नहीं करना चाहिए (क्योंकि प्रकृष्ट अर्थ अर्थात् मोक्ष के साधन रूप धर्म का उपाय गुरुकुलवास है। यह जिनाज्ञा गुरुकुलवास न छोड़ने की आज्ञा देती है। इसलिए जिनाज्ञा प्रकृष्ट का साधन बताने वाली होने से प्रकृष्ट है)। यही कारण है कि आचाराङ्ग के प्रथमसूत्र में श्रीसुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि "सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं"— हे आयुष्मान् जम्बू ! गुरुकुलवास में (भगवान् के पास) रहते हुए मैंने सुना है कि भगवान् ने ऐसा कहा है कि गुरुकुलवास का त्याग नहीं करना चाहिए ॥ १३ ॥

*गुरुकुल का महत्त्व*

एयम्मि परिच्चत्ते आणा खलु भगवतो परिच्चत्ता ।
तीए य परिच्चागे दोण्हवि लोगाण चाउत्ति ॥ १४ ॥

ता न चरणपरिणामे एयं असमंजसं इहं होति ।
आसण्णसिद्धियाणं जीवाण तहा य भणियमिणं ॥ १५ ॥

णाणस्स होइ भागी थिरयरओ दंसणे चरित्ते य ।
धण्णा आवकहाए गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥ १६ ॥

एतस्मिन् परित्यक्ते आज्ञा खलु भगवतः परित्यक्ता ।
तस्याश्च परित्यागे द्वयोरपि लोकयोः त्याग इति ॥ १४ ॥

तत्र चरणपरिणाम एतदसमञ्जसमिह भवति ।
आसन्नसिद्धिकानां जीवानां तथा च भणितमिदम् ।। १५ ।।
ज्ञानस्य भवति भागी स्थिरतरको दर्शने चारित्रे च ।
धन्या यावत्कथं गुरुकुलवासं न मुञ्चन्ति ।। १६ ।।

गुरुकुल का त्याग करने से भगवान् की आज्ञा का त्याग होता है (क्योंकि भगवान् की आज्ञा तो गुरुकुल न छोड़ने की है) और भगवान् की आज्ञा का त्याग होने पर इहलोक और परलोक दोनों का त्याग होता है, क्योंकि गुरुकुल का त्याग करने वाले को उभयलोक से विरुद्ध प्रवृत्ति करने से कोई रोकने वाला नहीं होता है ।। १४ ।।

चारित्र के फल की प्राप्ति स्वरूप निकट भविष्य में मुक्त होने वाले जीवों (साधुओं) के गुरुकुलवास के त्याग रूप अनुचित कार्य साधु धर्म के अनुकूल नहीं होता है। क्योंकि आगम में ऐसा कहा है कि उस समय वह साधु श्रुतज्ञान आदि का पात्र बनता है तथा दर्शन और चारित्र में अधिक स्थिर होता है। अत: वे धन्य हैं, जो आजीवन गुरुकुलवास का त्याग नहीं करते हैं ।। १५-१६ ।।

*गुरुकुल में ही चारित्र का पूर्ण पालन और क्षमा आदि की वृद्धि होती है*

तत्थ पुण संठिताणं आणा आराहणा ससत्तीए।
अविगलमेयं जायति बज्झाभावेऽवि भावेणं।। १७ ।।

कुलवहुणायादीया एत्तो च्चिय एत्थ दंसिया बहुगा।
एत्थेव संठियाणं खंतादीणंपि सिद्धित्ति।। १८ ।।

तत्र पुन: संस्थिनामाज्ञाऽऽराधनात् स्वशक्त्या।
अविकालमेतज्जायते बाह्याभावेऽपि भावेन।। १७ ।।

कुलवधूज्ञातादयो यत एवात्र दर्शिता बहुका:।
अत्रैव संस्थितानां क्षान्त्यादीनामपि सिद्धिरिति।। १८ ।।

गुरुकुल में रहने वाले साधुओं के यथाशक्ति आज्ञाराधन (जिनोपदेश-पालन) से चारित्र का सम्पूर्ण पालन होता है। गुरुकुल में रहते हुए अस्वस्थता के कारण प्रतिलेखन आदि रूप चारित्र बाहर से अपूर्ण होने पर भी भाव से उसका चारित्र पूर्ण होता है ।। १७ ।।

अत: गुरुकुल में रहने वाले का पूर्णतया चारित्र पालन होता है। इसलिए गुरुकुल का त्याग नहीं करने का उपदेश देने के लिए कुलवधुओं आदि का दृष्टान्त दिया गया है। जिस प्रकार कुलवधुएँ अनेक प्रतिकूलताओं के बाद भी श्वसुर-गृह का त्याग नहीं करती हैं, उसी प्रकार साधु को भी गुरुकुलवास नहीं छोड़ना चाहिए

तथा जिस प्रकार माता-पिता अपनी कन्या को अनेक गुणों से समृद्ध करके कुलीन व्यक्ति से विवाह कर देते हैं, उसी प्रकार गुरु भी शास्त्रज्ञ शिष्य को आचार्य बना देते हैं।

गुरुकुल में विनयपूर्वक रहने वाले साधुओं के क्षमादि गुणों की भी सिद्धि होती है ॥ १८ ॥

*क्षमादि दस प्रकार के साधु धर्म*

खंती य मद्दवऽज्जव मुत्ती तव संजमे य बोद्धव्वे ।
सच्चं सोयं आकिंचणं च बंभं च जतिधम्मो ॥ १९ ॥

क्षान्तिश्च मार्दवार्जवमुक्तिः तपः संयमश्च बोद्धव्यः ।
सत्यं शौचमाकिञ्चन्यञ्च ब्रह्मञ्च यतिधर्मः ॥ १९ ॥

क्षान्ति-क्रोधनिग्रह, मार्दव-मृदुता, आर्जव-सरलता, मुक्ति-लोभत्याग, तप-अनशन आदि, संयम-पृथ्वीकायिक आदि जीवों का संरक्षण, सत्य-सत्य बोलना, शौच-भावशुद्धि, आकिञ्चन्य-परिग्रह का त्याग और ब्रह्म-ब्रह्मचर्य — ये दस साधु के धर्म हैं ॥ १९ ॥

*गुरुकुल के बिना क्षमादि की विशुद्धि नहीं होती*

गुरुकुलवासच्चाए णेयाणं हंदि सुपरिसुद्धित्ति ।
सम्मं णिरूवियव्वं एयं सति णिउणबुद्धीए ॥ २० ॥

गुरुकुलवासत्यागे नैतेषां हंदि सुपरिशुद्धिरिति ।
सम्यक् निरूपयितव्यमेतत् सकृत् निपुणबुद्ध्या ॥ २० ॥

गुरुकुलवास का त्याग होने पर इन क्षमादि दश साधु-धर्मों की अच्छी तरह शुद्धि नहीं होती है, अर्थात् इन धर्मों में पूर्णता नहीं आती है, इसलिए इस पर निरन्तर सूक्ष्मबुद्धि से विचार करना चाहिए ॥ २० ॥

*गुरुकुल के बिना क्षमादि गुणों का अभाव भी होता है*

खंतादभावओ[1] च्चिय णियमेण तस्य होति चाओत्ति[2] ।
बंभं ण गुत्तिविगमा सेसाणिवि एव जोइज्जा ॥ २१ ॥

क्षान्त्याद्यभावत एव नियमेन तस्य भवति त्याग इति ।
ब्रह्मं न गुप्तिविगमात् शेषाण्यपि एवं योजयेत् ॥ २१ ॥

---

१. 'भावउ' इति मूले पाठः।

२. 'चाउत्ति' इति मूले पाठः।

क्षमा आदि गुणों के अभाव से गुरुकुलवास का त्याग अवश्य ही होता है (कभी-कभी पुष्ट कारणों से भी गुरुकुल का त्याग होता है, किन्तु वह त्याग नहीं कहा जा सकता है)। गुरुकुलवास के त्याग से ब्रह्मचर्य की गुप्ति नहीं रहती। साधुओं की सहायता ब्रह्मचर्यगुप्ति कहलाती है। ब्रह्मचर्यगुप्ति के अभाव में ब्रह्मचर्य नहीं रहता है। इसी प्रकार दूसरे तप-संयम आदि भी गुप्ति के अभाव में नहीं रहते हैं। क्योंकि साधुओं की असहायता ही सभी व्रतों के भंग का कारण है ॥ २१ ॥

*गुरुकुलवास से कर्मनिर्जरारूप महान् लाभ*

गुरुवेयावच्चेणं सदणुट्ठाणसहकारिभावाओ ।
विउलं फलमिब्भस्स व विसोवगेणावि ववहारे ॥ २२ ॥

गुरुवैयावृत्येन सदनुष्ठानसहकारिभावात् ।
विपुलं फलमिभ्यस्य इव विंशोपकेनापि व्यवहारे ॥ २२ ॥

गुरुकुल में वास करने वाले को गुरु की सेवा करने से सदनुष्ठानों (आचार्य द्वारा प्रदत्त वाचना एवं धर्मोपदेश आदि) में सहभागी बनता है, जिससे कर्मनिर्जरा रूप महान् लाभ होता है। जिस प्रकार कोई लखपति वणिक्पुत्र अपने धन के बीसवें भाग से भी व्यापार करे तो भी उसे बहुत लाभ होता है, उसी प्रकार महान् आचार्य की सेवा मात्र से बहुत लाभ होता है ॥ २२ ॥

*गुरुकुल के त्याग से अनर्थ की प्राप्ति*

इहरा सदंतराया दोसोऽविहिणा य विविहजोगेसु ।
हंदि पयट्टंतस्सा तदण्णदिक्खावसाणेसु ॥ २३ ॥

इतरथा सदाऽन्तरायाद् दोषोऽविधिना च विविधयोगेषु ।
हंदि प्रवर्तमानस्य तदन्यदीक्षावसानेषु ॥ २३ ॥

गुरुकुलवास का त्याग करने में वैयावृत्य, तप, ज्ञान आदि गुणों का व्याघात होने से दोष लगता है और गुरु की उपासना नहीं करने से संविग्नों (संसार से भयभीतों) को सामाचारी में दक्षता प्राप्त नहीं होती है। इसलिए वह गुरुकुलवास-त्यागी सूत्रार्थग्रहण, प्रतिलेखन आदि से लेकर दूसरों को दीक्षा देने तक विविध अनुष्ठानों में विधिरहित प्रवृत्ति करता है, जिससे उसे दोष लगता है ॥ २३ ॥

*गुणहीन गुरु का त्यागकर सच्चे गुरु की शरण का सुझाव*

गुरुगुणरहिओ उ गुरू न गुरू विहिचायमो उ तस्सिट्ठो ।
अण्णत्थ संकमेणं ण उ एगागित्तणेणंति ॥ २४ ॥

गुरुगुणरहितस्तु गुरुः न गुरुः विधित्यागस्तु तस्येष्टः ।
अन्यत्र संक्रमेण न तु एकाकित्वेनेति ।। २४ ।।

गुरु बनने के लिये आवश्यक सम्यग्ज्ञान और सदनुष्ठान रूप गुणों से रहित गुरु गुरु (आचार्य) नहीं होता है, इसलिए ऐसे गुरु का यथाविधि त्याग करना चाहिए और दूसरे सच्चे गुरु की निश्रा में रहना चाहिए, अकेले नहीं ।। २४ ।।

*विशिष्ट साधु की अपेक्षा से एकाकी विहार का विधान*

जंपि य ण वा लभेज्जा एक्कोऽविच्चादि भासियं सुत्ते ।
एयं विसेसविसयं णायव्वं बुद्धिमंतेहिं ।। २५ ।।

यदपि च न वा लभेत एकोऽपीत्यादि भाषितं सूत्रे ।
एतद्विशेषविषयं ज्ञातव्यं बुद्धिमद्भिः ।। २५ ।।

दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि अपने से अधिक गुणोंवाला या समान गुणोंवाला निपुण सहायक न मिले तो पापकर्मों से निवृत्त होता हुआ विषयों में अनासक्त रहकर अकेला ही विहार करे। यह विधान विशिष्ट साधु की अपेक्षा से है, सर्व सामान्य साधुओं के लिए नहीं ।। २५ ।।

पावं अणायरंतो तत्थुत्तं ण य इमं अगीयस्स ।
अण्णाणी किं काहीच्चादिसुत्ताउ सिद्धमिणं ।। २६ ।।

पापमनाचरन् तत्रोक्तं न च इदमगीतस्य ।
अज्ञानी किं करिष्यतीत्यादिश्रुतात् सिद्धमिदम् ।। २६ ।।

दशवैकालिकसूत्र में एकाकी विहारी को पाप का त्याग करने वाला कहा गया है, किन्तु अगीतार्थ से पाप का त्याग नहीं हो सकता है। 'अज्ञानी क्या कर सकता है ?' इस आगम वचन से उपर्युक्त बात सिद्ध हो जाती है ।। २६ ।।

*एकाकी विहार विशिष्ट साधु की अपेक्षा से है – इस कथन का समर्थन*

जाओ य अजाओ य दुविहो कप्पो उ होइ णायव्वो ।
एक्केक्कोऽवि य दुविहो समत्तकप्पो य असमत्तो ।। २७ ।।

गीयत्थो जायकप्पो अग्गीओ खलु भवे अजाओ उ ।
पणगं समत्तकप्पो तदूणगो होइ असमत्तो ।। २८ ।।

उउबद्धे वासासु उ सत्त समत्तो तदूणगो इयरो ।
असमत्ताजायाणं ओहेण ण किंचि आहव्वं ।। २९ ।।

एत्तो पडिसेहाओ सामण्णणिसेहमोऽवगंतव्वो ।
एएसिँ अतोऽवि इमं विसेसविसयं मुणेयव्वं ।। ३० ।।

जातश्च अजातश्च द्विविध: कल्पस्तु भवति ज्ञातव्य: ।
एकैकोऽपि च द्विविध: समाप्तकल्पश्च असमाप्त: ।। २७ ।।
गीतार्थो जातकल्प: अगीत: खलु भवेदजातस्तु ।
पञ्चकं समाप्तकल्प: तदूनको भवति असमाप्त: ।। २८ ।।
ऋतुबद्धे वर्षासु तु सप्त समाप्त: तदूनक इतर: ।
असमाप्ताजातानामोघेन न किञ्चिदाभाव्यम् ।। २९ ।।
इत: प्रतिषेधात् सामान्यनिषेधोऽवगन्तव्य: ।
एतेषामतोऽपीदं विशेषविषयं ज्ञातव्यम् ।। ३० ।।

जात और अजात के भेद से कल्प दो प्रकार का होता है। ये दोनों पुन: समाप्त और असमाप्त के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं ।। २७ ।।

अगीतार्थ या गीतार्थ की निश्रावाले साधु का विहार जातकल्प है। अगीतार्थ या गीतार्थ की निश्रारहित साधु का विहार अजातकल्प है। चातुर्मास के अतिरिक्त अन्य समय में पाँच साधुओं का विहार समाप्तकल्प है। उससे कम (चार इत्यादि) साधुओं का विहार असमाप्तकल्प है। चातुर्मास में सात साधु रहें तो समाप्तकल्प और उससे कम (छ: इत्यादि) रहें तो असमाप्तकल्प है। वर्षा ऋतु में सात साधुओं के साथ रहने का विधान इसलिए है कि उनमें से यदि कोई बीमार पड़े तो उसकी पर्याप्त सहायता हो सके ।। २८-२९ ।।

जो साधु असमाप्तकल्प वाले और अजातकल्प वाले हैं अर्थात् अपूर्ण संख्या वाले और अगीतार्थ हैं, उनका सामान्यतया कोई भी आभाव्य (अधिकार) नहीं होता है । अर्थात् ऐसे साधु जिस क्षेत्र में विहार करते हैं, वह क्षेत्र और उस क्षेत्र से प्राप्त होने वाले शिष्य एवं आहारादि पर उनका अधिकार नहीं होता है। इसलिए ऐसे साधुओं के विहार का निषेध भी हो जाता है। इसी से यह भी सिद्ध हो जाता है कि एकाकी विहार सभी साधुओं के लिए नहीं, अपितु विशिष्ट साधुओं के लिए है ।। ३० ।।

*एकाकी विहार के दोष*

एगागियस्स दोसा इत्थीसाणे तहेव पडिणीए ।
भिक्खविसोहिमहव्वय तम्हा सवितिज्जए गमणं ।। ३१ ।।

एकाकिनो दोषा: स्त्रीशुनि तथैव प्रत्यनीके ।
भिक्षाविशोधिमहाव्रते तस्मात् सद्वितीयस्य गमनम् ।। ३१ ।।

एकाकी विहार करने वाले को अनेक दोष लगते हैं, यथा :

१. स्त्री सम्बन्धी दोष – विधवा, परित्यक्ता आदि स्त्रियाँ एकाकी साधु

को घर में आया देखकर विषय-सेवन की माँग कर सकती हैं। ऐसे में साधु यदि विषय-सेवन करता है तो संयम भंग होगा, यदि न करे तो वह स्त्री उसे समाज में अपमानित कर सकती है।

२. कुत्तों आदि के काटने का भय होता है।

३. एकाकी साधु पर साधु के प्रति द्वेष रखने वाला व्यक्ति हमला कर सकता है।

४. एक ही साथ तीन घरों से भिक्षा लेनी हो तो अकेले साधु के द्वारा सब तरफ उपयोग नहीं रख सकने के कारण भिक्षा अशुद्ध होती है।

५. भिक्षा अशुद्ध होने से पहला व्रत भंग होता है। अकेला होने से किसी के द्वारा प्राणातिपातविरमणविराधना सम्बन्धी प्रश्न पूछने पर निःशंक रूप से जवाब देने से मृषावाद दोष लगता है। घर में खुली पड़ी वस्तु को लेने की इच्छा होने से अदत्तादान दोष लगता है। स्त्रीमुख देखने से उत्पन्न राग से परिग्रह दोष लगता है। इसलिए उपर्युक्त दोषों के निवारणार्थ सदैव विहार किसी को साथ में लेकर ही करना चाहिए ।। ३१ ।।

*अगीतार्थ के स्वतन्त्र विहार का निषेध*

गीयत्थो य विहारो बीओ गीयत्थमीसओ भणिओ ।
एत्तो तइयविहारो णाणुण्णाओ जिणवरेहिं ।। ३२ ।।

गीतार्थश्च विहारो द्वितीयो गीतार्थमिश्रको[1] भणितः ।
इतः तृतीयविहारो नानुज्ञातो जिनवरैः ।। ३२ ।।

भगवान् जिनेन्द्रदेव ने एक गीतार्थ का और दूसरा गीतार्थ की निश्रा में रहने वाले साधु का विहार प्रतिपादित किया है। इसके अतिरिक्त तीसरा कोई विहार नहीं कहा है ।। ३२ ।।

*दशवैकालिक का वचन विशेष विषय वाला है*

ता गीयम्मि इमं खलु तदण्णलाभंतरायविसयंति ।
सुत्तं अवगंतव्वं णिउणेहिं तंतजुत्तीए ।। ३३ ।।

तद्गीते इदं खलु तदन्यलाभान्तरायविषयमिति ।
सूत्रमवगन्तव्यं निपुणैः तन्त्रयुक्त्या ।। ३३ ।।

इस प्रकार एकाकी विहार सम्बन्धी आगम-वचन गीतार्थ साधु के लिए है, सामान्य साधु के लिए नहीं। गीतार्थ साधु भी तभी एकाकी विहार कर सकता

---

१. बहुश्रुतसमन्वितानामगीतार्थानामपि साधूनां यः स गीतार्थमिश्रकः ।

है जब उसे कोई सहायक साधु न मिले। अगीतार्थ को तो हमेशा दूसरे के साथ ही विहार करना चाहिए। इसलिए बुद्धिमानों को दशवैकालिकसूत्र की 'न वा लभेज्जा' इस गाथा का यह अर्थ समझना चाहिए कि दूसरा सहायक न मिले तो ही गीतार्थ साधु के लिए एकाकी विहार मान्य है ॥ ३३ ॥

*सूत्र का विशेषार्थ व्याख्या सापेक्ष है*

जं जह सुत्ते भणियं तहेव जइ तं वियालणा णत्थि ।
किं कालियाणुओगो दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं ? ॥ ३४ ॥

यद्यथा सूत्रे भणितं तथैव यदि तद्विचारणा नास्ति ।
किं कालिकानुयोगो दृष्टो दृष्टिप्रधानैः ? ॥ ३४ ॥

जिस सूत्र में जैसा कहा गया है वैसा ही अर्थ करना हो अर्थात् सूत्र का शब्दानुसारी अर्थ करना हो—उसके भावार्थ की कल्पना नहीं करनी हो तो दृष्टिसम्पन्न भद्रबाहु स्वामी आदि के द्वारा कालिकसूत्रों की रचना करने के बाद भी निर्युक्ति आदि की रचना क्यों की गई होती ? किसी भी सूत्र का केवल शब्दार्थ से अर्थ स्पष्ट नहीं होता है, अपितु उसका भावार्थ भी लेना पड़ता है। इसीलिए भद्रबाहु स्वामी आदि ने सूत्रों पर निर्युक्तियों की रचना की है ॥ ३४ ॥

*मूलगुणों से ही रहित गुरु त्याज्य है*

गुरुगुणरहिओऽवि इहं दट्ठव्वो मूलगुणविउत्तो जो ।
ण उ गुणमेत्तविहीणोत्ति चंडरुद्दो उदाहरणं ॥ ३५ ॥

गुरुगुणरहितोऽपि इह द्रष्टव्यो मूलगुणवियुक्तो यः ।
न तु गुणमात्रविहीन इति चण्डरुद्र उदाहरणम् ॥ ३५ ॥

यहाँ जो गुरु मूलगुणों से रहित हैं उनको ही गुरुगुणरहित जानना चाहिए, न कि गुणमात्र से रहित, अर्थात् सुन्दर आकृति, विशिष्ट उपशम आदि उत्तरगुणों से रहित गुरु को। यदि गुरु मूलगुणों से युक्त है तो वह गुरु है। इस विषय में चण्डरुद्राचार्य का उदाहरण है। वे बहुत क्रोधी थे, फिर भी बहुत से संविग्न गीतार्थ शिष्यों ने उनका त्याग नहीं किया। इतना ही नहीं, वे शिष्य उनका सम्मान भी करते थे ॥ ३५ ॥

*कृतज्ञ शिष्य सद्गुरु का त्याग नहीं करते*

जे इह होंति सुपुरिसा कयण्णुया ण खलु तेऽवमन्नंति ।
कल्लाणभायणत्तेण गुरुजणं उभयलोगहियं ॥ ३६ ॥

य इह भवन्ति सुपुरुषाः कृतज्ञकाः न खलु तेऽवमन्यन्ते ।
कल्याणभाजनत्वेन गुरुजनं उभयलोकहितम् ।। ३६ ।।

मनुष्य लोक में जो उत्तम और कृतज्ञ प्रकृति के हैं, वे ऐहिक और पारलौकिक कल्याण के पात्र हैं, इसलिए वे उभयलोक में हितकर गुरु की अवज्ञा नहीं करते हैं ।। ३६ ।।

*गुरुकुल का त्याग करने वालों की निन्दा*

जे उ तह विवज्जत्था सम्मं गुरुलाघवं अयाणंता ।
सग्गाहा किरियरया पवयणखिंसावहा खुद्दा ।। ३७ ।।

पायं अहिण्णगंठी तमा उ तह दुक्करंपि कुव्वंता ।
बज्झा व ण ते साहू धंखाहरणेण विण्णेया ।। ३८ ।।

ये तु तथा विपर्यस्ताः सम्यग् गुरुलाघवमजानन्तः ।
स्वग्राहात् क्रियारताः प्रवचनखिसावहाः क्षुद्राः ।। ३७ ।।

प्राय अभिन्नग्रन्थयः तमसस्तु तथा दुष्करमपि कुर्वन्तः ।
बाह्या इव न ते साधवो ध्वांक्षोदाहरणेन विज्ञेयाः ।। ३८ ।।

जो साधु उत्तम और कृतज्ञ न होने के कारण गुरु की अवज्ञा करते हैं, वे साधु नहीं है, क्योंकि वैसे साधु पाप के अल्प-बहुत्व (गुरुकुलवास और एकाकी विहार के लाभालाभ) को अच्छी तरह जानते नहीं हैं। वे अनेक साधुओं के साथ रहने में अशुद्ध आहार और परस्पर स्नेह आदि दोष मानते हैं। वे निर्दोष भिक्षा, आतापना, मासक्षमण आदि अनुष्ठान अपनी मति के अनुसार करते हैं। वैसे गुरु की अवज्ञा करने वाले साधु आगम से निरपेक्ष प्रवृत्ति करने वाले होने के कारण जिनशासन को निन्दा का पात्र बनाते हैं और गुरु की अवज्ञा करने से स्वतः क्षुद्र होते हैं ।। ३७ ।।

ऐसे साधु प्रायः एक बार भी ग्रन्थि का भेद नहीं करते हैं, क्योंकि मिथ्यादृष्टि होने के बावजूद यदि एक बार भी ग्रन्थिभेद किया होता तो ऐसी खोटी प्रवृत्ति नहीं करते। वे अज्ञानता से मासक्षमण आदि दुष्कर कार्य भी करते हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि तापसों की भाँति वे जिनाज्ञा से रहित होने के कारण साधु नहीं हैं। इस विषय को शास्त्र में दिये गये कौए के उदाहरण से जानना चाहिए —

कौए का उदाहरण इस प्रकार है – स्वादिष्ट, शीतल व सुगन्धित पानी वाले तालाब के किनारे कुछ कौए बैठे थे । उनमें से कुछ कौए प्यास लगने पर पानी की खोज करने लगे। वे मृगतृष्णा के सरोवरों की ओर जाने लगे। उस समय

किसी कौए ने उन्हें टोका और उस तालाब में ही पानी पीने को कहा। कुछ ने उसी तालाब में पानी पिया और अन्य अनेक उसकी अवज्ञा करके मृगतृष्णा की ओर गये। जहाँ पानी न मिलने के कारण वे मृत्यु को प्राप्त हो गये और जिन्होंने उस तालाब का ही पानी पिया, वे जीवित रह गये।

उपर्युक्त उदाहरण को प्रस्तुत प्रसंग में इस प्रकार घटित किया जा सकता है कि — सुंदर तालाब के समान गुरुकुल गुणों का स्थान है। कौओं के समान धर्मार्थी जीव हैं। पानी के समान चारित्र है। गुरुकुल से बाहर रहना मृगतृष्णा सरोवर के समान है। कौओं को शिक्षा देने वाले कौए के समान गीतार्थ है। चारित्र के योग्य और धर्म रूप धन को पाने वाले जो थोड़े साधु गुरुकुल में रहे वे तालाब का पानी पीने वाले कौओं के समान हैं ॥ ३८ ॥

*गुरुकुलत्यागियों का सम्मान करने वालों को उपदेश*

तेसिं बहुमाणेणं उम्मग्गऽणुमोयणा अणिट्ठफला ।
तम्हा तित्थगराणाठिएसु जुत्तोऽत्थ बहुमाणो ॥ ३९ ॥

तेषां बहुमानेन उन्मार्गानुमोदना अनिष्टफला ।
तस्मात् तीर्थकराज्ञास्थितेषु युक्तोऽत्र बहुमानः ॥ ३९ ॥

गुरुकुल छोड़ने वालों का सम्मान करना उन्मार्ग का अनुमोदन करना है, जो अनिष्ट फलदायी है। इसलिए गुरुकुल में रहकर जिनाज्ञा का पालन करने वाले साधुओं का सम्मान करना ही योग्य है ॥ ३९ ॥

*जिनाज्ञा में रहे हुए साधुओं का स्वरूप*

ते पुण समिया गुत्ता पियदढधम्मा जिइंदियकसाया ।
गंभीरा धीमंता पण्णवणिज्जा महासत्ता ॥ ४० ॥

उस्सग्गववायाणं वियाणगा सेवगा जहासत्तिं ।
भावविसुद्धिसमेता आणारुतिणो य सम्मंति ॥ ४१ ॥

सव्वत्थ अपडिबद्धा मेत्तादिगुणण्णिया य णियमेण ।
सत्ताइसु होंति दढं इय आययमग्गतल्लिच्छा ॥ ४२ ॥

एवंविहा उ णेया सव्वणयमतेण समयणीतीए ।
भावेण भाविएहिं सइ चरणगुणट्ठिया साहू ॥ ४३ ॥

ते पुनः समिता गुप्ताः प्रियदृढधर्मा जितेन्द्रियकषायाः ।
गम्भीरा धीमन्तः प्रज्ञापनीया महासत्त्वाः ॥ ४० ॥

उत्सर्गापवादयोः विज्ञायकाः सेवका यथाशक्तिः ।
भावविशुद्धिसमेता आज्ञारुचयश्च सम्यगिति ।। ४१ ।।

सर्वत्राप्रतिबद्धा मैत्र्यादिगुणान्विताश्च नियमेन ।
सत्त्वादिषु भवन्ति दृढमिति आयतमार्गतल्लिप्सा ।। ४२ ।।

एवंविधास्तु ज्ञेयाः सर्वनयमतेन समयनीत्या ।
भावेन भावितैः सकृत् चरणगुणस्थिताः साधवः ।। ४३ ।।

तीर्थङ्कर की आज्ञा में रहने वाले साधु पाँच समिति और तीन गुप्तियों से युक्त होते हैं। साधु धर्म के प्रति अनुरागी होते हैं। धर्म में दृढ़ होते हैं। इन्द्रियों और कषायों के विजेता होते हैं। गम्भीर होते हैं। बुद्धिमान होते हैं। प्रज्ञापनीय और महासत्त्व वाले होते हैं ।। ४० ।।

वे उत्सर्ग और अपवाद को जानने वाले तथा यथाशक्ति उनका पालन करने वाले होते हैं। विशुद्धभाव वाले होते हैं। स्वाग्रह से मुक्त होकर आगम के प्रति सम्मानभाव वाले होते हैं ।। ४१ ।।

द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि में प्रतिबन्धरहित, सभी जीवों, गुणाधिक जीवों, दु:खी जीवों और अविनीत जीवों पर क्रमशः मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य भावना वाले अवश्य होते हैं। वे उपर्युक्त जीवों में दृढ़ भावना वाले होते हैं। समिति-गुप्ति आदि से ज्ञानादि रूप मोक्षमार्ग की आराधना करने की इच्छा वाले होते हैं ।। ४२ ।।

शास्त्र से परमार्थ को जानने वालों को इस प्रकार हमेशा चारित्र गुणों में रहने वाले साधुओं को सभी नयों व शास्त्रानुसार साधु के रूप में जानना चाहिए ।। ४३ ।।

*ज्ञान-दर्शन के बिना चारित्र नहीं*

णाणम्मि दंसणम्मि य सति णियमा चरणमेत्थ समयम्मि ।
परिसुद्धं विण्णेयं णयमयभेया जओ भणियं ।। ४४ ।।

णिच्छयणयस्स चरणायविघाए णाणदंसणवहोऽवि ।
ववहारस्स उ चरणे हयम्मि भयणा उ सेसाणं ।। ४५ ।।

ज्ञाने दर्शने च सति नियमाच्चरणमत्र समये ।
परिशुद्धं विज्ञेयं नयमतभेदाद्यतो भणितम् ।। ४४ ।।

निश्चयनयस्य चरणात्मविघाते ज्ञानदर्शनवधोऽपि ।
व्यवहास्य तु चरणे हते भजना तु शेषाणाम् ।। ४५ ।।

ज्ञान और दर्शन के होने पर चारित्र अवश्य होता है, इसलिए चारित्र गुण में स्थित हैं — ऐसा कहने पर उनमें ज्ञान और दर्शन के अस्तित्व का बोध स्वत: ही हो जाता है। जहाँ विशुद्ध-चारित्र होता है वहाँ ज्ञान और दर्शन अवश्य होते हैं, क्योंकि निश्चय और व्यवहारनय की अपेक्षा से शास्त्र में कहा गया है कि निश्चयनय की दृष्टि से चारित्र का घात होने पर ज्ञान और दर्शन का भी घात हो जाता है और व्यवहारनय की दृष्टि से चारित्र का घात होने पर ज्ञान व दर्शन का घात हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। इसके अनुसार अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से चारित्र का विघात होने पर ज्ञान-दर्शन का भी घात होता है, किन्तु अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदय से चारित्र का विघात हो तो ज्ञान- दर्शन का विघात नहीं ही होता है, क्योंकि उसका उदय दर्शन का विघातक नहीं है ।। ४४-४५ ।।

*उक्त निश्चयनय के मन्तव्य का स्पष्टीकरण*

जो जहवायं ण कुणति मिच्छद्दिठ्ठी तओ हु को अण्णो ? ।
वड्ढेइ य मिच्छत्तं परस्य संकं जणेमाणो ।। ४६ ।।

यो यथावादं न करोति मिथ्यादृष्टिस्ततः खलु कोऽन्यः? ।
वर्धयति च मिथ्यात्वं परस्य शङ्कां जनयन् ।। ४६ ।।

निश्चयनय के अनुसार तो जो आप्तवचन को नहीं मानता है, उससे बढ़कर और कौन मिथ्यादृष्टि है ? अर्थात् आप्तवचन को नहीं मानने वाला ही सबसे बड़ा मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि आप्तवचनानुसार चारित्राराधन नहीं करने वाले को दर्शन नहीं होता है, इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है। इतना ही नहीं वह अपने दुराचरण से दूसरों की जिनप्रवचन के प्रति शंका पैदा करता है, जिससे मिथ्यात्व बढ़ता है ।। ४६ ।।

*व्यवहारनय के मन्तव्य का स्पष्टीकरण*

एवं च अहिनिवेसा चरणविघाए ण णाणमादीया ।
तप्पडिसिद्धासेवणमोहासद्दहणभावेहिं ।। ४७ ।।

अणभिनिवेसाओ पुण विवज्जया होंति तव्विघाओऽवि ।
तक्कज्जुवलंभाओ पच्छातावाइभावेण ।। ४८ ।।

एवञ्च अभिनिवेशाच्चरणविघाते न ज्ञानादयः ।
तत्प्रतिषिद्धासेवनमोहाश्रद्धानभावैः ।। ४७ ।।

अनभिनिवेशात् पुनर्विपर्ययाद् भवन्ति तद्विघातेऽपि ।
तत्कार्योपलम्भात् पश्चात्तापादिभावेन ।। ४८ ।।

जिस प्रकार निश्चयनय के अनुसार चारित्र का विघात होने पर ज्ञान-दर्शन का विघात अवश्य होता है, उसी प्रकार व्यवहारनय के अनुसार अनन्तानुबन्धी कषाय के कारण पृथ्वी को जीव न मानकर उसका आरम्भ करने रूप अभिनिवेश से चारित्र का विघात होता है तो ज्ञान और दर्शन का विघात होगा। प्रतिषिद्ध पृथ्वीकाय आदि सम्बन्धी आरम्भ करने से चारित्र का, अज्ञानता से ज्ञान का और अश्रद्धा से दर्शन का घात होता है ।। ४७ ।।

किन्तु किसी प्रकार के अभिनिवेश के बिना अनाभोग आदि के कारण विपरीत प्रवृत्ति होने से चारित्र का घात होने पर भी ज्ञान-दर्शन का घात नहीं होता है, क्योंकि वैसे जीवों में पश्चात्ताप आदि होने से ज्ञान-दर्शन का कार्य दिखलाई देता है। अर्थात् जो अनाभोग आदि के कारण निषिद्ध आचरण करते हैं वे पश्चात्ताप करते हैं और पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त और संवेग ज्ञान-दर्शन के कार्य के कार्य हैं। इसलिए यह विदित होता है कि अनाभोग से चारित्र का घात होने पर भी ज्ञान-दर्शन का घात नहीं होता है ।। ४८ ।।

*भाव साधु का स्वरूप*

तम्हा जहोइयगुणो आलयसुद्धाइलिंगपरिसुद्धो ।
पंकयणातादिजुओ विण्णेओ भावसाहुत्ति ।। ४९ ।।

तस्माद्यथोचितगुण आलयशुद्ध्यादिलिङ्गपरिशुद्धः ।
पङ्कजज्ञातादियुतो विज्ञेयो भावसाधुरिति ।। ४९ ।।

इसलिए जो पूर्वोक्त गुरुकुलवास रूप गुण से युक्त है, जिसमें सुविहित साधु के वसतिशुद्धि आदि लक्षण दिखते हैं तथा औपपातिकसूत्र में कमलपत्र आदि उदाहरणों के माध्यम से बतलाये गये भाव जिसमें हैं, उसे भाव साधु जानना चाहिए। सुविहित साधु के लक्षण इस प्रकार हैं —

१. वसतिशुद्धि — वसति का प्रमार्जन आदि ठीक करना या स्त्री, पशु आदि से रहित वसति में रहना।

२. विहारशुद्धि — शास्त्रोक्त मासकल्प आदि विधि से विहार करना।

३. स्थानशुद्धि — अविरुद्ध स्थान में कायोत्सर्ग करना।

४. गमनशुद्धि — युगप्रमाण दृष्टि रखकर चलना।

५. भाषाशुद्धि — विचार करके बोलना।

६. विनयशुद्धि — आचार्य आदि के प्रति विनीत होना।

कमलपत्र आदि का उदाहरण इस प्रकार है — भावसाधु काँसे के

बर्तन की तरह स्नेहरहित, कमलपत्र की तरह निरपेक्ष, शंख की तरह निरञ्जन, कछुए की तरह इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखने वाला आदि गुणों से युक्त होता है ॥ ४९ ॥

*साधु धर्म का फल*

एसो पुण संविग्गो संवेगं सेसयाण जणयंतो ।
कुग्गहविरहेण लहुं पावइ मोक्खं सयासोक्खं ॥ ५० ॥

एषः पुनः संविग्नः संवेगं शेषकाणां जनयन् ।
कुग्रहविरहेण लघु प्राप्नोति मोक्षं सदासौख्यम् ॥ ५० ॥

उक्त गुणोंवाला भावसाधु स्वयं संविग्न होता है। दूसरों के मन में अपने उपदेश और अच्छे आचरण से संवेग अर्थात् वैराग्यभाव उत्पन्न करता है। ऐसा साधु दुराग्रहों से रहित होने से जल्दी ही शाश्वत सुखवाले मोक्ष को प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

**॥ इति साधुधर्मविधिर्नाम एकादशं पञ्चाशकम् ॥**

# १२

# साधुसामाचारीविधि पञ्चाशक

नमिऊण महावीरं सामायारीं जतीण वोच्छामि ।
संखेवओ महत्थं दसविहमिच्छादिभेदेण ॥ १ ॥

नत्वा महावीरं सामाचारीं यतीनां वक्ष्यामि ।
संक्षेपतो महार्थां दशविधामिच्छादिभेदेन ॥ १ ॥

भगवान् महावीर स्वामी को नमस्कार करके साधुओं की इच्छाकार आदि दस प्रकार की महान् अर्थ वाली सामाचारी को संक्षेप में कहूँगा ॥ १ ॥

*सामाचारी के दस प्रकार*

इच्छा-मिच्छा-तहक्कारो आवस्सिया य णिसीहिया ।
आपुच्छणा य पडिपुच्छा छंदणा य णिमंतणा ॥ २ ॥

उपसंपया य काले सामायारी भवे दसविहा उ ।
एएसिं तु पयाणं पत्तेय परूवणा एसा ॥ ३ ॥

इच्छा-मिथ्या-तथाकार आवश्यकी च निषीधिका ।
आपृच्छना च प्रतिपृच्छा छन्दना च निमन्त्रणा ॥ २ ॥

उपसम्पदा च काले सामाचारी भवेद् दशविधा तु ।
एतेषां तु पदानां प्रत्येकं प्ररूपणा एषा ॥ ३ ॥

इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आवश्यिकी, निषीधिका, आपृच्छना, प्रतिपृच्छना, छन्दना, निमन्त्रणा और उपसम्पदा — ये सामाचारी के दस प्रकार हैं।

१. *इच्छाकार* — इच्छापूर्वक दूसरों से काम कराना या दूसरों का काम करना।

२. *मिथ्याकार* — गलती होने पर उसे स्वीकार करके पश्चात्तापपूर्वक 'मिच्छा मे दुक्कडं' (मिथ्या मे दुष्कृतम्) कहना।

३. *तथाकार* — गुरुजी जो कहें उसे स्वीकार करना।

४. *आवश्यिकी* — आवश्यक कार्य के लिए बाहर निकलते समय

'आवश्यक कार्य के लिए बाहर जा रहा हूँ' इसके सूचक के रूप में 'आवस्सहि' कहना।

५. *निषीधिका* — अशुभ प्रवृत्तियों का त्याग करके गुरु अथवा देव के अवग्रह में प्रवेश करना और उसका सूचक 'निसीहि' शब्द कहना।

६. *आपृच्छना* — कोई भी कार्य गुरु से पूछकर करना।

७. *प्रतिपृच्छना* — गुरु ने पहले जिस कार्य के लिए मना किया हो, बाद में उसको करने की आवश्यकता पड़ने पर गुरु से फिर पूछना।

८. *छन्दना* — आहार-पानी लाने के बाद गुरुजी से उसे स्वीकार करने हेतु निवेदन करना।

९. *निमन्त्रणा* — आहार-पानी लेने जाने के पहले गुरुजी से पूछना।

१०. *उपसम्पदा* — ज्ञानादि गुणों की आराधना के लिए गुरु की आज्ञा पूर्वक अन्य आचार्य के पास रहना।

उपर्युक्त सामाचारियों का यथासमय पालन करना चाहिए, क्योंकि यथासमय सामाचारी का पालन करने से ही वह फलदायी होती है। अब प्रत्येक सामाचारी का क्रमशः विस्तृत विवेचन किया जा रहा है ।। २-३ ।।

*इच्छाकार सामाचारी का विवरण*

अब्भत्थणाइ करणे कारवणेणं तु दोण्हऽवि उचिए ।
इच्छक्कारो कत्थइ गुरुआणा चेव य ठितित्ति ।। ४ ।।

अभ्यर्थनायां करणे कारणेन तु द्वयोरपि उचिते ।
इच्छाकारः क्वचिद् गुर्वाज्ञा चैव च स्थितिरिति ।। ४ ।।

दूसरों से कोई काम कराना हो या दूसरों का कोई काम करना हो तो 'यदि आपकी इच्छा हो तो करें' इस आशय का कथन अवश्य करना चाहिए, क्योंकि किसी की भी इच्छा के प्रतिकूल काम कराना या काम करना बलात्कार है, जो कि आप्तवचन के विरुद्ध है। बीमारी आदि विशेष परिस्थितियों में दूसरों से काम कराना या दूसरे का करना चाहिए। इसमें भी रत्नाधिक अर्थात् ज्ञान, दर्शन और चारित्र में अपने से ज्येष्ठ से काम नहीं करवाना चाहिए, क्योंकि वे पूज्य होते हैं और नवदीक्षित आदि साधुओं का कार्य करना चाहिए, क्योंकि नये होने के कारण उन्हें अमुक कार्य करना नहीं आता है, इसलिए उनकी इच्छा से उनका कार्य कर देना चाहिए।

इसमें मुख्य तीन बातें कही गयी हैं — १. अकारण दूसरों से काम नहीं कराना चाहिए या दूसरों का काम नहीं करना चाहिए। २. उनकी बिना इच्छा के

दूसरों से काम कराना या दूसरों का काम करना नहीं चाहिए। ३. रत्नाधिक से काम नहीं कराना चाहिए ॥ ४ ॥

*दूसरों से कार्य कराने सम्बन्धी स्पष्टीकरण*

सइ सामत्थे एसो णो कायव्वो विणाऽहियं कज्जं ।
अब्भत्थिएणवि विहा एवं खु जइत्तणं सुद्धं ॥ ५ ॥

सति सामर्थ्य एषो न कर्तव्यो विनाऽधिकं कार्यम् ।
अभ्यर्थितेनापि वृथैवं खलु यतित्वं शुद्धम् ॥ ५ ॥

कार्य करने की शक्ति हो तो दूसरों से वह कार्य न करवाकर स्वयं ही करना चाहिए। दूसरों से नहीं होने योग्य कार्य (ग्लानसेवा, व्याख्यानादि) स्वयं करने पड़ें तो वस्त्रपरिकर्म (वस्त्रसीना) आदि कार्य दूसरों से इच्छाकार के द्वारा करवाना चाहिए और दूसरे साधु को भी इनकार किये बिना उसे कर देना चाहिए। ऐसा करने से दोनों की साधुता शुद्ध बनती है, क्योंकि इससे वीर्याचार का पालन होता है ॥ ५ ॥

*दूसरे का कार्य न हो सकने और हो सकने की स्थिति में इच्छाकार सामाचारी का पालन करना चाहिए*

कारणदीवणयाइवि[१] पडिवत्तीइवि य एस कायव्वो ।
राइणियं वज्जेत्ता तगोचिए तम्मिवि तहेव ॥ ६ ॥

कारणदीपनायामपि प्रतिपत्तावपि च एषः कर्तव्यः ।
रात्निकं वर्जयित्वा तकोचिते तस्मिन्नपि तथैव ॥ ६ ॥

दूसरे का कार्य न कर सकने की स्थिति हो तो 'आपका कार्य करने की मेरी इच्छा तो है, परन्तु मैं वह कार्य करने में समर्थ नहीं हूँ', ऐसा कहना चाहिए और यदि कार्य कर सकने की स्थिति हो तो स्वीकार कर लेना चाहिए। दूसरों से कार्य करवाने की स्थिति हो तो रत्नाधिक को छोड़कर दूसरों से करवाना चाहिए। रत्नाधिक से नहीं करवाना चाहिए, क्योंकि वह पूज्य होता है। रत्नाधिक के योग्य कोई कार्य हो तो उसकी इच्छापूर्वक करवाना चाहिए ॥ ६ ॥

*इच्छाकार सामाचारी का फल*

एवं आणाऽऽराहणजोगाओ आभिओगियखओत्ति ।
उच्चागोयणिबंधो सासणवण्णो य लोगम्मि ॥ ७ ॥

---

१. '... दीवणएऽवि' इति पाठान्तरम्।

एवमाज्ञाऽऽराधनयोगाद् आभियोगिकक्षय इति ।
उच्चैर्गोत्रनिबन्धः शासनवर्णश्च लोके ।। ७ ।।

इस प्रकार इच्छाकार सामाचारो का पालन करने में 'किसी पर बलात्कार नहीं करना चाहिए' इससे आप्त की आज्ञा का पालन होता है। इस आज्ञा-पालन से निम्न लाभ होते हैं —

१. पराधीनताजनक कर्मों का नाश होता है।
२. उच्चगोत्र कर्म का बन्ध होता है और
३. लोक में जैनशासन के प्रति लोगों का सम्मान बढ़ता है ।। ७ ।।

*साधुओं की मर्यादा*

आणाबलाभिओगो णिग्गंथाणं ण कप्पती काउं ।
इच्छा पउंजियव्वा सेहे तह चेव राइणिए ।। ८ ।।

आज्ञाबलाभियोगो निर्ग्रन्थानां न कल्पते कर्तुम् ।
इच्छा प्रयोक्तव्या शैक्षे तथा चैव रात्निके ।। ८ ।।

आज्ञा और बलात्कार करना साधु का आचार नहीं है, क्योंकि इससे दूसरों को कष्ट होता है और पराधीनताजनक कर्मों का बन्ध होता है। दूसरों से कोई काम करवाने या करने की आवश्यकता पड़ने पर शैक्ष्य (नवदीक्षित) और रत्नाधिक के प्रति इच्छाकार का प्रयोग करना चाहिए ।। ८ ।।

*अपवाद से आज्ञा और बलात्कार भी किया जा सकता है*

जोग्गेऽवि अणाभोगा खलियम्मि खरंटणावि उचियत्ति ।
ईसिं पण्णवणिज्जे गाढाजोगे उ पडिसेहो ।। ९ ।।

योग्येऽपि अनाभोगात् स्खलिते खरण्टनापि उचितेति ।
ईषत् प्रज्ञापनीये गाढायोग्ये तु प्रतिषेधः ।। ९ ।।

कल्याण और उपदेश के योग्य गुणी साधु को अनुपयोग के कारण स्खलित होने पर उलाहना देना भी उचित है, अर्थात् उसे आज्ञा से या बलपूर्वक भी मार्ग में लाना उचित है। ध्यान रहे कि उसे अधिक उलाहना भी न दें। अत्यधिक अयोग्य जीव को तो उलाहना देना ही नहीं चाहिए ।। ९ ।।

*मिथ्याकार सामाचारी का विवेचन*

संजमजोगे अब्भुट्ठियस्स जं किंचि वितहमायरियं ।
मिच्छा एतंति वियाणिऊण तं दुक्कडं देयं ।। १० ।।

संयमयोगे अभ्युत्थितस्य यत्किञ्चिद्वितथमाचरितम् ।
मिथ्या एतदिति विज्ञाय तद्दुष्कृतं देयम् ।। १० ।।

समिति-गुप्ति आदि रूप चारित्र के व्यापार में प्रवृत्त जीव से यदि कोई छोटी-बड़ी गलती हुई हो तो, यह गलत है — ऐसा जानकर उसे दुष्कृत देना चाहिए अर्थात् उससे 'मिच्छा मे दुक्कडं' कहना चाहिए ।। १० ।।

*मिथ्या दुष्कृत देने के भाव*

सुद्धेणं भावेणं अपुणकरणसंगतेण तिव्वेणं ।
एवं तक्कम्मखओ एसो से अत्थणाणंमि ।। ११ ।।

शुद्धेन भावेन अपुनःकरणसंगतेन तीव्रेण ।
एवं तत्कर्मक्षय एषः तस्य अर्थज्ञाने ।। ११ ।।

यह गलती फिर नहीं करूँगा — ऐसे तीव्र और शुभभाव से 'मिच्छा मे दुक्कडं' देना चाहिए। मिथ्या दुष्कृत देने से कर्मक्षय होता है।

यहाँ तीव्र शब्द का अभिप्राय यह है कि — जितने भाव से भूल की हो उससे अधिक शुभभाव से मिथ्या दुष्कृत देना चाहिए, क्योंकि तभी कर्मक्षय होता है। उतने तीव्रभाव 'मिच्छा मे दुक्कडं' पद का अर्थ जानने पर होता है ।। ११ ।।

*मिच्छामि दुक्कडं पद का अर्थ*

मित्ति मिउमद्दवत्ते छत्ति उ दोसाण छादणे होति ।
मेत्ति य मेराएँ ठिओ दुत्ति दुगुंछामि अप्पाणं ।। १२ ।।
कत्ति कडं मे पावं डत्ति य डेवेमि तं उवसमेणं ।
एसो मिच्छादुक्कडपयक्खरत्थो समासेणं ।। १३ ।।

'मि' इति मृदुमार्दवत्वे 'छा' इति तु दोषाणां छादने भवति ।
'मे' इति च मर्यादायां स्थितो 'दु' इति जुगुप्सामि आत्मानम् ।। १२ ।।
'क' इति कृतं मे पापं 'ड' इति च डिये तदुपशमेन ।
एष मिथ्यादुष्कृतपदाक्षरार्थः समासेन ।। १३ ।।

'मिच्छामि दुक्कडं' पद में मि, च्छा, मि, दु, क्क और डं — ये छह अक्षर हैं। इनके अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं — मि – मृदुता (नम्रता), च्छा – दोषों का छादन करना (फिर नहीं होने देना), मि – मर्यादा में, दु – दुष्कृत करने वाली आत्मा की निन्दा करता हूँ। इनका सामूहिक अर्थ इस प्रकार है — काया और भाव से नम्र बनकर 'भूल फिर से नहीं करूँ' ऐसे भाव से मर्यादित मैं दुष्कृत करने वाली अपनी आत्मा की निन्दा करता हूँ।

'क्क' — मैंने पाप किया इसका स्वीकार करना। 'ड' — उपशम से पाप को लाँघ जाता हूँ। अर्थात् मैंने पाप किया है — यह स्वीकार करता हूँ और उपशमभाव से पूर्वकृत पापों से रहित बन जाता हूँ। यह 'मिच्छामि दुक्कडं' पद के अक्षरों का संक्षिप्त अर्थ है ॥ १२-१३ ॥

*तथाकार सामाचारी*

कप्पाकप्पे परिणिट्ठियस्स ठाणेसु पंचसु ठियस्स ।
संयमतवड्ढगस्स उ अविगप्पेणं तहक्कारो ॥ १४ ॥

कल्पाकल्पे परिनिष्ठितस्य स्थानेषु पञ्चसु स्थितस्य ।
संयमतपाऽऽढ्यकस्य तु अविकल्पेन तथाकारः ॥ १४ ॥

कल्प और अकल्प (आगम में बताये गये जिनकल्प, स्थविरकल्प आदि कल्प और चरकादि अकल्प या ग्राह्य और अग्राह्य) में पूर्ण ज्ञानवाले, पाँच महाव्रतों का यथोचित पालन करने वाले तथा संयम और तप से परिपूर्ण मुनियों के आगे निःशंक होकर तथाकार करना चाहिए। अर्थात् 'आप जो कहते हैं वही सत्य है'— इसका सूचक 'तहत्ति' शब्द कहना चाहिए ॥ १४ ॥

*तहत्ति कहने का समय*

वायणपडिसुणणाए उवएसे सुत्तअट्ठकहणाए ।
अवितहमेयंति तहा अविगप्पेणं तहक्कारो ॥ १५ ॥

वाचनाप्रतिश्रवणायामुपदेशे सूत्रार्थकथनायाम् ।
अवितथमेतदिति तथा अविकल्पेन तथाकारः ॥ १५ ॥

सूत्र की वाचना सुनते समय, आचार सम्बन्धी उपदेश के समय और सूत्रार्थ के व्याख्यान के समय गुरु के सामने निःशंक रूप से 'तहत्ति' (तथेति) कहना चाहिए ॥ १५ ॥

*उक्त प्रकार के गुरु के अभाव में क्या करना चाहिए*

इयरम्मि विगप्पेणं जं जुत्तिखमं तहिं ण सेसम्मि ।
संविग्गपक्खिए वा गीए सव्वत्थ इयरेण ॥ १६ ॥

इतरस्मिन् विकल्पेन यद् युक्तिक्षमं तस्मिन्न शेषे ।
संविग्नपाक्षिके वा गीते सर्वत्र इतरेण ॥ १६ ॥

पूर्वोक्त ज्ञान सम्पत्ति आदि गुणों से रहित गुरु यदि कुछ कहे तो 'तहत्ति' कहना भी चाहिए और नहीं भी कहना चाहिए। गुरु के जो वचन युक्तियुक्त हों उनके लिए 'तहत्ति' कहना चाहिए, जो युक्तियुक्त न हों उनके लिए नहीं कहना

चाहिए अथवा संविग्नपाक्षिक गीतार्थ 'युक्तियुक्त या युक्तिरहित' कुछ भी कहें तो 'तहत्ति' कहना चाहिए, किन्तु अगीतार्थ के वचन में 'तहत्ति' नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वह अज्ञानता के कारण असत्य वचन कहेगा — ऐसी सम्भावना होती है ।। १६ ।।

*गुणसम्पन्न गुरु के वचन में तहत्ति नहीं कहने में मिथ्यात्व*

संविग्गोऽणुवएसं ण देइ दुब्भासियं कडुविवागं ।
जाणंतो तम्मि तहा अतहक्कारो उ मिच्छत्तं ।। १७ ।।

संविग्नोऽनुपदेशं न ददाति दुर्भाषितं कटुविपाकम् ।
जानन् तस्मिस्तथा अतथाकारस्तु मिथ्यात्वम् ।। १७ ।।

संविग्न (भवभीरु) गुरु यह जानता है कि दुर्भाषित — आगमविरुद्ध उपदेश देने से मारीचि के भव में भगवान् महावीर की तरह कटु फल मिलता है इसलिए वह कभी भी आगमविरुद्ध उपदेश नहीं देता है। अतएव संविग्न और संविग्नपाक्षिक गुरु के वचन के लिए निःशंक होकर 'तहत्ति' न कहना मिथ्यात्व है ।। १७ ।।

*आवश्यिकी सामाचारी का स्वरूप*

कज्जेणं गच्छंतस्स गुरुणिओएण सुत्तणीईए ।
आवस्सियत्ति णेया सुद्धा अण्णत्थजोगाओ ।। १८ ।।

कार्येण गच्छतो गुरुनियोगेन सूत्रनीत्या ।
आवश्यिकीति ज्ञेया शुद्धा अन्वर्थयोगात् ।। १८ ।।

ज्ञानादि कार्य के लिए गुरु की आज्ञा से आगमोक्त ईर्यासमिति आदि का विधिपूर्वक पालन करते हुए वसति से बाहर निकलते हुए साधु की आवश्यिकी शुद्ध जानना चाहिए, क्योंकि उसमें आवश्यिकी शब्द का अर्थ घटित होता है ।। १८ ।।

*किस कार्य के लिए बाहर निकलना चाहिए*

कज्जंपि णाणदंसणचरित्तजोगाण साहगं जं तु ।
जइणो सेसमकज्जं ण तत्थ आवस्सिया सुद्धा ।। १९ ।।

कार्यमपि ज्ञानदर्शनचारित्रयोगानां साधकं यत्तु ।
यतेः शेषमकार्यं न तत्र आवश्यिकी शुद्धा ।। १९ ।।

यहाँ साधु के जो कार्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र साधक हों, वही तथा

भिक्षाटन आदि कार्य आवश्यक कार्य हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कार्य अकार्य हैं। इसलिए ज्ञानादि साधक कार्य के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य के लिए बाहर जाने वाले साधु की आवश्यिकी शुद्ध नहीं है, क्योंकि उसमें आवश्यिकी शब्द का अर्थ घटित नहीं होता है ।। १९ ।।

*निष्कारण बाहर जाने वाले की आवश्यिकी का स्वरूप*

वइमेत्तं णिव्विसयं दोसाय मुसत्ति एव विण्णेयं ।
कुसलेहिं वयणाओ वइरेगेणं जओ भणियं ।। २० ।।

आवस्सिया उ आवस्सिएहिं सव्वेहिं जुत्तजोगस्स ।
एयस्सेसो उचिओ इयरस्स ण चेव णत्थित्ति ।। २१ ।।

वाङ्मात्रं निर्विषयं दोषाय मृषेति एव विज्ञेयम् ।
कुशलैः वचनाद् व्यतिरेकेण यतः भणितम् ।। २० ।।
आवश्यिकी तु आवश्यकैः सर्वै युक्तयोगस्य ।
एतस्यैष उचित इतरस्य न चैव नास्तीति ।। २१ ।।

निष्कारण बाहर जाने वाले साधु की आवश्यिकी निरर्थक होने से शब्दोच्चारण मात्र है। मात्र शब्दोच्चारण रूप आवश्यिकी मृषावाद होने के कारण कर्मबन्ध रूप दोष का कारण है। यह तथ्य निपुण पुरुषों को आगम से जानना चाहिए। यह तथ्य सामायिक निर्युक्ति में विस्तार से कहा गया है ।। २० ।।

वह इस प्रकार है —

जिस साधु के कायादियोग प्रतिक्रमण आदि सभी आवश्यकों से युक्त हैं, उस साधु की गुर्वाज्ञापूर्वक बाहर जाते समय आवश्यिकी शुद्ध है, क्योंकि वैसे साधुओं की प्रवृत्ति में आवश्यिकी शब्द का अर्थ घटित होता है। इसके विपरीत साधु की आवश्यिकी अशुद्ध है — मात्र शब्दोच्चारण रूप है, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति में आवश्यिकी शब्द का अर्थ घटित नहीं होता है ।। २१ ।।

*नैषेधिकी सामाचारी का स्वरूप*

एवोग्गहप्पवेसे णिसीहिया तह णिसिद्धजोगस्स ।
एयस्सेसो उचिओ इयरस्स ण चेव नत्थित्ति ।। २२ ।।

एवमवग्रहप्रवेशे निषीधिका तथा निषिद्धयोगस्य ।
एतस्यैष उचित इतरस्य न चैव नास्तीति ।। २२ ।।

जिस प्रकार ज्ञानादि कार्य के लिए वसति से बाहर निकलते समय

आवश्यिकी सामाचारी है, उसी प्रकार देव-गुरु के अवग्रह अर्थात् स्थान में प्रवेश करते समय निषीधिका सामाचारी है। अर्थात् देव-गुरु के अवग्रह में प्रवेश करते समय अशुभ-व्यापार के त्याग का सूचक 'निसीहि' शब्द बोलना चाहिए। अशुभ-व्यापार का त्याग करने वाले में 'निसीहि' शब्द का अर्थ घटित होता है। अशुभ व्यापार का त्याग नहीं करने वाले के लिए निषीधिका (निसीहि) शब्द संगत नहीं है, क्योंकि उसमें 'निसीहि' शब्द का अर्थ घटित नहीं होता है। अत: अवग्रह में प्रवेश के समय अशुभ-व्यापार का त्याग करना और उसके सूचक 'निसीहि' शब्द का उच्चारण करना नैषेधिकी है ।। २२ ।।

*देव-गुरु के अवग्रह में प्रवेश करते समय निसीहि कहने का कारण*

गुरुदेवोग्गहभूमीएँ जत्तओ चेव होति परिभोगो ।
इट्ठफलसाहगो सइ अणिट्ठफलसाहगो इहरा ।। २३ ।।
एत्तो ओसरणादिसु दंसणमेत्ते गयादिओसरणं ।
सुव्वइ[1] चेइयसिहराइएसु सुस्सावगाणंपि ।। २४ ।।

गुरुदेवावग्रहभूम्या यत्नत एव भवति परिभोग: ।
इष्टफलसाधक: सकृद् अनिष्टफलसाधक इतरथा ।। २३ ।।
यत अवसरणादिषु दर्शनमात्रे गजाद्यपसरणम् ।
श्रूयते चैत्यशिखरादिकेषु सुश्रावकानामपि ।। २४ ।।

गुरुदेव की अवग्रहभूमि का परिभोग हमेशा ऐसी सावधानीपूर्वक किया जाये कि आशातना न हो तो ही अभीष्ट फलदायी होता है, अन्यथा अनिष्ट फलदायी तथा कर्मबन्ध का कारण बनता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि गुरु जहाँ बैठे हों उस स्थान के चारों ओर शरीर प्रमाण गुरु का अवग्रह है और देव का अवग्रह उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का होता है। उत्कृष्ट अवग्रह चारों ओर साठ हाथ प्रमाण, मध्यम नौ एवं साठ हाथ के बीच और जघन्य नौ हाथ प्रमाण होता है ।। २३ ।।

आशातनारहित सावधानीपूर्वक गुरुदेव के अवग्रह का परिभोग इष्ट फलदायी होता है, इसलिए जब सुश्रावक भी समवसरण में जाते हैं तब महेन्द्रध्वज, चामर आदि को तथा जब मन्दिर में जाते हैं तब शिखर, कलश आदि को देखते ही अपने हाथी, अश्व या पालकी से नीचे उतर जाते हैं — ऐसा सुना जाता है। इसलिए साधु को भी गुरु अवग्रह में जाते समय सावधानी रखनी चाहिए ।। २४ ।।

---

१. 'सुच्चइ' इति पाठान्तरम् ।

*किसकी 'निसीहि' भावपूर्वक होती है ?*

जो होइ निसिद्धप्पा णिसीहिया तस्स भावतो होइ ।
अणिसिद्धस्स उ एसा वइमेत्तं चेव दट्ठव्वा ।। २५ ।।

यः भवति निषिद्धात्मा निषीधिका तस्य भावतो भवति ।
अनिषिद्धस्य तु एषा वाङ्मात्रमेव द्रष्टव्या ।। २५ ।।

जो साधु सावद्ययोग से रहित है, उसी की निषीधिका भावपूर्वक होती है। सावद्ययोग सहित साधु की 'निसीहि' शब्दोच्चारण मात्र है ।। २५ ।।

*आपृच्छना सामाचारी*

आउच्छणा उ कज्जे गुरुणो गुरुसम्मयस्स वा णियमा ।
एवं खु तयं सेयं जायति सति णिज्जराहेऊ ।। २६ ।।

आपृच्छना तु कार्ये गुरोर्गुरुसम्मतस्य वा नियमात् ।
एवं खलु तकं श्रेयः जायते सकृत् निर्जराहेतुः ।। २६ ।।

ज्ञान आदि सम्बन्धी कार्य गुरु अथवा गुरु को सम्मत स्थविर आदि से पूछकर करना आपृच्छना सामाचारी है। ऐसा कार्य करना श्रेयस्कर और कर्मनिर्जरा का हेतु है ।। २६ ।।

*श्रेयस्कर होने का कारण*

सो विहिनाया तस्साहणंमि तज्जाणणा सुणायंति ।
सन्नाणा पडिवत्ती सुहभावो मंगलो तत्थ ।। २७ ।।

इट्ठपसिद्धऽणुबंधो धण्णो पावखयपुण्णबंधाओ ।
सुहगइगुरुलाभाओ एवं चिय सव्वसिद्धित्ति ।। २८ ।।

स विधिज्ञाता तत्साधने तज्ज्ञानात् सुज्ञातमिति ।
स्वज्ञानात् प्रतिपत्तिः शुभभावो मङ्गलस्तत्र ।। २७ ।।

इष्टप्रसिद्धानुबन्धो धन्यः पापक्षयपुण्यबन्धात् ।
शुभगतिगुरुलाभादेवमेव सर्वसिद्धिरिति ।। २८ ।।

गुरु अथवा गुरु को मान्य स्थविर आदि वस्त्रप्रक्षालनादि कार्यों की विधि के ज्ञाता होते हैं। वस्त्र प्रक्षालनादि करते समय उनसे इसकी विधि जानने को मिलती है। वस्त्रप्रक्षालनादि की विधि स्वयं जान लेने से उस विधि से कार्य करने पर जीवरक्षा होती है। जीवरक्षा होने से गुरु और जिन के प्रति विश्वसनीयता बढ़ती है। ऐसी विश्वसनीयता शुभभाव है। कार्य में प्रवृत्ति करने वाले का शुभभाव मंगल रूप है ।। २७ ।।

गुरु से पूछकर कार्य करने से अच्छी तरह कार्यसिद्धि होने पर वर्तमान भव में पापकर्मों का नाश होता है और पुण्यकर्मों का बन्ध होता है तथा आगामी भव में शुभगति और सद्गुरु का लाभ होता है। इससे वाञ्छित कार्यों का प्रशस्त अनुबन्ध होता है और इसी प्रकार अन्य सभी कार्यों की सिद्धि होती है ।। २८ ।।

*गुरु से पूछे बिना कोई कार्य नहीं होना चाहिए*

इहरा विवज्जतो खलु इमस्स सव्वस्स होइ जं तेणं ।
बहुवेलाइकमेणं सव्वत्थाऽऽपुच्छणा भणिया ।। २९ ।।

इतरथा विपर्ययः खलु अस्य सर्वस्य भवति यत्तेन ।
बहुवेलादिक्रमेण सर्वत्राऽऽपृच्छना भणिता ।। २९ ।।

गुरु या गुरु को सम्मत स्थविर से पूछे बिना कार्य करने पर उपर्युक्त सभी लाभों से विपरीत परिणाम होता है, इसलिए साधु को प्रत्येक कार्य करने से पूर्व आपृच्छना करनी चाहिए। उन्मेष, निमेष, श्वासोच्छ्वास आदि सामान्य कार्य बार-बार पूछना असम्भव होने के कारण (सुबह एक बार) बहुवेलादि आदेश से पूछ लिया जाता है ।। २९ ।।

*प्रतिपृच्छा सामाचारी*

पडिपुच्छणा उ कज्जे पुव्वणिउत्तस्स करणकालम्मि ।
कज्जंतरादिहेउं णिद्दिट्ठा समयकेऊहिं ।। ३० ।।

प्रतिपृच्छना तु कार्ये पूर्वनियुक्तस्य करणकाले ।
कार्यान्तरादिहेतोः निर्दिष्टा समयकेतुभिः ।। ३० ।।

गुरु के द्वारा पहले कहे गये कार्य को प्रारम्भ करते समय 'आपने जो कार्य पहले करने को कहा था उसे मैं करने जा रहा हूँ', ऐसा फिर से पूछना प्रतिपृच्छना कहलाता है। फिर से पूछने का कारण यह है कि पहले कहे हुए कार्य के अतिरिक्त दूसरे भी कार्य करने होते हैं। अथवा पहले कहा हुआ कार्य नहीं भी करना होता है। इसलिए कार्य करते समय फिर से पूछना चाहिए ।। ३० ।।

*प्रतिपृच्छना करने का कारण*

कज्जंतरं ण कज्जं तेणं कालंतरे व कज्जंति ।
अण्णो वा तं काहिति कयं व एमाइया हेऊ ।। ३१ ।।

अहवावि पवित्तस्सा तिवारखलणाएँ विहिपओगेऽवि ।
पडिपुच्छणत्ति नेया तहिं गमणं सउणवुड्ढीए ।। ३२ ।।

कार्यान्तरं न कार्यं तेन कालान्तरे वा कार्यमिति ।
अन्यो वा तत् करिष्यति कृतं वा एवमादयो हेतवः ।। ३१ ।।
अथवाऽपि प्रवृत्तस्य त्रिवारस्खलनायां विधिप्रयोगेऽपि ।
प्रतिपृच्छनेति ज्ञेया तस्मिन् गमनं शकुनवृद्ध्या ।। ३२ ।।

शिष्य के द्वारा पुनः पूछने पर गुरु दूसरा कार्य करने को कह सकते हैं या पहले कहे हुए कार्य का निषेध कर सकते हैं या बाद में करने को कह सकते हैं या दूसरा शिष्य करेगा — ऐसा कह सकते हैं या दूसरे साधु ने उसे कर लिया है — ऐसा कह सकते हैं या पहले कहे हुए कार्य के विषय में कुछ नई सूचना दे सकते हैं। प्रतिपृच्छना करने के लिए ऐसे अनेक कारण होते हैं ।। ३१ ।।

कहे हुए कार्य को करने हेतु जाते समय साधु को यदि अपशकुन के कारण वापस आना पड़े तो उसे विधिप्रयोग करना चाहिए। वह इस प्रकार है — एक बार वापस आना पड़े तो आठ उच्छ्वास (एक नवकार) के बराबर कायोत्सर्ग करना चाहिए। दूसरी बार वापिस आना पड़े तो सोलह उच्छ्वासों (दो नवकारों) के बराबर और तीसरी बार वापिस आना पड़े तो संघाटक के रूप में बड़े साधु को ले जाना चाहिए। इसी प्रकार तीन बार वापस आना पड़े तो फिर से गुरु से पूछना चाहिए — यही प्रतिपृच्छना सामाचारी है। गुरु से फिर से पूछकर शकुन होने पर कार्य के लिए जाना चाहिए ।। ३२ ।।

*प्रतिपृच्छा में मतान्तर*

पुव्वणिसिद्धे अण्णे पडिपुच्छा किल उवट्ठिए कज्जे ।
एवंपि नत्थि दोसो उस्सग्गाईहिं धम्मठिई ।। ३३ ।।
पूर्वनिषिद्धे अन्ये प्रतिपृच्छा किल उपस्थिते कार्ये ।
एवमपि नास्ति दोष उत्सर्गादिभिः धर्मस्थितिः ।। ३३ ।।

कुछ आचार्य कहते हैं कि पहले गुरु ने जिस काम को करने से मना किया था, उस काम को करने की आवश्यकता पड़ने पर गुरु से फिर से पूछना प्रतिपृच्छना सामाचारी है।

**प्रश्न :** गुरुजी ने जिस काम को अनुचित होने के कारण मना किया है, उसे करने के लिए फिर से पूछने में दोष क्यों नहीं है ?

**उत्तर :** इसमें दोष नहीं है, क्योंकि धर्मव्यवस्था उत्सर्ग और अपवाद से है। उत्सर्ग से जो कार्य पहले करने योग्य नहीं था वह परिस्थिति विशेष के कारण बाद में करने लायक हो सकता है, इसलिए पहले मना किये गये कार्य को करने के लिए गुरु से फिर से पूछा जा सकता है, इसमें दोष नहीं है ।। ३३ ।।

*छन्दना सामाचारी*

पुव्वगहिएण छंदण गुरुआणाए जहारिहं होति ।
असणादिणा उ एसा णेयेह विसेसविसउत्ति ।। ३४ ।।

पूर्वगृहीतेन छन्दना गुर्वाज्ञया यथार्हं भवति ।
अशनादिना तु एषा ज्ञेयेह विशेषविषय इति ।। ३४ ।।

सर्वप्रथम भिक्षा में लाये हुए भोजनादि हेतु गुरु की आज्ञा से बाल, ग्लान आदि को योग्यता के अनुसार निमन्त्रण देना छन्दना सामाचारी है। मंडली में भोजन नहीं करने वाले विशिष्ट प्रकार के साधु को ही इस सामाचारी का पालन करना होता है ।। ३४ ।।

*किस प्रकार के साधु छन्दना करें ?*

जो अत्तलद्धिओ खलु विसिट्ठखमगो व पारणाइत्तो ।
इहरा मंडलिभोगो जतीणँ[1] तह एगभत्तं च ।। ३५ ।।

यो आत्मलब्धिकः खलु विशिष्टक्षपको वा पारणकवान् ।
इतरथा मण्डल्यभोगो यतीनां तथा एकभक्तञ्च ।। ३५ ।।

जो आत्मलब्धिक (स्वयं के द्वारा ही प्राप्त किये हुए भोजन को करने वाला) हो, जो अट्ठम आदि विशिष्ट तप करता हो, पारणा करने वाला हो, जो असहिष्णुता के कारण मण्डली से अलग भोजन करने वाला हो वही साधु छन्दना सामाचारी करता है। इसके अतिरिक्त दूसरे साधु मण्डली में ही एकाशन करते हैं, इसलिए उनके पास पहले लाया हुआ भोजन न होने से उसकी छन्दना सामाचारी नहीं होती है ।। ३५ ।।

*आत्मलब्धिक आदि साधु को छन्दना सामाचारी क्यों होती है*

नाणादुवग्गहे सति अहिगे गहणं इमस्सऽणुण्णायं ।
दोण्हवि इट्ठफलं तं अतिगंभीराण धीराण ।। ३६ ।।

ज्ञानाद्युपग्रहे सति अधिके ग्रहणमस्यानुज्ञातम् ।
द्वयोरपि इष्टफलं तदतिगम्भीरयो धीरयोः ।। ३६ ।।

दूसरे साधुओं की ज्ञानादि गुणों की वृद्धि होती हो तो आत्मलब्धिक आदि साधुओं को यह छूट है कि वे अपनी आवश्यकता से अधिक आहार लायें। निमन्त्रण करके देने और लेने से दोनों को अभीष्ट-फल की प्राप्ति होती है। किन्तु वे दोनों अति गम्भीर और धैर्यवान् होने चाहिए ।। ३६ ।।

---

१. 'जतीएँ' इति पाठान्तरम् ।

*कोई न ले तो भी छन्दना करने वाले को लाभ*

गहणेऽवि णिज्जरा खलु अग्गहणेऽवि य दुहावि बंधो य ।
भावो एत्थ णिमित्तं आणासुद्धो असुद्धो य ।। ३७ ।।

ग्रहणेऽपि निर्जरा खलु अग्रहणेऽपि च द्विधापि बन्धश्च ।
भावोऽत्र निमित्तम् आज्ञाशुद्धोऽशुद्धश्च ।। ३७ ।।

छन्दना करने से कोई साधु आहार ग्रहण करे तो भी निर्जरा होती है और ग्रहण न करे तो भी निर्जरा होती है। इसी प्रकार छन्दना न करने से कोई साधु आहार ले तो भी कर्मबन्ध होता है और न ले तो भी। इसमें भाव (आत्मपरिणाम) कारण है। शास्त्रानुसार शुद्धभाव निर्जरा का कारण है और शास्त्रानुसार ही अशुद्ध-भाव बन्ध का कारण है। इसलिए छन्दना करने से साधु आहार ले या न ले, लेकिन यदि उसका भाव शास्त्रानुसार शुद्ध है तो निर्जरा होगी और अशुद्ध है तो बन्ध होगा ।। ३७ ।।

*निमन्त्रण सामाचारी*

सज्झायादुव्वाओ गुरुकिच्चे सेसगे असंतम्मि ।
तं पुच्छिऊण कज्जे सेसाण णिमंतणं कुज्जा ।। ३८ ।।

स्वाध्यायादिपरिश्रान्तः (सन्) गुरुकृत्ये शेषकेऽसति ।
तं पृष्ट्वा कार्ये शेषाणां निमन्त्रणं कुर्यात् ।। ३८ ।।

स्वाध्याय आदि से ऊब जाये तो गुरु का वस्त्रपरिकर्म आदि कार्य करना चाहिए। यदि ऐसा कोई काम शेष न हो तो गुरु से पूछकर अन्य साधुओं को उनके लिए आहार लाने के लिए निमन्त्रण देना चाहिए, अर्थात् उनसे कहना चाहिए कि मैं आप लोगों के लिए आहार लेने जाता हूँ ।। ३८ ।।

*साधु को किसी न किसी कार्य में लगे रहना चाहिए*

दुलहं खलु मणुयत्तं जिणवयणं वीरियं च धम्मम्मि ।
एयं लद्धूण सया अपमाओ होइ कायव्वो ।। ३९ ।।

दुग्गतरयणायर - रयणगहणतुल्लं जईण किच्चंति ।
आयति - फलमद्धुव - साहणं च णिउणं मुणेयव्वं ।। ४० ।।

दुर्लभं खलु मनुजत्वं जिनवचनं वीर्यञ्च धर्मे ।
एतल्लब्ध्वा सदा अप्रमादो भवति कर्तव्यः ।। ३९ ।।
दुर्गत-रत्नाकर-रत्नग्रहणतुल्यं यतीनां कृत्यमिति ।
आयतिफलमध्रुवसाधनञ्च निपुणं ज्ञातव्यम् ।। ४० ।।

मनुष्यभव, जिनवचन और धर्म में पुरुषार्थ दुर्लभ है, इसलिए इन तीनों को पाकर धर्मकार्य में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए ।। ३९ ।।

१. साधुओं के कार्य मणियों के उत्पत्तिस्थान में गये हुए निर्धन के रत्नग्रहण के समान है। जिस प्रकार रत्न की खान में गये हुए निर्धन की रत्नों को लेने की इच्छा अविच्छिन्न होती है, उसी प्रकार चारित्रसम्पन्न साधु की वैयावृत्य आदि करने की सतत इच्छा होती है।

२. साधुओं के कर्तव्यों का फल भविष्य में मिलता है, जबकि रत्नों का फल तो वर्तमान में मिलता है। किन्तु वर्तमान से भविष्य में अधिक होता है। इसलिए वर्तमानकालिक रत्नों की प्राप्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण भविष्यकालिक साधुकर्तव्य हैं। साधुकर्तव्यों के साधन (मनुष्यभव, आर्यक्षेत्र, आर्यजाति आदि) अनित्य हैं — यह स्पष्टतया जानना चाहिए ।। ४० ।।

*किसी कारणवश गुरु से पूछे बिना निमन्त्रण कर दिया हो तो क्या करें*

इयरेसिं अक्खित्ते गुरुपुच्छाए णिओगकरणंति ।
एवमिणं परिसुद्धं वेयावच्चे तु अकएऽवि ।। ४१ ।।

इतरेषामाक्षिप्ते गुरुपृच्छाया: नियोगकरणमिति ।
एवमिदं परिशुद्धं वैयावृत्ये तु अकृतेऽपि ।। ४१ ।।

गुरु से पूछे बिना गुरु को छोड़कर अन्य साधुओं को निमन्त्रण दे दिया हो तो आहार लाने के पहले गुरु से अवश्य पूछ लेना चाहिए। इससे बाकी के साधुओं को किया गया निमन्त्रण निर्दोष ही बनता है (इसका कारण इसी प्रकरण की सत्ताइसवीं-अट्ठाइसवीं गाथाओं में बतला दिया है)।

**प्रश्न :** निमन्त्रण के बाद गुरुजी से पूछने पर यदि वे लाने की आज्ञा न दें तो निमन्त्रण निष्फल हो जायेगा — ऐसी स्थिति में आप निर्दोष कैसे रहेंगे ?

**उत्तर :** आहारादि दान रूप वैयावृत्य बाह्य से नहीं करने पर भी भाव से तो किया है, पुन: गुर्वाज्ञा पालन में भी महान् लाभ है। गुरु भी अनावश्यक इनकार नहीं करेंगे, महत्त्वपूर्ण कारण होने पर ही इनकार करेंगे, इसलिए निमन्त्रण के पश्चात् भी गुरु से पूछने से वह निमन्त्रण निर्दोष हो जाता है ।। ४१ ।।

*उपसम्पदा सामाचारी*

उवसंपया य तिविहा णाणे तह दंसणे चरित्ते य ।
दंसणणाणे तिविहा दुविहा य चरित्तमट्ठाए ।। ४२ ।।

उपसम्पदा च त्रिविधा ज्ञाने तथा दर्शने चारित्रे च ।
दर्शनज्ञानयोर्त्रिविधा द्विविधा च चरित्रार्थाय ।। ४२ ।।

ज्ञानादि के लिए गुरु से भिन्न अन्य आचार्य के पास जाकर आत्मसमर्पणपूर्वक उनके पास रहने रूप) उपसम्पदा सामाचारी तीन प्रकार की होती है — ज्ञानसम्बन्धी, दर्शनसम्बन्धी और चारित्रसम्बन्धी। ज्ञानसम्बन्धी और दर्शनसम्बन्धी उपसम्पदा भी पुनः तीन-तीन प्रकार की है और चारित्रसम्बन्धी उपसम्पदा दो प्रकार की है ।। ४२ ।।

*उपसम्पदा के अवान्तर भेद*

वत्तण-संधण-गहणे सुत्तत्थोभयगया उ एसत्ति ।
वेयावच्चे खमणे काले पुण आवकहियादी ।। ४३ ।।

वर्तन-सन्धान-ग्रहणे सूत्रार्थोभयगता तु एषेति ।
वैयावृत्ये क्षपणे काले पुनर्यावत्कथिक्यादि ।। ४३ ।।

ज्ञानसम्बन्धी उपसम्पदा के सूत्रसम्बन्धी, अर्थसम्बन्धी और सूत्रार्थ सम्बन्धी — ये तीन भेद हैं। इन तीन भेदों के परावर्तन, अनुसन्धान और ग्रहण ये तीन उपभेद हैं। इस प्रकार ज्ञान सम्बन्धी उपसम्पदा के कुल ( ३ x ३ = ९) नौ भेद हैं। दर्शनप्रभावक सम्मतितर्क आदि ग्रन्थों की अपेक्षा से ये ही नौ भेद दर्शन अर्थात् श्रद्धान सम्बन्धी उपसम्पदा के भी हैं।

सूत्र — अर्थसूचक वाक्य। अर्थ — सूत्र का व्याख्यान। परावर्तन — भूले हुए सूत्रादि को याद करना। अनुसन्धान — किसी ग्रन्थ के अमुक भाग के विस्मृत/नष्ट हुए भाग को याद करके उस स्थल पर जोड़ना। ग्रहण — नये सूत्र का अध्ययन करना।

चारित्र सम्बन्धी उपसम्पदा के वैयावृत्य और तप — ये दो भेद हैं। इन दोनों भेदों के कालपरिमाण की अपेक्षा से यावत्कथिकी और इत्वरकालिका — ये दो भेद हैं। वैयावृत्य और तप के लिए अन्य आचार्य के पास आजीवन रहना यावत्कथिकी और थोड़े समय के लिए रहना इत्वरकालिका उपसम्पदा है ।। ४३ ।।

*उपसम्पदा की विधि*

संदिट्ठो संदिट्ठस्स चोवसंपज्जई उ एमाई ।
चउभंगो एत्थं पुण पढमो भंगो हवइ सुद्धो ।। ४४ ।।

सन्दिष्टः सन्दिष्टस्य चोपसम्पद्यते तु एवमादिः ।
चतुर्भङ्गोऽत्र पुनः प्रथमो भङ्गो भवति शुद्धः ।। ४४ ।।

अन्य आचार्य के पास जाने के निम्न चार स्वरूप हैं —

१. *सन्दिष्टः सन्दिष्टस्य* — गुरु की आज्ञा से गुरु द्वारा निर्दिष्ट आचार्य के पास जाना।

२. *सन्दिष्टोऽसन्दिष्टस्य* — गुरु की आज्ञा से गुरु द्वारा निर्दिष्ट आचार्य के अलावा अन्य आचार्य के पास जाना।

३. *असन्दिष्टः सन्दिष्टस्य* — गुरु द्वारा निर्दिष्ट आचार्य के पास गुरु की आज्ञा के बिना जाना अर्थात् गुरु ने कुछ समय के लिए जाने से मना किया हो फिर भी जाना।

४. *असन्दिष्टोऽसन्दिष्टस्य* — गुरु की आज्ञा के बिना गुरु द्वारा निर्दिष्ट आचार्य के अतिरिक्त अन्य आचार्य के पास जाना।

इनमें प्रथम विकल्प शुद्ध है, क्योंकि इससे श्रुतज्ञान का विच्छेद नहीं होता है ॥ ४४ ॥

*परावर्तनादि पदों का अर्थ*

अथिरस्स पुव्वगहियस्स वत्तणा जं इहं थिरीकरणं ।
तस्सेव पएसंतरणट्ठस्सऽणुबंधणा घडणा ॥ ४५ ॥

गहणं तप्पढमतया सुत्तादिसु णाणदंसणे चरणे ।
वेयावच्चे खमणे सीदणदोसादिणाऽण्णत्थ ॥ ४६ ॥

अस्थिरस्य पूर्वगृहीतस्य वर्तना यदिह स्थिरीकरणम् ।
तस्यैव प्रदेशान्तर-नष्टस्यानुबन्धना घटना ॥ ४५ ॥
ग्रहणं तत्प्रथमतया सूत्रादिषु[1] ज्ञानदर्शनयोः चरणे ।
वैयावृत्ये क्षपणे सीदनदोषादिनाऽन्यत्र ॥ ४६ ॥

पूर्व अधीत श्रुत के विस्मृत हो जाने पर उसे पुनः याद करना 'परावर्तना' है। पहले अध्ययन किये हुए ग्रन्थ का कोई भाग यदि विस्मृत हो गया हो या अध्ययन करते समय कोई भाग छूट गया हो तो उसका फिर से अध्ययन करके उस श्रुत के साथ जोड़ देना 'अनुसन्धान' है ॥ ४५ ॥

जिसका अध्ययन नहीं किया हो ऐसे नये श्रुतज्ञान या दर्शनप्रभावक ग्रन्थों का सूत्र, अर्थ या सूत्रार्थपूर्वक अध्ययन करना 'ग्रहण' है। चारित्र के वैयावृत्य सम्बन्धी और तप सम्बन्धी — ये दो भेद हैं।

अपना गच्छ छोड़कर दूसरे गच्छ में ज्ञानार्जन के लिए जाने की बात ठीक है, किन्तु वैयावृत्य और तप के लिए दूसरे गच्छ में क्यों जाना चाहिए ? इसके निम्न कारण हैं —

१. अपने गच्छ के साधुओं में आचार का प्रमादरहित पालन न होता हो।

---

१. सूत्रादिषु — सप्तम्याः षष्ठ्यर्थत्वात्।

२. अपने गच्छ में दूसरे साधु वैयावृत्य करने वाले हों, जिससे स्वयं को वैयावृत्य करने का लाभ न मिलता हो।

३. अपने गच्छ में दूसरे साधु तप करने वाले हों, जिससे स्वयं तप करें तो सेवा करने वाले न मिलें।

इन कारणों से वैयावृत्य और तप करने के लिए दूसरे गच्छ में जाना चाहिए ।। ४६ ।।

*चारित्र उपसम्पदा में अनेक विकल्प*

इत्तरियादिविभासा वेयावच्चम्मि तह य खवगेऽवि ।
अविगिट्ठविगिट्ठंमि य गणिणा गच्छस्स पुच्छाए ।। ४७ ।।
इत्वरिकादिविभाषा वैयावृत्ये तथा च क्षपकेऽपि ।
अविकृष्टविकृष्टे च गणिना गच्छस्य पृच्छया ।। ४७ ।।

वैयावृत्यसम्बन्धी तथा विकृष्ट एवं अविकृष्ट तप सम्बन्धी उपसम्पदा में इत्वर और यावत्कथिक आदि विकल्प करने चाहिए, जो इस प्रकार हैं —

दूसरे गच्छ से वैयावृत्य करने के लिए आने वाले के इत्वर (अल्पकालिक) या यावत्कथिक (आजीवन) – ये दो विकल्प होते हैं। जिस गच्छ में आया हो उस गच्छ के आचार्य का वैयावृत्य करने वाला हो या न हो — ऐसे दो विकल्प भी होते हैं। उस गच्छ में आचार्य का वैयावृत्य करने वाला हो तो इत्वर हो या यावत्कथिक हो — ये दो विकल्प भी हो सकते हैं।

वैयावृत्य में उपसम्पदा स्वीकार करने की विधि निम्नवत् है —

१. आचार्य का वैयावृत्य करने वाला कोई अन्य न हो तो आगन्तुक इत्वर हो या यावत्कथिक, जो भी हो स्वीकार करना चाहिए।

२. वैयावृत्य करने वाला हो और वह यावत्कथिक हो और नवागन्तुक भी यावत्कथिक हो तो दोनों में जो लब्धिसम्पन्न हो उसे आचार्य को अपने पास रखकर वैयावृत्य कराना चाहिए और दूसरे को उपाध्याय आदि को सौंप देना चाहिए।

३. यदि दोनों लब्धिसम्पन्न हों तो जो पहले से पास में हो उसे अपने पास रखना चाहिए और नवागन्तुक को उपाध्याय आदि के पास भेज देना चाहिए।

४. यदि नवागन्तुक को उपाध्यायादि के पास जाना स्वीकार्य न हो और पहले वाला उनके पास जाने हेतु सम्मत हो तो पहले वाले को उपाध्यायादि के पास भेजकर नवागन्तुक को अपने पास रखना चाहिए।

५. यदि पहले वाला उपाध्यायादि के पास जाने को तैयार न हो तो

नवागन्तुक को वापिस भेज देना चाहिए।

६. पहले वाला यदि यावत्कथिक हो और आगन्तुक इत्वर हो तो भी इसी प्रकार (२ से ५ तक के अनुसार) निर्णय करना चाहिए। इसमें इतना अवश्य हो सकता है कि पहले वाले को प्रेम से समझाकर कहे कि आगन्तुक अल्प समय के लिए आये हुये हैं इनके रहने तक आराम करें, इस पर भी यदि वह तैयार न हो तो आगन्तुक को वापिस कर देना चाहिए।

७. यदि पहले वाला इत्वर हो और आगन्तुक यावत्कथिक हो तो पहले वाले को उपाध्यायादि को सौंप देना चाहिए और आगन्तुक को अपने पास रखना चाहिए।

८. यदि दोनों इत्वर हों तो एक को अपने पास और दूसरे को उपाध्यायादि के पास भेज देना चाहिए।

*तप सम्बन्धी उपसम्पदा स्वीकारने के विकल्प*

तपस्वी भी इत्वर और यावत्कथिक के भेद से दो प्रकार के होते हैं — मृत्यु के समय आमरण अनशन करने वाला यावत्कथिक है। इत्वर तपस्वी के विकृष्ट और अविकृष्ट ये दो भेद हैं। अट्ठम आदि तप करने वाला विकृष्ट तपस्वी होता है और छट्ठ तक तप करने वाला अविकृष्ट तपस्वी होता है।

दोनों प्रकार के तपस्वियों से आचार्य इस प्रकार कहें — यदि तुम पारणा के समय शिथिल हो जाते हो तो तप छोड़कर वैयावृत्य आदि में उद्यम करो।

कुछ आचार्यों का कहना है कि विकृष्ट तपस्वी यदि पारणा के समय शिथिल हो जाता हो तो भी स्वीकार कर लेना चाहिए। मासक्षपण तप करने वाले या यावत्कथिक तपस्वी को अवश्य स्वीकार करना चाहिए, किन्तु उन्हें स्वीकार करने के पहले आचार्य को अपने गच्छ से पूछना चाहिए। इससे सामाचारी भंग नहीं होती है ।। ४७ ।।

## उपसंहार

एवं सामायारी कहिया दसहा समासओ एसा ।
संयमतवड्ढगाणं णिग्गंथाणं महरिसीणं ।। ४८ ।।

एवं सामाचारी कथिता दशधा समासत एषा ।
संयमतपोभ्यामाढ्यकानां निर्ग्रन्थानां महर्षीणाम् ।। ४८ ।।

इस प्रकार संयम और तप से परिपूर्ण निर्ग्रन्थ महर्षियों की संक्षेप में दस प्रकार की सामाचारी कही गयी है ।। ४८ ।।

*सामाचारी का फल*

एयं सामायारीं जुंजंता चरणकरणमाउत्ता ।
साहू खवेंति कम्मं अणेगभवसंचियमणंतं ।। ४९ ।।

एतां सामाचारीं युञ्जानाः चरणकरणायुक्ताः ।
साधवः क्षपयन्ति कर्म अनेकभवसञ्चितमनन्तम् ।। ४९ ।।

चरणकरण (मूलगुण और उत्तरगुण) में उपयोगी इस सामाचारी का जीवन में अच्छी तरह पालन करने वाले साधु अनेक भवों के संचित अनन्त कर्मों को नष्ट करते हैं ।। ४९ ।।

*सामाचारी के पालन नहीं करने का फल*

जे पुण एयविउत्ता सग्गहजुत्ता जणंमि विहरंति ।
तेसिं तमणुट्ठाणं णो भवविरहं पसाहेइ ।। ५० ।।

ये पुनरेतद्वियुक्ताः स्वाग्रहयुक्ता जने विहरन्ति ।
तेषां तदनुष्ठानं न भवविरहं प्रसाधयति ।। ५० ।।

जो साधु इस सामाचारी से रहित हैं और अपने आग्रहों से ग्रस्त होकर (अशास्त्रीय अनुष्ठान में विश्वास करके) लोक में विहार करते हैं, उनके वे अनुष्ठान संसार-सागर से मुक्त होने में सहायता नहीं करते हैं ।। ५० ।।

**।। इति साधुसामाचारीविधिर्नाम द्वादशं पञ्चाशकम् ।।**

# १३

# पिण्डविधानविधि पञ्चाशक

निमंत्रणा सामाचारी का सम्बन्ध पिण्डग्रहण (भिक्षाग्रहण) से है। इस पिण्डग्रहण की विधि से विशुद्ध आहारादि की गवेषणा करनी चाहिए। यहाँ पिण्डविशुद्धि के विधान का प्रतिपादन करने हेतु सर्वप्रथम मङ्गलाचरण करते हैं—

*मंगलाचरण*

नमिऊण महावीरं पिंडविहाणं समासओ वोच्छं ।
समणाणं पाउग्गं गुरूवएसानुसारेणं ।। १ ।।

नत्वा महावीरं पिण्डविधानं समासतो वक्ष्ये ।
श्रमणानां प्रायोग्यं गुरूपदेशानुसारेण ।। १ ।।

भगवान् महावीर को नमस्कार करके गुरु के उपदेश के अनुसार श्रमणों के योग्य भक्तपान आदि ग्रहण सम्बन्धी पिण्डग्रहण विधि को संक्षेप में कहूँगा ।। १ ।।

सुद्धो पिंडो विहिओ समणाणं संजमायहेउत्ति ।
सो पुण इह विण्णेओ उग्गमदोसादिरहितो जो ।। २ ।।

शुद्धः पिण्डो विहितः श्रमणानां संयमात्महेतुरिति ।
सः पुनरिह विज्ञेय उद्गमदोषादिरहितो यः ।। २ ।।

गुरुजनों ने पृथ्वीकायिक आदि जीवों के संरक्षण रूप संयम-पालन एवं शरीर-रक्षा के लिए शुद्ध-आहार (पिण्ड) का विधान किया है। जो उद्गम आदि दोषों से रहित आहार है, वह शुद्ध है, ऐसा जानना चाहिये ।। २ ।।

*उद्गम आदि दोषों की संख्या*

सोलस उग्गमदोसा सोलस उप्पायणाएँ दोसा उ ।
दस एसणाइ दोसा बायालीसं इय हवंति ।। ३ ।।

षोडश उद्गमदोषाः षोडश उत्पादनाया दोषास्तु ।
दश एषणाया दोषाः द्विचत्वारिंशदिति भवन्ति ।। ३ ।।

आधाकर्म आदि सोलह उद्गम दोष, धात्री आदि सोलह उत्पादन दोष

और शंकित आदि दस एषणा दोष हैं — इस प्रकार पिण्ड सम्बन्धी कुल ब्यालीस दोष हैं ।। ३ ।।

*उद्गम शब्द का अर्थ और उसके पर्यायवाची शब्द*

तत्थुग्गमो पसूई पभवो एमादि होंति एगट्ठा ।
सो पिण्डस्साहिगओ इह दोसा तस्सिमे होंति ।। ४ ।।

तत्रोद्गमः प्रसूतिः प्रभव एवमादयो भवन्ति एकार्थाः ।
सः पिण्डस्याधिकृत इह दोषास्तस्येमे भवन्ति ।। ४ ।।

उद्गम, प्रसूति, प्रभव, आदि शब्द एकार्थक हैं अर्थात् इन सबका एक ही अर्थ है — 'उत्पन्न होना'। वैसे तो उद्गम शब्द का अर्थ उत्पत्ति है, किन्तु प्रस्तुत प्रकरण में उद्गम का यह अर्थ विवक्षित नहीं है। यहाँ पिण्ड (आहार) की उत्पत्ति में होने वाले दोष ही विवक्षित हैं। साधु के लिए पकाना, रखना, ढँके हुए को उद्घाटित करना आदि आहार के उद्गम के दोष हैं, इसलिए ये उद्गम दोष कहलाते हैं ।। ४ ।।

*उद्गम के सोलह दोष*

आहाकम्मुद्देसिय पूतिकम्मे य मीसजाए य ।
ठवणा पाहुडियाए पाओयर-कीअ-पामिच्चे ।। ५ ।।

परियट्टिए अभिहडे उब्भिण्णे मालोहडे इय ।
अच्छेज्जे अणिसट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे ।। ६ ।।

आधाकर्मौद्देशिकं पूतिकर्म च मिश्रजातञ्च ।
स्थापना प्राभृतिका प्रादुष्कर-क्रीत-अपमित्यम् ।। ५ ।।
परिवर्तितं अभिहृतम् उद्भिन्नं मालापहृमिति ।
आच्छेद्यम् अनिसृष्टम् अध्यवपूरकं चषोडश ।। ६ ।।

१. आधाकर्म, २. औद्देशिक, ३. पूतिकर्म, ४. मिश्रजात, ५. स्थापना, ६. प्राभृतिका, ७. प्रादुष्कर, ८. क्रीत, ९. अपमित्य, १०. परावर्तित, ११, अभिहृत, १२. उद्भिन्न, १३. मालापहृत, १४. आच्छेद्य, १५. अनिसृष्ट और १६. अध्यवपूरक — ये सोलह उद्गम दोष हैं।

१. *आधाकर्म* — साधु को लक्ष्य में रखकर बनाया गया भोजन आधाकर्म दोषवाला है।

२. *औद्देशिक* — साधु को भिक्षा देने के उद्देश्य से बनाया गया भोजन औद्देशिक है।

३. *पूतिकर्म* — शुद्ध आहार में अशुद्ध आहार मिला कर पूरे आहार को अशुद्ध बनाना पूतिकर्म है।

४. *मिश्रजात* — गृहस्थ और साधु दोनों के मिश्रित उद्देश्य से बनाया गया भोजन मिश्रजात है।

५. *स्थापना* — साधु को देने के लिए अमुक समय तक आहार रखे रहना स्थापना दोष है।

६. *प्राभृतिका* — साधुओं के आगमन के कारण निश्चित किये गये समय से पहले भोज आदि का आयोजन करके साधु को भिक्षा देना प्राभृतिका है।

७. *प्रादुष्करण* — साधु को भिक्षा देने के लिए भोजन को खुला करना (उघाड़ना) प्रादुष्करण दोष है।

८. *क्रीत* — साधु के लिए खरीद कर भोजन देना।

९. *अपमित्य* — उधार लेकर साधु को भिक्षा देना।

१०. *परावर्तित* — वस्तुओं की अदला-बदली करके साधु को भिक्षा देना।

११. *अभिहृत* — साधु को देने के लिए अपने स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया गया भोजन अभिहृत दोष वाला है।

१२. *उद्भिन्न* — साधु के लिए बखार, कोठी, अलमारी आदि खोलना उद्भिन्न दोष है।

१३. *मालापहृत* — साधु को देने के लिए ऊपरी मंजिल से वस्तु नीचे लाना मालापहृत है।

१४. *आच्छेद्य* — साधु को देने के लिए पुत्रादि के पास से वस्तु वापिस ले लेना।

१५. *अनिसृष्ट* — अनेक लोगों के अधिकार वाली वस्तु को उनकी आज्ञा के बिना देना अनिसृष्ट दोष है।

१६. *अध्यवपूरक* — अपने लिए बन रही रसोई में साधु के निमित्त से और अधिक मिला लेना अध्यवपूरक दोष है ।। ५-६ ।।

*आधाकर्म दोष का स्वरूप*

सच्चित्तं जमचित्तं साहूणऽट्ठाएँ कीरए जं च ।
अच्चित्तमेव पच्चति आहाकम्मं तयं भणियं ।। ७ ।।

सचित्तं यदचित्तं साधूनामर्थाय क्रियते यच्च ।
अचित्तमेव पच्यते आधाकर्म तकं भणितम् ।। ७ ।।

साधुओं के लिए सचित्त फल, बीज आदि को अचित्त अर्थात् जीवन-रहित करना और अचित्त चावल आदि को पकाना आधाकर्म कहलाता है ।। ७ ।।

उद्देसिय साहुमाई उमच्चए भिक्खवियरणं जं च ।
उव्वरियं मीसेउं तविउं उद्देसियं तं तु ।। ८ ।।

औद्देशिकं साध्वादीन् अवमात्यये भिक्षावितरणं यच्च ।
उद्धरितं मिश्रयित्वा तापयित्वा औद्देशिकं तत्तु ।। ८ ।।

औद्देशिक दोष तीन प्रकार का है —

१. *उद्दिष्ट-औद्देशिक* — दुष्काल बीत जाने पर आकस्मिक रूप से मुनियों के आ जाने पर गृहस्थ अपनी पत्नी से कहे कि उसे अब साधु आदि को भिक्षा देना है — इस उद्देश्य से वह स्त्री अधिक भोजन बनाये तो वह औद्देशिक दोष है। इसमें साधु को हमेशा भिक्षा देने का उद्देश्य होने से इसे उद्दिष्ट-औद्देशिक कहा जाता है।

२. *कृत-औद्देशिक* — विवाहादि के अवसर पर भोजनोपरान्त अवशिष्ट भात आदि को दही आदि स्वादिष्ट वस्तु के साथ मिलाकर भिक्षा में दिया जाये तो वह कृत-औद्देशिक दोष है।

३. *कर्म-औद्देशिक* — मिठाई आदि के चूर्ण को अग्नि में तपाकर गुड़ आदि मिलाकर मिठाई बनाकर देना कर्म-औद्देशिक दोष है। अचित्त को पकाने रूप आधा कर्म के उद्देश्य से युक्त होने के कारण यह दोष कर्म-औद्देशिक कहा जाता है। इन तीनों के चार-चार उपभेद होते हैं — उद्देश, समुद्देश, आदेश और समादेश ।। ८ ।।

### *पूति और मिश्र दोष का स्वरूप*

कम्मावयवसमेयं संभाविज्जति जयं तु तं पूयं ।
पढमं चिय गिहिसंजयमीसोवक्खडाइ[1] मीसं तु ।। ९ ।।

कर्मावयवसमेतं संभाव्यते यकत्तु तत्पूतम् ।
प्रथममेव गृहिसंयतमिश्रोपस्कृतादि मिश्रं तु ।। ९ ।।

आधाकर्मिक आहार के एक अंश से भी युक्त आहार पूति-दोष से युक्त होता है। पूति-दोष उपकरण और भक्तपान के भेद से दो प्रकार का है। आधाकर्मिक चूल्हा आदि उपकरणों के संयोग से शुद्ध आहार पूतिदोष वाला

१. '... मीसोवखडाइ' इति पाठान्तरम् ।

बनता है। आधाकर्मिक आहार-पानी से मिश्रित शुद्ध आहार-पानी पूति-दोषवाला बन जाता है।

पहले से ही गृहस्थ और साधु दोनों के लिए एक साथ भोजन बनाया हो तो वह गृहिसंयतमिश्र नामक मिश्रजात दोष है। आदि शब्द से मिश्रजात के भी गृहियावदर्थिक और गृहिपाखण्डिमिश्र — ये दो दोष जानने चाहिए। गृहस्थ और याचक के लिये पहले से बनाया गया भोजन गृहियावदर्थिक तथा गृहस्थ और पाखण्डी अर्थात् अन्य परम्परा के श्रमण के लिए बनाया गया भोजन गृहिपाखण्डिमिश्र है ।। ९ ।।

*स्थापना और प्राभृतिका दोष का स्वरूप*

साहोहासियखीराइठावणं ठवण साहुणऽट्ठाए ।
सुहुमेयरमुस्सक्कणमवसक्कणमो य पाहुडिया ।। १० ।।

साधुभाषितक्षीरादिस्थापनं स्थापना साधूनामर्थाय ।
सूक्ष्मेतरमुत्ष्वष्कणमवष्वष्कणं च प्राभृतिका ।। १० ।।

साधु द्वारा माँगे जाने की स्थिति को ध्यान में रखकर उनको देने के लिए दूध, दही आदि रखना स्थापना दोष कहलाता है।

प्राभृतिका दोष के उत्ष्वष्कण और अवष्वष्कण ये दो भेद हैं। इन दोनों के सूक्ष्म और बादर के भेद से दो-दो भेद हैं। इस प्रकार प्राभृतिका के सूक्ष्म उत्ष्वष्कण, सूक्ष्म अवष्वष्कण, बादर उत्ष्वष्कण तथा बादर अवष्वष्कण — ये चार भेद होते हैं।

१. *सूक्ष्म उत्ष्वष्कण* — (थोड़ा विलम्ब से) सूत कातते समय माँ से जब उसका बालक खाना माँगे तो भिक्षा के लिए आ रहे साधु को देखकर जब साधु आ जाये उसके पश्चात् बालक को खाना दे तो साधु के कारण बालक को थोड़ी देर से खाना देने से सूक्ष्म उत्ष्वष्कण दोष लगता है।

२. *सूक्ष्म अवष्वष्कण* — (थोड़ा पहले) सूत कातती हुई स्त्री साधु के आने पर उनको भिक्षा देने के साथ-साथ बालक को भी खाना दे दे, ताकि फिर उसके लिए अलग से न उठना पड़े तो थोड़ा पहले खाना देने से सूक्ष्म अवष्वष्कण दोष लगता है।

३. *बादर उत्ष्वष्कण* — (दीर्घ विलम्ब) आने वाले साधुओं को दान देने का लाभ लेने के लिए भोज आदि समारोहों का कार्यक्रम पूर्व निर्धारित समय से न करके विलम्ब से करना।

४. *बादर अवष्वष्कण* — (बहुत पहले) साधु विहार कर जायेंगे तो

उनको दान देने का लाभ नहीं मिल पायेगा, इसलिए उन कार्यक्रमों को पूर्वनिर्धारित समय से पहले करना ॥ १० ॥

*प्रादुष्करण और क्रीत दोष का स्वरूप*

णीयदुवारंधयारे गवक्खकरणाइ पाउकरणं तु ।
दव्वाइएहिं किणणं साहूणट्ठाएँ कीयं तु ॥ ११ ॥
नीचद्वारान्धकारे गवाक्षकरणादि प्रादुष्करणं तु ।
द्रव्यादिभिः क्रयणं साधूनामर्थाय क्रीतं तु ॥ ११ ॥

घर का दरवाजा नीचा होने के कारण घर में अँधेरा हो तो साधु के आने पर प्रकाश के लिए खिड़कियों को खोलना और दीप जलाना आदि प्रादुष्करण दोष हैं, क्योंकि ऐसा करने से जीव हिंसा होती है।

साधु के लिए पैसे से खरीदकर भिक्षा देना क्रीत दोष है। यह चार प्रकार का होता है — स्वद्रव्य, परद्रव्य, स्वभाव और परभाव ॥ ११ ॥

*अपमित्य और परावर्तित दोष का स्वरूप*

पामिच्चं जं साहूणऽट्ठा उच्छिंदिउं दियावेइ ।
पल्लट्टिउं च गोरवमाई परियट्टियं भणियं ॥ १२ ॥
अपमित्यं यत् साधूनामर्थात् उच्छिद्य ददाति ।
परिवर्त्य च गौरवादि परिवर्तितं भणितम् ॥ १२ ॥

साधु को दूसरे से उधार लेकर देना अपमित्य दोष है। साधुओं का गौरव हो और अपनी लघुता न हो, इसके लिए अपने कोदों आदि हल्की वस्तु दूसरे को देकर उससे उत्तम चावल लेकर भात बनाना और साधु को देना परावर्तित दोष है ॥ १२ ॥

*अभिहृत और उद्भिन्नदोष का स्वरूप*

सग्गामपरग्गामा जमाणिउं आहडं तु तं होइ ।
छगणाइणोवलित्तं उब्भिंदिय जं तमुब्भिण्णं ॥ १३ ॥
स्वग्रामपरग्रामाद्यदानीय आहृतं तु तद्भवति ।
छगणादिनोपलिप्तमुद्भिद्य यत्तदुद्भिन्नम् ॥ १३ ॥

स्वग्राम अर्थात् साधु जिस ग्राम में रहते हों उसके अतिरिक्त दूसरे ग्राम आदि से आहार लाकर साधु को देना अभिहृत दोष है।

गोबर आदि से लीपकर बन्द किये गये डेहरी (कुठिया) आदि के लेप को खोलकर या जो आलमारी प्रतिदिन नहीं खुलती है, उसे खोलकर साधु को आहारादि देना उद्भिन्न दोष है ॥ १३ ॥

*मालापहृत और आच्छेद्य दोष का स्वरूप*

मालोहडं तु भणियं जं मालादीहि देति घेत्तूणं ।
अच्छेज्जं चच्छिंदिय[1] जं सामी भिच्चमादीणं ।। १४ ।।

मालापहृतं तु भणितं यन्मालादिभ्यो ददाति गृहीत्वा ।
आच्छेद्यं चाच्छिद्य यत्स्वामी भृत्यादीनाम् ।। १४ ।।

साधु को देने के लिए ऊपरी मंजिल या भूमिगत कमरे से आहारादि निकाल कर दे तो यह मालापहृत दोष कहलाता है।

मालिक, नौकर, बालक आदि की किसी भी वस्तु को जबरदस्ती लेकर साधु को दे तो आच्छेद्य दोष होता है। इसके गृहस्वामी, नृप और चोर — ये तीन भेद हैं ।। १४ ।।

*अनिसृष्ट और अध्यवपूरक दोष का स्वरूप*

अणिसिट्ठं सामण्णं गोट्ठिगभत्तादि ददउ एगस्स ।
सड्ढा मूलद्दहणे अज्झोयर होइ पक्खेवो ।। १५ ।।

अनिसृष्टं सामान्यं गोष्ठिकभक्तादि ददत एकस्य ।
स्वार्थं मूलद्रहणे अध्यवपूरको भवति प्रक्षेपः ।। १५ ।।

अनेक लोगों के सामूहिक अधिकार वाले भोजनादि को सबकी अनुमति के बिना कोई एक दे दे तो अनिसृष्ट दोष लगता है।

अपने लिए खाना आदि पकाने की शुरूआत करने के बाद उस भोजन सामग्री में साधु को देने के लिए और सामग्री मिला लेना अध्यवपूरक दोष है ।। १५ ।।

*विशुद्धि-अविशुद्धिकोटिरूप दो भेद*

कम्मुद्देसियचरमतिय पूइयं मीस चरमपाहुडिया ।
अज्झोयर अविसोही विसोहिकोडी भवे सेसा ।। १६ ।।

कर्मौद्देशिकचरमत्रिकं पूतिकं मिश्रं चरमप्राभृतिका ।
अध्यवपूरको अविशोधिः विशोधिकोटी भवेत् शेषा ।। १६ ।।

आधाकर्म, औद्देशिक विभाग के समुद्देशकर्म, आदेशकर्म और समादेश-कर्म — ये तीन भेद, मिश्रजात और अध्यवपूरक के पाखण्डी और यति — ये दो भेद, बादरभक्तपानपूति और बादर प्राभृतिक — इन मूल छः भेदों के कुल दस भेद अविशुद्धि कोटि के हैं, शेष सभी विशुद्धि कोटि के हैं।

---

१. 'चाछिंदिय' इति पाठान्तरम्।

**विशेष :** जो दूषित आहार शुद्ध आहार में पड़ जाये बाद में उस दूषित आहार को निकाल लिया तो भी बाकी का आहार अशुद्ध ही रहे, शुद्ध नहीं बने तो यह अविशुद्ध कोटि का दोष है। जो दूषित आहार शुद्ध आहार में पड़ने के बाद उसमें से सम्पूर्ण दूषित आहार निकाल लिया जाये और शेष शुद्ध आहार शुद्ध बने तो वह विशुद्धि कोटि का दोष है ।। १६ ।।

*उत्पादन शब्द का अर्थ और पर्यायवाची शब्द*

उप्पायण संपायण णिव्वत्तणमो य होंति एगट्ठा ।
आहारस्सिह पगया तीए दोसा इमे होंति ।। १७ ।।

उत्पादनं सम्पादनं निर्वर्तना च भवन्ति एकार्थाः ।
आहारस्येह प्रकृतास्तस्या दोषाः इमे भवन्ति ।। १७ ।।

उत्पादन, सम्पादन और निर्वर्तना — ये शब्द एकार्थक हैं। इनका अर्थ है — 'प्राप्त करना'। प्राप्त करना सचेतन, अचेतन आदि वस्तु की अपेक्षा से दो प्रकार का होता है, किन्तु यहाँ गृहस्थ के घर से आहार को प्राप्त करने का प्रकरण है, इसलिए ये निम्नांकित दोष उससे ही सम्बन्धित होते हैं ।। १७ ।।

*उत्पादन के १६ दोषों के नाम*

धाती दूती णिमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य ।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस एते ।। १८ ।।
पुव्विं पच्छासंथव विज्जा मंते य चुण्णं जोगे य ।
उप्पायणयाएँ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य ।। १९ ।।

धात्री दूती निमित्तम् आजीवो वनीपकः चिकित्सा च ।
क्रोधः मानो माया लोभश्च भवन्ति दश एते ।। १८ ।।
पूर्वं पश्चात्संस्तवो विद्या मन्त्रश्च चूर्णो योगश्च ।
उत्पादनायाः दोषाः षोडश मूलकर्म च ।। १९ ।।

१. धात्री, २. दूती, ३. निमित्त, ४. आजीव, ५. वनीपक, ६. चिकित्सा, ७. क्रोध, ८. मान, ९. माया, १० लोभ, ११. पूर्व-पश्चात् संस्तव, १२. विद्या, १३. मन्त्र, १४. चूर्ण, १५. योग और १६. मूलकर्म — ये सोलह उत्पादन के दोष हैं ।। १८-१९ ।।

*उत्पादन के सोलह दोषों का स्वरूप*

धाइत्तणं करेति पिंडट्ठाए तहेव दूतित्तं ।
तीयादिणिमित्तं वा कहेइ जच्चाइ वाऽऽजीवे ।। २० ।।

जो जस्स कोइ भत्तो वणेइ तं तप्पसंसणेणेव ।
आहारट्ठा कुणति व मूढो सुहुमेयरतिगिच्छं ।। २१ ।।
कोहप्फलसंभावणपडुपण्णो होइ कोहपिंडो उ ।
गिहिणो कुणदऽहिमाणं मायाएँ दवावए तह य ।। २२ ।।
अतिलोभा परियडती आहारट्ठाएँ संथवं दुविहं ।
कुणइ पउंजइ विज्जं मंतं चुण्णं च जोगं च ।। २३ ।।
अन्नमिह कोउगाइ व पिंडत्थं कुणइ मूलकम्मं तु ।
साहुसमुत्था एते भणिया उप्पायणादोसा ।। २४ ।।

धात्रीत्वं करोति पिण्डार्थाय तथैव दूतीत्वम् ।
तीतादिनिमित्तं वा कथयति जात्यादि वाऽऽजीवेत् ।। २० ।।
यो यस्य कोऽपि भक्तो वनति तं तत्प्रशंसनेनैव ।
आहारार्थाय करोति वा मूढः सूक्ष्मेतरचिकित्साम् ।। २१ ।।
क्रोधफलसम्भावन-प्रत्युत्पन्नो भवति क्रोधपिण्डस्तु ।
गृहिणः करोति अभिमानं मायया दापयति तथा च ।। २२ ।।
अतिलोभात् पर्यटति आहारार्थाय संस्तवं द्विविधम् ।
करोति प्रयुंक्ते विद्यां मन्त्रं चूर्णं च योगं च ।। २३ ।।
अन्यदिह कौतुकादि वा पिण्डार्थं करोति मूलकर्म तु ।
साधुसमुत्था एते भणिता उत्पादना दोषाः ।। २४ ।।

आहार प्राप्त करने में साधु से होने वाले दोष उत्पादन दोष हैं। इनके भेद इस प्रकार हैं —

१. *धात्री* — बालक का पालन-पोषण करने वाली स्त्री धात्री कहलाती है। धात्री कर्म करके साधु के द्वारा भिक्षा प्राप्त करना धात्री दोष है।

२. *दूती* — गृहस्थों को परस्पर समाचार कहकर भिक्षा प्राप्त करना दूती दोष है।

३. *निमित्त* — भूत, वर्तमान एवं भविष्य के सुखदःखादि सम्बन्धी निमित्त कहकर भिक्षा प्राप्त करना निमित्त दोष है।

**४.** ***आजीव*** — जीवन निर्वाह हेतु साधु द्वारा जाति, कुल आदि के कर्म और शिल्प का आश्रय लेना या उन्हें किसी भी प्रकार से गृहस्थ को बतलाकर जीवन निर्वाह करना आजीव दोष है।

५. *वनीपक* — (याचक) साधु द्वारा गृहस्थ से साधु-जीवन की प्रशंसा

करके आहार की याचना करना वनीपक दोष है।

६. *चिकित्सा* — रोग के निवारण द्वारा गृहस्थ को प्रसन्न करके आहार प्राप्त करना चिकित्सा दोष है। यह दो प्रकार का होता है — सूक्ष्म और बादर। रोग की दवा बतलाना या वैद्य को बतलाना सूक्ष्म चिकित्सा दोष है और स्वयं दवा करना बादर चिकित्सा दोष है।

७. *क्रोधपिण्ड* — भिक्षा नहीं देने पर ये साधु क्रोध करेंगे, इस भय से दिया गया आहार क्रोधपिंड है।

८. *मानपिण्ड* — परिवारजनों की अवमानना करके साधु के माँगने पर आहार देना और इसके लिए स्वाभिमान का अनुभव करना मानपिण्ड है। इस विषय में सेवतिका का उदाहरण है।

९. *मायापिण्ड* — वेशपरिवर्तन आदि से गृहस्थ को धोखा देकर उससे आहार लेना मायापिण्ड है। इस विषय में आषाढ़भूति का दृष्टान्त है।

१०. *लोभपिण्ड* — आहार के लालच से अनेक घरों में जाकर आहार ग्रहण करना लोभपिण्ड दोष है। इसमें सिंहकेसरिया मुनि का दृष्टान्त है।

११. *पूर्वपश्चात्संस्तव* — आहार देने के पहले और बाद में दाता की प्रशंसा करना पूर्वपश्चात्संस्तव दोष है।

१२-१५. *विद्या-मन्त्र-चूर्ण-योगप्रयोग* — विद्या, मन्त्र, चूर्ण और योग का प्रयोग करके आहार प्राप्त करना क्रमशः विद्याप्रयोग, मन्त्रप्रयोग, चूर्णप्रयोग और योगप्रयोग दोष हैं।

१६. मूलकर्म — जिससे दीक्षापर्याय का मूल से छेद रूप आठवाँ प्रायश्चित आये, ऐसे गर्भपातादि व्यापार मूलकर्म दोष हैं।

ये उत्पादन दोष साधु से उत्पन्न होते हैं ।। २०-२४ ।।

*एषणा शब्द का अर्थ एवं पर्यायवाची शब्द*

एसण गवेसणऽण्णेसणा य गहणं च होंति एगट्ठा ।
आहारस्सिह पगया तीइ य दोसा इमे होंति ।। २५ ।।

एषणा गवेषणा अन्वेषणा च ग्रहणं च भवन्ति एकार्थाः ।
आहारस्येह प्रकृतास्तस्याश्च दोषा इमे भवन्ति ।। २५ ।।

एषणा, गवेषणा, अन्वेषणा, ग्रहण — ये एकार्थक शब्द हैं, इनका अर्थ है ढूँढना। एषणा अनेक वस्तुओं की होती है, परन्तु यहाँ आहार की एषणा अभीष्ट है। एषणा के दोष इस प्रकार हैं ।। २५ ।।

*एषणा के दस दोषों के नाम*

संकिय मक्खिय णिक्खित्त पिहिय साहरिय दायगुम्मीसे ।
अपरिणय लित्त छड्डिय एसणदोसा दस हवंति ।। २६ ।।

शंकितं म्रक्षितं निक्षिप्तं पिहितं संहृतं दायक उन्मिश्रम् ।
अपरिणतं लिप्तं छर्दितम् एषणादोषा दश भवन्ति ।। २६ ।।

शंकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संहृत, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और छर्दित — ये दस एषणा के दोष हैं। ये आहार लेते समय होने वाले दोष हैं ।। २६ ।।

*एषणा के दस दोषों का स्वरूप*

कम्मादि संकति तयं मक्खियमुदगादिणा उ जं जुत्तं ।
णिक्खित्तं सजियादो पिहियं तु फलादिणा ठइयं ।। २७ ।।

मत्तगगयं अजोग्गं पुढवादिसु छोढु देइ साहरियं ।
दायग बालादीया अजोग्ग बीयादिउम्मीसं ।। २८ ।।

अपरिणयं दव्वं चिय भावो वा दोण्ह दाण एगस्स ।
लित्तं वसादिणा छड्डियं तु परिसाडणावंतं ।। २९ ।।

कर्मादि शंकते तकं म्रक्षितमुदकादिना तु यद्युक्तम् ।
निक्षिप्तं सजीवादौ पिहितं तु फलादिना स्थगितम् ।। २७ ।।

मात्रकगतमयोग्यं पृथिव्यादिषु क्षिप्त्वा ददाति संहृतम् ।
दायकबालादय अयोग्यो बीजाद्युन्मिश्रम ।। २८ ।।

अपरिणतं द्रव्यमेव भावो वा द्वयोः दान एकस्य ।
लिप्तं वसादिना छर्दितं तु परिशाटनावत् ।। २९ ।।

१. *शंकित* — आहार में आधाकर्मादि दोष होने की शंका हो तो वह आहार शंकित दोष वाला कहा जायेगा अथवा जिस आहार में जिस दोष की शंका हो उस आहार को लेने से यह दोष लगता है।

२. *म्रक्षित* (युक्त) — सचित्त पानी, पृथ्वी आदि से युक्त आहार लें तो म्रक्षित दोष लगता है।

३. *निक्षिप्त* (रखा हुआ) — सचित्त वस्तु पर रखा हुआ आहार लेना निक्षिप्त दोष है।

४. *पिहित* (ढँका हुआ) — जो आहार सचित्त फल आदि से ढँका हो उसे लेना पिहित दोष है।

५. *संहृत* — जिसमें पहले सचित्त वस्तु रखी गयी हो ऐसे बर्तन में रखकर साधु को आहार देना संहृत दोष है।

६. *दायक* — भिक्षा देने के लिए अयोग्य बालक आदि भिक्षा दें तो दायक दोष लगता है।

निम्नलिखित जीव भिक्षा देने के अयोग्य हैं — १. अव्यक्त (आठ वर्ष से कम उम्र वाला), २. अप्रभु (जो घर का सदस्य न हो), ३. स्थविर (अति वृद्ध), ४. नपुंसक, ५. मत्त (जो नशे में हो), ६. क्षिप्तचित्त (जो धनहानि के कारण पागल हो गया हो), ७. दीप्तचित्त (शत्रुओं से बार-बार हारकर निराश हो गया हो), ८. यक्षाविष्ट (जिसे कोई प्रेत सताता हो), ९. करछिन्न (जिसके हाथ कट गये हों), १०. चरणछिन्न (जिसके पैर कट गये हों), ११. अंधा, १२. निगडित (जिसके हाथ या पैर में जंजीर लगी हो), १३. कोढ़ी, १४. गर्भवती स्त्री, १५. बालवत्सा (छोटे बच्चे वाली स्त्री), १६-१८. अनाज आदि छानने वाली, पीसने वाली और भूनने वाली स्त्री, १९. सूत कातने वाली और २०. रूई पोने वाली।

७. *उन्मिश्र* — सचित्त बीज, कंद आदि मिश्रित आहार उन्मिश्र है।

८. *अपरिणत* — आहारादि पूर्णतया अचित्त न हुआ हो ऐसा आहारादि ग्रहण करना अपरिणत दोष है।

९. *लिप्त* — अखाद्य वस्तु लगा भोजन लेने से लिप्त दोष लगता है।

१०. *छर्दित* — आहारादि को नीचे बिखेरते हुए देना छर्दित दोष है ।। २७ - २९ ।।

*शुद्धपिण्ड परमार्थ से किसे होता है ?*

एयद्दोसविसुद्धो जतीण पिंडो जिणेहिऽणुण्णाओ ।
सेसकिरियाठियाणं एसो पुण तत्तओ णेओ ।। ३० ।।

एतद्दोषविशुद्धो यतीनां पिण्डो जिनैरनुज्ञातः ।
शेषक्रियास्थितानामेषः पुनः तत्त्वतो ज्ञेयः ।। ३० ।।

उक्त ब्यालीस दोषों से रहित शुद्ध आहार जिनेन्द्रदेवों ने साधुओं के लिए मान्य किया है। शुद्ध आहार परमार्थ से पिण्डविशुद्धि के अतिरिक्त भी अन्य क्रियाओं, जैसे — प्रतिलेखना, स्वाध्याय आदि में लीन रहने से ही होता है। प्रतिलेखनादि क्रियाओं से रहित मुनि यदि उक्त ब्यालीस दोषों का त्याग करे तो भी परमार्थ से शुद्धपिण्ड नहीं होता है, क्योंकि मूलगुणों के बिना उत्तरगुण व्यर्थ हैं ।। ३० ।।

*उपर्युक्त विषय का आगम से समर्थन*

संपत्ते इच्चाइसु सुत्तेसु णिदंसियं इमं पायं।
जतिणो य एस पिंडो ण य अन्नह हंदि एयं तु ॥ ३१ ॥
सम्पत्त इत्यादिषु सूत्रेषु निदर्शितमिदं प्रायः।
यतेश्च एषः पिण्डो न च अन्यथा हंदि एतत्तु ॥ ३१ ॥[1]

सम्यक् प्रत्युपेक्षण, प्रमार्जन और सूत्रार्थ पौरुषी करने के बाद भिक्षा का समय होने पर स्थिर होकर अनासक्त भाव से विधिपूर्वक आहार की गवेषणा करनी चाहिए तथा साधु को पृथ्वी पर युगप्रमाण (साढ़े तीन हाथ) आगे दृष्टि डालकर चलना चाहिए और बीज, हरितकाय, प्राणी, जल और मिट्टी को छोड़ते हुए चलना चाहिये अर्थात् वनस्पति आदि पर नहीं चलना चाहिए।

उपर्युक्त क्रियाओं में लीन रहने वाले साधु का शुद्धपिण्ड होता है। साधु को विशुद्ध पिण्ड ही लेना चाहिए। अशुद्ध पिण्ड लेने से साधुपना नहीं रहता है ॥ ३१ ॥

*विशुद्ध पिण्ड को जानने के उपाय*

दोसपरिण्णाणंपि हु एत्थं उवओगसुद्धिमाईहिं।
जायति तिविहणिमित्तं तत्थ तिहा वण्णियं जेण ॥ ३२ ॥
दोषपरिज्ञानमपि खल्वत्र उपयोगशुद्ध्यादिभिः।
जायते त्रिविधनिमित्तं तत्र त्रिधा वर्णितं येन ॥ ३२ ॥

जिस विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान न हो उसका ज्ञान करने के लिए अतीत-अनागत-वर्तमान काल सम्बन्धी कायिक, वाचिक एवं मानसिक विचारणा करनी चाहिए। विचारणा इत्यादि से परोक्ष ज्ञान होता है। इसी प्रकार प्रस्तुत प्रकरण में भी उपयोग-शुद्धि, दर्शन, प्रश्न आदि से आहार के दोषों का ज्ञान हो सकता है ॥ ३२ ॥

*भिक्षा शब्द का अर्थ यति की भिक्षा में ही घटित होता है*

भिक्खासद्दोऽवेवं अणियतलाभविसउत्ति एमादी।
सव्वं चिय उववन्नं किरियावंतंमि उ जतिम्मि ॥ ३३ ॥

---

१. संपते भिक्खकालंमि, असंभंतो अमुच्छिओ।
इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए ॥ १ ॥
पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे।
वज्जंतो बीयहरियाइं, पाणे अ दगमट्टिअं ॥ २ ॥
— दशवै०, अ० ५, उ० १, गा० १, ३

भिक्षाशब्दोऽप्येवम् अनियतलाभविषय इति एवमादि ।
सर्वमेव उपपन्नं क्रियावति तु यतौ ।। ३३ ।।

जिस प्रकार पिण्डविशुद्धि का वास्तविक अर्थ यति के आहार-ग्रहण में ही घटित होता है, उसी प्रकार भिक्षा शब्द का वास्तविक अर्थ यति की भिक्षा में ही घटित होता है, क्योंकि भिक्षा शब्द का अर्थ अनियत प्राप्ति (अलग-अलग घरों में से उन घरों की रसोई के प्रमाण के अनुसार) है। दूसरों के द्वारा लाकर दी गई भिक्षा में अनियत प्राप्ति अर्थ घटित होना आवश्यक नहीं है ।। ३३ ।।

*निर्दोष पिण्ड असम्भव है — ऐसा दूसरों का मत*

अण्णे भणंति समणादत्थं उद्देसियादि संचाए ।
भिक्खाए अणडणं चिय विसेसओ सिट्ठगेहेसु ।। ३४ ।।
धम्मट्ठा आरंभो सिट्ठगिहत्थाण जमिह सव्वोऽवि ।
सिद्धोत्ति सेसभोयणवयणाओ तंतणीतीए ।। ३५ ।।
तम्हा विसेसओ चिय अकयातिगुणा जईण भिक्खत्ति ।
एयमिह जुत्तिजुत्तं संभवभावेण ण तु अन्नं ।। ३६ ।।

अन्ये भणन्ति श्रमणाद्यर्थमुद्देशिकादि सन्त्यागे ।
भिक्षायै अनटनमेव विशेषतः शिष्टगेहेषु ।। ३४ ।।
धर्मार्थमारम्भः शिष्टगृहस्थानां यदिह सर्वोऽपि ।
सिद्ध इति शेषभोजनवचनात् तन्त्रनीत्या ।। ३५ ।।
तस्माद् विशेषत एव अकृतादिगुणा यतीनां भिक्षेति ।
एतदिह युक्तियुक्तं सम्भवभावेन न तु अन्यत् ।। ३६ ।।

दूसरे कहते हैं कि श्रमण, साधु, पाखण्डी और यावदर्थिक के लिए किये गये औद्देशिक-मिश्रजात आदि आहार का त्याग करने से भिक्षाकुलों में भिक्षा के लिए घूमा ही नहीं जा सकता है, उसमें भी विशिष्ट कुलों में तो कदापि नहीं ।। ३४ ।।

क्योंकि इस आर्य देश में स्मृति-ग्रन्थों का अनुसरण करने वाले गृहस्थ आहार बनाने सम्बन्धी सभी प्रवृत्तियाँ पुण्य के लिए करते हैं अर्थात् प्रायः सभी लोग श्रमण को भिक्षा देने से होने वाले पुण्य के लिए भोजन तैयार करते हैं। इसकी सिद्धि स्मृतिवचन — गुरुदत्तशेषं भुञ्जीत (अर्थात् गुरु को देने से बचा हुआ भोजन करना चाहिए), इस शास्त्रनीति से होती है ।। ३५ ।।

इसलिए गृहस्थों के घरों में 'इस साधु के लिए यह भोजन देना चाहिए'

इस प्रकार-विशेष (श्रमण को देने के संकल्प-विशेष) से ही आहार तैयार होता है। जबकि साधु की भिक्षा अकृत-असंकल्पित है। विशेषरूप से (साधु को देने के संकल्प से) बनाया हुआ भोजन दोष वाला होता है — यह युक्तियुक्त है, किन्तु असंकल्पित गुणवाली भिक्षा युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि वैसा आहार होता नहीं है ।। ३६ ।।

*उपर्युक्त मत का समाधान*

भण्णति विभिण्णविसयं देयं अहिगिच्च एत्थ विण्णेओ ।
उद्देसिगादिचाओ ण सोवि आरंभविसओ उ ।। ३७ ।।

भण्यते विभिन्नविषयं देयमधिकृत्य अत्र विज्ञेयः ।
औद्देशिकादित्यागो न स्वोचित आरम्भविषयस्तु ।। ३७ ।।

उपर्युक्त मत का समाधान इस प्रकार है — गृहस्थ ने अपने आहार के अतिरिक्त श्रमण के लिए अलग आहार बनाने का संकल्प करके आहार बनाया हो तो ऐसे औद्देशिक, मिश्रजात आदि आहार का साधु को त्याग करना चाहिए, किन्तु श्रमण को देने के संकल्प सहित अपने लिए आहार बनाया हो तो ऐसे औद्देशिक आहार का त्याग नहीं है अर्थात् गृहस्थ ने अपने ही आहार में से श्रमण को देने का संकल्प किया हो तो ऐसे आहार में औद्देशिक आदि दोष नहीं लगते हैं। इसलिए उसका त्याग नहीं किया जाता है ।। ३७ ।।

*गृहस्थ केवल अपने लिए आहार बनायें — यह सम्भव है*

संभवइ य एसोऽवि हु केसिंची सूयगादिभावेऽवि ।
अविसेसुवलंभाओ तत्थवि तह लाभसिद्धीओ ।। ३८ ।।

सम्भवति च एषोऽपि खलु केषाञ्चित् सूतकादिभावेऽपि ।
अविशेषोपलम्भात् तत्रापि तथा लाभसिद्धेः ।। ३८ ।।

सभी गृहस्थ केवल पुण्य के लिए आहार बनाते हों ऐसा नहीं है। कुछ अपने परिवार भर के लिए ही आहार बनाते हैं, क्योंकि कुछ विशिष्ट लोगों के घरों में सूतक (जन्म, मृत्यु) के समय भी अन्य दिनों की तरह ही आहार बनता है। अन्य दिनों से कम नहीं बनता है, क्योंकि सूतकादि के समय दान नहीं दिया जाता है। यदि सामान्य दिनों में दान देने के संकल्प से अधिक भोजन बनाया जाता तो सूतकादि के समय कम भोजन बनना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता है, इसलिए यह सिद्ध हुआ कि कुछ घरों में अपने परिवार को जितना चाहिए उतना ही आहार बनता है और उसी में से दान भी दिया जाता है ।। ३८ ।।

यहाँ ३६वीं गाथा में उठाये गये प्रश्न का समाधान ३७वीं एवं ३८वीं

गाथा में किया गया है। अब ३५वीं गाथा में उठाये गये प्रश्न — विशिष्ट गृहस्थ पुण्य के लिए आहार बनाते हैं — इसका समाधान किया जा रहा है —

एवंविहेसु पायं धम्मट्ठा णेव होइ आरंभो ।
गिहिसु परिणाममेत्तं संतंपि य णेव दुट्ठंति ।। ३९ ।।

एवंविधेषु प्रायः धर्मार्थं नैव भवति आरम्भः ।
गृहिषु परिणाममात्रं सदपि च नैव दुष्टमिति ।। ३९ ।।

जिनके घरों में प्रतिदिन एक ही परिमाण में रसोई बनती है — ऐसे गृहस्थों के घरों में श्रमणों को आहार देकर पुण्य कमाने का ध्येय ही नहीं होता है, अपितु ऐसे लोग साधु को जो आहार दिया जाये वही हमारा है — ऐसे भाववाले होते हैं। वे साधु के लिए अधिक आहार बनाने के भाव से रहित होते हैं और इसीलिए आहार दूषित नहीं बनता है ।। ३९ ।।

*दान के भावमात्र से पिण्ड दूषित नहीं बनता इसकी सिद्धि*

तहकिरियाऽभावाओ सद्धामेत्ताउ कुसलजोगाओ ।
असुहकिरियादिरहियं तं हंदुचितं तदण्णं व ।। ४० ।।

तथाक्रियाऽभावात् श्रद्धामात्रं कुशलयोगात् ।
अशुभक्रियादिरहितं तं हंदि उचितं तदन्यादिव ।। ४० ।।

इस प्रकार केवल दान सम्बन्धी भाव के कारण श्रमण के लिए आरम्भ रूप क्रिया से रहित तथा केवल श्रद्धा वाला एवं दान के प्रशस्त मानसिक व्यापार से निर्मित पिण्ड दूषित नहीं होता है। जिस प्रकार दान के समय साधुवन्दन करने से पिण्ड दूषित नहीं बनता है, उसी प्रकार केवल दान सम्बन्धी भाव होने से भी पिण्ड दूषित नहीं होता है ।। ४० ।।

*उपर्युक्त विषय का समर्थन*

न खलु परिणाममेत्तं पदाणकाले असक्किरियारहियं ।
गिहिणो तणयं तु जइं दूसइ आणाएँ पडिबद्धं ।। ४१ ।।

न खलु परिणाममात्रं प्रदानकाले असत्क्रियारहितम् ।
गृहिणः सत्कं तु यतिं दूषयति आज्ञायां प्रतिबद्धम् ।। ४१ ।।

साधु को दान देते समय गृहस्थ का जीवहिंसारूप अप्रशस्त व्यापार से रहित केवल दान-भाव साधु को दूषित नहीं करता है, किन्तु साधु के निमित्त से तैयार किया गया पिण्ड तो गृहस्थ के द्वारा दानभावपूर्वक देने पर भी आज्ञा में रहने वाले साधु को भी जब दूषित करता ही है, तो ऐसा पिण्ड आज्ञा में न रहने वाले को तो दूषित करेगा ही ।। ४१ ।।

*३४वीं गाथा की स्पष्टता*

सिट्ठावि य केइ इहं विसेसओ धम्मसत्थकुसलमती ।
इय न कुणंतिवि अणडणमेवं भिक्खाएँ वतिमेत्तं ।। ४२ ।।

शिष्टा अपि च केचिदिह विशेषतो धर्मशास्त्र कुशलमतयः ।
इति न कुर्वन्ति अपि अनटनमेवं भिक्षायै वाङ्मात्रम् ।। ४२ ।।

कितने विशिष्ट लोग तो पुण्य के लिए भी आहार नहीं बनाते हैं। विशेषकर धर्मशास्त्र में कुशल बुद्धि वाले तो और भी नहीं बनाते हैं। इसलिए 'भिक्षा के लिए घूम नहीं सकते हैं' — ऐसा कहना अर्थशून्य है, क्योंकि निर्दोष भिक्षा ऐसे लोगों के यहाँ से प्राप्त की जा सकती है ।। ४२ ।।

*निर्दोष भिक्षा लेना दुष्कर है — ऐसी परमान्यता का समाधान*

दुक्करयं अह एयं, जइधम्मो दुक्करो चिय पसिद्धं ।
किं पुण ? एस पयत्तो, मोक्खफलत्तेण एयस्स ।। ४३ ।।

दुष्करकमथ एतद्यतिधर्मो दुष्कर एव प्रसिद्धम् ।
किं पुन? एषः प्रयत्नो मोक्षफलत्वेन एतस्य ।। ४३ ।।

यदि आप यह मानते हैं कि असंकल्पितादि भिक्षा प्राप्त करना दुष्कर है तो यह मान्यता सत्य है, क्योंकि साधु के लिए असंकल्पित आहार ही नहीं, उसके तो सभी आचार दुष्कर हैं — यह बात प्रचलित है। जिस साधु के सभी आचार दुष्कर हैं उसका निर्दोष भिक्षा प्राप्त करना दुष्कर हो तो कौन सी नयी बात है ?

**प्रश्न :** निर्दोष भिक्षा इतनी दुष्कर है तो साधु इसके लिए इतना प्रयत्न क्यों करते हैं ?

**उत्तर :** साध्वाचार का फल मोक्ष है। यह मोक्ष कठिन प्रयत्न किये बिना नहीं मिलता है, इसलिए साधु इसके लिए प्रयत्न करते हैं ।। ४३ ।।

*कर्मवादियों के मत का समाधान*

भोगंमि कम्मवावारदारतोऽवित्थ दोसपडिसेहो ।
णेओ आणाजोएण कम्मुणो चित्तयाए य ।। ४४ ।।

भोगे कर्मव्यापारद्वारतोऽप्यत्र दोषप्रतिषेधः ।
ज्ञेय आज्ञायोगेन कर्मणः चित्रतया च ।। ४४ ।।

आप्तवचन के अनुसार प्रवृत्ति करते हुए भी ज्ञानावरणीयादि कर्मों के प्रभाव के कारण यदि अशुद्ध भोजन का ग्रहण हो जाये तो भी वह निर्दोष ही माना जाता है। किन्तु आप्तवचन के अनुसार आचरण नहीं करने वाला साधु यदि

अशुद्ध आहार ग्रहण करे तो उसका कर्म के कारण निर्दोष नहीं माना जायेगा, क्योंकि आहार की निर्दोषता में आप्तवचन का योग निमित्त-कारण ही होता है।

भोग में प्रवर्तमान व्यक्ति का कर्म विचित्र होता है। यह पुण्यानुबन्धी और पापानुबन्धी के भेद से दो प्रकार का होता है। इनमें से पुण्यानुबन्धी कर्म से भोग में प्रवृत्ति की जाये या करे तो भी परिणाम-विशेष घटित होने से दोष नहीं लगता है ।। ४४ ।।

*आहार निर्दोषता में कर्मबल कारण बनने पर आपत्ति*

इहरा ण हिंसगस्सऽवि दोसो पिसियादिभोत्तु कम्माओ ।
जं तस्सिद्धिपसंगो एयं लोगागमविरुद्धं ।। ४५ ।।

इतरथा न हिंसकस्यापि दोषः पिशितादिभोक्तुं कर्मतः ।
यत्तत् सिद्धिप्रसंग एतल्लोकागमविरुद्धम् ।। ४५ ।।

बिना किसी योग के केवल कर्म से अशुद्ध आहार होता है, इसलिए निर्दोष है — ऐसा मानने पर मांसाहार करने वाले हिंसकों को कर्मबन्ध रूप दोष नहीं लगेगा, क्योंकि यह सिद्ध होता है कि ज्ञानावरणीयादि कर्मों के प्रभाव से हिंसा होती है इसलिए दोष युक्त नहीं है। किन्तु यह लोक और आगम के विरुद्ध है। अर्थात् हिंसा और मांसाहार — लोक और सिद्धान्त इन दोनों से बाधित हैं ।। ४५ ।।

*निर्दोष भिक्षा की प्राप्ति सम्बन्धी प्रकरण का उपसंहार*

ता तहसंकप्पो च्चिय एत्थं दुट्ठोत्ति इच्छियव्वमिणं ।
तदभावपरिण्णाणं उवओगादीहिँ उ जतीण ।। ४६ ।।

तस्मात् तथासंकल्प एवात्र दुष्ट इति एष्टव्यमिदम् ।
तदभावपरिज्ञानमुपयोगादिभिस्तु यतीनाम् ।। ४६ ।।

भोजन पकाने के कार्य का आरम्भ तो अपने लिए ही होता है, इसलिए भोजन के समय इतना साधु के लिए और इतना अपने लिए है, ऐसा संकल्प दूषित होता है ऐसा मानना चाहिए तथा पुनः कुछ आहार में ऐसा संकल्प नहीं है, इसे ज्ञानोपयोग, निमित्त, शुद्धि और प्रश्न आदि से जाना जा सकता है ।। ४६ ।।

*उद्गमादि दोष किससे होते हैं ?*

गिहिसाहूभयपहवा उग्गमउप्पायणेसणादोसा ।
एए तु मंडलीए णेया संजोयणाईया ।। ४७ ।।

गृहिसाधूभयप्रभवा उद्गम उत्पादनैषणादोषाः ।
एते तु मंडल्या ज्ञेया संयोजनादिकाः ।। ४७ ।।

उद्गम दोष गृहस्थ से, उत्पादन दोष साधु से और एषणा दोष गृहस्थ और साधु इन दोनों से होते हैं। उद्गमादि गृहस्थ आदि से क्यों होता है — इसका विवेचन किया गया। अब संयोजन आदि भोजन मण्डली में होने वाले दोष कहे जा रहे हैं, उन्हें जानना चाहिए ।। ४७ ।।

*भोजन मंडली के पाँच दोष*

संयोजणा पमाणे इंगाले धूम कारणे चेव ।
उवगरण भत्तपाणे सबाहिरब्भंतरा पढमा ।। ४८ ।।

संयोजना प्रमाणमंगारो धूमः कारणं चैव ।
उपकरणे भक्तपाने सबाह्याभ्यन्तरा प्रथमा ।। ४८ ।।

संयोजन, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण — ये पाँच भोजन-मंडली के अर्थात् भोजन करते समय के दोष हैं।

१. *संयोजना* अर्थात् आहारादि में विशेषता लाने के लिए आहार को स्वादिष्ट बनाने-करने के लिए अन्य द्रव्यों का संयोग करना। इस प्रथम भेद संयोजना के उपकरण और आहार — ये दो भेद हैं। पुनः इन दोनों के बाह्य और आभ्यन्तर — ये दो-दो भेद हैं।

(क) उपकरण संयोजना — विभूषा के लिए चोल पट्टा आदि उपकरण माँगकर बाहर पहिनकर दिखाना बाह्य उपकरण संयोजना और उपाश्रय आदि में में पहिनना आभ्यन्तर उपकरण संयोजना है।

(ख) आहार संयोजना — भिक्षार्थ घूमते समय दूध, दही आदि मिलने पर उन्हें अपने भोजन में स्वाद बढ़ाने के लिए लेना बाह्य आहार संयोजना और भोजन करते समय उन्हें स्वाद हेतु मिलाना आभ्यन्तर आहार संयोजना है।

२. *प्रमाण* — परिमाण से अधिक भोजन करना ।

३. *अंगार* — चारित्र रूपी काष्ठ को अंगारे अर्थात् कोयले के समान करना ।

४. *धूम* — चारित्र रूपी काष्ठ को धूमयुक्त अर्थात् मलिन करना ।

५. *कारण* — अकारण भोजन करना ।। ४८ ।।

*प्रमाण आदि चार दोषों का लक्षण*

बत्तीस कवलमाणं रागद्दोसेहिं धूमइंगालं ।
वेयावच्चादीया कारणमविहिंमि अइयारो ।। ४९ ।।

द्वात्रिंशत् कवलमानं रागेद्वेषाभ्यां धूमाङ्गारम् ।
वैयावृत्यादय: कारणमविधौ अतिचार: ।। ४९ ।।

पुरुषों के लिए बत्तीस कवल (ग्रास) और स्त्री के लिए अट्ठाइस कवल (ग्रास) भोजन की मात्रा (प्रमाण) आगमों में कही गयी है । अत: उससे अधिक ग्रहण करना प्रमाण दोष है।

राग-द्वेष के द्वारा चारित्र को अंगारे अर्थात् कोयले के समान बनाना बेगारदोष है और चारित्र को धूमयुक्त अर्थात् किञ्चित् मलिन बनाना धूमदोष है।

वैयावृत्य (सेवा), ईर्यासमिति का पालन, संयम का पालन, प्रतिलेखनादि क्रिया, अपने प्राणों की रक्षा, सूत्रार्थ का अध्ययन और चिन्तन — इन कारणों से साधु को आहार लेना होता है।

प्रमाण से अधिक और अकारण भोजन रूप अविधि से अतिचार (दोष) लगता है ।। ४९ ।।

*प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार*

एयं णाऊणं जो सव्वं चिय सुत्तमाणतो कुणति ।
काउं संजमकायं सो भवविरहं लहुं लहति ।। ५० ।।

एतज्ज्ञात्वा य: सर्वमेव सूत्रमानत: करोति ।
कृत्वा संयमकायं सो भवविरहं लघु लभते ।। ५० ।।

जो साधु इस पिण्डविधान को जानकर और आप्तवचन को प्रमाण मानकर सम्पूर्ण पिण्ड दोषों को दूर करता है, वह अपनी संयम-यात्रा से जल्दी ही संसार से मुक्ति प्राप्त करता है।

**विशेष** : यहाँ मोक्षार्थी के लिए सर्वज्ञवचन ही शरण है — यह अभीष्ट है ।। ५० ।।

**।। इति पिण्डविधानविधिर्नाम त्रयोदशं पञ्चाशकम् ।।**

# १४

# शीलाङ्गविधानविधि पञ्चाशक

पिछले तेरहवें पञ्चाशक में पिण्डविशुद्धि की विधि बतायी गयी है। पिण्डविशुद्धि एवं शीलाङ्ग चारित्र का ही अंग है, इसलिए अब शीलाङ्ग (शील के भेदों) का विवेचन करने हेतु सर्वप्रथम मङ्गलाचरण करते हैं —

*मङ्गलाचरण*

नमिऊण वद्धमाणं सीलंगाइं समासओ वोच्छं ।
समणाण सुविहियाणं गुरूवएसाणुसारेणं ।। १ ।।

नत्वा वर्द्धमानं शीलाङ्गानि समासतो वक्ष्ये ।
श्रमणानां सुविहितानां गुरूपदेशानुसारेण ।। १ ।।

भगवान् महावीर को नमस्कार करके गुरु के उपदेशानुसार शुभानुष्ठान करने वाले श्रमणों के शील के भेदों को संक्षेप में कहूँगा ।। १ ।।

*शीलांगो का संख्यापरिमाण*

सीलंगाण सहस्सा अट्ठारस एत्थ होंति णियमेणं ।
भावेणं समणाणं अखंडचारित्तजुत्ताणं ।। २ ।।

शीलाङ्गानां सहस्राणि अष्टादशात्र भवन्ति नियमेन ।
भावेन श्रमणानामखण्डचारित्रयुक्तानाम् ।। २ ।।

अखण्ड भाव-चारित्र वाले श्रमणों के अठारह हजार शीलाङ्ग अवश्य होते हैं। यहाँ अखण्ड भाव-चारित्र वाले ऐसा श्रमणों (साधुओं) का विशेषण देने का अभिप्राय यह है कि द्रव्यसाधुओं में ये शीलाङ्ग नहीं होते हैं ।। २ ।।

*शील के अट्ठारह हजार भेद*

जोए करणे सण्णा इंदियभूमादिसमणधम्मे य ।
सीलंगसहस्साणं अट्ठारसगस्स णिप्फत्ती ।। ३ ।।

योगे करणे संज्ञेन्द्रियभूम्यादि श्रमणधर्मे च ।
शीलांगसहस्राणामष्टादशकस्य निष्पत्तिः ।। ३ ।।

योग, करण, संज्ञा, इन्द्रिय, भूमि आदि और श्रमणधर्म — ये सब मिलकर शील के अट्ठारह हजार भेद होते हैं ।। ३ ।।

*योगादि का स्वरूप*

करणादि तिण्णि जोगा मणमादीणि उ हवंति करणाइं ।
आहारादी सण्णा चउ सोया[1]इंदिया पंच ।। ४ ।।

भोमादी णव जीवा अजीवकाओ उ समणधम्मो उ ।
खंतादि दसपगारो एव ठिए भावणा एसा ।। ५ ।।

करणादय: त्रयो योगा मन आदीनि तु भवन्ति करणानि ।
आहारादय: संज्ञा चतस्र: श्रोत्रादीन्द्रियाणि पञ्च ।। ४ ।।
भूम्यादय: नव जीवा अजीवकायस्तु श्रमणधर्मस्तु ।
क्षान्त्यादि: दशप्रकार एव स्थिते भावना एषा ।। ५ ।।

**योग** – करना, कराना और अनुमोदन करना, **करण** – मन, वचन और काय, **संज्ञा** – आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार संज्ञायें क्रमश: वेदनीयकर्म, भय, मोह और लोभ कषाय के उदय से होने वाले अध्यवसाय विशेषरूप हैं। **इन्द्रिय** – श्रोत्र, चक्षु, नासिका, रसना और स्पर्श ।। ४ ।।

**पृथ्वीकायिकादि** – पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय — ये नौ जीवकाय और दसवाँ अजीवकाय (इनकी हिंसा और संग्रह को सर्वज्ञों ने त्याज्य कहा है)। अजीवकाय निम्नाङ्कित हैं — अधिक मूल्यवान वस्त्र, पात्र, सुवर्णादि धातुएँ, जिनकी प्रतिलेखना न हो सके — ऐसे ग्रन्थ, वस्त्र, तूल, प्रावारक आदि, कोदों आदि का पुआल, बकरी आदि का चर्म। **श्रमणधर्म** – क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति (सन्तोष), तप, संयम, सत्य, शौच, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ।। १० ।।

इन शीलाङ्गों की कुल संख्या इस प्रकार है — योग ३ x करण ३ x संज्ञा ४ x इन्द्रिय ५ x पृथ्वीकायादि १० x श्रमणधर्म १० = १८,०००। इनका विवरण गाथा संख्या ६ से ९ तक बतलाया जायेगा।

*शील के अठारह हजार भेदों का विवरण*

ण करति[2] मणेणाहारसण्णाविप्पजढगो उ णियमेण ।
सोइंदियसंवुडो पुढविकायआरंभ खंतिजुओ ।। ६ ।।

---

१. 'सण्णा' इति पाठान्तरम्।
२. 'करेति' इति पाठान्तरम्।

इय मद्दवादिजोगा पुढविक्काए भवंति दस भेया ।
आउक्कायादीसुवि इय एते पिंडियं तु सयं ॥ ७ ॥
सोइंदिएण एयं सेसेहिवि जं इमं तओ पंच ।
आहारसण्णजोगा इय सेसाहिं सहस्सदुगं ॥ ८ ॥
एयं मणेण वइमादिएसु एयंति छस्सहस्साइं ।
ण करइ सेसेहिंपि य एए सव्वेऽवि अट्ठारा ॥ ९ ॥

न करोति मनसाऽऽहारसंज्ञाविप्रहीणस्तु नियमेन ।
श्रोत्रेन्द्रियसंवृतः पृथ्वीकायाऽऽरम्भं क्षान्तियुतः ॥ ६ ॥
इति मार्दवादियोगात् पृथ्वीकाये भवन्ति दशभेदाः ।
अप्कायादिष्वपि इति एते पिण्डितं तु शतम् ॥ ७ ॥
श्रोत्रेन्द्रियेणैतच्छेषैरपि यदिदं ततः पञ्च ।
आहारसंज्ञायोगादिति शेषाभिः सहस्रद्वयम् ॥ ८ ॥
एतन्मनसा वागाद्यो एतदिति षट्सहस्राणि ।
न करोति शेषैरपि च ऐते सर्वेऽपि अष्टादश ॥ ९ ॥

आहारसंज्ञा रहित, श्रोत्रेन्द्रिय से होने वाली रागादि प्रवृत्तियों को रोकने वाला, क्षमावान, मन से भी पृथ्वीकाय आदि की हिंसा नहीं करता। यह श्रमणधर्म का प्रथम अंग है ॥ ६ ॥

इसी प्रकार मार्दव, आर्जव आदि दस धर्मों के संयोग से पृथ्वीकाय के आरम्भगत दश भेद होते हैं। इसी प्रकार अप्काय आदि के आधार पर कुल सौ भेद होते हैं ॥ ७ ॥

ये सौ भेद श्रोत्रेन्द्रिय के योग से हुए। शेष चक्षु आदि चार इन्द्रियों के योग से भी प्रत्येक के इस प्रकार सौ भेद होते हैं। इसलिए कुल पाँच सौ भेद हुए। ये पाँच सौ भेद आहार संज्ञा के योग से हुए। शेष तीन संज्ञा के योग से प्रत्येक के पाँच सौ भेद हुए । इस प्रकार कुल दो हजार भेद हुए ॥ ८ ॥

ये दो हजार भेद मन से हुए। शेष वचन और काया से भी प्रत्येक के दो-दो हजार भेद होते हैं, जो कुल मिलाकर छः हजार भेद होते हैं। ये छः हजार भेद स्वयं नहीं करने की दृष्टि से हुए। न करवाने और न समर्थन करने से भी प्रत्येक के छः छः हजार भेद हुए। इस प्रकार कुल मिलाकर अठारह हजार भेद हुए ॥ ९ ॥

**प्रश्न :** एक ही योग से अठारह हजार भेद होते हैं। यदि दो योगों आदि के संयोग से होने वाले भेदों को मिलाया जाय तो और अधिक भेद होंगे। वे इस

प्रकार हैं — योग में (दो आदि के संयोग से) ७, करण में ७, संज्ञा में १५, इन्द्रियों में ३१, पृथ्वीकायादि में १०२३, श्रमणधर्म में १०२३ भेद होतें हैं। इन सब भेदों को परस्पर गुणा करने पर इनकी संख्या २३, ८४, ५१, ६३, २६५ होती है, फिर यहाँ अठारह हजार भेद ही क्यों कहे गये हैं ?

**उत्तर :** श्रावकधर्म की तरह किसी अन्य भेद से सर्वविरति का स्वीकार होता हो तो ये भेद कहने चाहिए, किन्तु ऐसा है नहीं ।

**विशेष :** शीलाङ्ग के किसी एक भी भाग की सत्ता दूसरे सब की सत्ता हो तो ही सम्भव होती है। अठारह हजार में से कोई एक भी भाग न हो तो सर्वविरति ही नहीं होती है। यही तथ्य अगली गाथा में बतलाते हैं —

एत्थ इमं विण्णेयं अइदंपज्जं तु बुद्धिमंतेहिं ।
एक्कंपि सुपरिसुद्धं सीलंगं सेससब्भावे ।। १० ।।

अत्रेदं विज्ञेयमैदम्पर्यं तु बुद्धिमद्भिः ।
एकमपि सुपरिशुद्धं शीलाङ्गं शेषसद्भावे ।। १० ।।

बुद्धिमानों को इस शीलाङ्ग में निम्नलिखित तथ्य जानने चाहिए। कोई भी एक शीलाङ्ग तभी सुपरिशुद्ध होता है, जब शेष सभी शीलाङ्ग हों। इस प्रकार ये शीलाङ्ग समुदित ही होते हैं। इसलिए यहाँ दो आदि के संयोग से होने वाले भेद नहीं कहे गये हैं। केवल सर्वपदों के अन्तिम भेद के आधार पर अठारह हजार भेद कहे गये हैं ।। १० ।।

*उपर्युक्त विषय का समर्थन*

एक्को वाऽऽयपएसोऽसंखेयपएससंगओ जह तु ।
एतंपि तहा णेयं सतत्तचाओ इहरहा उ ।। ११ ।।
जम्हा समग्गमेयंपि सव्वसावज्जचागविरई उ ।
तत्तेणेगसरूवं ण खंडरूवत्तणमुवेइ ।। १२ ।।

एको वाऽऽत्मप्रदेशोऽसंख्येयप्रदेशसङ्गतो यथा तु ।
एतदपि तथा ज्ञेयं स्वतत्त्वत्याग इतरथा तु ।। ११ ।।
यस्मात् समग्रमेतदपि सर्वसावद्यत्यागविरतिस्तु ।
तत्त्वेनैकस्वरूपं न खण्डरूपत्वमुपैति ।। १२ ।।

जिस प्रकार आत्मा का एक प्रदेश भी असंख्य प्रदेश वाला होता है, उसी प्रकार एक शीलाङ्ग भी अन्य अनेक शीलाङ्गों से युक्त होता है। यदि स्वतन्त्र एक शीलाङ्ग हो तो वह शीलाङ्ग सर्वविरति रूप नहीं कहा जायेगा, क्योंकि सभी

शीलाङ्ग मिलकर सर्वविरति का शीलाङ्ग बनते हैं ।। ११ ।।

जिस प्रकार आत्मा परिपूर्ण प्रदेश वाला है, उसी प्रकार शील (चारित्र) भी परिपूर्ण अंग वाला हो तो ही सर्वविरति होती है। शील सर्वविरति रूप अठारह हजार शीलांग वाला है। इनमें से एक भी कम हो तो सर्वविरति नहीं होती ।। १२ ।।

*शील की अखण्डता अन्तःकरण के परिणामों की अपेक्षा से है*

एयं च एत्थ एवं विरतीभावं पडुच्च दट्ठव्वं ।
न उ बज्झंपि पवित्तिं जं सा भावं विणावि भवे ।। १३ ।।
जह उस्सग्गम्मि ठिओ खित्तो उदयम्मि केणति तवस्सी ।
तव्वहपवत्तकाओ अचलियभावोऽपवत्तो तु ।। १४ ।।
एवं चिय मज्झत्थो आणाओ कत्थई पयट्टंतो ।
सेहगिलाणादट्ठा अपवत्तो चेव णायव्वो ।। १५ ।।
एतच्चात्रैवं विरतिभावं प्रतीत्य द्रष्टव्यम् ।
न तु बाह्यमपि प्रवृत्तिं यत्सा भावं विनाऽपि भवेत् ।। १३ ।।
यथा उत्सर्गे स्थितः क्षिप्त उदके केनचित्तपस्वी ।
तद्वधप्रवृत्तकायोऽचलित - भावोऽप्रवृत्तस्तु ।। १४ ।।
एवमेव मध्यस्थ आज्ञातः कुत्रचित् प्रवर्तमानः ।
शैक्षग्लानाद्यर्थं अप्रवृत्तश्चैव ज्ञातव्यः ।। १५ ।।

प्रस्तुत प्रकरण में अखण्ड शील को विरति के परिणाम (विरक्ति के भाव) के आधार पर जानना चाहिए, न कि बाह्य प्रवृत्ति (वाचिक, कायिक) के आधार पर। क्योंकि बाह्य प्रवृत्ति भाव के बिना भी होती है ।। १३ ।।

जिस प्रकार किसी ने सामायिक में स्थित तपस्वी को पानी में डाल दिया। अब साधु की काया अप्कायिक जीवों की हिंसा में प्रवृत्त होने के बाद भी समभाव का परिणाम चलित नहीं होने के कारण वह साधु परमार्थ से अप्कायिक जीवों की हिंसा में प्रवृत्त नहीं है ।। १४ ।।

इसी प्रकार समभाव में स्थित साधु द्वारा आप्तवचन के अनुसार शैक्ष, ग्लान, आचार्य आदि की सेवा करते हुए क्वचिद् द्रव्य-हिंसा में प्रवृत्त होने के बाद भी उसका समभाव अविच्छिन्न होने से परमार्थ से वह अप्रवृत्त ही है ।। १५ ।।

*उपर्युक्त कथन का समाधान*

आणापरतंतो सो सा पुण सव्वण्णुवयणओ चेव ।
एगंतहिया वेज्जगणातेणं सव्वजीवाणं ।। १६ ।।

आज्ञापरतन्त्रः सः सा पुनः सर्वज्ञवचनतश्चैव ।
एकान्तहिता वैद्यकज्ञातेन सर्वजीवानाम् ।। १६ ।।

वह (द्रव्य-हिंसादि में प्रवृत्त) साधु आज्ञा के अधीन है और वह आज्ञा सर्वज्ञ की होने से वैद्य के उदाहरण से सभी जीवों का अन्ततोगत्वा हित करने वाली है, अर्थात् जिस प्रकार वैद्यक-शास्त्र किसी का हित नहीं करता है, किन्तु कोई यदि उसका पालन करता है तो उसके लिए वह हितकारी सिद्ध होता है, उसी प्रकार सर्वज्ञ की आज्ञा भी किसी का हित नहीं करती, किन्तु उसके अनुसार प्रवृत्ति करने वाले का नियमतः हित ही होता है ।। १६ ।।

भावं विणावि एवं होति पवत्ती ण बाहते एसा ।
सव्वत्थ अणभिसंगा विरतीभावं सुसाहुस्स ।। १७ ।।

भावं विनाऽपि एवं भवति प्रवृत्तिः न बाधते एषा ।
सर्वत्र अनभिष्वंगा विरतिभावं सुसाधोः ।। १७ ।।

अविरति रूप अध्यवसाय के बिना भी आज्ञापारतन्त्र्य से द्रव्यहिंसादि में प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति द्रव्य, क्षेत्र आदि में प्रतिबन्धरहित होती है, इसलिए सुसाधु की सर्वसावद्य से निवृत्तिरूप विरति के अध्यवसाय को बाधित नहीं करती है ।। १७ ।।

*आज्ञाविरुद्ध प्रवृत्ति विरति भाव को खंडित करती है*

उस्सुत्ता पुण बाहति समतिवियप्पसुद्धावि णियमेणं ।
गीतणिसिद्ध - पवज्जणरूवा णवरं निरणुबंधा ।। १८ ।।

इयरा उ अभिणिवेसा इयरा ण य मूलछिज्जविरहेण ।
होएसा एत्तो च्चिय पुव्वायरिया इमं चाहू ।। १९ ।।

उत्सूत्रा पुनर्बाधते स्वमतिविप्रशुद्धाऽपि नियमेन ।
गीतनिषिद्ध-प्रतिपादनरूपा केवलं निरनुबन्धा ।। १८ ।।

इतरा तु अभिनिवेषाद् इतरा न च मूलच्छेद्यविरहेण ।
भवत्येषा अत एव पूर्वाचार्या इदं चाहुः ।। १९ ।।

किन्तु आज्ञा-विरुद्धप्रवृत्ति अपनी मति से विशुद्ध होते हुए भी विरतिभाव को अवश्य बाधित करती है। सूत्र से विरुद्ध प्रवृत्ति प्रज्ञापनीय और अप्रज्ञापनीय — दो प्रकार की होती है। सूत्रविरुद्ध प्रवृत्ति करने वाला यदि गीतार्थ साधु के समझाने पर सूत्रविरुद्ध प्रवृत्ति करना बन्द कर दे तो वह प्रवृत्ति प्रज्ञापनीय है, यदि बन्द न करे तो अप्रज्ञापनीय। इसमें प्रज्ञापनीय सूत्रविरुद्ध प्रवृत्ति निरनुबन्ध अर्थात् रोकी जा

सके ऐसी है, क्योंकि विरुद्धप्रवृत्ति करने वाला साधु अभिनिवेशरहित होने के कारण गीतार्थ वचन स्वीकार कर सूत्रानुसारी प्रवृत्ति करता है ॥ १८ ॥

अप्रज्ञापनीय की सूत्रविरुद्ध प्रवृत्ति अभिनिवेश वाली (अशुभ कर्म बन्ध करनेवाली) होने के कारण सानुबन्ध (रोकी न जा सके — ऐसी) है, क्योंकि गीतार्थ के रोकने पर भी उसके वचन को स्वीकार नहीं करने के कारण आगम-सम्मत प्रवृत्ति नहीं करता है। यह अप्रज्ञापनीय सूत्रविरुद्ध प्रवृत्ति मूल से चारित्र का अभाव हुए बिना नहीं होती, इसीलिए पूज्यपाद आर्य श्री भद्रबाहु स्वामी ने कहा है —

गीयत्थो य विहारो बीओ गीयत्थमीसओ भणितो ।
एतो तइयविहारो णाणुण्णाओ जिणवरेहिं ॥ २० ॥

गीतार्थश्च विहारो द्वितीयो गीतार्थमिश्रको भणितः ।
इतः तृतीयविहारो नानुज्ञातो जिनवरैः ॥ २० ॥

जिनेन्द्रदेव ने एक गीतार्थ (बहुश्रुत) का विहार और दूसरा गीतार्थ के आश्रित अगीतार्थ का विहार — ये दो विहार कहे हैं। इनके अतिरिक्त कोई तीसरा विहार नहीं कहा है ॥ २० ॥

*भद्रबाहु स्वामी के उक्त वचन का समर्थन*

गीयस्स ण उस्सुत्ता तज्जुत्तस्सेयरस्सवि तहेव ।
णियमेण चरणवं जं ण जाउ आणं विलंघेइ ॥ २१ ॥

ण य तज्जुत्तो अण्णं ण णिवारइ जोगगयं मुणेऊणं ।
एवं दोण्हवि चरणं परिसुद्धं अण्णहा णेव ॥ २२ ॥

गीतस्य न उत्सूत्रा तद्युक्तस्येतरस्यापि तथैव ।
नियमेन चरणवान् यन्न जातु आज्ञां विलङ्घयति ॥ २१ ॥

न च तद्युक्तोऽन्यं न निवारयति योग्यतां ज्ञात्वा ।
एवं द्वयोरपि चरणं परिशुद्धमन्यथा नैव ॥ २२ ॥

गीतार्थ और गीतार्थ की आज्ञा में रहने वाले अन्य साधुओं की प्रवृत्ति सूत्र के विरुद्ध नहीं होती है, क्योंकि गीतार्थ (चारित्रवान्) कभी आप्तवचन का उल्लंघन नहीं करता है ॥ २१ ॥

चारित्रवान किन्तु सूत्रविरुद्ध प्रवृत्ति करने वाले को योग्य जानकर उसे ऐसा करने से रोकता है। इस प्रकार उन दोनों का चारित्र परिशुद्ध होता है, अन्यथा (अर्थात् अगीतार्थ होकर आज्ञा का उल्लंघन करने से और गीतार्थ के न होने से

तथा कोई रोकने वाला न होने से) चारित्र परिशुद्ध नहीं बनता है, इसीलिए गीतार्थ और गीतार्थ सहित — इन दो का विहार कहा है ॥ २२ ॥

*उपर्युक्त विषय का प्रस्तुत प्रकरण में घटन*

ता एव विरतिभावो संपुण्णो एत्थ होइ णायव्वो ।
णियमेणं अट्ठारससीलंग- सहस्सरूवो उ ॥ २३ ॥

तदेव विरतिभाव: सम्पूर्णोऽत्र भवति ज्ञातव्य: ।
नियमेन अष्टादश-शीलाङ्ग-सहस्त्ररूपस्तु ॥ २३ ॥

इसलिए आज्ञापरतन्त्र की बाह्य-प्रवृत्ति विरति को बाधित नहीं करती है, इस नियम से यहाँ अठारह हजार शीलाङ्ग परिमाण ही सम्पूर्ण सर्वविरति का भाव है ॥ २३ ॥

*शीलाङ्ग एक भी कम नहीं होते — इसका आगम से समर्थन*

ऊणत्तं ण कयाइवि इमाण संखं इमं तु अहिकिच्च ।
जं एयधरा सुत्ते णिद्दिट्ठा वंदणिज्जा उ ॥ २४ ॥

ऊनत्वं न कदाचिदपि एषां संख्याम् इमां तु अधिकृत्य ।
यदेतद्धरा: सूत्रे निर्दिष्टा वन्दनीयास्तु ॥ २४ ॥

शीलाङ्गों की अठारह हजार की संख्या में से कभी भी एकादि कम नहीं होता है, क्योंकि प्रतिक्रमण सूत्र में अठारह हजार शीलाङ्गों को धारण करने वालों को ही वन्दनीय कहा गया है, अन्यों को नहीं ॥ २४ ॥

*शीलाङ्गों का पालन कोई महान् ही कर सकता है, सभी नहीं*

ता संसारविरत्तो अणंतमरणादिरूवमेयं तु ।
णाउं एयविउत्तं मोक्खं च गुरूवएसेणं ॥ २५ ॥

परमगुरुणो य अहणे आणाएँ गुणे तहेव दोसे य ।
मोक्खट्ठी पडिवज्जिय भावेण इमं विसुद्धेणं ॥ २६ ॥

विहिताणुट्ठाणपरो सत्तऽणुरूवमियरंपि संधेंतो ।
अण्णत्थ अणुवओगा खवयंतो कम्मदोसेवि ॥ २७ ॥

सव्वत्थ णिरभिसंगो आणामेत्तम्मि सव्वहा जुत्तो ।
एगग्गमणो धणियं तम्मि तहाऽमूढलक्खो य ॥ २८ ॥

तह तइलपत्तिधारगणायगओ राहवेहगगओ वा ।
एयं चएइ काउं ण उ अण्णो खुद्दसत्तोत्ति ॥ २९ ॥

तत् संसारविरक्तोऽनन्त-मरणादिरूपमेततु ।
ज्ञात्वा एतद्वियुक्तं मोक्षं च गुरूपदेशेन ।। २५ ।।

परमगुरोश्च अनघान् आज्ञाया गुणान् तथैव दोषांश्च ।
मोक्षार्थी प्रतिपद्य भावेन इदं विशुद्धेन ।। २६ ।।

विहितानुष्ठानपरः शक्त्यनुरूपमितरदपि सन्धयन् ।
अन्यत्र अनुपयोगात् क्षपयन् कर्मदोषानपि ।। २७ ।।

सर्वत्र निरभिष्वङ्ग आज्ञामात्रे सर्वथा युक्तः ।
एकाग्रमनाः धनिकं तस्मिन् तथाऽमूढलक्षश्च ।। २८ ।।

तथा तैलपात्रीधारकज्ञातगत राधावेधकगतो वा ।
एतच्छक्नोति कर्त्तुं न त्वन्यः क्षुद्रसत्त्व इति ।। २९ ।।

ऐसे शील का पालन कठिन होने से जो गुरु के उपदेश से संसार को अनन्त जन्म-मरण का हेतु जानकर और मोक्ष को जन्म-मृत्यु के रहित जानकर संसार विरक्त बना हो, जो जिनाज्ञा की आराधना में निरवद्य उपकारों और अपकारों को जानकर मोक्षार्थी बना हो, जिसने इस चारित्र को निःशंक होकर विशुद्धभाव से स्वीकार किया हो और शक्ति के अनुरूप आगमोक्त क्रियाओं में उद्यत हो, साथी ही जिन क्रियाओं में असमर्थ हो उन्हें भाव से करता हो और जो क्रियाएँ आगमोक्त नहीं हैं उन्हें नहीं करता हो, जो कर्म दोषों को निर्जरित करते हुए सर्वत्र (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में) अप्रतिबद्ध, केवल आज्ञा में उद्यत, एकाग्रचित्त का स्वामी, आज्ञा में अमूढलक्ष हो (आज्ञा सम्बन्धी सुनिश्चित बोध वाला हो), प्रमाद से नुकसान होगा ऐसा जानने से तैलपात्र धारक (मृत्यु के भय से तेल भरा कटोरा लेकर नगर में घूमने वाला) और राधावेधक (उपद्रवों की चिन्ता किये बिना पुतली की आँख को वेधने वाले) की तरह अत्यधिक अप्रमत्तपूर्वक रहे, वही यह चारित्र पालने में समर्थ होता है, दूसरा नहीं। क्योंकि दूसरे क्षुद्र जीवों में ऐसी शक्ति नहीं होती है ।। २५-२९ ।।

*प्रस्तुत प्रकरण में उक्त विषय की योजना*

एत्तो चिय णिद्दिट्ठं पुव्वायरिएहिँ भावसाहुत्ति ।
हंदि पमाणठियट्ठो[१] तं च पमाणं इमं होइ ।। ३० ।।

सत्थुत्तगुणो साहू ण सेस इह णे पइण्ण इह हेऊ ।
अगुणत्ता इह णेओ दिट्ठंतो पुण सुवण्णं व ।। ३१ ।।

१. 'ठियत्थो' इति पाठान्तरम्।

यत एव निर्दिष्टं पूर्वाचार्यैः भावसाधुरिति ।
हंदि प्रमाणस्थितार्थः तच्च प्रमाणमिदं भवति ॥ ३० ॥

शास्त्रोक्तगुणः साधुः न शेष इह नः प्रतिज्ञा इह हेतुः ।
अगुणत्वाद्रिह ज्ञेयो दृष्टान्तः पुनः सुवर्णवत् ॥ ३१ ॥

शील दुर्धर होता है, इसलिए भद्रबाहु स्वामी आदि पूर्वाचार्यों ने भावसाधु का निर्णय अनुमान प्रमाण से होता है — ऐसा कहा है। वह अनुमान प्रमाण इस प्रकार है ॥ ३० ॥

आगमोक्त गुणों से युक्त साधु ही साधु है। आगमोक्त गुणों से रहित साधु साधु नहीं है — यह हमारा पक्ष (प्रतिज्ञा) है। 'शास्त्रोक्त गुणों से रहित होने से' यह पक्ष में हेतु है। यहाँ सुवर्ण की तरह दृष्टान्त समझना चाहिए । अर्थात् जिस प्रकार सुवर्ण के गुणों से रहित सुवर्ण वास्तविक सुवर्ण नहीं है, उसी प्रकार साधु के गुणों से रहित साधु वास्तविक साधु नहीं है ॥ ३१ ॥

*सुवर्ण के गुण*

विसघाइ-रसायण-मंगलट्ठ-विणए पयाहिणावत्ते ।
गरुए अडज्झ-कुत्थे, अट्ठ सुवण्णे गुणा होंति ॥ ३२ ॥

विषघाती-रसायन-मङ्गलार्थ-विनयं प्रदक्षिणावर्तम् ।
गुरुकमदाह्य-अकुत्स्यमष्टौ सुवर्णे गुणाः भवन्ति ॥ ३२ ॥

१. विषघाती — विषनाशक, २. रसायन — वृद्धावस्था को प्रतीत नहीं होने देने वाला, ३. मंगलकारी, ४. विनीत — कंगन आदि आभूषण बनाने के लिए अपेक्षित लचीलापन, ५. प्रदक्षिणावर्त — अग्नितापं से दायीं ओर से गोल घूमने वाला, ६. गुरुक-भारयुक्त, ७. अदाह्य — अग्नि से जल न सके ऐसा और ८. अकुत्स्य — दुर्गन्धरहित — ये आठ गुण स्वर्ण में होते हैं ॥ ३२ ॥

*इसी प्रकार साधु के भी आठ गुण*

इय मोहविसं घायइ सिवोवएसा रसायणं होति ।
गुणओ य मंगलट्ठं कुणति विणीओ य जोग्गोत्ति ॥ ३३ ॥

मग्गणुसारि पयाहिण गंभीरो गरुयओ तहा होइ ।
कोहग्गिणा अडज्झोऽकुत्थो सइ सीलभावेणं ॥ ३४ ॥

इति मोहविषं घातयति शिवोपदेशाद्रसायनं भवति ।
गुणतश्च मंगलार्थं करोति विनीतश्च योग्य इति ॥ ३३ ॥

मार्गानुसारी प्रदक्षिणा गम्भीरो गुरुकस्तथा भवति ।
क्रोधाग्निना अदाह्योऽकुत्स्यः सदा शीलभावेन ।। ३४ ।।

सुवर्ण की ही तरह साधु भी १. विषघाती : जीवों के मोहरूपी विष के नाशक होते हैं, २. रसायन : मोक्षमार्ग का उपदेश देकर अजर-अमर बनाते हैं, ३. मंगलार्थ : अपने गुणों से मंगलकारी होते हैं, ४. विनीत : स्वभाव से ही विनयी होते हैं, ५. प्रदक्षिणावर्त : तात्त्विक मार्गानुसारी, ६. अदाह्य : क्रोधाग्नि से जलते नहीं, ७. गुरुक : गम्भीर होते हैं, ८. अकुत्स्य : सदा शील रूप सुगन्ध वाले होते हैं, इसलिए कभी दुर्गुणरूपी दुर्गन्ध उनमें नहीं होती है ।। ३३-३४ ।।

*उपर्युक्त विषय की योजना*

एवं दिट्ठंतगुणा सज्झम्मिवि एत्थ होंति णायव्वा ।
ण हि साहम्माभावे पायं जं होइ दिट्ठंतो ।। ३५ ।।

एवं दृष्टान्तगुणाः साध्येऽपि अत्र भवन्ति ज्ञातव्याः ।
न हि साधर्म्याभावे प्रायो यद्भवति दृष्टान्तः ।। ३५ ।।

सुवर्ण के विषघाती आदि गुण तात्त्विक साधु रूप साध्य में भी होते हैं, क्योंकि प्रायः साधर्म्य के अभाव में दृष्टान्त नहीं बनता (कभी वैधर्म्य में भी दृष्टान्त होता है, इसीलिए 'प्रायः' शब्द प्रयुक्त हुआ है) ।। ३५ ।।

*किस प्रकार के सोने में उक्त आठ गुण होते हैं ?*

चउकारणपरिसुद्धं कसच्छेयतावतालणाए य ।
जं तं विसघाति- रसायणादि-गुणसंजुयं होइ ।। ३६ ।।

चतुष्कारण-परिशुद्धं कषच्छेदतापताडनया च ।
यत्तद्विषघाति-रसायनादि-गुणसंयुतं भवति ।। ३६ ।।

जो सोना कष = कसौटी पर घिसना, छेद = काटना, ताप = अग्नि में तपाना और ताड़ना-पीटना — इन चार कारणों से शुद्ध सिद्ध हुआ हो वही सोना विषघात, रसायन आदि आठ गुणों से युक्त होता है। उक्त परीक्षाओं से शुद्ध सिद्ध न हुए सोने में उक्त आठ गुण नहीं होते हैं ।। ३६ ।।

*तत्त्विक साधु में उपर्युक्त कष आदि का घटन*

इयरम्मि कसाईया विसिट्ठलेसा तहेगसारत्तं ।
अवगारिणि अणुकंपा वसणे अइणिच्चलं चित्तं ।। ३७ ।।

इतरस्मिन् कषादयो विशिष्टलेश्या तथैकसारत्वम् ।
अपकारिणि अनुकम्पा व्यसने अतिनिश्चलं चित्तम् ।। ३७ ।।

पारमार्थिक साधु में कषादि से शुद्धि निम्नवत् होती है – पद्म, शुक्ल आदि विशिष्टलेश्या (मनोभाव) कषशुद्धि हैं, क्योंकि कर्षण से शुद्ध सुवर्ण और शुभलेश्याओं से युक्त साधु — दोनों ही निर्मल होते हैं। शुद्धभावों की प्रधानता छेदशुद्धि है। अपकारी के प्रति कृपा तापशुद्धि है, इस प्रकार विकाराभाव की दृष्टि से सोना और साधु में समानता है (जैसे तापशुद्ध सोना अग्नि में पड़ने पर दोषयुक्त नहीं बनता है, वैसे ही तापशुद्ध साधु अपकारी के प्रति क्रोधादि रूप विकारवाला नहीं होता है)। बीमारी आदि में अचल बने रहना ताडनाशुद्धि है। जिस प्रकार ताडनाशुद्ध सोने में सुवर्ण के आठ गुण होते हैं, उसी प्रकार ताडनाशुद्ध साधु में शास्त्रोक्त साधु के गुण होते हैं ।। ३७ ।।

*नाम और आकृति से साधु नहीं बना जा सकता*

तं कसिणगुणोवेयं होइ सुवण्णं ण सेसयं जुत्ती ।
ण वि णाम रूवमेत्तेण एवमगुणो भवति साहू ।। ३८ ।।

तत्कृत्स्नगुणोपेतं भवति सुवर्णं न शेषकं युक्तिः ।
नापि नाम रूपमात्रेण एवमगुणो भवति साधुः ।। ३८ ।।

जिस प्रकार उपर्युक्त आठ गुणों से युक्त सोना वास्तविक सोना है, गुण रहित सोना वास्तविक सोना नहीं है, अपितु नकली है। उसी प्रकार (शास्त्रोक्त साधुगुणों से युक्त साधु ही वास्तविक साधु है) गुणरहित साधु वेश मात्र से वास्तविक साधु नहीं होता है ।। ३८ ।।

*रंग से सोना नहीं बनता*

जुत्तीसुवण्णगं पुण सुवण्णवण्णं तु जदिवि कीरेज्जा ।
ण हु होति तं सुवण्णं सेसेहिं गुणेहऽसंतेहिं ।। ३९ ।।

युक्तिसुवर्णकं पुनः सुवर्णवर्णं तु यद्यपि क्रियेत ।
न खलु भवति तत्सुवर्णं शेषैर्गुणैरसद्भिः ।। ३९ ।।

सोना नहीं होने पर भी दूसरे द्रव्यों के संयोग से सोने जैसा दिखलाई देने वाला असली सोना नहीं है, अपितु नकली सोना है। नकली सोने को सोने के रंग जैसा भी किया जाये तो भी वह असली सोना नहीं होगा, क्योंकि उसमें सोने के विष-घाती आदि गुण नहीं हैं ।। ३९ ।।

*साधु के गुणों से युक्त साधु ही तात्त्विक साधु है*

जे इह सुत्ते भणिया साहुगुणा तेहिं होइ सो साहू ।
वण्णेणं जच्चसुवण्णगव्व संते गुणणिहिम्मि ।। ४० ।।

य इह सूत्रे भणिताः साधुगुणास्तैः भवति सः साधुः ।
वर्णेन जात्यसुवर्णक इव सति गुणनिधौ ।। ४० ।।

जैसे पीला सोना विषघात आदि गुणों से युक्त हो तो ही वास्तविक सोना है, उसी प्रकार शास्त्रोक्त साधु-गुणों से युक्त साधु ही वास्तविक साधु है ।। ४० ।।

*भिक्षाटन करने से ही साधु नहीं बना जाता*

जो साहू गुणरहिओ भिक्खं हिंडेति ण होति सो साहू ।
वण्णेणं जुत्तिसुवण्णगव्वऽसंते गुणणिहिम्मि ।। ४१ ।।

यः साधुः गुणरहितो भिक्षां हिंडते न भवति सः साधुः ।
वर्णेन युक्तिसुवर्णक इव असति गुणनिधौ ।। ४१ ।।

जैसे विषघातादि गुणों से रहित नकली सोना स्वर्णिम रंग मात्र से असली सोना नहीं कहा जा सकता है, उसी प्रकार साधु के गुणों से रहित साधु भिक्षार्थ घूमने मात्र से वास्तविक साधु नहीं कहा जा सकता है ।। ४१ ।।

*गुणरहित साधु का वर्णन*

उद्दिट्ठकडं[१] भुंजति छक्कायपमद्दणो घरं कुणति।
पच्चक्खं च जलगते जो पियइ कह णु सो साहू ?।। ४२ ।।

उद्दिष्टकृतं भुंक्ते षट्कायप्रमर्दनो गृहं करोति।
प्रत्यक्षञ्च जलगतान् यः पिबति कथं नु सः साधुः ।। ४२ ।।

जो निश्चय से औद्देशिक आधाकर्म आदि दोषयुक्त आहार करता है, वह निश्चय ही पृथ्वी आदि षट्काय के जीवों की हिंसा करता है, जिन-भवन आदि के बहाने निश्चयपूर्वक घर बनवाता है तथा जानते हुए भी सचित्त जल पीता है, वह साधु कैसे हो सकता है अर्थात् कदापि नहीं हो सकता है ।। ४२ ।।

*साधु-सम्बन्धी कषादि परीक्षाविषयक मतान्तर*

अन्ने उ कसादीया किल एते एत्थ होंति णायव्वा ।
एताहिँ परिक्खाहिं साहुपरिक्खेह कायव्वा ।। ४३ ।।

अन्ये तु कषादयः किल एतेऽत्र भवन्ति ज्ञातव्याः ।
एताभिः परीक्षाभिः साधुपरीक्षेह कर्तव्या ।। ४३ ।।

दूसरे कुछ आचार्य कहते हैं कि साधु के सन्दर्भ में कष आदि क्रमशः

---

१. 'उद्दित्थकडं' इति पाठान्तरम् ।

आधाकर्म आहार आदि हैं। यहाँ अनन्तरोक्त कषादि परीक्षाओं से साधु की परीक्षा करनी चाहिए ।। ४३ ।।

*सूत्रों में कहे हुए साधुगुणों से ही साधु बना जा सकता है*

तम्हा जे इह सुत्ते साहुगुणा तेहिँ होइ सो साहू ।
अच्चंतसुपरिसुद्धेहिँ मोक्खसिद्धित्ति काऊणं ।। ४४ ।।

तस्माद्य इह सूत्रे साधुगुणास्तैर्भवति सः साधुः ।
अत्यन्तसुपरिशुद्धैः मोक्षसिद्धिरिति कृत्वा ।। ४४ ।।

साधुगुणों से रहित साधु वास्तविक साधु नहीं होता है, अपितु आगम में कहे हुए साधुगुणों के पालन से वास्तविक साधु हो सकता है, क्योंकि आगमोक्त साधुगुण अत्यन्त शुद्ध हैं और अत्यन्त शुद्ध साधुगुणों से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसीलिए आगम में कहे हुए साधुगुणों का पालन करके ही वास्तविक साधु बना जा सकता है – ऐसा कहा गया है ।। ४४ ।।

*प्रस्तुत विषय का उपसंहार*

अलमेत्थ पसंगेणं सीलंगाइं हवंति एमेव ।
भावसमणाण सम्मं अखंडचारित्तजुत्ताणं ।। ४५ ।।

अलमत्र प्रसङ्गेन शीलाङ्गानि भवन्ति एवमेव ।
भावश्रमणानां सम्यगखण्ड-चारित्रयुक्तानाम् ।। ४५ ।।

शीलाङ्गों के सन्दर्भ में प्रासंगिक वर्णन यहाँ पूरा होता है। अखंडचारित्र युक्त भावसाधुओं के शीलांग उपर्युक्त रीति से पूर्ण अर्थात् अठारह हजार में एक भी कम नहीं होते हैं ।। ४५ ।।

*शीलांगयुक्त साधुओं को मिलने वाला फल*

इय सीलंगजुया खलु दुक्खंतकरा जिणेहिँ पण्णत्ता ।
भावपहाणा साहू ण तु अण्णे दव्वलिंगधरा ।। ४६ ।।

इति शीलाङ्गयुताः खलु दुःखान्तकराः जिनैः प्रज्ञप्ताः ।
भावप्रधानाः साधवो न तु अन्ये द्रव्यलिङ्गधराः ।। ४६ ।।

इस प्रकार सम्पूर्ण शीलाङ्गों युक्त शुभ अध्यवसाय वाले साधु ही सांसारिक दुःख का अन्त (नाश) करते हैं, अन्य द्रव्यलिंगी (शुभ अध्यवसाय रहित केवल साधु वेश धारण करने वाले) साधु नहीं – ऐसा जिनेन्द्रदेवों ने कहा है ।। ४६ ।।

*द्रव्यलिंगधारी क्रियाबल से दुःख का नाश नहीं कर सकते*

संपुण्णावि हि किरिया भावेण विणा ण होतिकिरियत्ति ।
णियफलविगलत्तणओ गेवेज्जुववायणाएणं ।। ४७ ।।

आणोहेणाणंता मुक्का गेवेज्जगेसु उ सरीरा ।
ण य तत्थासंपुण्णाएँ साहुकिरियाएँ उववाओ ।। ४८ ।।

ता णंतसोऽवि पत्ता एसा ण उ दंसणंपि सिद्धंति ।
एवमसग्गहजुत्ता एसा ण बुहाण इट्ठत्ति ।। ४९ ।।

सम्पूर्णाऽपि हि क्रिया भावेन विना न भवति क्रियेति ।
निजफलविगलत्वतो ग्रैवेयकोपपातज्ञातेन ।। ४७ ।।

आज्ञौघेनानन्तानि मुक्तानि ग्रैवेयकेषु तु शरीराणि ।
न च तथासम्पूर्णया साधुक्रियया उपपातः ।। ४८ ।।

तदनन्तशोऽपि प्राप्ता एषा न तु दर्शनमपि सिद्धमिति ।
एवमसद्ग्रहयुक्ता एषा न बुधानामिष्टेति ।। ४९ ।।

मुनि-धर्म पालन रूप सम्पूर्ण क्रिया भी सम्यक्त्व आदि प्रशस्त भावों के अभाव में सम्यक् क्रिया नहीं बनती है, क्योंकि वह क्रिया अपने मोक्षरूपी फल से रहित है। इससे ग्रैवेयक में उपपात (उत्पत्ति) तो सम्भव है, किन्तु मुक्ति नहीं, अर्थात् ग्रैवेयक में उत्पत्ति रूप मोक्ष फलरहित क्रिया परमार्थ से क्रिया नहीं है — यह सिद्ध होता है, क्योंकि ग्रैवेयक में उत्पत्ति संसार-परिभ्रमण का ही हेतु है, मोक्ष का नहीं ।। ४७ ।।

वह इस प्रकार है — सम्यग्दर्शन से रहित केवल बाह्याचार का पालन करके जीव ने अनेक बार ग्रैवेयक विमानों में जन्म लेकर शरीर छोड़े हैं, क्योंकि सम्पूर्णतया साधु-आचार का पालन किये बिना ग्रैवेयक विमानों की उत्पत्ति नहीं होती है ।। ४८ ।।

इससे यह सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण साधु-आचार का पालन जीव ने अनन्त बार किया है, तभी तो ग्रैवेयक विमानों में उत्पन्न होकर जीव ने अनन्तबार उन देव-शरीरों को छोड़ा है फिर भी मोक्ष के कारणभूत सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होने से मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ, क्योंकि यदि सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई होती तो अनन्त बार साधु-जीवन की प्राप्ति और अनन्त बार ग्रैवेयक विमानों में उत्पत्ति नहीं होती। इन्हीं कारणों से सम्यक्त्व आदि शुद्धभावों से रहित (प्रशस्तभाव रहित) निरर्थक क्रिया बुद्धिमानों को अभिमत नहीं है ।। ४९ ।।

*प्रकरण का उपसंहार*

इय णियबुद्धिएँ इमं आलोएऊण एत्थ जइयव्वं ।
अच्चंत - भावसारं भवविरहत्थं महजणेणं ।। ५० ।।

इति निजबुद्ध्या इदमालोच्य अत्र यतितव्यम् ।
अत्यन्त - भावसारं भवविरहार्थं महाजनेन ।। ५० ।।

इस प्रकार विशिष्ट लोगों को स्व-विवेकपूर्वक उक्त प्रकार से विचार करके संसार-सागर से मुक्त होने के लिए भावयुक्त क्रिया करनी चाहिए ।। ५० ।।

**।। इति शीलाङ्गविधानविधिर्नाम चतुर्दशं पञ्चाशकम् ।।**

## १५

# आलोचनाविधि पञ्चाशक

चौदहवें पञ्चाशक में शीलाङ्गों का विवेचन किया गया है। यदि किसी कारणवश शीलाङ्गों का अतिक्रमण हो जाये तो उसकी शुद्धि के लिए आलोचना करनी पड़ती है। इसलिए आलोचना का विवेचन करने हेतु सर्वप्रथम मङ्गलाचरण करते हैं —

*मङ्गलाचरण*

नमिऊण तिलोगगुरुं वीरं सम्मं समासओ वोच्छं।
आलोयणाविहाणं जतीण सुत्ताणुसारेणं ॥ १ ॥

नत्वा त्रिलोकगुरुं वीरं सम्यक् समासतो वक्ष्ये।
आलोचनाविधानं यतीनां सूत्रानुसारेण ॥ १ ॥

तीनों लोकों के गुरु भगवान् महावीर को सम्यक् प्रकार से नमस्कार करके साधुओं की आलोचनाविधि को संक्षेप में आगमानुसार कहूँगा ॥ १ ॥

**विशेष** : श्रावक सम्बन्धी आलोचनाविधि का वर्णन पहले पञ्चाशक की नौवीं गाथा में कर दिया गया है।

*आलोचना शब्द का अर्थ*

आलोयणं अकिच्चे अभिविहिणा दंसणंति लिंगेहिं।
वइमादिएहिं सम्मं गुरुणो आलोयणा णेया ॥ २ ॥

आलोचनमकृत्ये अभिविधिना दर्शनमिति लिङ्गैः।
वागादिभिः सम्यग् गुरोरालोचना ज्ञेया ॥ २ ॥

अपने दुष्कृत्यों को गुरु के समक्ष विशुद्धभाव से बिना कुछ भी छिपाये पूर्णतया वाणी आदि से प्रकाशित करना आलोचना है ॥ २ ॥

*आलोचना से लाभ*

आसेवितेऽवि[1]ऽकिच्चेऽणाभोगादीहिं होति संवेगा।
अणुतावो तत्तो खलु एसा सफला मुणेयव्वा ॥ ३ ॥

---

१. 'ऽव' इति मूलपाठः।

आसेवितेऽपि अकृत्ये अनाभोगादिभिः भवति संवेगात् ।
अनुतापः ततः खलु एषा सफला ज्ञातव्या ।। ३ ।।

आलोचना में अज्ञानता आदि के कारण दुष्कृत्य का सेवन करने पर भी संसार के भय से उस दुष्कृत्य के लिए पश्चात्ताप होता है, इसलिए आलोचना सार्थक है ।। ३ ।।

**विशेष :** दुष्कृत्य के निम्न कारण हैं — सहसा, अज्ञान, भय, दूसरे की प्रेरणा, आपत्ति, रोग, मोह और रागद्वेष।

*पश्चात्ताप से आलोचना की सफलता का कारण*

जह संकिलेसओ इह बंधो वोदाणओ तहा विगमो ।
तं पुण इमीएँ णियमा विहिणा सइ सुप्पउत्ताए ।। ४ ।।

यथा संक्लेशत इह बन्धो व्यपदानतस्तथा विगमः ।
तत्पुनरनया नियमाद्विधिना सकृत् सुप्रयुक्तया ।। ४ ।।

जिस प्रकार रागादि रूप चित्त की मलिनता के कारण दुष्कृत्य का सेवन करने पर अशुभकर्म का बन्ध होता है, उसी प्रकार पश्चात्ताप रूप चित्तविशुद्धि के कारण उस अशुभकर्म का क्षय होता है। आगे कही जाने वाली विधि से भावपूर्वक की गयी आलोचना द्वारा चित्त की विशुद्धि अवश्य ही होती है ।। ४ ।।

*विधिरहित आलोचना से विशुद्धि नहीं*

इहरा विवज्जओऽवि हु कुवेज्जकिरियादिणायतो णेओ ।
अवि होज्ज तत्थ सिद्धी आणाभंगा न उण एत्थ ।। ५ ।।
तित्थगराणं आणा सम्मं विहिणा उ होइ कायव्वा ।
तस्सऽण्णहा उ करणे मोहादतिसंकिलेसोत्ति ।। ६ ।।
बंधो य संकिलेसा ततो ण सोऽवेति तिव्वतरगाओ ।
ईसिमलिणं ण वत्थं सुज्झइ नीलीरसादीहिं ।। ७ ।।

इतरथा विपर्ययोऽपि खलु कुवैद्यक्रियादिज्ञाततो ज्ञेयः ।
अपि भवेत्तत्र सिद्धिराज्ञाभंगान्न पुनरत्र ।। ५ ।।
तीर्थङ्कराणामाज्ञा सम्यग्विधिना तु भवति कर्तव्या ।
तस्याऽन्यथा तु करणे मोहादतिसंक्लेश इति ।। ६ ।।
बन्धश्च संक्लेशात्ततो न स अपैति तीव्रतरकात् ।
ईषन्मलिनन्न वस्त्रं शुद्ध्यति नीलीरसादिभिः ।। ७ ।।

किन्तु विधिपूर्वक आलोचना नहीं करने पर चित्तविशुद्धि नहीं होती है

और उसके अभाव में आलोचना उसी प्रकार निष्फल या अनर्थकारी होती है, जिस प्रकार कुवैद्य यदि रोगचिकित्सा करे अथवा अविधि से विद्या की साधना की जाये तो वह निष्फल होती है । कदाचित् वह चिकित्सा या साधना सफल भी हो सकती है, किन्तु विधिरहित आलोचना से कभी भी सिद्धि नहीं मिलती है, क्योंकि अविधिपूर्वक आलोचना करने पर जिन-आज्ञा का भंग होता है ।। ५ ।।

तीर्थङ्करों की आज्ञा का विधिपूर्वक भाव सहित पालन करना चाहिए। उनकी आज्ञा का पालन विधिवत् नहीं करने पर मोहवश चित्त अत्यधिक संक्लेश अर्थात् मलिनता को प्राप्त होता है ।। ६ ।।

संक्लेश से अशुभकर्मों का बन्ध होता है तथा दुष्कृत्य सेवन के कारणभूत संक्लेश से युक्त होकर आलोचना करने से संक्लेश ही अधिक होता है, कम संक्लेश से हुआ कर्मबन्ध अधिक संक्लेश से दूर नहीं होता। जिस प्रकार अल्प मलिनवस्त्र वस्त्र को अधिक मलिन करने वाले पदार्थों जैसे नीलीरस (नीले रंग युक्त कोई पदार्थ) अथवा रक्त आदि से शुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार कम संक्लेश से हुए कर्मबन्ध का उससे अधिक कर्मबन्ध करने वाले तथा जिनाज्ञा भंग करने वाले संक्लेश से नाश नहीं होता है ।। ७ ।।

*आलोचना करने की विधि*

एत्थं पुण एस विही अरिहो अरिहंमि दलयति कमेणं ।
आसेवणादिणा खलु सम्मं दव्वादिसुद्धीए ।। ८ ।।
अत्र पुनरेष विधिः अर्हरर्हे ददाति क्रमेण ।
आसेवनादिना खलु सम्यग् द्रव्यादिशुद्धौ ।। ८ ।।

आलोचना के योग्य व्यक्ति को योग्य गुरु के पास आसेवनादि के क्रम से आकुट्टिका आदि भावपूर्वक जो दुष्कृत्य किया हो उसका प्रकाशन करते हुए प्रशस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से आलोचना करनी चाहिए ।। ८ ।।

**विशेष** : यह द्वारगाथा है। इसमें आलोचना योग्य व्यक्ति, योग्य गुरु, क्रम, भावप्रकाशन और द्रव्यादिशुद्धि — ये पाँच द्वार हैं। इनका विवेचन १२वीं गाथा से क्रमशः किया जायेगा।

*आलोचना का काल*

कालो पुण एतीए पक्खादी वण्णितो जिणिंदेहिं ।
पायं विसिट्ठगाए पुव्वायरिया तथा चाहु ।। ९ ।।
कालः पुनरेतस्याः पक्षादिर्वर्णितो जिनेन्द्रैः ।
प्रायो विशिष्टाकायाः पूर्वाचार्यास्तथा चाहुः ।। ९ ।।

जिनेन्द्रदेव ने इस आलोचना का काल पक्ष (पन्द्रह दिन), चार महीना आदि कहा है। पूर्वाचार्य भद्रबाहु आदि ने भी इसे इसी प्रकार कहा है।

सामान्य आलोचना तो प्रतिदिन प्रतिक्रमण में सुबह-शाम की जाती है। पक्षादि काल प्राय: विशेष आलोचना का है। कोई विशिष्ट अपराध हुआ हो तो उसकी समय-विशेष में आलोचना करे अर्थात् बीमारी से उठा हो या लम्बा विहार किया हो तो इन कारणों से पक्षादि में आलोचना करे। इसलिए यहाँ प्राय: कहा गया है ।। ९ ।।

*भद्रबाहु स्वामी का वचन*

पक्खियचाउम्मासे आलोयण णियमसा उ दायव्वा ।
गहणं अभिग्गहाण य पुव्वग्गहिए णिवेएउं ।। १० ।।

पाक्षिकचातुर्मासे आलोचना नियमेनैव तु दातव्या ।
ग्रहणमभिग्रहाणाञ्च पूर्वगृहीतान् निवेद्य ।। १० ।।

पूर्णिमा या अमावस्यारूप पाक्षिकपर्व या चातुर्मासपर्व में आलोचना अवश्य करनी चाहिए तथा पहले लिए गये अभिग्रहों को गुरु से निवेदन करके नये अभिग्रहों को ग्रहण करना चाहिए ।। १० ।।

*पाक्षिक आदि में आलोचना करने का कारण*

जीयमिणं आणाओ जयमाणस्सवि य दोससब्भावा ।
पम्हुसणपमायाओ जलकुंभमलादिणाएणं ।। ११ ।।

जीतमिदमाज्ञातो यतमानस्यापि च दोषसद्भावात् ।
विस्मरणप्रमादाभ्यां जलकुम्भमलादिज्ञातेन ।। ११ ।।

अतिचार न लगा हो तो भी ओघ अर्थात् सामान्य रूप से पाक्षिकादि में पूर्वमुनियों ने आलोचना की है। अत: पाक्षिकादि में आलोचना करना जिनाज्ञा है। जिस प्रकार जल का घड़ा प्रतिदिन साफ करने पर भी उसमें थोड़ी गन्दगी रह जाती है, अथवा घर को प्रतिदिन साफ करने पर भी उसमें थोड़ी धूल रह जाती है, उसी प्रकार संयम में प्रयत्नशील साधक को विस्मरण और प्रमाद के कारण अतिचार लगना सम्भव है। इसलिए उपर्युक्त कारणों से पाक्षिकादि पर्वों में आलोचना अवश्य करनी चाहिए ।। ११ ।।

*प्रथम द्वार 'योग्य' का विवरण*

संविग्गो उ अमाई मइमं कप्पट्ठिओ अणासंसी ।
पण्णवणिज्जो सड्ढो आणाइत्तो दुकडतावी ।। १२ ।।

तव्विहिसमुस्सुगो खलु अभिग्गहासेवणादिलिंगजुतो ।
आलोयणापयाणे जोग्गो भणितो जिणिंदेहिं ।। १३ ।।
संविग्नस्तु अमायी मतिमान् कल्पस्थितोऽनाशंसी ।
प्रज्ञापनीयः श्राद्ध आज्ञावान् दुष्कृततापी ।। १२ ।।
तद्विधिसमुत्सुकः खलु अभिग्रहासेवनादिलिङ्गयुतः ।
आलोचनाप्रदाने योग्यो भणितो जिनेन्द्रैः ।। १३ ।।

तीर्थङ्करों ने संविग्न (संसार से भयभीत), मायारहित, विद्वान्, कल्पस्थित, अनाशंसी, प्रज्ञापनीय, श्रद्धालु, आज्ञावान्, दुष्कृततापी (अतिचार लग जाने पर पश्चात्ताप करने वाला), आलोचनाविधि समुत्सुक और अभिग्रह आसेवना आदि लक्षणोंयुक्त साधु को आलोचना करने के योग्य कहा है ।। १३ ।।

१. *संविग्न* (संसारभीरु) — संसारभीरु को ही दुष्कर कार्य करने का भाव होता है। आलोचना दुष्कर कार्य है, अतः आलोचना करने वाले साधु को संविग्न कहा है ।

२. *मायारहित* — मायावी दुष्कृत्यों को अच्छी तरह प्रकट नहीं कर सकता है, इसलिए आलोचना करने वाले साधु का मायारहित होना आवश्यक है।

३. *विद्वान्* — अज्ञानी जीव आलोचनादि के स्वरूप को अच्छी तरह समझ नहीं सकता है। अतः आलोचक को विद्वान् होना चाहिए।

४. *कल्पस्थित* — स्थविरकल्प, जातकल्प, समाप्तकल्प आदि में स्थित।

५. *अनाशंसी* — अपने स्वार्थ के लिए आचार्य आदि को अपने अनुकूल करने की आशंसा से रहित। आशंसा वाले जीव की सम्पूर्ण आलोचना नहीं होती, क्योंकि आशंसा भी अतिचार है।

६. *प्रज्ञापनीय* — जिसे आसानी से समझाया जा सके। अप्रज्ञापनीय जीव अपनी मान्यता नहीं छोड़ता, इसलिए उसे दुष्कृत्यों से रोका नहीं जा सकता है।

७. *श्रद्धालु* — गुरु के प्रति श्रद्धावान् अर्थात् जो गुरु के द्वारा कही गयी शुद्धि पर श्रद्धा करता है।

८. *आज्ञावान्* — आप्तोपदेशानुसार प्रवर्तमान। ऐसा जीव प्रायः दुष्कृत्य करता ही नहीं है।

९. *दुष्कृततापी* — अतिचारों का सेवन होने पर पश्चात्ताप करने वाला। दुष्कृततापी जीव ही आलोचना करने में समर्थ होता है।

१०. *आलोचना विधि समुत्सुक* — आलोचना की विधि की इच्छा वाला। ऐसा जीव आलोचना में अविधि का त्याग सावधानीपूर्वक करता है।

११. *अभिग्रह आसेवनादि लक्षणों से युक्त* — आलोचना की योग्यता के सूचक नियम द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार लेना, दूसरों को दिलाना, लेने वालों की अनुमोदना करना आदि लक्षणों से युक्त होना ॥ १२-१३ ॥

*द्वितीय द्वार 'योग्य गुरु' का विवेचन*

आयारवमोहारववववहारोवीलए पकुव्वी य ।
णिज्जव अवायदंसी अपरिस्सावी य बोद्धव्वो ॥ १४ ॥

तह परहियम्मि जुत्तो विसेसओ सुहुमभावकुसलमती ।
भावाणुमाणवं तह जोग्गो आलोयणायरिओ ॥ १५ ॥

आचारवानवधार-व्यवहारवानपव्रीडकः प्रकुर्वी च ।
निर्यापको अपायदर्शी अपरिश्रावी च बोद्धव्यः ॥ १४ ॥

तथा परहिते युक्तः विशेषतः सूक्ष्मभावकुशलमतिः ।
भावानुमानवांस्तथा योग्य आलोचनाचार्यः ॥ १५ ॥

आचारवान्, अवधारवान्, व्यवहारवान्, अपव्रीडक, प्रकुर्वी, निर्यापक, अपायदर्शी, अपरिश्रावी, परहितोद्यत, सूक्ष्मभावकुशलमति, भावानुमानवान् आलोचनाचार्य (योग्य गुरु) आलोचना देने के योग्य हैं।

**विशेष** : १. *आचारवान्* — जिसे ज्ञानाचारादि पाँच आचारों का ज्ञान है और उनका पालन करता हो वह आचारवान् है। ऐसे गुरु के वचन ही श्रद्धा करने योग्य होते हैं।

२. *अवधारवान्* — आलोचना करने वाले साधु के द्वारा कहे हुए अपराधों को सुनकर प्रकट नहीं करने वाला। ऐसा गुरु अच्छी तरह प्रायश्चित्त दे सकता है।

३. *व्यवहारवान्* — आगम, श्रुत, आज्ञा, धारण और जीत — इन पाँच व्यवहारों को जानने वाला। ऐसा गुरु शुद्धि करने में समर्थ होता है।

४. *अपव्रीडक* — लज्जावश अतिचारों को छिपाने वाले शिष्यों को लज्जारहित बनाने वाला। ऐसा गुरु आलोचक का बहुत बड़ा उपकारी होता है।

५. *प्रकुर्वी* — प्रकट किये गये अतिचारों का प्रायश्चित्त देकर विशुद्धि कराने वाला।

६. *निर्यापक* — साधु का प्रायश्चित्त पूरा करने वाला। ऐसा गुरु साधु से

बड़े से बड़े प्रायश्चित्त को भी पूरा कराने में समर्थ होता है।

७. *अपायदर्शी* — इस लोक सम्बन्धी दुर्भिक्ष और दुर्बलता आदि अनिष्ट को देखने वाला। ऐसा गुरु जीवों को परलोक में दुर्लभबोधि होने आदि की सम्भावना बतलाकर आलोचक का उपकार करता है।

८. *अपरिश्रावी* — आलोचक के द्वारा कहे हुए दुष्कृत्यों को दूसरों से न कहने वाला। आलोचक के दुष्कृत्य दूसरों से कहना लघुता है।

९. *परहितोद्यत* — परोपकार में तत्पर। जो परोपकारी नहीं होता है, वह दूसरों की अवज्ञा करता है।

१०. *सूक्ष्मभावकुशलमति* : दूसरों की अपेक्षा लौकिक शास्त्रों का अधिक सूक्ष्म ज्ञाता।

११. *भावानुमानवान्* — दूसरों के चित्त के भावों को अनुमान से जानने वाला। ऐसा गुरु दूसरों के भाव के अनुसार प्रायश्चित्त देने में समर्थ होता है।

उक्त गुणों से रहित गुरु आलोचनाकर्त्ता के दोषों की शुद्धि कराने में समर्थ नहीं होता है ।। १४-१५ ।।

*तीसरा द्वार 'क्रम' का विवरण*

दुविहेणऽणुलोमेणं आसेवणवियडणाभिहाणेणं।
आसेवणाणुलोमं जं जह आसेवियं वियडे।। १६ ।।

आलोयणाणुलोमं गुरुगऽवराहे उ पच्छओ वियडे।
पणगादिणा कमेणं जह जह पच्छित्तवुड्ढी उ।। १७ ।।

द्विविधेनानुलोम्येन आसेवना-विकटनाभिधानेन।
आसेवनानुलोम्यं यद्यथा आसेवितं विकटयति।। १६ ।।

आलोचनानुलोम्यं गुरुकापराधांस्तु पश्चाद्विकटयति।
पञ्चकादिना क्रमेण यथा यथा प्रायश्चित्तवृद्धिस्तु।। १७ ।।

आसेवना और विकट-आलोचना — इन दो क्रमों से आलोचना करनी चाहिए। जिस क्रम से दोषों का सेवन किया हो उसी क्रम से दोषों को कहना आसेवना क्रम कहलाता है ।। १६ ।।

छोटे अतिचारों को पहले कहना चाहिए फिर बड़े अतिचारों को अर्थात् पञ्चकादि प्रायश्चित्त के क्रम से ज्यों ज्यों प्रायश्चित्त की वृद्धि हो त्यों-त्यों दोषों को कहना विकट-आलोचना क्रम कहलाता है, जैसे सबसे छोटे अतिचार में 'पंचक' प्रायश्चित्त आता है, उससे बड़े अतिचार में 'दशक' और उससे बड़े अतिचार में पंचदशक' प्रायश्चित्त आता है। इसलिए इसी क्रम से दोषों को कहना आलोचना

क्रम कहलाता है।

गीतार्थ विकट-आलोचना क्रम से ही आलोचना करे, क्योंकि वह आलोचना के क्रम का जानकार होता है। अगीतार्थ आसेवन क्रम से आलोचना करे, क्योंकि उसे आलोचना क्रम का ज्ञान नहीं है और आसेवनाक्रम से दोषों को अच्छी तरह याद रख सकता है ।। १७ ।।

*चौथा द्वार 'भाव प्रकाशन' का निरूपण*

तह आउट्टियदप्पप्पमायओ कप्पओ व जयणाए ।
कज्जे वाऽजयणाए जहट्ठियं सव्वमालोए ।। १८ ।।

तथाऽऽकुट्टिका-दर्पप्रमादतः कल्पतो वा यतनया ।
कार्ये वाऽयतनया यथास्थितं सर्वमालोचयेत् ।। १८ ।।

संकल्पपूर्वक, प्रमादवश, संयम की रक्षा हेतु यतनापूर्वक, कल्पपूर्वक (विशिष्ट आलम्बन के द्वारा), सम्भ्रम के कारण सारासार का विवेक किये बिना अथवा अयतनापूर्वक – इस प्रकार जिस भाव से जो कार्य किया हो – वह सब गुरु से यथास्वरूप (कुछ भी छिपाये बिना) निवेदन कर देना चाहिए ।। १८ ।।

*पाँचवाँ द्वार 'द्रव्यादिशुद्धि' का विवरण*

दव्वादीसु सुहेसुं देया आलोयणा जतो तेसुं ।
होति सुहभाववुड्ढी पाएण सुहा उ सुहहेऊ ।। १९ ।।
दव्वे खीरदुमादी जिणभवणादी य होइ खेत्तम्मि ।
पुण्णतिहि-पभिति-काले सुहोवओगादि भावे उ ।। २० ।।
सुहदव्वादिसमुदए पायं जं होइ भावसुद्धित्ति ।
ता एयम्मि जएज्जा एसा आणा जिणवराणं ।। २१ ।।

द्रव्यादिषु शुभेषु देया आलोचना यतस्तेषु ।
भवति शुभभाववृद्धिः प्रायेण शुभास्तु शुभहेतवः ।। १९ ।।
द्रव्ये क्षीरद्रुमादि-जिनभवनादि च भवति क्षेत्रे ।
पुण्यतिथिप्रभृतिकाले शुभोपयोगादि भावे तु ।। २० ।।
शुभद्रव्यादिसमुदये प्रायः यद्भवति भावशुद्धिरिति ।
तदेतस्मिन् यतेत एषा आज्ञा जिनवराणाम् ।। २१ ।।

प्रशस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में आलोचना करनी चाहिए। प्रशस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव में आलोचना करने से शुभभावों की वृद्धि होती है, क्योंकि शुभ के कारण प्रायः शुभ ही हुआ करते हैं ।। १९ ।।

द्रव्य से दूध युक्त वृक्ष आदि प्रशस्त द्रव्य हैं, क्षेत्र में जिनमन्दिर आदि प्रशस्त क्षेत्र हैं, काल में पूर्णिमा आदि शुभ तिथियों के दिन शुभ-काल हैं और भाव में शुभोपयोग (प्रशस्त अध्यवसाय) आदि शुभभाव हैं ॥ २० ॥

शुभ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के योग में प्रायः भावों की शुद्धि होती है, इसलिए शुभ द्रव्यादि का अनुसरण करने का प्रयत्न करना चाहिए — यही तीर्थङ्करों की आज्ञा है ॥ २१ ॥

*आलोचनीय दोषों का निर्देश*

आलोएयव्वा पुण अइयारा सुहुमबायरा सम्मं ।
णाणायारादिगया पंचविहो सो य विण्णेओ ॥ २२ ॥

आलोचयितव्याः पुनरतिचाराः सूक्ष्मबादराः सम्यक् ।
ज्ञानाचारादिगताः पञ्चविधः स च विज्ञेयः ॥ २२ ॥

ज्ञानादि आचार सम्बन्धी सभी छोटे-बड़े अतिचारों की अच्छी तरह आलोचना करनी चाहिए। उस आचार के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य — ये पाँच भेद हैं ॥ २२ ॥

*ज्ञानाचार के भेद*

काले विणए बहुमाणे उवहाणे तहा अणिण्हवणे ।
वंजणअत्थतदुभए अट्ठविहो णाणमायारो ॥ २३ ॥

काले विनये बहुमाने उपधाने तथा अनिह्नवने ।
व्यञ्जनार्थतदुभये अष्टविधो ज्ञानमाचारः ॥ २३ ॥

ज्ञानाचार के काल, विनय, बहुमान, उपधान, अनिह्नव, व्यञ्जन, अर्थ और तदुभय (व्यञ्जनार्थ) — ये आठ प्रकार हैं :

१. *काल* — स्वाध्याय के समय स्वाध्याय करना काल सम्बन्धी ज्ञानाचार है। अकाल में पढ़ने से उपद्रव होता है।

२. *विनय* — ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के उपकरण पुस्तकादि की उपचार रूप से विनय करनी चाहिए।

३. *बहुमान* — ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के उपकरण पुस्तकादि के प्रति प्रेम होना चाहिए।

४. *उपधान* — तपपूर्वक अध्ययन करना चाहिए।

५. *अनिह्नव* — श्रुत का अपलाप अर्थात् सत्य को छिपाने रूप कार्य नहीं करना चाहिए।

६. *व्यञ्जन* — सूत्र व अक्षर जिस रूप में हों उसी रूप में उन्हें लिखना या बोलना चाहिए।

७. *अर्थ* — सूत्रादि का जो अर्थ हो वही करना चाहिए, अन्य नहीं।

८. *तदुभय* — सूत्र और अर्थ — इन दोनों को न तो अशुद्ध बोलना चाहिए और न ही अशुद्ध लिखना चाहिए।

यहाँ ज्ञानाचार का तात्पर्य है — ज्ञान की आराधना करने वालों के ज्ञान-साधना सम्बन्धी व्यवहार ज्ञानाचार कहे जाते हैं ।। २३ ।।

*दर्शनाचार के भेद*

णिस्संकिय-णिक्कंखिय-णिव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उववूहथिरीकरणे वच्छल्लपभावणे अट्ठ ।। २४ ।।

नि:शंकित-निष्कांक्षित-निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टिश्च ।
उपबृंहस्थिरीकरणयो: वत्सलप्रभावनयोरष्ट ।। २४ ।।

दर्शनाचार के निम्न आठ प्रकार हैं — (१) *नि:शंकित* : जिनवचन में शंका नहीं करनी चाहिए, (२) *निष्कांक्षित* : अन्य दर्शन अथवा कर्मफल की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए, (३) *निर्विचिकित्सा* : सदाचार के फल के प्रति शंका का अभाव, (४) *अमूढदृष्टि* : अन्य धर्मों का चमत्कार देखकर भ्रमित नहीं होना, (५) *उपबृंहणा* : स्वधर्मी भाइयों के गुणों की प्रशंसा करना, (६) *स्थिरीकरण* : धर्म में प्रमाद करने वाले को धर्म में स्थिर करना, (७) *वात्सल्य* : साधर्मिक का प्रेमपूर्वक कार्य करना, ८. *प्रभावना* : श्रुतज्ञानादि से जैनशासन की प्रभावना करना।

दर्शन ( जिनवचन में श्रद्धा ) सम्बन्धी आचार-व्यवहार दर्शनाचार कहलाता है ।। २४ ।।

*चारित्राचार के भेद*

पणिहाणजोगजुत्तो पंचहिँ समितीहिँ[1] तीहिँ गुत्तीहिँ ।
एस चरित्तायारो अट्ठविहो होइ णायव्वो ।। २५ ।।

प्रणिधानयोगयुक्त: पञ्चसु समितिषु तिसृषु गुप्तिषु ।
एषश्चारित्राचारो अष्टविधो भवति ज्ञातव्य: ।। २५ ।।

प्रणिधान का अर्थ है मन की एकाग्रता और योग का अर्थ है व्यापार। मन की एकाग्रतारूप व्यापार प्रणिधानयोग कहा जाता है। एक अन्य अपेक्षा से

१. 'समितिहिँ' इति पाठान्तरम् ।

योग अर्थात् मन का निरोध। प्रणिधान (एकाग्रता) और मनोनिरोध से युक्त — प्रणिधानयोगयुक्त।

जो जीव पाँच समितियों और तीन गुप्तियों में प्रणिधान और योग से युक्त है, वह आठ प्रकार के चारित्राचार वाला है।

अथवा 'युक्त' शब्द का समिति और गुप्ति के साथ अन्वय करने पर अर्थ होगा — प्रणिधान और योग से युक्त अर्थात् पाँच समिति और तीन गुप्ति से युक्त — ऐसा व्यक्ति आठ प्रकार के चारित्राचार वाला होता है। चारित्र से सम्बन्धित आचार-व्यवहार चारित्राचार है ।। २५ ।।

*तपाचार के भेद*

बारसविहम्मिवि तवे साब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
अगिलाएँ अणाजीवी णायव्वो सो तवायारो ।। २६ ।।

द्वादशविधेऽपि तपसि साभ्यन्तरबाह्ये कुशलदृष्टे ।
अग्लान्या अनाजीवी ज्ञातव्यः स तपाचारः ।। २६ ।।

जो जीव सर्वज्ञप्ररूपित छः प्रकार के आभ्यन्तर और छः प्रकार के बाह्य — इस प्रकार बारह प्रकार के तपों में खेदरहित निःस्पृह रूप से प्रवृत्ति करता है वह जीव बारह प्रकार का तपाचार है। यहाँ आचार और आचारवान् में अभेद होने के कारण जीव को ही तप कहा गया है। तप सम्बन्धी व्यवहार तपाचार है ।। २६ ।।

*वीर्याचार के भेद*

अणिगूहियबलविरिओ परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो ।
जुंजइ य जहत्थामं णायव्वो वीरियायारो ।। २७ ।।

अनिगूहितबलवीर्यः पराक्रमते यो यथोक्तमायुक्तः ।
युंक्ते च यथास्थामं ज्ञातव्यो वीर्याचारः ।। २७ ।।

जो जीव बल और वीर्य को छिपाये बिना आगम के अनुसार धर्मक्रिया में प्रवृत्ति करता है और शक्ति का उल्लंघन किये बिना आत्मा को धर्मक्रिया में जोड़ता है वह जीव वीर्याचार है (यहाँ भी जीव और आचार के अभेद से जीव को ही आचार कहा गया है) ।। २७ ।।

*उपर्युक्त आचारों की योजना*

एयम्मि उ अइयारा अकालपढणाइया णिरवसेसा ।
अपुणकरणुज्जएणं संवेगाऽऽलोइयव्वत्ति ।। २८ ।।

एतस्मिंस्तु अतिचाराराकालपठनादिका निरवशेषाः ।
अपुनःकरणोद्यतेन संवेगादालोचयितव्या इति ॥ २८ ॥

उक्त पाँच प्रकार के आचारों में अकाल पठन, वाचनादाताओं के प्रति अविनय आदि सूक्ष्म और स्थूल (छोटे या बड़े) — जो भी अतिचार लगे हों उन सबकी मैं ऐसी गलती फिर से नहीं करूँगा — ऐसा परिणामवाला बनकर संवेग पूर्वक (संसार से भयभीत होकर) आलोचना करनी चाहिए ॥ २८ ॥

*अतिचारों का दूसरी तरह निर्देश*

अहवा मूलगुणाणं एते एव तह उत्तरगुणाणं ।
एएसिमह सरूवं पत्तेयं संपवक्खामि ॥ २९ ॥

अथवा मूलगुणानामेत एव तथोत्तरगुणानाम् ।
एतेषामथ स्वरूपं प्रत्येकं सम्प्रवक्ष्यामि ॥ २९ ॥

महाव्रत आदि मूलगुणों और पिण्डविशुद्धि आदि उत्तरगुणों सम्बन्धी जो अतिचार हैं, उनकी उपर्युक्त प्रकार से आलोचना करनी चाहिए। अब मूलगुण और उत्तरगुण — इन दोनों के अतिचारों के स्वरूप को अलग-अलग कहूँगा ॥ २९ ॥

*मूलगुण, उत्तरगुण और उनके अतिचारों का स्वरूप*

पाणातिपातविरमणमादी णिसिभत्त- विरइपज्जंता ।
समणाणं मूलगुणा तिविहं तिविहेण णायव्वा ॥ ३० ॥
पिंडविसुद्धादीया अभिग्गहंता य उत्तरगुणत्ति ।
एतेसिं अइयारा एगिंदियघट्टणादीया ॥ ३१ ॥
पुढवादिघट्टणादी पयलादी तुच्छऽदत्त - गहणादी ।
गुत्ति- विराहणकप्पट्ठममत्तदियगहिय- भुत्तादी ॥ ३२ ॥
भोगो अणेसणीएऽसमियत्तं भावणाणऽभावणया ।
जहसत्तिं चाकरणं पडिमाण अभिग्गहाणं च ॥ ३३ ॥
एते इत्थऽइयारा असद्दहणादी य गरुय भावाणं ।
आभोगाणाभोगादिसेविया तह य ओहेणं ॥ ३४ ॥

प्राणातिपात-विरमणादयः निशाभक्तविरतिपर्यन्ताः ।
श्रमणानां मूलगुणास्त्रिविधं त्रिविधेन ज्ञातव्याः ॥ ३० ॥
पिण्डविशुद्ध्यादयोऽभिग्रहान्ताश्च उत्तरगुणा इति ।
एतेषामतिचारारेकेन्द्रियघट्टनाद्याः ॥ ३१ ॥

पृथिव्यादिघट्टनादय: प्रचलादयस्तुच्छादत्तग्रहणादि ।
गुप्तिविराधन-कल्पार्थं-ममतादिवागृहीतभुक्तादि: ।। ३२ ।।
भोगोऽनेषणीये असमितत्त्वं भावनानामभावनता ।
यथाशक्ति चाकरणं प्रतिमानामभिग्रहाणाञ्च ।। ३३ ।।
एतेऽत्रातिचारा अश्रद्धानादयश्च गुरुका भावानाम् ।
आभोगानाभोगादिसेवितास्तथा च ओघेन ।। ३४ ।।

साधुओं के प्राणातिपातविरमण से रात्रिभोजनविरमण तक के व्रत मूलगुण हैं। साधुओं के इन मूलगुणों का पालन तीन करण और तीन योग से अर्थात् करने, करवाने और अनुमोदन करने, मन से, वचन से और काया से (३ x ३ = ९) — इस प्रकार नव कोटियों से करना होता है ।। ३० ।।

पिण्डविशुद्धि आदि से लेकर अभिग्रह तक के गुण उत्तरगुण कहलाते हैं (४२ पिण्डविशुद्धि, ८ समिति-गुप्ति, २५ महाव्रत-भावना, ६ बाह्य और ६ आभ्यन्तर — ये बारह प्रकार के तप, १२ प्रतिमा, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव — ये ४ (चार) अभिग्रह — इस प्रकार कुल १०३ उत्तरगुण हैं)। मूलगुण धर्मरूप कल्पवृक्ष के मूल (जड़) के समान हैं और उत्तरगुण उसकी शाखाओं के समान हैं। प्राणातिपात-विरमणादि के एकेन्द्रिय संघट्टन (संस्पर्श) आदि अतिचार हैं ।। ३१ ।।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रय, पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी संघट्टन, परिताप और विनाश — ये प्रथम मूलगुण के अतिचार हैं।

निद्रासम्बन्धी मृषावाद आदि दूसरे व्रत के अतिचार हैं। जैसे बैठा-बैठा कोई साधु सो रहा हो और उससे पूछा जाये कि क्या वह सो रहा है तो वह इनकार करे कि नहीं, वह सो नहीं रहा है तो उसे मृषावाद अतिचार लगता है। इसी तरह वर्षा हो रही हो और किसी साधु से पूछा जाये कि क्या वर्षा हो रही है? वह यदि कहे कि नहीं वर्षा नहीं हो रही है तो उसे मृषावाद अतिचार लगता है । ये अतिचार सूक्ष्म हैं। यदि इन्हीं अतिचारों का सेवन अभिनिवेश से हो तो बादर (स्थूल) अतिचार लगता है।

दूसरों के द्वारा नहीं दी गयी तुच्छ वस्तु लेना आदि तीसरे व्रत के अतिचार हैं। नहीं दिये गये तृण, पत्थर के छोटे टुकड़े और राख आदि लेना सूक्ष्म अतिचार है। साधर्मिक आदि के शिष्य आदि सारभूत द्रव्य का ग्रहण करना बादर अतिचार है।

गुप्ति विराधना आदि चौथे व्रत के अतिचार हैं। स्त्री आदि से युक्त बस्ती में रहना आदि सूक्ष्म अतिचार हैं। संक्लेश से हस्तमैथुन करना आदि बादर

अतिचार हैं। उपाश्रय के मालिक के बालक आदि के प्रति ममत्व आदि रखना पाँचवें व्रत का अतिचार है। उपाश्रय के मालिक की वस्तुओं की कौओं आदि से रक्षा करना सूक्ष्म अतिचार है। सोना, चाँदी और जवाहरात आदि रखना बादर अतिचार है।

दिन में लाया गया भोजन दिन में खाना, दिन में लाया गया भोजन रात को खाना, रात को लाया गया भोजन दिन में खाना और रात में लाया गया भोजन रात में खाना ये छठें व्रत के अतिचार हैं ।। ३२ ।।

अकल्प्य भोजन को ग्रहण करना, एषणा के सिवाय चार समितियों में प्रयत्न का अभाव, महाव्रतों की रक्षा करने वाली पच्चीस भावनाओं अथवा बारह अनुप्रेक्षाओं का अनुभावन न करना। यथाशक्ति मासिकी आदि भिक्षुप्रतिमा, द्रव्यादि अभिग्रह और विविध तपों का सेवन न करना — ये क्रमशः पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, प्रतिमा, अभिग्रह और तप रूप उत्तरगुणों के अतिचार हैं ।। ३३ ।।

उपर्युक्त अतिचार मूलगुणों और उत्तरगुणों सम्बन्धी हैं। इनके अतिरिक्त जीवादि पदार्थों में अविश्वास, विपरीत प्ररूपण आदि भी अतिचार हैं। ये अतिचार पूर्वोक्त अतिचारों से भी बड़े हैं, क्योंकि ये सम्यक्त्व को दूषित करते हैं।

उक्त सभी अतिचार आभोग (यह अकर्तव्य है — ऐसा ज्ञान), अनाभोग ( यह अकर्तव्य है — ऐसे ज्ञान का अभाव), भय, रागद्वेष आदि से होते हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार से अनेक अतिचार होते हैं। इसलिए उनकी पूर्णतया आलोचना करनी चाहिए ।। ३४ ।।

*आलोचना कैसे करें*

संवेगपरं चित्तं काऊणं तेहिँ तेहिँ सुत्तेहिँ ।
सल्लाणुद्धरण-विवाग-दंसगादीहिँ आलोए ।। ३५ ।।

संवेगपरं चित्तं कृत्वा तैस्तैः सूत्रैः ।
शल्यानुद्धरण - विपाक-दर्शकादिभिरालोचयेत् ।। ३५ ।।

आलोचक को शल्य (पापानुष्ठान) का उद्धार नहीं करने में होने वाले दुष्ट परिणामों (खोटे कर्मफल) को दिखाने वाले और शल्योद्धार करने में होने वाले लाभों को दिखाने वाले तत्तत् प्रसिद्ध सूत्रों से चित्त को भवभययुक्त अथवा मोक्षाभिमुख (संवेग प्रधान) बनाकर आलोचना करनी चाहिए।

इसी प्रकार गुरु भी शल्य (पापानुष्ठान) का उद्धार न करने से होने वाले दुष्ट परिणामों और करने से होने वाले लाभों को दिखाने वाले तत्तत् प्रसिद्ध सूत्रों से शिष्य के चित्त को संविग्न बनाकर उससे आलोचना करावें ।। ३५ ।।

*शल्य का लक्षण*

सम्मं दुच्चरितस्सा परसक्खिगमप्पगासणं जं तु ।
एयमिह भावसल्लं पण्णत्तं वीयरागेहिं ॥ ३६ ॥

सम्यग् दुश्चरितस्य परसाक्षिकमप्रकाशनं यत्तु ।
एतदिह भावशल्यं प्रज्ञप्तं वीतरागैः ॥ ३६ ॥

गीतार्थ के समक्ष अपने दृष्कृत्य का भावपूर्वक प्रकाशन नहीं करना भावशल्य है — ऐसा वीतरागों ने कहा है ॥ ३६ ॥

*शल्योद्धार न करने से होने वाले विपाक*

णवि तं सत्थं व विसं दुप्पउत्तो व कुणति वेतालो ।
जंतं व दुप्पउत्तं सप्पो व पमादिओ कुद्धो ॥ ३७ ॥

जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धियं[1]उत्तिमट्ठकालम्मि ।
दुल्लहबोहीयत्तं अणंतसंसारियत्तं च ॥ ३८ ॥

नापि तं शस्त्रं वा विषं दुष्प्रयुक्तः वा करोति वेतालः ।
यन्त्रं वा दुष्प्रयुक्तं सर्पो वा प्रमादितः क्रुद्धः ॥ ३७ ॥

यं करोति भावशल्यम् अनुद्धृतम् उत्तमार्थकाले ।
दुर्लभबोधित्वं अनन्तसंसारित्वं च ॥ ३८ ॥

खड्गादि शस्त्र, विष, अविधि से साधित पिशाच, अविधि से प्रयुक्त शतघ्नी आदि यन्त्र अथवा छेड़ने से क्रोधित बना हुआ सर्प जो नुकसान नहीं करता, वह नुकसान पंडितमरण (अनशन) के समय नहीं किया गया भावशल्य का उद्धार करता है। पंडितमरण के समय भावशल्य का उद्धार न करने से भावी जीवन में बोधिलाभ अर्थात् धर्मप्राप्ति दुर्लभ बनती है और आत्मा अनन्त संसारी होता है ॥ ३७-३८ ॥

*अविधि से शुद्धि करने पर भी शल्य दूर नहीं होगा*

आलोयणं अदाउं सति अण्णम्मिवि तहऽप्पणो दाउं ।
जेवि हु करेंति सोहिं तेऽवि ससल्ला विणिद्दिट्ठा ॥ ३९ ॥

आलोचनामदत्वा सति अन्यस्मिन्नपि तथाऽऽत्मनो दत्वा ।
येऽपि खलु कुर्वन्ति शोधिं तेऽपि सशल्या विनिर्दिष्टाः ॥ ३९ ॥

जो गुरु के समक्ष आलोचना किये बिना अपने आप (अपनी कल्पना

१. 'अणुद्धितं' इति पाठान्तरम् ।

से) शुद्धि करते हैं और जो दूसरे गीतार्थ के होने पर भी लज्जा आदि के कारण स्वयं ही आलोचना करके प्रायश्चित्त आदि ग्रहण करते हुए शुद्धि करते हैं, उनको भी भगवान् जिनेन्द्रदेव ने भावशल्य सहित कहा है ।। ३९ ।।

*उपर्युक्त को दृष्टान्त से समझें*

किरियण्णुणावि सम्मंपि रोहिओ जह वणो ससल्लो उ ।
होइ अपत्थो एवं अवराहवणोऽवि विण्णेओ ।। ४० ।।

क्रियाज्ञेनापि सम्यगपि रोहितो यथा व्रणः सशल्यस्तु ।
भवति अपथ्य एव अपराधव्रणोऽपि विज्ञेयः ।। ४० ।।

जिस प्रकार व्रणचिकित्सा (फोड़ा, फुंसी की चिकित्सा) को सम्पूर्णतया जानने वाला यदि शरीर में हुए खराब पीब आदि वाले फोड़े को बढ़ने दे और दूर न करे तो वह फोड़ा मृत्यु का कारण होने से अनिष्टकारक होता है, उसी प्रकार जिसने अपने भावशल्य को दूसरों को बतलाया नहीं है उसके लिए चारित्ररूप शरीर में स्थित अतिचाररूप फोड़ा भी अनन्त जन्म-मरण का कारण होने से अनिष्टकारक ही है, क्योंकि परमार्थ से उसका उद्धार नहीं हुआ है। दूसरों को अपने शल्य (दोष) के विषय में बतलाना ही शल्योद्धार है ।। ४० ।।

*गीतार्थ की दुर्लभता में क्या करें*

सल्लुद्धरणनिमित्तं गीयस्सन्नेसणा उ उक्कोसा ।
जोयणसयाइँ सत्त उ बारस वरिसाइं कायव्वा ।। ४१ ।।

शल्योद्धरणनिमित्तं गीतस्यान्वेषण तु उत्कर्षात् ।
योजनशतानि सप्त तु द्वादश वर्षाणि कर्तव्या ।। ४१ ।।

शल्योद्धरण के निमित्त गीतार्थ की खोज उत्कृष्टतापूर्वक क्षेत्र की दृष्टि से सात सौ योजन तक और काल की दृष्टि से बारह वर्ष तक करनी चाहिए ।। ४१ ।।

*आलोचना करने के पहले कैसा संवेग उत्पन्न करना चाहिए*

मरिउं ससल्लमरणं संसाराडविमहाकडिल्लम्मि ।
सुचिरं भमंति जीवा अणोरपारंमि ओइण्णा ।। ४२ ।।

उद्धरियसव्वसल्ला तित्थगराणाएँ सुत्थिया जीवा ।
भवसयकयाइँ खविउं पावाइँ गया सिवं थामं ।। ४३ ।।

सल्लुद्धरणं च इमं तिलोगबंधूहिँ दंसियं सम्मं ।
अवितहमारोग्गफलं धण्णोऽहं जेणिमं णायं ।। ४४ ।।

ता उद्धरेमि सम्मं एयं एयस्स णाणरासिस्स।
आवेदिउं असेसं अणियाणो दारुणविवागं ।। ४५ ।।

मृत्वा सशल्यमरणं संसाराटवि-महागहने ।
सुचिरं भ्रमन्ति जीवा अनर्वाक् पारे अवतीर्णाः ।। ४२ ।।
उद्धृतसर्वशल्या तीर्थङ्कराज्ञायां सुस्थिताः जीवाः ।
भवशतकृतानि क्षपयित्वा पापानि गताः शिवं स्थानम् ।। ४३ ।।
शल्योद्धरणं चेदं त्रिलोकबन्धुभिर्दर्शितं सम्यक् ।
अवितथमारोग्यफलं धन्योऽहं येनेदं ज्ञातम् ।। ४४ ।।
तदुद्धरामि सम्यगेतदेतस्य ज्ञानराशेः ।
आवेद्य अशेषमनिदानो दारुणविपाकम् ।। ४५ ।।

शल्यसहित मरकर जीव संसाररूपी घोर अरण्य (जंगल) में प्रवेश करते हैं और उसमें दीर्घकाल तक भटकते हैं ।। ४२ ।।

जिनाज्ञा में अच्छी प्रकार स्थित जीव आलोचनापूर्वक सभी शल्यों को उखाड़कर अर्थात् नष्ट कर सैकड़ों भवों में किये गये पापों की निर्जरा करके सिद्धि स्थान (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं ।। ४३ ।।

तीनों लोकों के मित्र जिनेन्द्रदेव ने इस आलोचना (शल्योद्धरण) को अच्छी तरह से कहा है। यह सच्चे भावारोग्य (भावों की शुद्धता) रूप फल देने वाली है। मैं धन्य हूँ जो मुझे यह आलोचना का अवसर प्राप्त हुआ है ।। ४४ ।।

इसलिए मैं निदानरहित होकर भयंकर फलदायी सम्पूर्ण भावशल्य को ज्ञानराशि-गुरु के समक्ष विधिपूर्वक प्रकट करके दूर करूँगा ।। ४५ ।।

*उक्त प्रकार का संवेग उत्पन्न करके क्या करें*

इय संवेगं काउं मरुगाहरणादिएहिँ चिंधेहिं ।
दढमपुणकरणजुत्तो सामायारिं पउंजेज्जा ।। ४६ ।।

इति संवेगं कृत्वा मरुकाहरणादिभिः चिह्नैः ।
दृढमपुनःकरणयुक्तः सामाचारीं प्रयुञ्जीत ।। ४६ ।।

मरुक आदि के प्रसिद्ध दृष्टान्तों[१] से पाप को छिपाने (शल्य को रखने) से होने वाले दुष्परिणामों और उन पापों को प्रकट करने से होने वाले लाभरूप चिह्नों (कारणों) को जानकर उनसे संवेग (वैराग्य-भाव) उत्पन्न करके अर्थात्

१. मरुक के दृष्टान्त हेतु आलोचनाविधि पञ्चाशक की गाथा ४६ की टीका द्रष्टव्य है।

संसार-सागर से भयभीत होकर भविष्य में इस प्रकार के अपराधों को कभी नहीं करूँगा — ऐसा दृढ़ संकल्प करके आलोचना करनी चाहिए ।। ४६ ।।

*मायामद से मुक्त बनकर आलोचना करें*

जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुयं भणति ।
त तह आलोइज्जा मायामय- विप्पमुक्को उ ।। ४७ ।।

यथा बालो जल्पन् कार्यमकार्यं वा ऋजुकं भणति ।
तं तथा आलोचयेत् मायामद-विप्रमुक्तस्तु ।। ४७ ।।

जिस प्रकार बालक अपनी माता के समक्ष बोलते हुए कार्य-अकार्य को छिपाये बिना जैसा होता है वैसा कह देता है, उसी प्रकार साधु को माया और मद से मुक्त होकर अपने अपराध को यथातथ्य गुरु के समक्ष निवेदन कर देना चाहिए, क्योंकि माया और मद से युक्त साधु सम्यग् आलोचना नहीं कर सकता है ।। ४७ ।।

*सम्यग् आलोचना के लक्षण*

आलोयणासुदाणे लिंगमिणं बिंति मुणियसमयत्था ।
पच्छित्तकरणमुचियं[१] अकरणयं चेव दोसाणं ।। ४८ ।।

आलोचनासुदाने लिङ्गमिदं ब्रुवन्ति ज्ञातसमयार्थाः ।
प्रायश्चित्तकरणमुचितम् अकरणकं चैव दोषाणाम् ।। ४८ ।।

सिद्धान्त के जानने वाले सम्यक् आलोचना का लक्षण इस प्रकार बतलाते हैं — गुरु ने अपराध की शुद्धि हेतु जो दण्ड दिया हो उसे स्वीकार कर यथावत् पूरा करना चाहिए, अर्थात् प्रायश्चित्त करना चाहिए और जिन दोषों की आलोचना की हो, उन दोषों को फिर से नहीं करना चाहिए ।। ४८ ।।

*कैसी आलोचना शुद्ध करने वाली होती ?*

इय भावपहाणाणं आणाए सुट्ठियाण होति इमं ।
गुणठाणसुद्धिजणगं सेसं तु विवज्जयफलंति ।। ४९ ।।

इति भावप्रधानानाम् आज्ञायां सुस्थितानां भवति इदम् ।
गुणस्थानशुद्धिजनकं शेषं तु विपर्ययफलमिति ।। ४९ ।।

जो संवेगप्रधान हैं, जिनाज्ञा में लीन हैं, उनके लिए यह आलोचना-प्रमत्त-संयत आदि गुणस्थानों में शुद्धि को उत्पन्न करती है । इसके विपरीत जो

१. '... मुचितं' इति पाठान्तरम् ।

संवेग प्रधान नहीं हैं और जिनाज्ञा में नहीं रहते हैं, उनके लिए यह आलोचना भी विपरीत फलवाली होती है ॥ ४९ ॥

*उपसंहार*

लद्धूण[१] माणुसत्तं दुलहं चइऊण लोगसण्णाओ ।
लोगुत्तमसण्णाए अविरहियं होति जतितव्वं ॥ ५० ॥

लब्ध्वा मानुषत्वं दुर्लभं त्यक्त्वा लोकसंज्ञाः ।
लोकोत्तमसंज्ञायाम् अविरहितं भवति यतितव्यम् ॥ ५० ॥

दुर्लभ मनुष्यत्व प्राप्त करके और दुष्कृत्यों के कारणभूत मनोभावों का त्याग करके मुमुक्षुओं की मनोवृत्ति रूप लोकोत्तम-संज्ञा में निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि निर्वाणरूप सुख का यही एकमात्र उपाय है ॥ ५० ॥

**॥ इति आलोचनाविधिर्नाम पञ्चदशं पञ्चाशकम् ॥**

---

१. 'लध्धूण' इति पाठान्तरम्।

# १६

# प्रायश्चित्तविधि पञ्चाशक

पन्द्रहवें पञ्चाशक में आलोचना-विधि का विवेचन किया गया है। उक्त विधि से आलोचना करने के बाद उसकी शुद्धि के लिए गुरु प्रायश्चित्त देते हैं। इसलिए अब प्रायश्चित्त प्रकरण प्रारम्भ करने हेतु मङ्गलाचरण करते हैं —

*मङ्गलाचरण*

नमिऊण वद्धमाणं पायच्छित्तं समासतो वोच्छं ।
आलोयणादि दसहा गुरूवएसाणुसारेणं ।। १ ।।

नत्वा वर्धमानं प्रायश्चित्तं समासतो वक्ष्ये ।
आलोचनादि दशधा गुरूपदेशानुसारेण ।। १ ।।

भगवान् महावीर को प्रणाम करके आलोचनादि दस प्रकार का प्रायश्चित्त गणधर आदि गुरुभगवंतों के उपदेशानुसार संक्षेप में कहूँगा ।। १ ।।

**विशेष :** जिससे प्राय: शुद्धि होती है उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। भावपूर्वक किया गया प्रायश्चित्त ही शुद्धि का कारण होता है।

*प्रायश्चित्त के दस प्रकार*

आलोयण पडिक्कमणे मीस विवेगे तहा विउस्सग्गे ।
तव छेय मूल अणवट्ठया य पारंचिए चेव ।। २ ।।

आलोचना प्रतिक्रमणं मिश्रं विवेक: तथा व्युत्सर्ग: ।
तपश्छेद: मूलम् अनवस्थाप्यता च पाराञ्चिकमेव ।। २ ।।

प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पाराञ्चिक — ये दस आलोचना के प्रकार हैं ।। २ ।।

१. *प्रायश्चित्त* — अपने दोषों का यथातथ्य गुरु से निवेदन करना।

२. *प्रतिक्रमण* — दोषों के विरुद्ध गमन, अर्थात् दोषों से विमुख होकर गुणों में जाना अर्थात् 'मिथ्या मे दुष्कृतम्' करना।

३. *मिश्र* — आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना।

४. *विवेक* — दूषित भोजनादि का त्याग।

५. *व्युत्सर्ग* — कायोत्सर्ग करना।

६. *तप* — कर्मनिर्जरा के लिए सरस भोजन का त्याग आदि तप करना।

७. छेद — तप से अपराध शुद्धि न हो सके तो अहोरात्र-पञ्चक आदि क्रम से दीक्षापर्याय का छेद करना।

८. *मूल* — मूल से सम्पूर्ण दीक्षा का छेद करके फिर से महाव्रत देना।

९. *अनवस्थाप्य* — अधिक दुष्ट परिणामवाला साधु प्रायश्चित्त के रूप में दिया गया तप जब तक न करे तब तक उसे पुन: महाव्रत नहीं देना।

१०. *पाराञ्चिक* — प्रायश्चित्त या अपराध की अन्तिम स्थिति अर्थात् जिससे अधिक कोई प्रायश्चित्त या अपराध नहीं हो, वह पाराञ्चिक है।

*प्रायश्चित्त शब्द की निरुक्ति*

पावं छिंदति जम्हा पायच्छित्तंति भण्णई तेण।
पाएण वावि चित्तं सोहयती तेण पच्छित्तं ॥ ३ ॥

पापं छिनत्ति यस्मात् पापछिदिति भण्यते तेन।
प्रायेण वापि चित्तं शोधयति तेन प्रायश्चित्तम् ॥ ३ ॥

जिससे पाप का छेदन होता है वह पापछिद् कहा जाता है (प्राकृत भाषा में पापछिद् शब्द का रूप पायच्छित्त बनता है) अथवा चित्त की जो प्राय: शुद्धि करे वह प्रायश्चित्त कहा जाता है ॥ ३ ॥

*भाव से प्रायश्चित्त यथार्थ है*

भव्वस्साणारुइणो संवेगपरस्स वण्णियं एयं।
उवउत्तस्स जहत्थं सेसस्स उ दव्वतो णवरं ॥ ४ ॥

भव्यस्याज्ञारुचे: संवेगपरस्य वर्णितमेतत्।
उपयुक्तस्य यथार्थं शेषस्य तु द्रव्यत: केवलम् ॥ ४ ॥

भव्य, आज्ञारुचि युक्त (आगम में श्रद्धावान्), संविग्न और सभी अपराधों में उपयोग वाले जीव के लिए प्रायश्चित्त यथार्थ है (शुद्धि करने वाला है) और इससे भिन्न शेष जीवों के लिए प्रायश्चित्त केवल द्रव्य से है, क्योंकि वह भावरहित होने के कारण शुद्धि नहीं करने वाला है ॥ ४ ॥

*उपर्युक्त विषय का समर्थन*

सत्थत्थबाहणाओ पायमिणं तेण चेव कीरंतं।
एयं चिय संजायति वियाणियव्वं बुहजणेणं ॥ ५ ॥

दोसस्स जं णिमित्तं होति तगो तस्स सेवणाए उ ।
ण उ तक्खउत्ति पयडं लोगम्मिवि हंदि एयंति ।। ६ ।।

शास्त्रार्थबाधनात् प्राय इदं तेन चैव क्रियमाणम् ।
एतदेव सञ्जायते विज्ञातव्यं बुधजनेन ।। ५ ।।

दोषस्य यन्निमित्तं भवति तकः तस्य सेवनया तु ।
न तु तत्क्षय इति प्रकटं लोकेऽपि हंदि एवमिति ।। ६ ।।

शास्त्रोक्त अर्थ की विराधना (शास्त्राज्ञा के भंग) से प्रायः पाप लगता है, इसलिए शास्त्रार्थ भंग करके किया जाने वाला विशुद्धि रूप प्रायश्चित्त पापरूप ही होता है, ऐसा बुद्धिमान् व्यक्ति को जानना चाहिए ।। ५ ।।

**विशेष :** अप्रमत्त अवस्था में यदि हिंसा हो जाये तो पाप नहीं लगता है, इसलिए यहाँ प्राय: शब्द का प्रयोग किया गया है।

दोष का जो निमित्त होता है उसके सेवन से ही दोष होता है, दोष का नाश नहीं — यह बात लोक में भी रोगादि के दृष्टान्त से प्रसिद्ध है अर्थात् जिस प्रकार रोग के कारणों का सेवन करने से रोग बढ़ता है, उसका नाश नहीं होता है । उसी प्रकार शास्त्रोक्त नियमों की विराधना करने से पाप बढ़ता है, पाप का नाश नहीं होता है।। ६ ।।

*प्रायश्चित्त व्रणचिकित्सा तुल्य है*

दव्ववणाहरणेणं जोजितमेतं विदूहिँ समयंमि ।
भाववणतिगिच्छाए सम्मंति जतो इमं भणितं ।। ७ ।।

द्रव्यव्रणाहरणेन योजितमेतद्विद्वद्भिः समये ।
भावव्रणचिकित्सायां सम्यगिति यत इदं भणितम् ।। ७ ।।

भद्रबाहु स्वामी ने कायोत्सर्ग निर्युक्ति रूप शास्त्र में द्रव्यव्रण के दृष्टान्त से चारित्राचार रूप भावव्रण की चिकित्सा का रूपक प्रस्तुत किया है ।। ७ ।।

*भद्रबाहु द्वारा कथित छः गाथाएँ*

दुविहो कायंमि वणो तब्भव आगंतुगो य णायव्वो ।
आगंतुगस्स कीरति सल्लुद्धरणं ण इयरस्स ।। ८ ।।
तणुओ अतिक्खतुंडो असोणितो केवलं तयालग्गो ।
उद्धरिउं अवउज्झइ सल्लो ण मलिज्जइ वणो उ ।। ९ ।।
लग्गुद्धियम्मि बीए मलिज्जइ परमदूरगे सल्ले ।
उद्धरणमलणपूरण दूरयरगए उ तइयम्मि ।। १० ।।

मा वेअणा उ तो उद्धरित्तु गालिंति सोणिय चउत्थे।
रुज्झइ लहुंति चेट्ठा वारिज्जइ पंचमे वणिणो ॥ ११ ॥
रोहेइ वणं छट्ठे हितमितभोजी अभुंजमाणो वा।
तत्तियमेत्तं छिज्जति सत्तमए पूइमंसादी ॥ १२ ॥
तहवि य अठायमाणे गोणसखइयादि रप्पुए वावि।
कीरति तदंगछेदो सअट्ठितो सेसरक्खट्ठा ॥ १३ ॥

द्विविधः काये व्रणः तद्भवागन्तुकश्च ज्ञातव्यः।
आगन्तुकस्य क्रियते शल्योद्धरणं न इतरस्य ॥ ८ ॥
तनुको अतीक्ष्णतुण्डो अशोणितः केवलं त्वग्लग्नः।
उद्धृत्य अपोह्यते शल्यो न मल्यते व्रणस्तु ॥ ९ ॥
लग्नोद्धृते द्वितीये मल्यते परमदूरगे शल्ये।
उद्धरण-मलन-पूरणे दूरतर गते तु तृतीये ॥ १० ॥
मा वेदना तु तत उद्धृत्य गालयन्ति शोणितं चतुर्थे।
रुध्यते लध्विति चेष्टा वार्यते पञ्चमे व्रणिनः ॥ ११ ॥
रोहति व्रणं षष्ठे हितमितभोजी अभुंजमानो वा।
तावन्मात्रं छिद्यते सप्तमे पूतिमांसादि ॥ १२ ॥
तथापि च अतिष्ठति गोनसखादितादौ रप्पुके वापि।
क्रियते तदंगच्छेदः सास्थिकः शेषरक्षार्थम् ॥ १३ ॥

शरीर में तद्भव और आगन्तुक – ये दो प्रकार के व्रण होते हैं। तद्भव अर्थात् शरीर से उत्पन्न यथा – गाँठ आदि। आगन्तुक अर्थात् काँटा आदि लगने से हुआ व्रण। इसमें आगन्तुक व्रण का शल्योद्धरण किया जाता है। तद्भव व्रण का नहीं ॥ ८ ॥

जो शल्य पतला हो, तीक्ष्ण मुखवाला न हो अर्थात् शरीर के बहुत अन्दर तक न गया हो, खूनवाला न हो, केवल त्वचा से ही लगा हो उस शल्य अर्थात् काँटे आदि को बाहर खींच लिया जाता है। उस व्रण का मर्दन नहीं किया जाता है ॥ ९ ॥

जो शल्य शरीर में प्रथम प्रकार के शल्य से थोड़ा अधिक लगा हो, किन्तु गहरा न हो – ऐसे शल्य के दूसरे प्रकार में काँटे को खींच लिया जाता है और व्रण का मर्दन किया जाता है, किन्तु उसमें कर्णमल नहीं भरा जाता। इससे थोड़ा अधिक गहराये हुए तीसरे प्रकार के शल्य में शल्योद्धार, व्रणमर्दन और कर्णमलपूरण – ये तीनों किये जाते हैं ॥ १० ॥

चौथे प्रकार के शल्य में वैद्य व्रण में से शल्य निकालकर दर्द नहीं हो, इसके लिए थोड़ा खून निकालते हैं। पाँचवें प्रकार के शल्य में वैद्य शल्योद्धार करके व्रण जल्दी ठीक हो जाये, इसके लिए मरीज को चलने आदि की क्रिया करने से मना करते हैं ।। ११ ।।

छठे प्रकार के शल्य में चिकित्साशास्त्र के अनुसार पथ्य और अल्प-भोजन दे करके अथवा भोजन का सर्वथा त्याग करवा करके व्रण को सुखाते हैं। सातवें प्रकार के शल्य में शल्योद्धार करने के बाद शल्य से दूषित हुआ मांस, पीब आदि निकाल दिया जाता है ।। १२ ।।

सर्प, बिच्छू आदि के डंक मारने से हुए व्रण में या वल्मीक रोग विशेष में उक्त चिकित्सा से व्रण ठीक न हो तो शेष अंगों की रक्षा के लिए दूषित अंग को हड्डी के साथ काट लिया जाता है ।। १३ ।।

*भावव्रण का स्वरूप*

मूलुत्तरगुणरूवस्स ताइणो परमचरणपुरिसस्स।
अवराहसल्लपभवो भाववणो होइ णायव्वो।। १४ ।।

मूलोत्तरगुणरूपस्य तायिनः परमचरणपुरुषस्य।
अपराधशल्यप्रभवो भावव्रणो भवति ज्ञातव्यः।। १४ ।।

मूलगुणों और उत्तरगुणों को धारण करने वाले और संसार-सागर से तारने वाले उत्तम चारित्र अर्थात् सम्यक्-चारित्र के धारी श्रेष्ठ पुरुष (साधु) के पृथ्वी-कायिक आदि जीवों की विराधना रूप अतिचार से जो शल्य उत्पन्न होता है, वही भावव्रण कहलाता है -- ऐसा जानना चाहिए ।। १४ ।।

*भावव्रण को सूक्ष्मता से जानने की आवश्यकता*

एसो एवंरूवो सविगिच्छो एत्थ होइ विण्णेओ ।
सम्मं भावाणुगतो णिउणाए जोगिबुद्धीए ।। १५ ।।

एष एवंरूपः सचिकित्सोऽत्र भवति विज्ञेयः ।
सम्यग् भावानुगतो निपुणया योगिबुद्ध्या ।। १५ ।।

यहाँ प्रायश्चित्त के प्रसङ्ग में उक्त स्वभाव वाले व्रण को उसकी चिकित्सा विधि सहित जानना योग्य है, क्योंकि अध्यात्म के रहस्य को जानने वाले योगियों की सूक्ष्म बुद्धि से ही उसके रहस्य को अच्छी तरह जाना जा सकता है ।। १५ ।।

*भावव्रण की चिकित्सा*

भिक्खायरियादि सुज्झति अइयारो कोइ वियडणाए उ ।
बितिओ उ असमितो मित्ति कीस ? सहसा अगुत्तो वा ।। १६ ।।

सद्दादिएसु रागं दोसं व मणे गओ तइयगम्मि ।
णाउँ अणेसणिज्जं भत्तादि विगिंचण चउत्थे ।। १७ ।।

उस्सग्गेण विसुज्झति अइयारो कोइ कोइ उ तवेणं ।
तहविय असुज्झमाणे छेयविसेसा विसोहंति ।। १८ ।।

भिक्षाचर्यादि: शुद्ध्यति अतिचार: कोऽपि विकटनया तु ।
द्वितीयस्तु असमितोऽस्मीति कस्मात्? सहसाअगुप्तो वा ।। १६ ।।

शब्दादिकेषु रागं दोषं वा मनसि गतस्तृतीयके ।
ज्ञात्वा अनेषणीयं भक्तादि 'विगिंचण' चतुर्थे ।। १७ ।।

उत्सर्गेण विशुद्ध्यति अतिचार: कोऽपि कोऽपि तु तपसा ।
तथापि च अशुद्ध्यति छेदविशेषा विशोधयन्ति ।। १८ ।।

भिक्षाटन, स्वाध्याय आदि के निमित्त आने-जाने से होने वाला कोई अत्यन्त सूक्ष्म अतिचार आलोचना से ही शुद्ध हो जाता है। यह अतिचार प्रथम शल्य के समान है और उसकी आलोचना प्रथम शल्योद्धार के समान ही है । जिस प्रकार प्रथम शल्य में शल्योद्धार के अतिरिक्त और दूसरा कोई उपाय आवश्यक नहीं है, उसी प्रकार इसमें भी आलोचना के अतिरिक्त और कोई दूसरा प्रायश्चित्त करना आवश्यक नहीं है। समिति, गुप्ति आदि के भंग रूप द्वितीय प्रकार का अतिचार — अरे ! मैं अचानक कैसे असमित और अगुप्त हो गया ? असमित और अगुप्त होने का कोई कारण ही नहीं है ! इस प्रकार पश्चात्ताप सहित 'मिथ्या मे दुष्कृतम्' रूप प्रतिक्रमण (चिकित्सा) से दोष दूर हो जाता है। यहाँ प्रतिक्रमण रूप चिकित्सा द्वितीय प्रकार के शल्योद्धार में व्रणमर्दन तुल्य है ।। १६ ।।

इष्ट-अनिष्ट शब्दादि विषयों में केवल मन से राग-द्वेष करने वाला मुनि तीसरी व्रणमर्दन और कर्णमलपूरण के समान मिश्र (आलोचना एवं प्रतिक्रमण) नामक चिकित्सा से शुद्ध होता है। अनेषणीय भोजनग्रहण रूप अतिचार चतुर्थ शल्य के समान है। यह भोजन को अशुद्ध जानकर उसे त्यागने रूप (खून निकालने के समान) विवेक नाम की भाव-चिकित्सा से शुद्ध होता है ।। १७ ।।

पाँचवें शल्य के समान अशुभ स्वप्न आदि रूप कोई अतिचार कायोत्सर्ग (क्रिया-निषेध के समान) नाम की भावचिकित्सा से शुद्ध होता है। पृथ्वीकाय संघट्टन आदि अतिचार छठे शल्य के समान हितमित भोजन या सरस भोजनत्याग रूप नीवी आदि तपों की भावचिकित्सा से दूर होता है।

तप से भी अतिचारशल्य या भावव्रण दूर न हो तो उसे खराब माँसादि

को काटने के समान दीक्षापर्याय के छेद रूप भावचिकित्सा से दूर किया जाता है ॥ १८ ॥

*छेद से अपराधशुद्धि होने का कारण*

छिज्जति दूसियभावो तहोमरायणियभावकिरियाए ।
संवेगादिपभावा सुज्झइ णाता तहाऽऽणाओ ॥ १९ ॥

छिद्यते दूषितभावः तयाऽवमरात्निक भाव क्रियया ।
संवेगादिप्रभावात् शुद्ध्यति ज्ञाता तथाऽऽज्ञातः ॥ १९ ॥

दीक्षापर्याय कम करने से (साधु की संयम पर्याय छेदने से) साधु का दूषित अध्यवसाय दूर होता है, क्योंकि दीक्षा पर्याय कम करने से साधु में संवेग, निर्वेद आदि गुण उत्पन्न होते हैं। इन गुणों के परिणाम स्वरूप आप्तोपदेश के पालन से बुद्धिमान साधु शुद्ध होता है ॥ १९ ॥

*मूल आदि गुणों के वर्णन की प्रतिज्ञा*

मूलादिसु पुण अहिगय-पुरिसाभावेण नत्थि वणचिंता ।
एतेसिंपि सरूवं वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ २० ॥

मूलादिषु पुनरधिकृत-पुरुषाभावेन नास्ति व्रणचिन्ता ।
एतेषामपि स्वरूपं वक्ष्यामि यथानुपूर्वि ॥ २० ॥

आलोचनादि सात प्रायश्चित्तों को व्रण दृष्टान्त से निरूपित किया गया है। मूल, अनवस्थाप्य और पाराञ्चिक प्रायश्चित्त योग्य अपराधों में सम्यक्-चारित्र के अभाव के कारण व्रण के दृष्टान्त की विचारणा नहीं है। मूल आदि प्रायश्चित सम्यक्-चारित्र का सर्वथा अभाव होने पर ही होता है। इसलिए अब मूल आदि प्रायश्चित्त का भी स्वरूप क्रमशः कहूँगा ॥ २० ॥

*मूलप्रायश्चित्त का स्वरूप*

पाणातिवातपभितिसु संकप्पकएसु चरणविगमम्मि ।
आउट्टे परिहारा पुणवयठवणं तु मूलंति ॥ २१ ॥

प्राणतिपातप्रभृतिषु संकल्पकृतेषु चरणविगमे ।
आवृत्ते परिहारात् पुनर्व्रतस्थापनं तु मूलमिति ॥ २१ ॥

संकल्पपूर्वक किये गये प्राणवध, मृषावाद आदि अपराधों में चारित्र-धर्म का अभाव होने पर चारित्र के परिणाम से रहित उस साधु में महाव्रतों की पुनः स्थापना करना 'मूल' नामक प्रायश्चित्त है ॥ २१ ॥

*अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त का स्वरूप*

साहम्मिगादितेयादितो तहा चरणविगमसंकेसे।
णोचियतवेऽकयम्मी ठविज्जति वएसु अणवट्ठो।। २२ ।।

साधर्मिकादिस्तेयादितः तथा चरणविगमसंक्लेशे।
नोचिततपसिऽकृते स्थाप्येते व्रतेषु अनवस्थाप्यः ।। २२ ।।

आगम में अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य दोष के सम्बन्ध में जो कहा गया है उसके अनुसार साधर्मिक अथवा अन्य किसी व्यक्ति की उत्तम वस्तुओं की चोरी, हस्तताडन (किसी को हाथ से या पैर से मारना) आदि करने पर चारित्राभाव जनक दुष्ट अध्यवसाय होने से जब तक उचित तप पूर्ण न करे तब तक जिसे महाव्रत न दिये जायें – वह अनवस्थाप्य है। प्रायश्चित्त और अनवस्थाप्य साधु में अभेद होने के कारण अनवस्थाप्य साधु का प्रायश्चित्त भी उपचार से अनवस्थाप्य है ।। २२ ।।

*पारांचिक प्रायश्चित्त का स्वरूप*

अण्णोऽण्णमूढ-दुट्ठातिकरणतो तिव्वसंकिलेसंमि ।
तवसाऽतियारपारं अंचति दिक्खिज्जइ ततो य ।। २३ ।।

अन्योऽन्य-मूढ-दुष्टातिकरणतः तीव्रसंक्लेशे ।
तपसाऽतिचारपारम् अञ्चति दीक्ष्यते ततश्च ।। २३ ।।

जो साधु अन्योन्यकारकता, मूढता (प्रमत्तता), दुष्टता और तीर्थङ्कर आदि की आशातना करने से तीव्र संक्लेश उत्पन्न होने पर जघन्य से छः महीना और उत्कृष्ट से बारह वर्ष तक शास्त्रोक्त उपवास आदि तप से अतिचारों को पार कर लेता है अर्थात् सम्पूर्ण अतिचारों से रहित होकर शुद्ध बन जाता है और फिर दीक्षाग्रहण करता है तो वह पाराञ्चिक कहा जाता है। पाराञ्चिक साधु और प्रायश्चित्त में अभेद होने के कारण वह प्रायश्चित्त भी उपचार से पाराञ्चिक कहा जाता है ।। २३ ।।

*पाराञ्चिक के स्वरूप में मतान्तर*

अण्णेसिं पुण तब्भवतदण्णवेक्खाएँ जे अजोगत्ति।
चरणस्स ते इमे खलु सलिंगचितिभेदमादीहिं ।। २४ ।।

अन्येषां पुनस्तद्भव-तदन्यापेक्षया येऽयोग्या इति।
चरणस्य त इमे खलु स्वलिङ्गचिति भेदादिभिः ।। २४ ।।

दूसरे कुछ आचार्यों के मतानुसार जो जीव स्वलिंगभेद, चैत्यभेद, जिन-

प्रवचन का उपघात करने आदि से इस भव में और अन्य भव में चारित्र के अयोग्य होते हैं, वे पाराञ्चिक कहलाते हैं ।। २४ ।।

**विशेष :** मुनि हत्या अथवा श्रमणी के साथ सम्भोग आदि स्वलिंगभेद (मुनि जीवन का विनाश) है और जिनप्रतिमा अथवा चैत्य का विनाश चैत्यभेद है।

*उपर्युक्त मतान्तर का समर्थन*

आसय-विचित्तयाए किलिट्ठयाए तहेव कम्माणं ।
अत्थस्स संभवातो णेयंपि असंगयं चेव ।। २५ ।।

आशयविचित्रतया क्लिष्टतया तथैव कर्मणाम् ।
अर्थस्य सम्भवात् नेदमपि असङ्गतं चैव ।। २५ ।।

परिणामों की विचित्रता से अथवा मोहनीय आदि कर्मों का निरुपक्रम बन्ध होने से इस भव में और पर भव में चारित्र की प्राप्ति की अयोग्यता हो सकती है, इसलिए अन्य आचार्यों का मत भी असंगत नहीं ही है, उचित ही है।

**विशेष :** यहाँ परिणामों की विचित्रता से मतान्तर का समर्थन किया गया है।

*प्रायश्चित्त की विचित्रता से मतान्तर का समर्थन*

आगममाई य जतो ववहारो पंचहा विणिद्दिट्ठो ।
आगम सुय आणा धारणा य जीए य पंचमए ।। २६ ।।

एयाणुसारतो खलु विचित्तमेयमिह वण्णियं समए ।
आसेवणादिभेदा तं पुण सुत्ताउ णायव्वं ।। २७ ।।

आगमादिश्च यतो व्यवहारः पञ्चधा विनिर्दिष्टः ।
आगमः श्रुतम् आज्ञा धारणा च जीतं च पञ्चमकः ।। २६ ।।

एतदनुसारतः खलु विचित्रमेतदिह वर्णितं समये ।
आसेवनादिभेदात् तत् पुनः सूत्रात् ज्ञातव्यम् ।। २७ ।।

आगम में आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत — ये पाँच प्रकार के व्यवहार कहे गये हैं। यहाँ व्यवहार से तात्पर्य है — प्रायश्चित्त देने की रीति।

*आगम* — जिससे अर्थ जाना जाता है वह आगम है। केवलज्ञानी, मनः पर्ययज्ञानी, चौदह, दस अथवा नौ पूर्व के ज्ञाता आचार्यों के वचन — ये पाँच आगम हैं। आगम के आधार पर प्रायश्चित्त देने की विधि को आगम-व्यवहार कहा जाता है।

*श्रुत* — निशीथ, कल्प, व्यवहार आदि प्रायश्चित्त सम्बन्धी श्रुतग्रन्थों के आधार पर प्रायश्चित्त देना श्रुत-व्यवहार है।

*आज्ञा* — एक गीतार्थ दूसरे स्थान पर स्थित गीतार्थ के पास अपने दोषों की आलोचना के लिए यदि स्वयं वहाँ न जा सके तो किसी अगीतार्थ को सांकेतिक भाषा में अपना अतिचार कहकर अन्यत्र स्थित गीतार्थ के पास जाने की आज्ञा करे। वह आचार्य भी गूढ़भाषा में कथित अतिचारों को सुनकर स्वयं वहाँ जाये या अन्य गीतार्थ को वहाँ भेजे या संदेशवाहक अगीतार्थ को सांकेतिक भाषा में प्रायश्चित्त सम्बन्धी निर्देश दे वह आज्ञा-व्यवहार है।

*धारणा* — गीतार्थ गुरु के द्वारा शिष्य की प्रतिसेवना को जानकर जिस अतिचार का जो प्रायश्चित्त अनेक बार दिया गया हो उसे शिष्य याद रखकर वैसी परिस्थिति में उसी प्रकार का प्रायश्चित्त देना धारणा-व्यवहार है।

*जीत* — गीतार्थ संविग्नों के द्वारा प्रवर्तित शुद्ध व्यवहार। पूर्वाचार्य जिन अपराधों में बड़े तप रूप प्रायश्चित्त देते थे उन अपराधों में वर्तमान में व्यक्ति की शारीरिक शक्ति आदि में कमी होने से किसी छोटे तप के माध्यम से प्रायश्चित्त देना जीत-व्यवहार है ॥ २६ ॥

प्रतिसेवना, व्यक्ति, परिस्थिति और समय के भेद से उपर्युक्त पाँच प्रकार के व्यवहार के अनुसार आगम में अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त कहे गये हैं। उन्हें आगम से जान लेना चाहिए।

प्रतिसेवना अर्थात् अपराध होने के आकुट्टिका, दर्प, प्रमाद और कल्प – ये चार हेतुगत भेद हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव – ये चार परिस्थितिगत भेद हैं। पुरुष अर्थात् व्यक्ति के आचार्य, उपाध्याय, वृषभ (प्रवर्तक), भिक्षु और क्षुल्लक – ये पाँच भेद हैं। एक बार, दो बार, तीन बार —इस प्रकार बार-बार दोषों का सेवन करने वालों के अनेक भेद हैं। अर्थात् प्रायश्चित्त के अनेक भेद हैं। इसलिए इस सम्बन्ध में अन्य आचार्यों के मत भी असंगत नहीं हैं ॥ २७ ॥

*प्रायश्चित्त के विषय में परमार्थ*

एयं च एत्थ तत्तं असुहज्झवसाणओ हवति बंधो ।
आणाविराहणाणुगमेयंपि य होति दट्ठव्वं ॥ २८ ॥

सुहभावा तव्विगमो सोऽवि य आणाणुगो णिओगेण ।
पच्छित्तमेस सम्मं विसिट्ठओ चेव विण्णेओ ॥ २९ ॥

एतच्चात्र तत्त्वम् अशुभाध्यवसानतो भवति बन्धः ।
आज्ञाविराधनानुगम् इदमपि च भवति द्रष्टव्यम् ॥ २८ ॥

शुभभावात् तद्विगमः सोऽपि च आज्ञानुगः नियोगेन ।
प्रायश्चित्तम् एषः सम्यग् विशिष्टक एव विज्ञेयः ।। २९ ।।

प्रायश्चित्त के विषय में वास्तविकता इस प्रकार है — अशुभ अध्यवसाय से अशुभकर्म का बन्ध होता है। यह अशुभ अध्यवसाय जिनाज्ञा का भंग करने से होता है ।। २८ ।।

शुभभाव से अशुभकर्म का नाश होता है। शुभभाव जिनाज्ञा का पालन करने से अवश्य ही होता है अर्थात् जो भाव जिनाज्ञा के अनुसार है वही शुभ है। यह विशिष्ट शुभभाव ही यथार्थ प्रायश्चित्त है ।। २९ ।।

*विशिष्ट शुभभाव का स्वरूप*

असुहज्झवसाणाओ जो सुहभावो विसेसओ अहिगो ।
सो इह होति विसिट्ठो ण ओहतो समयणीतीए ।। ३० ।।

इहरा बंभादीणं आवस्सयकरणतो उ ओहेणं ।
पच्छित्तंति विसुद्धी ततो ण दोसो समयसिद्धो ।। ३१ ।।

अशुभाध्यवसानाद् यः शुभभावो विशेषतोऽधिकः ।
स इह भवति विशिष्टः न ओघतः समयनीत्या ।। ३० ।।

इतरथा ब्रह्मादीनाम् आवश्यककरणतस्तु ओघेन ।
प्रायश्चित्तमिति विशुद्धिः ततो न दोषः समयसिद्धः ।। ३१ ।।

पूर्वकृत अशुभ अध्यवसाय से बँधे हुए कर्मों की निर्जरा के लिये प्रायश्चित्त स्वरूप जितना शुभभाव अपेक्षित है, वही शुभभाव यहाँ आगमानुसार विशेष शुभभाव है (और वही शुभभाव पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ होता है), सामान्य रूप से किया गया शुभभाव सम्पूर्ण बद्ध कर्मों का नाश करने में समर्थ नहीं है ।। ३० ।।

क्योंकि किसी भी तरह का सामान्य शुभभाव प्रायश्चित्त होता तो ब्राह्मी, सुन्दरी आदि द्वारा सामान्य रूप से किये गये आवश्यककरण (प्रतिक्रमण) रूप शुभभाव से ही प्रायश्चित्त हो गया होता अर्थात् उनके कर्मों का नाश हो गया होता और उन्हें शास्त्र प्रसिद्ध स्त्रीत्व की प्राप्ति रूप दोष नहीं लगता। इसलिए किसी भी तरह का सामान्य शुभभाव पूर्ण शुद्धि का कारण नहीं होता है ।। ३१ ।।

*विशिष्ट शुभभाव उत्पन्न करने के तीन कारण*

ता एयंमि पयत्तो कायव्वो अप्पमत्तयाए उ ।
सतिबलजोगेण तहा संवेगविसेसजोगेण ।। ३२ ।।

एतेण पगारेणं संवेगाइसयजोगतो चेव ।
अहिगय-विसिट्ठभावो तहा तहा होति णियमेणं ।। ३३ ।।

तदेतस्मिन् प्रयत्नः कर्तव्योऽप्रमत्ततया तु ।
स्मृतिबलयोगेन तथा संवेगविशेषयोगेन ।। ३२ ।।

एतेन प्रकारेण संवेगातिशययोगतश्चैव ।
अधिगत-विशिष्टभावः तथा तथा भवति नियमेन ।। ३३ ।।

विशिष्ट शुभभाव ही शुद्धि का कारण है। विशिष्ट शुभभाव उत्पन्न करने के लिए अप्रमत्तता, छोटे-बड़े अतिचारों का स्मरण और अतिशय भवभय – इन तीनों से युक्त होकर प्रयत्न करना चाहिए ।। ३२ ।।

इस प्रकार अप्रमत्तता, स्मरण सामर्थ्य और अतिशय भवभय के योग से ही विशुद्धि हेतु प्रकृष्ट शुभाध्यवसाय प्रत्येक जीव की शक्ति के अनुसार अवश्य उत्पन्न होता है ।। ३३ ।।

*विशिष्ट शुभभाव रूप प्रायश्चित्त से लाभ*

तत्तो तव्विगमो खलु अणुबंधावणयणं व होज्जाहि ।
जं इय अपुव्वकरणं जायति सेढी य विहियफला ।। ३४ ।।

एवं निकाइयाणवि कम्माणं भाणियमेत्थ खवणंति ।
तंपिय जुज्जइ एवं तु भावियव्वं अओ एयं ।। ३५ ।।

ततः तद्विगमः खलु अनुबन्धापनयनं वा भवेत् ।
यदिति अपूर्वकरणं जायते श्रेणिश्च विहितफला ।। ३४ ।।

एवं निकाचितानामपि कर्मणां भणितमत्र क्षपणमिति ।
तदपि च युज्यत एवं तु भावयितव्यमत एतत् ।। ३५ ।।

विशिष्ट शुभभाव के द्वारा अशुभभाव से बँधे हुए कर्मों का नाश होता है। अथवा अशुभभाव से बँधे हुये कर्मों के अनुबन्ध का विच्छेद होता है, क्योंकि शुभभाव से अपूर्वकरण नामक आठवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है और कर्मों की निर्जरा से उपशमश्रेणि और फिर क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होकर अन्त में जीव अनुत्तर सुख रूप निर्वाण को प्राप्त करता है।

**विशेष :** अपूर्वकरण गुणस्थान में कभी न हुए हों ऐसे विशिष्ट शुभभाव होते हैं, जिससे दुष्टकर्मों की स्थिति का घात आदि होता है। शास्त्रों में उपशमश्रेणि का फल अनुत्तर देवलोक का सुख और क्षपकश्रेणि का फल मोक्ष बतलाया गया है ।। ३४ ।।

आगम में 'तवसा तु निकाइयाणंपि' (तप से तो निकाचित कर्मों का भी नाश होता है) — जो यह कहा गया है, वह भी इस प्रकार के विशिष्ट शुभभाव से अपूर्वकरण और श्रेणि-आरोहण के द्वारा ही घटित होता है। यह विशिष्ट शुभभाव रूप प्रायश्चित्त निकाचित कर्मों के भी क्षय का कारण होने से सामान्य अशुभकर्मों के क्षय और उनके अनुबन्ध के विच्छेद का कारण तो है ही, ऐसा विचार करना चाहिए। निकाचित कर्म का अर्थ है कर्मों का निबिड़ (सघन) रूप से बन्धन ।। ३५ ।।

*आगमोक्त अनुष्ठानों में प्रायश्चित्त योग्य नहीं है — किसी के इस मत का प्रतिपादन*

विहियाणुट्ठाणंमी एत्थं आलोयणादि जं भणियं ।
तं कह पायच्छित्तं दोसाभावेण तस्सत्ति ।। ३६ ।।
अह तंपि सदोसं चिय तस्स विहाणं तु कह णु समयम्मि ।
न य णो पायच्छित्तं इमंपि तह कित्तणाओ उ ।। ३७ ।।

विहितानुष्ठानेऽत्र आलोचनादि यद्भणितम् ।
तत्कथं प्रायश्चित्तं दोषाभावेन तस्येति ।। ३६ ।।
अथ तदपि सदोषमेव तस्य विधानं तु कथं नु समये ।
न च नो प्रायश्चित्तं इदमपि तथा कीर्तनात्तु ।। ३७ ।।

आगमोक्त भिक्षाचर्या आदि अनुष्ठानों में आलोचना, कायोत्सर्ग आदि जो प्रायश्चित्त आगम में कहे गये हैं वे यहाँ घटित नहीं होते हैं, क्योंकि आगमोक्त भिक्षाचर्या आदि अनुष्ठान निर्दोष होते हैं और सदोष अनुष्ठान में ही प्रायश्चित्त होता है निर्दोष अनुष्ठान में नहीं। तब फिर आगमोक्त शुद्धचर्या करने वाले साधु के लिए प्रतिदिन आलोचनादि प्रायश्चित्त करने का विधान क्यों किया गया ?

अब आप कहेंगे कि आगमोक्त अनुष्ठान भी सदोष (अतिचार सहित) होता है तो फिर शास्त्र में उनका उपदेश क्यों किया गया है ? क्योंकि शास्त्रों में सदोष उपदेश विहित नहीं है, तो सम्भवत: यह कहा जा सकता है कि — आलोचनादि प्रायश्चित्त ही नहीं होते हैं, किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि आगम में आलोचनादि प्रायश्चित्त के रूप में वर्णित हैं ।। ३७ ।।

*उपर्युक्त मत का निराकरण*

भण्णइ पायच्छित्तं विहियाणुट्ठाणगोयरं चेयं ।
तत्थवि य किंतु सुहुमा विराहणा अत्थि तीऍ इमं ।। ३८ ।।

भण्यते प्रायश्चित्तं विहितानुष्ठानगोचरं चैतत् ।
तत्रापि च किन्तु सूक्ष्मा विराधना अस्ति तस्या इदम् ॥ ३८ ॥

पुन: उपर्युक्त शङ्का का समाधान करते हुए कहा गया है कि यहाँ प्रायश्चित्त घटित होता है और यह प्रायश्चित्त आगमोक्त अनुष्ठान सम्बन्धी है। आगमोक्त क्रिया में जो सूक्ष्म विराधना होती है उसकी शुद्धि के लिए आलोचना आदि प्रायश्चित्त हैं । वस्तुत: आगमोक्त अनुष्ठान का प्रायश्चित्त नहीं किया जाता है, अपितु उस अनुष्ठान को करते समय जो सूक्ष्म विराधना होती है, उसकी शुद्धि के लिए आलोचनादि प्रायश्चित्त किये जाते हैं ॥ ३८ ॥

*उपयोग वाले को सूक्ष्म विराधना क्यों होती है — इसका समाधान*

सव्वावत्थासु जओ पायं बंधो भवत्थजीवाणं ।
भणितो विचित्तभेदो पुव्वायरिया तहा चाहु ॥ ३९ ॥

सर्वावस्थासु यत: प्रायो बन्ध: भवस्थजीवानाम् ।
भणितो विचित्रभेद: पूर्वाचार्या: तथा चाहु: ॥ ३९ ॥

आगम में संसारी जीवों की सरागावस्था, वीतरागावस्था आदि सभी अवस्थाओं में प्राय: अनेक प्रकार का बन्ध बताया गया है। पुन: यही बात पूर्वाचार्यों ने भी कही है।

**विशेष** : अयोगावस्था में कर्मबन्ध नहीं होता है, इसलिए इस गाथा में प्राय: शब्द का प्रयोग किया गया है ॥ ३९ ॥

*पूर्वाचार्यों द्वारा कथित अनेक प्रकार के बन्ध*

सत्तविहबंधगा होंति पाणिणो आउवज्जियाणं तु ।
तह सुहुमसंपराया छव्विहबंधा विणिद्दिट्ठा ॥ ४० ॥

मोहाउयवज्जाणं पगडीणं ते उ बंधगा भणिता ।
उवसंतखीणमोहा केवलिणो एगविहबंधा ॥ ४१ ॥

ते पुण दुसमयट्ठितियस्स बंधगण पुण संपरायस्स ।
सेलेसीपडिवण्णा अबंधया होंति विण्णेया ॥ ४२ ॥

अपमत्तसंजयाणं बंधठिती होति अट्ठ उ मुहुत्ता ।
उक्कोसेण जहण्णा भिण्णमुहुत्तं तु विण्णेया ॥ ४३ ॥

जे उ पमत्ताणाउट्टियाएँ बंधंति तेसि बंधठिती ।
संवच्छराणि अट्ठ उ उक्कोसियरा मुहुत्तंतो ॥ ४४ ॥

सप्तविधबन्धका भवन्ति प्राणिन आयुर्वर्जितानां तु ।
तथा सूक्ष्मसम्परायाः षड्विधबन्धो विनिर्दिष्टाः ।। ४० ।।
मोहायुर्वर्जानां प्रकृतीनां ते तु बन्धका भणिताः ।
उपशान्तक्षीणमोहः केवलिन एकविधबन्धाः ।। ४१ ।।
ते पुनर्द्विसमय-स्थितिकस्य बन्धका न पुनः सम्परायस्य ।
शैलेशीप्रतिपन्ना अबन्धका भवन्ति विज्ञेयाः ।। ४२ ।।
अप्रमत्तसंयतानां बन्धस्थितिर्भवति अष्ट तु मुहूर्त्तान् ।
उत्कर्षेण जघन्या भिन्नमुहूर्त्तं तु विज्ञेया ।। ४३ ।।
ये तु प्रमत्ता अनाकुट्टिकया बध्नन्ति तेषां बन्धस्थितिः ।
संवत्सरान् अष्ट तु उत्कर्षेतरा मुहूर्त्तान्तः ।। ४४ ।।

सामान्यतया सभी जीव आयुष्य के अतिरिक्त अन्य सात प्रकार के कर्मों का सतत बन्ध करते रहते हैं, क्योंकि आयुष्य कर्म का एक भव में एक ही बार (उसमें भी अन्तर्मुहूर्त तक ही) बँध होता है। दसवें सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान को प्राप्त जीव मोहनीय और आयुष्यकर्म के अतिरिक्त अन्य छः प्रकार के कर्मों का बन्ध करते हैं। उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगिकेवली – ये तीन गुणस्थान दो समय के बन्ध की स्थिति वाले हैं, इनमें एक सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। इनमें योगनिमित्तक बन्ध होता है, कषाय निमित्तक नहीं। क्योंकि कषायों का सर्वथा उदय नहीं होता। शैलेशी अवस्था को प्राप्त जीवों को कोई भी कर्मबन्ध नहीं होता है ।। ४०-४२ ।।

इस प्रकार प्रकृतिबन्ध की अपेक्षा से सभी अवस्थाओं में होने वाले बन्ध का कथन किया गया। अब स्थितिबन्ध की अपेक्षा से कथन करते हैं – सातवें गुणस्थान में स्थित अप्रमत्तसंयत साधुओं को उत्कृष्ट से आठ मुहूर्त का और जघन्य से अन्तर्मुहूर्त का स्थितिबन्ध होता है ।। ४३ ।।

छठे गुणस्थान में स्थित प्रमत्तसंयत साधुओं में जो साधु जानबूझकर हिंसा आदि विराधना में प्रवृत्ति करते हैं, उनकी कर्मबन्ध की स्थिति उत्कृष्ट से आठ वर्ष और जघन्य से अन्तर्मुहूर्त की होती है ।। ४४ ।।

*उपर्युक्त विषय की प्रस्तुत विषय में योजना*

ता एवं चिय एयं विहियाणुट्ठाणमेत्थ हवइत्ति ।
कम्माणुबंधछेयणमणहं आलोयणादिजुयं ।। ४५ ।।
तस्मादेवमेव एतद्विहितानुष्ठानमत्र भवतीति ।
कर्मानुबन्धछेदनमनघम् आलोचनादियुतम् ।। ४५ ।।

छद्मस्थ को सभी अवस्थाओं में कर्मबन्ध होता है। कर्मबन्ध के द्वारा उसकी संयम की विराधना जानी जा सकती है (क्योंकि विराधना के बिना कर्मबन्ध नहीं होता है)। छद्मस्थ अर्थात् संसार में स्थित वीतरागी के भी द्रव्य से सूक्ष्म विराधना होती है — यह शास्त्र संगत है। क्योंकि छद्मस्थ वीतरागी को चारों मनोयोग आदि होते हैं — ऐसा शास्त्रों में कहा गया है। इसलिए उन्हें विराधना की शुद्धि करना आवश्यक है। आलोचनादि प्रायश्चित्त सहित आगमोक्त अनुष्ठान कर कर्म के अनुबन्ध का छेदन करने वाले निर्दोष होते हैं ।। ४५ ।।

*इस विषय में मतान्तर और निराकरण*

विहिताणुट्ठाणत्तं तस्स वि एवंति ता कहं एयं ।
पच्छित्तं ? णणु ! भण्णति समयंमि तहा विहाणाओ ।। ४६ ।।

विहितानुष्ठानत्वं तस्यापि एवमिति तत्कथमेतत् ।
प्रायश्चित्तं ननु ! भण्यते समये तथा विधानात् ।। ४६ ।।

आगमोक्त अनुष्ठान और आलोचनादि प्रायश्चित्त कर्म अनुबन्ध का छेदन करने वाले होते हैं — यदि ऐसा मानें तो आलोचनादि प्रायश्चित्त भी आगमोक्त अनुष्ठान बन जाते हैं तो फिर उन्हें प्रायश्चित्त क्यों कहा गया ? भिक्षाचर्यादि आगमोक्त अनुष्ठान हैं, इसलिए विशोध्य हैं, विशोधक नहीं। उसी प्रकार प्रायश्चित्त भी आगमोक्त अनुष्ठान होने से विशोध्य होगा, विशोधक नहीं । जबकि प्रायश्चित्त को विशोधक (शुद्धि का कारण) कहा गया है — ऐसा क्यों ?

**उत्तर :** शास्त्रों में आलोचनादि को प्रायश्चित्त (विशोधक) के रूप में प्रस्तुत किया गया है और इसीलिए वे प्रायश्चित्त कहे जाते हैं ।। ४६ ।।

*प्रायश्चित्त आगमोक्त है — इसकी सिद्धि*

विहियाणुट्ठाणं चिय पायच्छित्तं तदण्णहा ण भवे ।
समए अभिहाणाओ इट्ठत्थपसाहगं णियमा ।। ४७ ।।

विहितानुष्ठानमेव प्रायश्चित्तं तदन्यथा न भवेत् ।
समये अभिधानाद् इष्टार्थप्रसाधकं नियमात् ।। ४७ ।।

प्रायश्चित्त भी आगमोक्त अनुष्ठान ही है, क्योंकि आगम में भिक्षाचर्यादि अनुष्ठानों की तरह प्रायश्चित्त का भी विधान है। इसलिए प्रायश्चित्त अन्यथा (अन्य अनुष्ठानों से भिन्न) नहीं हो सकता है। यदि प्रायश्चित्त आगमोक्त अनुष्ठान न हो तो वह शुद्धि रूप इष्टार्थ का साधक नहीं बन सकता है। प्रायश्चित्त इष्टार्थ का साधक है, अतः आगमोक्त अनुष्ठान है ।। ४७ ।।

*उपर्युक्त का समर्थन*

सव्वावि य पव्वज्जा पायच्छित्तं भवंतरकडाणं ।
पावाणं कम्माणं ता एत्थं णत्थि दोसोत्ति ।। ४८ ।।

सर्वापि च प्रव्रज्या प्रायश्चित्तं भवान्तरकृतानाम् ।
पापानां कर्मणां तदत्र नास्ति दोष इति ।। ४८ ।।

प्रायश्चित ही नहीं, सम्पूर्ण प्रव्रज्या ही भवान्तर में किये गये पाप कर्मों के प्रायश्चित्त रूप है (उनकी शुद्धि का कारण है)। प्रव्रज्या रूप प्रायश्चित्त आगमोक्त अनुष्ठान है, अतः प्रायश्चित्त को आगमोक्त अनुष्ठान मानने में कोई दोष नहीं है ।। ४८ ।।

*अच्छी तरह से किये गये प्रायश्चित्त का लक्षण*

चिण्णस्स णवरि लिंगं इमस्स पाएणमकरणया तस्स ।
दोसस्स तहा अण्णे णियमं परिसुद्धए बिंति ।। ४९ ।।

चीर्णस्य केवलं लिङ्गमस्य प्रायेण अकरणं तस्य ।
दोषस्य तथा अन्ये नियमं परिशुद्धके ब्रुवन्ति ।। ४९ ।।

जिस दोष का प्रायश्चित्त किया गया हो, प्रायः उसे फिर से न किया जाये, अच्छी तरह से किये गये प्रायश्चित्त का लक्षण है। प्रायः शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि सम्भव है कि जिसने शुद्ध प्रायश्चित्त किया है, वह भी फिर से वही दोष कर ले। दूसरे कुछ आचार्यों का कहना है कि दोष की विशुद्धि के लिए आजीवन उस दोष को पुनः नहीं करने का नियम ही शुद्ध प्रायश्चित्त है ।। ४९ ।।

*उपर्युक्त मतान्तर का समर्थन*

णिच्छयणएण संजमठाणापातंमि जुज्जति इमंपि ।
तह चेव पयट्टाणं भवविरहपराण साहूणं ।। ५० ।।

निश्चयनयेन संयमस्थानापाते युज्यते इदमपि ।
तथा चैव प्रवृत्तानां भवविरहपराणां साधूनाम् ।। ५० ।।

निश्चयनय से संयमस्थान से पतित नहीं होने वाले और भवविरह अर्थात् मोक्ष के लिए तत्पर साधुओं की अपेक्षा से अन्य आचार्यों का मत भी स्वीकार्य है ।। ५० ।।

**।। इति प्रायश्चित्तविधिर्नाम षोडशं पञ्चाशकम् ।।**

# १७

# स्थितास्थितकल्पविधि पञ्चाशक

सोलहवें पञ्चाशक में प्रायश्चित्त का विवेचन किया गया है। स्थिति आदि कल्प में स्थित साधु प्रायश्चित्त को स्वीकार करते हैं और उसे पूर्ण करते हैं। इसलिए कल्प का स्वरूप कहने हेतु सर्वप्रथम मङ्गलाचरण करते हैं —

*मङ्गलाचरण*

णमिऊण महावीरं ठियादिकप्पं समासओ वोच्छं ।
पुरिमेयरमज्झिमजिणविभागतो वयणनीतीए ।। १ ।।

नत्वा महावीरं स्थितादिकल्पं समासतो वक्ष्ये ।
पूर्वेतर-मध्यम - जिनविभागतो वचननीत्या ।। १ ।।

भगवान् महावीर को प्रणाम करके प्रथम एवं अन्तिम और बीच के बाइस जिनों के विभाग से स्थित-अस्थित कल्प (आचार) का बृहत्कल्प आदि सूत्रों के अनुसार संक्षेप में निरूपण करूँगा। यहाँ मध्यवर्ती जिनों के उल्लेख के उपलक्षण से महाविदेह क्षेत्र के जिनों का उल्लेख भी समझ लेना चाहिए, क्योंकि ग्रंथकार ने इसी पञ्चाशक की ४०वीं गाथा में – 'एवं खु विदेहजिणकप्पे' अर्थात् बाईस जिनों के साधुओं के आचार के अनुसार महाविदेह क्षेत्र के जिनों के साधुओं का आचार होता है– ऐसा कहा है ।। १ ।।

*स्थितिकल्प का स्वरूप*

दसहोहओ उ कप्पो एस उ पुरिमेयराण[१] ठियकप्पो ।
सययासेवणभावा ठियकप्पो णिच्चमज्जाया ।। २ ।।

दशधौघतस्तु कल्प एषस्तु पूर्वेतराणां स्थितकल्पः ।
सततासेवनभावात् स्थितकल्पो नित्यमर्यादा ।। २ ।।

सामान्यत: आचेलक्य आदि के भेद से कल्प दस प्रकार का होता है। ये कल्प प्रथम और अन्तिम जिनों (तीर्थङ्करों के काल) के साधुओं के लिए स्थित (नियत) कहे जाते हैं, क्योंकि उन्हें इनका आचरण हमेशा करना होता है।

---

१. 'पुरिमेयरायण' इति पाठान्तरम् ।

स्थितकल्प अर्थात् नित्यमर्यादा ।। २ ।।

*स्थितकल्प का नित्य आचरण करने का कारण*

ततिओसहकप्पोऽयं जम्हा एगंततो उ अविरुद्धो ।
सययंपि कज्जमाणो आणाओ चेव एतेसिं ।। ३ ।।

तृतीयौषधकल्पोऽयं यस्माद् एकान्ततस्तु अविरुद्धः ।
सततमपि क्रियमाण आज्ञात एव एतेषाम् ।। ३ ।।

यह स्थितकल्प तृतीय औषधि के समान होने के कारण प्रथम और अन्तिम जिनों के साधुओं को उनका पालन हमेशा करने की आज्ञा है। इसलिए सदैव उनका पालन करना यह उनके लिए एकान्ततः हितकर है, क्योंकि वह शुभ है। प्रथम और अन्तिम जिनों (तीर्थङ्करों) के काल के साधुओं के लिए ही इन दस कल्पों का अनुसरण हमेशा करने की आज्ञा का कारण – सरलता, जड़ता, वक्रता आदि स्वभावगत विशेषताएँ हैं — जिनका वर्णन आगे किया जायेगा ।। ३ ।।

*तीन प्रकार की औषधि*

वाहिमवणेइ भावे कुणइ अभावे तयं तु पढमंति ।
बितियमवणेति न कुणति तइयं तु रसायणं होति ।। ४ ।।

व्याधिमपनयति भावे करोति अभावे तकं तु प्रथममिति ।
द्वितीयमपनयति न करोति तृतीयं तु रसायनं भवति ।। ४ ।।

किसी राजा को अपने पुत्र पर अगाध प्रेम था। उसने अपने पुत्र को सदा के लिए रोगमुक्त बनाने के लिए आयुर्वेद में कुशल अनेक वैद्यों को बुलाकर उसका उपाय पूछा और उस हेतु औषधि देने को कहा। वैद्य राजा की आज्ञा के अनुसार अपनी-अपनी दवा बनाकर लाये। राजा के द्वारा दवाओं का गुण पूछने पर उन वैद्यों ने क्रमशः इस प्रकार कहा – पहले प्रकार की औषधि यदि रोग हो तो उसे दूर करती है और न हो तो नया उत्पन्न करती है। दूसरे प्रकार की औषधि रोग हो तो उसे दूर करती है, किन्तु रोग न हो तो नया रोग उत्पन्न नहीं करती है। तीसरे प्रकार की औषधि रोग हो तो उसे दूर करती है, शरीर को पुष्ट करती है और रोग न हो तो नया रोग उत्पन्न नहीं करती है, अपितु रसायन (पोषक तत्त्व) का कार्य करती है ।। ४ ।।

*उक्त दृष्टान्त की योजना*

एवं एसो कप्पो दोसाभावेऽवि कज्जमाणो उ ।
सुंदरभावाओ खलु चरित्तरसायणं णेओ ।। ५ ।।

एवमेषः कल्पो दोषाभावेऽपि क्रियमाणस्तु ।
सुन्दरभावात् खलु चारित्ररसायनं ज्ञेयः ॥ ५ ॥

दोष न लगा हो तो भी तीसरी औषधि की तरह स्थितकल्प का पालन किया जाये (स्थितकल्प का आचरण किया जाये) तो शुभभाव रूप होने के कारण उसे चारित्ररूपी शरीर के लिए रसायन के समान पोषक जानना चाहिए ॥ ५ ॥

*कल्प के दस प्रकार*

आचेलक्कु - द्देसिय-सिज्जायर-रायपिंड- किइकम्मे ।
वय-जेट्ठ-पडिक्कमणे मास-पज्जोसवण-कप्पो ॥ ६ ॥

आचेलक्यौद्देशिक - शय्यातर - राजपिण्ड- कृतिकर्मणि ।
व्रत-ज्येष्ठ-प्रतिक्रमणे मास--पर्युषणकल्पः ॥ ६ ॥

१. आचेलक्य — वस्त्राभाव, २. औद्देशिक — उद्देश्य (संकल्प) से तैयार हुआ (आधाकर्म), ३. शय्यातर पिण्ड — जो वसति से संसार सागर को तरे, वह शय्यातर है । अर्थात् साधु को मकान देने वाला और शय्यातर का पिण्ड (भिक्षा) शय्यातर पिण्ड, ४. राजपिण्ड — राजा की भिक्षा, ५. कृतिकर्म — वन्दन, ६. व्रत — महाव्रत, ७. ज्येष्ठ — रत्नाधिक, ८. प्रतिक्रमण — आवश्यक कर्म, ९. मासकल्प — एक स्थान पर एक महीने तक रहना, १०. पर्युषणाकल्प — सर्वथा एक स्थान पर रहना, ये दस प्रकार के कल्प हैं।

सामान्यतया ये दस कल्प विभिन्न तीर्थंकरों के साधुओं की योग्यता के अनुसार स्थित (नियत) और अस्थित (अनियत) होने के कारण ओघकल्प कहलाते हैं। विशेष रूप से ये दस कल्प प्रथम और अन्तिम जिनों (तीर्थङ्करों) के शासन-काल के साधुओं के लिए स्थितकल्प होते हैं और मध्यवर्ती बाईस जिनों (तीर्थङ्करों) के काल के साधुओं के लिए इनमें से छह कल्प अस्थित होते हैं और चार कल्प स्थित होते हैं ॥ ६ ॥

*अस्थित कल्पों का प्रतिपादन*

छसु अट्ठिओ उ कप्पो एत्तो मज्झिमजिणाण विण्णेओ ।
णो सययसेवणिज्जो अणिच्चमेरासरूवोत्ति ॥ ७ ॥

आचेलक्कुद्देसिय- पडिक्कमण- रायपिंडमासेसु ।
पज्जुसणाकप्पम्मि य अट्ठियकप्पो मुणेयव्वो ॥ ८ ॥

षट्सु अस्थितस्तु कल्पोऽतः मध्यमजिनानां विज्ञेयः ।
नो सततं सेवनीयोऽनित्य-मर्यादास्वरूप इति ॥ ७ ॥

आचेलक्यौद्देशिक - प्रतिक्रमण - राजपिण्डमासेषु ।
पर्युषणाकल्पे च अस्थितकल्पो ज्ञातव्यः ।। ८ ।।

मध्यम जिन अर्थात् बाईस जिनों के साधुओं को आगे कहे जाने वाले छह कल्प अस्थित अर्थात् अनियत हैं, क्योंकि वे छह कल्प सदा आचरणीय नहीं होते हैं अर्थात् वे साधु इन छह कल्पों का कभी पालन करते हैं और कभी नहीं भी करते हैं ।। ७ ।।

आचेलक्य, औद्देशिक, प्रतिक्रमण, राजपिण्ड, मासकल्प और पर्युषणा-कल्प — ये छह मध्यमवर्ती जिनों के साधुओं के लिए अस्थित हैं ।। ८ ।।

*मध्यम जिन के साधुओं के चार स्थितकल्पों का विवेचन*

सेसेसुं ठियकप्पो[१] मज्झिमगाणंपि होइ विण्णेओ ।
चउसु ठिता छसु अठिता एत्तो च्चिय भणियमेयं तु ।। ९ ।।
सिज्जायरपिंडंमि य चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य ।
कितिकम्मस्स य करणे ठियकप्पो मज्झिमाणंपि ।। १० ।।

शेषेषु स्थितकल्पो मध्यमकानामपि भवति विज्ञेयः ।
चतुर्षु स्थिताः षट्सु अस्थिता अत एव भणितमेतत्तु ।। ९ ।।
शय्यातरपिण्डे च चातुर्यामे च पुरुषज्येष्ठे च ।
कृतिकर्मणश्च करणे स्थितकल्पो मध्यमानामपि ।। १० ।।

शय्यातरपिण्ड आदि शेष चार कल्प मध्यकालीन जिनों के साधुओं के लिए भी स्थित ही होते हैं, इसीलिए आगम में 'चउसु ठिता छसु अठिता' — मध्यवर्ती जिनों के साधु चार कल्पों में स्थित हैं और छः कल्पों में अस्थित हैं, ऐसा कहा गया है ।। ९ ।।

शय्यातरपिण्ड का त्याग, चार महाव्रतों (चातुर्याम) का पालन, पुरुष की ज्येष्ठता और कृति-कर्म अर्थात् संयम-पर्याय के क्रम से वंदन-व्यवहार — ये चार मध्य के जिनों के साधुओं के लिए भी स्थितकल्प हैं ।। १० ।।

*आचेलक्य का स्वरूप*

दुविहा एत्थ अचेला संतासंतेसु होइ विण्णेया ।
तित्थगरऽसंतचेला संताऽचेला भवे सेसा ।। ११ ।।
आचेलक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।
मज्झिमगाणं जिणाणं होइ सचेलो अचेलो य ।। १२ ।।

१. 'सेसेसु ट्ठियकप्पो' इति पाठान्तरम् ।

द्विविधा अत्र अचेलाः सदसत्सु भवति विज्ञेयाः ।
तीर्थङ्करा असच्चेलाः सदचेला भवेयुः शेषाः ॥ ११ ॥

आचेलक्यो धर्मः पूर्वस्य च पश्चिमस्य च जिनस्य ।
मध्यमकानां जिनानां भवति सचेलोऽचेलश्च ॥ १२ ॥

यहाँ अचेलक दो प्रकार के होते हैं — प्रथम वस्त्र न हो तो अचेलक और द्वितीय अल्प वस्त्र होने पर भी अचलेक। तीर्थङ्कर इन्द्रप्रदत्त देवदूष्य के अभाव में ही अचेलक कहे जाते हैं, जब कि शेष साधु-साध्वी अल्प वस्त्र होने पर भी अचेलक कहे जाते हैं ॥ ११ ॥

प्रथम और अन्तिम जिनों के साधुओं का आचेलक्य (नग्नता) कल्प होता है। वे साधु सवस्त्र होने पर भी मात्र श्वेत खण्डित वस्त्र धारण करने के कारण व्यवहार में निर्वस्त्र ही कहे जाते हैं, क्योंकि उनके वस्त्र जैसे होने चाहिए वैसे नहीं होते हैं।

मध्यवर्ती जिनों के साधुओं के सलेचक अथवा अचेलक धर्म होता है। वे ऋजु और बुद्धिमान् होते हैं, इसलिए वे बहुमूल्य और अल्पमूल्य के वस्त्र पहन सकते हैं। जब वे बहुमूल्य कपड़े पहनें तब सचेल और जब अल्पमूल्य के कपड़े पहनें तब अचेल होते हैं। प्रथम जिन के साधु ऋजु और जड़ तथा अन्तिम जिन के साधु जड़ और वक्र होते हैं, इसलिए वे बहुमूल्य वस्त्र नहीं पहन सकते हैं। वे श्वेत खण्डित वस्त्र ही पहन सकते हैं। इसलिए उनका चारित्रधर्म अचेलक है ॥ १२ ॥

*सवस्त्र भी निर्वस्त्र क्यों*

अमहद्धण भिन्नेहि य आचेलक्कमिह होइ वत्थेहिं ।
लोगागम- णीतीए अचेलगत्तं तु पच्चयतो ॥ १३ ॥

अमहाधनैर्भिन्नैश्च आचेलक्यमिह भवति वस्त्रैः ।
लोकागम-नीत्या अचेलकत्वं तु प्रत्ययतः ॥ १३ ॥

अल्पमूल्य के फटे कपड़ों के होने पर अचेल ही कहा जाता है। यह बात लोकव्यवहार और आगमन्याय — इन दोनों से सिद्ध होती है। लोक में जीर्णवस्त्र को 'वस्त्र नहीं है' ऐसा माना जाता है, क्योंकि वह विशिष्ट कार्य का साधक नहीं होता है। आगमवचन से भी श्वेत जीर्णवस्त्र होने पर उसे वस्त्रहीन ही समझा जाता है ॥ १३ ॥

*औद्देशिक कल्प का स्वरूप*

उद्देसियं तु कम्मं एत्थं उद्दिस्स कीरते तंति ।
एत्थवि इमो विभागो णेओ संघादवेक्खाए ।। १४ ।।
संघादुद्देसेणं ओघाईहिँ समणमाइ अहिकिच्च ।
कडमिह सव्वेसिं चिय ण कप्पई पुरिमचरिमाणं ।। १५ ।।
मज्झिमगाणं तु इदं कडं जमुद्दिस्स तस्स चेवत्ति ।
नो कप्पइ सेसाण उ कप्पइ तं एस मेरत्ति ।। १६ ।।

औद्देशिकं तु कर्म अत्र उद्दिश्य क्रियते तदिति ।
अत्रापि अयं विभागो ज्ञेयः संघाद्यपेक्षया ।। १४ ।।
संघाद्युद्देशेन ओघादिभिः श्रमणादि अधिकृत्य ।
कृतमिह सर्वेषामेव न कल्पते पूर्व-चरमाणाम् ।। १५ ।।
मध्यमकानां तु इदं कृतं यमुद्दिश्य तस्य चैवेति ।
नो कल्पते शेषाणां तु कल्पते तदेषा मर्यादेति ।। १६ ।।

स्थित-अस्थित कल्प के सन्दर्भ में साधु के निमित्त से जो कार्य किया जाये वह औद्देशिक कहा जाता है। औद्देशिक के विषय में प्रथम और अन्तिम जिनों के संघ में श्रमणों के लिए ग्राह्य-अग्राह्य का विभाग निम्न प्रकार है ।। १४ ।।

सामान्य रूप से संघ (साधु-साध्वी के समुदाय) के लिए अथवा किसी वर्ग विशेष के साधु, साध्वी के लिए अथवा किसी एक साधु के निमित्त बनाया गया औद्देशिक आहार प्रथम और अन्तिम जिनों के सभी साधुओं के लिए ग्रहण करने योग्य नहीं है[१] ।। १५ ।।

मध्यवर्ती जिनों (२२ जिनों) के साधुओं में जिस संघादि के निमित्त बना हो वह उस संघादि के द्वारा ग्राह्य नहीं है, शेष साधुओं द्वारा ग्राह्य है, क्योंकि वे साधु ऋजु और प्रबुद्ध होते हैं। लोग भी ऋजु और प्राज्ञ होते हैं, इसलिए जिनेश्वरों ने उनके लिए यह मर्यादा रखी है ।। १६ ।।

*शय्यातर पिण्ड का स्वरूप*

सेज्जायरोत्ति भण्णति आलयसामी उ तस्स जो पिंडो ।
सो सव्वेसि ण कप्पति पसंगगुरुदोसभावेण ।। १७ ।।

शय्यातर इति भण्यते आलयस्वामी तु तस्य यः पिण्डः ।
सः सर्वेषां न कल्पते प्रसंगगुरुदोषभावेन ।। १७ ।।

१. विशेष विवरण के लिए बृहत्कल्पसूत्र भाष्य की ५३४४-५३४७ गाथाएँ देखें ।

शय्यातर का अर्थ होता है — साधुओं के उपाश्रय (निवास स्थल) का मालिक। शय्यातर का जो पिण्ड है, वह शय्यातरपिण्ड कहा जाता है। अशन, पान, खादिम और स्वादिम – ये चार; वस्त्र, पात्र, रजोहरण और कम्बल – ये चार; सुई, अस्त्र, नाखून काटने का साधन और कान का मैल निकालने का साधन – ये चार; इस प्रकार शय्यातरपिण्ड कुल बारह प्रकार का होता है।

प्रथम, अन्तिम, मध्यवर्ती और महाविदेह क्षेत्र के सभी जिनों के साधुओं के लिए शय्यातरपिण्ड ग्राह्य नहीं होता है। शय्यातर के मकान में रहने वाले या दूसरे के मकान में रहने वाले सभी साधुओं के लिए शय्यातर पिण्ड ग्राह्य नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से महान् दोष लगता है ॥ १७ ॥

*शय्यातरपिण्ड लेने में दोष*

तित्थंकर-पडिकुट्ठो अण्णायं उग्गमोवि य ण सुज्झे ।
अविमुत्ति यऽलाघवया दुल्लहसेज्जा विउच्छेओ ॥ १८ ॥

तीर्थङ्कर-प्रतिक्रुष्टोऽज्ञातम् उद्गमोऽपि च न शुध्यति ।
अविमुक्तिश्च अलाघवता दुर्लभशय्या व्यवच्छेदः ॥ १८ ॥

अज्ञातभिक्षा का अपालन, उद्गम सम्बन्धी दोषों की सम्भावना, अविमुक्ति, अलाघवता, दुर्लभशय्या और व्यवच्छेद – इन दोषों के कारण तीर्थङ्करों ने शय्यातरपिण्ड का निषेध किया है।

इन दोषों का विस्तृत विवेचन इस प्रकार है —

१. *अज्ञातभिक्षा का अपालन* — साधु के द्वारा बिना किसी परिचय के भोजन लाकर करना अपरिचित भिक्षा है। शय्यातर के यहाँ रहने के कारण साधु का शय्यातर से अतिपरिचय हो जाता है, इसलिए यदि शय्यातर के यहाँ से भोजन लाये तो वह परिचित भिक्षा (ज्ञात भिक्षा) हो जाती है और अज्ञात भिक्षा का पालन नहीं हो पाता है।

२. *उद्गम की अशुद्धि* — उद्गम सम्बन्धी दोषों के सेवन से भोजन अशुद्ध बनता है। अनेक साधुओं के कारण भोजन, पानी आदि कार्यों के लिए बार-बार जाने से शय्यातर उद्गम दोषों में से कोई दोष लगता है। साधु हमारे यहाँ ठहरे हैं — ऐसा जानकर उनके लिए भोजन बना सकता है ।

३. *अविमुक्ति* — आहारादि की लोलुपता के कारण साधु द्वारा शय्यातर के घर बार-बार जाना (घर न छोड़ना) अविमुक्ति दोष है। इससे उसे साधु की लोभवृत्ति का परिचय मिलता है ।

४. *अलाघवता* (भार) — विशिष्ट आहार लेने से शरीर का पुष्ट होकर

भारी हो जाना अलाघवता है। उपाधि आदि के मिलने से भी भार बढ़ जाता है। पुनः उस गृहस्थ पर उन साधुओं का भार बढ़ जाता है — जैसे अरे ! इन्हें मकान तो दिया ही, अब इनके भोजन आदि की भी व्यवस्था करो।

५. *दुर्लभशय्या* — जो आश्रय देता है, उसे आहार देना पड़ेगा — ऐसा भय उत्पन्न होने से साधुओं को आश्रय-स्थल नहीं मिलता है।

६. *व्यवच्छेद* — अधिक मकान होंगे तो साधुओं को देने पड़ेंगे, इस भय से अधिक मकान न रखना आवास का व्यवच्छेद रूप दोष है। साथ ही गृहस्थ इन्हें आश्रय-स्थल देने पर भोजन भी देना होगा इस भय से आश्रय देना भी बन्द कर देता है, यह व्यवच्छेद है ।। १८ ।।

*अन्य मत*

पडिबंधनिरागरणं केई अण्णे अगहियगहणस्स ।
तस्साउंटणमाणं एत्थऽवरे बेंति भावत्थं ।। १९ ।।

प्रतिबन्धनिराकरणं केचिद् अन्ये अगृहीतग्रहणस्य ।
तस्याकुण्टनमाज्ञामत्र अपरे ब्रुवन्ति भावार्थम् ।। १९ ।।

कुछ आचार्यों का मत है कि — साधु और शय्यातर के उपकार्य-उपकारक भाव के कारण स्नेह न हो — यह शय्यातरपिण्ड के निषेध का भावार्थ है। कुछ आचार्य कहते हैं कि यदि साधु शय्यातरपिण्ड न ले तो शय्यातर को लगेगा कि ये साधु निःस्पृह हैं, इसलिए पूज्य हैं, ऐसा भाव उत्पन्न होगा। यह शय्यातरपिण्ड-निषेध का भावार्थ है। कुछ आचार्यों का कहना है कि यह भगवान् की आज्ञा है, यही ही शय्यातरपिण्ड के निषेध का भावार्थ है ।। १९ ।।

*राजा का स्वरूप*

मुदितादिगुणो राया अट्ठविहो तस्स होति पिंडोत्ति ।
पुरिमेयराणमेसो वाघयादीहिँ पडिकुट्ठो ।। २० ।।

मुदितादिगुणो राजा अष्टविधः तस्य भवति पिण्ड इति ।
पूर्वेतराणामेष व्याघातादिभिः प्रतिक्रुष्टः ।। २० ।।

जो मुदित (शुद्धवंश में उत्पन्न) और अभिषिक्त (जिसका राज्याभिषेक किया गया हो) है, वह राजा है। राजपिण्ड आठ प्रकार का होता है।[१] प्रथम और अन्तिम जिनों के साधुओं के लिए यह राजपिण्ड वर्जित है, क्योंकि इससे व्याघात आदि दोष लगते हैं ।। २० ।।

---

१. राजपिण्ड के आठ भेद इसी पञ्चाशक की बाइसवीं गाथा में आगे कहे गये हैं।

*राजपिण्ड लेने में दोष*

ईसरपभितीहिं तहिं वाघातो खद्ध[1]लोहुदाराणं ।
दंसणसंगो गरहा इयरेसि ण अप्पमादाओ ।। २१ ।।

ईश्वरप्रभृतिभिस्तस्मिन् व्याघातः प्रभूतलोभोदाराणाम् ।
दर्शनसंगो गर्हा इतरेषां न अप्रमादात् ।। २१ ।।

राजपिण्ड लेने से व्याघात, लोभ, एषणाघात, आसक्ति, उपघात और गर्हा (आदि) दोष लगते हैं।

१. *व्याघात* — राजकुल में भोगिक, तलवर, माण्डलिक आदि सपरिवार आते-जाते रहते हैं, इसलिए साधुओं को राजकुल में आने-जाने में परेशानी होती है या विलम्ब होता है, जिससे साधु के दूसरे कार्य रुक जाते हैं।

२. *लोभ* एवं ३. *एषणाघात* — राजकुल में अधिक आहार मिलता है, जिससे लोभ बढ़ता है और लोभ से एषणा का घात होता है।

४. *आसक्ति* — सुन्दर शरीर वाले हाथी, घोड़ा, स्त्री, पुरुष आदि को देखने से उनके प्रति आसक्ति होती है।

५. *उपघात* — साधुओं के ऊपर जासूस, चोर आदि की शङ्का करके राजा उनको निर्वासन, ताड़न आदि रूप उपघात कर सकता है।

६. *गर्हा* — ये साधु राजपिण्ड लेते हैं, इस प्रकार की निन्दा होती है।

उपर्युक्त दोष मध्यवर्ती जिनों के साधुओं को नहीं लगते हैं, क्योंकि वे उन दोषों को दूर करने में समर्थ होते हैं । वे ऋजु और प्राज्ञ होने के कारण अप्रमत्त होते हैं। प्रथम और अन्तिम जिनों के साधु उन दोषों को दूर नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वे जड़ होते हैं ।। २१ ।।

*राजपिण्ड के आठ प्रकार*

असणादीया चउरो वत्थं पायं च कंबलं चेव ।
पाउंछणगं च तहा अट्ठविहो रायपिंडो उ ।। २२ ।।

अशनादिकाश्चत्वारो वस्त्रं पात्रं च कम्बलं चैव ।
पादप्रोञ्छनं च तथा अष्टविधो राजपिण्डस्तु ।। २२ ।।

अशन, पान, खादिम और स्वादिम — ये चार तथा वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण — ये चार, इस प्रकार कुल आठ प्रकार का राजपिण्ड होता है ।। २२ ।।

---

१. 'खद्ध' यह देशी शब्द है, जिसका अर्थ होता है — समृद्ध । द्रष्टव्य — प्राकृत-हिन्दी कोश ।

*कृतिकर्म का स्वरूप*

कितिकम्मंति य दुविहं अब्भुट्ठाणं तहेव वंदणगं ।
समणेहि य समणीहि य जहारिहं होति कायव्वं ।। २३ ।।

कृतिकर्म च द्विविधम् अभ्युत्थानं तथैव वन्दनकम् ।
श्रमणैश्च श्रमणीभिश्च यथार्हं भवति कर्तव्यम् ।। २३ ।।

अभ्युत्थान और वन्दन के भेद से कृतिकर्म दो प्रकार का होता है । साधुओं और साध्वियों के द्वारा अपनी चारित्रपर्याय रूप योग्यता अर्थात् वरिष्ठता के अनुसार दोनों प्रकार का कृतिकर्म करना चाहिए। अभ्युत्थान का अर्थ है — आचार्य आदि के आने पर सम्मान स्वरूप खड़े हो जाना और वन्दन का अर्थ है — द्वादशावर्त्त से वन्दना करना आदि ।। २३ ।।

*पर्यायवृद्ध को प्राप्त साध्वी को छोटे साधु को वन्दन करना चाहिए*

सव्वाहिं संजईहिं कितिकम्मं संजयाण कायव्वं ।
पुरिसोत्तमोत्ति धम्मो सव्वजिणाणंपि तित्थेसु ।। २४ ।।

सर्वाभिः संयतीभिः कृतिकर्म संयतानां कर्तव्यम् ।
पुरुषोत्तम इति धर्मः सर्वजिनानामपि तीर्थेषु ।। २४ ।।

अल्प संयम-पर्यायवाली या अधिक संयम-पर्यायवाली साध्वियों को आज के नवदीक्षित साधु की भी वन्दना करनी चाहिए, क्योंकि सभी जिनों के तीर्थों में धर्म को पुरुष ने प्रवर्तित किया है, इसलिए पुरुष प्रधान है। साधु यदि साध्वियों की वन्दना करे तो तुच्छता के कारण स्त्री को गर्व होगा। गर्व वाली साध्वी साधु का अनादर करेगी — इस प्रकार साध्वियों को अनेक प्रकार के दोष लगते हैं ।। २४ ।।

*संयम पर्याय में ज्येष्ठता के अनुसार वन्दन न करने से दोष*

एयस्स अकरणंमी माणो तह णीयकम्मबंधोत्ति ।
पवयणखिंसाऽयाणग अबोहि भववुड्ढि अरिहंमि ।। २५ ।।

एतस्य अकरणे मानः तथा नीचकर्मबन्ध इति ।
प्रवचननिन्दा अज्ञायका अबोधिः भववृद्धिरर्हे ।। २५ ।।

वन्दनीय की वन्दना नहीं करने पर अहंकार उत्पन्न होता है। अंहकार से नीच गोत्र कर्म का बन्ध होता है। इस जिन-प्रवचन में विनय का उपदेश नहीं दिया गया है — इस प्रकार जिन-शासन की निन्दा होती है अथवा ये साधु अज्ञानी हैं, लोकरूढ़ि का पालन भी नहीं करते हैं — ऐसी भी जिन-शासन की निन्दा होती

है। शासननिन्दा होने से ऐसे कर्म बँधते हैं, जिनसे बोधिलाभ नहीं होता है और संसार की वृद्धि होती है ॥ २५ ॥

*व्रत का स्वरूप*

पंचवतो खलु धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।
मज्झिमगाण जिणाणं चउव्वतो होति विण्णेओ ॥ २६ ॥
णो अपरिग्गहियाए इत्थीए जेण होइ परिभोगो ।
ता तव्विरइए च्चिय अबंभविरइत्ति पण्णाणं ॥ २७ ॥
दुण्हऽवि दुविहोऽवि ठिओ एसो आजम्ममेव विण्णेओ ।
इय वइभेया[1] दुविहो एगविहो चेव तत्तेणं ॥ २८ ॥

पञ्चव्रतः खलु धर्मः पूर्वस्य च पश्चिमस्य च जिनस्य ।
मध्यमकानां जिनानां चतुर्व्रतः भवति विज्ञेयः ॥ २६ ॥
नो अपरिगृहीतायाः स्त्रिया येन भवति परिभोगः ।
तत् तद्विरत्यैव अब्रह्मविरतिरिति प्रज्ञानाम् ॥ २७ ॥
द्वयोरपि द्विविधोऽपि स्थित एष आजन्मैव विज्ञेयः ।
इति वाग्भेदाद् द्विविध एकविध एव तत्त्वेन ॥ २८ ॥

प्रथम और अन्तिम जिनों के साधुओं के लिए पाँच व्रतों वाला चारित्र-धर्म होता है और शेष जिनों के साधुओं के लिए चार व्रतों (चातुर्याम) का चारित्रधर्म होता है ॥ २६ ॥

क्योंकि मध्यवर्ती जिनों के साधु प्राज्ञ होने के कारण स्त्री को परिग्रह मानकर उसे स्वीकार नहीं करने के कारण उसका भोग भी नहीं करते हैं तथा परिग्रह विरमण से ही ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं ॥ २७ ॥

प्रथम-अन्तिम और मध्यवर्ती जिनों के साधुओं के लिए पाँच महाव्रत रूप और चार महाव्रत रूप – इस प्रकार के दो कल्प स्थित हैं, क्योंकि दोनों में त्याज्य पाप एक समान हैं। इस कल्प का पालन आजीवन होता है। पंचमहाव्रत और चार महाव्रत रूप वचनभेद से दो प्रकार का होने पर भी यह कल्प परमार्थ से एक प्रकार का ही है ॥ २८ ॥

*ज्येष्ठ का स्वरूप*

उवठावणाएँ जेट्ठो विण्णेओ पुरिमपच्छिमजिणाणं ।
पव्वज्जाए उ तहा मज्झिमगाणं णिरतियारो ॥ २९ ॥

---

१. 'वयभेया' इति पाठान्तरम्।

उपस्थापनया ज्येष्ठो विज्ञेय: पूर्वपश्चिमजिनानाम् ।
प्रव्रज्यया तु तथा मध्यमकानां निरतिचार: ।। २९ ।।

महाव्रतों का आरोपण होना उपस्थापना है। प्रथम और अन्तिम जिनों के साधुओं में उपस्थापना से ज्येष्ठता मानी जाती है, अर्थात् जिसकी बड़ी दीक्षा पहले हो वह ज्येष्ठ माना जाता है। मध्य जिनों के साधुओं की सामायिक चारित्र की दीक्षा से ही उनकी ज्येष्ठता मानी जाती है, किन्तु यह तभी हो सकता है जब उनका चारित्र अतिचार रहित हो। चारित्र अतिचार सहित हो तो उसकी छोटी दीक्षा हो या बड़ी दीक्षा, ज्येष्ठता नहीं मानी जाती है, क्योंकि उसकी पूर्व दीक्षा अप्रामाणिक होती है। यदि उसे फिर से दीक्षा या उपसम्पदा दी जाये तो वह प्रामाणिक मानी जाती है ।। २९ ।।

*उपस्थापना के योग्य जीव का स्वरूप*

पढिए य कहिएँ अहिगएँ परिहर उवठावणाएँ कप्पोत्ति ।
छक्कं तीहिँ विसुद्धं सम्मं णवएण भेएण ।। ३० ।।
पठिते च कथितेऽधिगते परिहरन् उपस्थापनया कल्प इति ।
षट्कं त्रिभिर्विशुद्धं सम्यग् नवकेन भेदेन ।। ३० ।।

आचाराङ्गसूत्र के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन के सूत्र और अर्थ को पढ़कर और समझकर जान ले, तब मन, वचन और काय से न करना, न कराना और न अनुमोदन करना (३ x ३ = ९) — इस प्रकार नवकोटि से विशुद्ध छह जीवनिकायों की हिंसा अथवा छह अव्रतों का त्याग करता हुआ जीव उपस्थापना के योग्य बनता है ।। ३० ।।

*दो की एक साथ उपस्थापना करने पर छोटे-बड़े की व्यवस्था*

पित्ति[१]पुत्तमाइयाणं समगं पत्ताण जेट्ठ पित्ति[२]पभिई ।
थेवंतरे विलंबो पण्णवणाए उवट्ठवणा ।। ३१ ।।
पितापुत्रादीनां समकं प्राप्तानां ज्येष्ठा: पितृप्रभृतय: ।
स्तोकान्तरे विलम्ब: प्रज्ञापनया उपस्थापना ।। ३१ ।।

पिता-पुत्र, राजा-अमात्य, माता-पुत्री, रानी, अमात्य पत्नी आदि एक साथ अध्ययन आदि करके बड़ी दीक्षा के योग्य बन जायें तो पिता, राजा, माता, रानी आदि ज्येष्ठ होते हैं। पिता-पुत्र आदि में थोड़ा अन्तर हो अर्थात् पुत्र थोड़े दिन

१. 'पिति' इति मूले।
२. 'पिति' इति मूले।

पहले योग्य बन जाये तो उसकी बड़ी दीक्षा में थोड़ा विलम्ब करके पिता के योग्य बन जाने पर पिता-पुत्र की बड़ी दीक्षा एक साथ करनी चाहिए, अन्यथा पिता आदि को असमाधि होती है। यदि ज्यादा अन्तर हो तो पिता को समझाना चाहिए, कि आपका पुत्र बड़ी दीक्षा के योग्य हो गया है, उसे बड़ी दीक्षा ले लेने दीजिए। इसमें आपका भी उत्कर्ष है। इस प्रकार समझाने पर भी यदि न मानें तो जहाँ तक हो सके प्रतीक्षा करनी चाहिए।

दो राजा आदि एक साथ दीक्षा लें तो जो राजा आचार्य के निकट हो वह ज्येष्ठ होता है। इस प्रकार सामायिक चारित्र (छोटी दीक्षा) और उपसम्पदा (बड़ी दीक्षा) — दोनों तरह से ज्येष्ठ कल्प सभी (प्रथम, अन्तिम और मध्य के जिनों के) साधुओं का स्थित कल्प है ।। ३१ ।।

*प्रतिक्रमण का स्वरूप*

सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।
मज्झिमगाण जिणाणं कारणजाए पडिक्कमणं ।। ३२ ।।

गमणागमणविहारे सायं पाओ य पुरिमचरिमाणं ।
णियमेण पडिक्कमणं अइयारो होउ वा मा वा ।। ३३ ।।

मज्झिमगाण उ दोसे कहंचि जायम्मि तक्खणा चेव ।
दोसपडियारणाया गुणावहं तह पडिक्कमणं ।। ३४ ।।

सप्रतिक्रमणो धर्मः पूर्वस्य च पश्चिमस्य च जिनस्य ।
मध्यमकानां जिनानां कारणजाते प्रतिक्रमणम् ।। ३२ ।।

गमनागमनविहारे सायं प्रातश्च पूर्वचरमाणाम् ।
नियमेन प्रतिक्रमणम् अतिचारो भवतु वा मा वा ।। ३३ ।।

मध्यमकानां तु दोषे कथञ्चिज्जाते तत्क्षणात् चैव ।
दोषप्रतिकार ज्ञाताद् गुणावहं तथा प्रतिक्रमणम् ।। ३४ ।।

प्रथम और अन्तिम जिनों के साधुओं को सुबह-शाम छह आवश्यक रूप प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए। मध्य के जिनों के साधुओं को दोष लगे तब प्रतिक्रमण करना चाहिए। दोष न लगने पर मध्य के जिनों के साधुओं को प्रतिक्रमण करना आवश्यक नहीं है ।। ३२ ।।

प्रथम और अन्तिम जिनों के साधुओं को अतिचार लगे या न लगे गमन (आहारादि के लिए उपाश्रय से बाहर निकलना), आगमन (आहारादि लेकर उपाश्रय में आना) और विहार (एक गाँव से दूसरे गाँव को जाना) में ईर्यापथ

प्रतिक्रमण एवं सुबह-शाम षडावश्यक रूप प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए, क्योंकि प्रथम जिन के साधु ऋजु-जड़ और अन्तिम जिन के साधु वक्र-जड़ होते हैं ।। ३३ ।।

मध्य के जिनों के साधुओं को यदि किसी तरह दोष लग जाये तो वे तुरन्त प्रतिक्रमण करके अतिचार की विशुद्धि कर लेते हैं। जिस प्रकार रोग होने के तुरन्त बाद चिकित्सा करें तो विशेष लाभ होता है ।। ३४ ।।

*मासकल्प का विवेचन*

पुरिमेयरतित्थयराण मासकप्पो ठिओ विणिद्दिट्ठो ।
मज्झिमगाण जिणाणं अट्ठियओ एस विण्णेओ ।। ३५ ।।

पूर्वेतरतीर्थङ्कराणां मासकल्पः स्थितो विनिर्दिष्टः ।
मध्यमकानां जिनानाम् अस्थित एषो विज्ञेयः ।। ३५ ।।

मासकल्प अर्थात् चातुर्मास के अतिरिक्त एक स्थान पर एक महीने से अधिक नहीं रहने का आचार। प्रथम और अन्तिम जिनों के साधुओं के लिए मासकल्प स्थित है अर्थात् वे एक स्थान पर एक मास से अधिक नहीं रह सकते हैं, अन्यथा दोष लगता है। जबकि मध्यवर्ती जिनों के साधुओं के लिए मासकल्प अस्थित है अर्थात् वे एक महीने से अधिक भी एक स्थान पर रह सकते हैं, उन्हें दोष नहीं लगता है, क्योंकि वे ऋजु-प्राज्ञ होते हैं ।। ३५ ।।

*प्रथम और अन्तिम जिनों के साधुओं द्वारा मासकल्प का पालन न करने पर दोष*

पडिबंधो लहुयत्तं ण जणुवयारो ण देसविण्णाणं ।
णाणाराहणमेए दोसा अविहार - पक्खम्मि ।। ३६ ।।

प्रतिबन्धो लघुकत्वं न जनोपकारः न देशविज्ञानम् ।
नाज्ञाराधनमेते दोषा अविहारपक्षे ।। ३६ ।।

प्रथम और अन्तिम जिनों के के साधु मासकल्प का पालन न करें तो प्रतिबद्धता और लघुता होती है तथा जनोपकार, देशविज्ञान और आज्ञाराधन — ये तीन नहीं होते हैं। ये दोष निम्न प्रकार से हैं —

१. *प्रतिबद्धता* — एक ही स्थान पर एक महीने से अधिक रहने पर शय्यातर आदि के प्रति रागभाव उत्पन्न होता है।

२. *लघुता* — ये साधु अपना घर छोड़कर दूसरे घर में आसक्त हैं — ऐसी शङ्का से लोक में लघुता होती है।

३. *जनोपकार* — भिन्न-भिन्न प्रान्तों में रहने वाले लोगों का उपदेशादि

देकर उपकार नहीं किया जा सकता है।

४. *देशविज्ञान* — विविध देशों का लौकिक और लोकोत्तर आचार-व्यवहार का ज्ञान नहीं हो सकता है।

५. *आज्ञाराधन* — आगम में मासकल्प के अतिरिक्त विहार नहीं कहा गया है, अतः इसका पालन करने से आगम-वचन का पालन होता है ।। ३६ ।।

*मासकल्प यदि द्रव्यतः न हो सके तो भावतः अवश्य करना चाहिए*

कालादिदोसओ पुण ण दव्वओ एस कीरई णियमा ।
भावेण उ कायव्वो संथारग-वच्चयाईहिं ।। ३७ ।।

कालादिदोषतः पुनर्न द्रव्यत एषः क्रियते नियमात् ।
भावेन तु कर्तव्यः संस्तारक-व्यत्ययादिभिः ।। ३७ ।।

काल, क्षेत्र, द्रव्य और भाव के दोष से यदि द्रव्यतः (बाह्य रूप से) मासकल्प न हो सके तो शयनभूमि, मकान, गली आदि का परिवर्तन करके भाव से तो इसका पालन अवश्य करना चाहिए।

*कालदोष* — दुष्काल आदि के कारण भिक्षा मिलना दुर्लभ हो तो यह कालदोष है।

*क्षेत्रदोष* — संयम के अनुकूल क्षेत्र न मिले तो वह क्षेत्रदोष है।

*द्रव्यदोष* — शरीर के अनुकूल आहारादि न मिले तो वह द्रव्यदोष है।

*भावदोष* — अस्वस्थता, ज्ञानादि की हानि आदि भावदोष हैं ।। ३७ ।।

*पर्युषणाकल्प का विवरण*

पज्जोसवणाकप्पोऽपेवं पुरिमेयराइभेएणं ।
उक्कोसेयरभेओ सो णवरं होइ विण्णेओ ।। ३८ ।।

चाउम्मासुक्कोसो सत्तरि राइंदिया जहण्णो उ ।
थेराण जिणाणं पुण णियमा उक्कोसओ चेव ।। ३९ ।।

दोसासइ मज्झिमगा अच्छंति उ जाव पुव्वकोडीवि ।
इहरा उ ण मासंपि हु एवं खु विदेहजिणकप्पे ।। ४० ।।

पर्युषणाकल्पोऽप्येवं पूर्वेतरादि - भेदेन ।
उत्कर्षेतरभेदः सः केवलं भवति विज्ञेयः ।। ३८ ।।

चातुर्मासोत्कर्षः सप्ततिं रात्रि - दिवा जघन्यस्तु ।
स्थविराणां जिनानां पुनर्नियमाद् उत्कर्षकश्चैव ।। ३९ ।।

दोषासति मध्यमका आसते तु यावत् पूर्वकोटिमपि ।
इतरथा तु न मासमपि खल्वेवं खलु विदेहजिनकल्पे ।। ४० ।।

मासकल्प की तरह ही पर्युषणाकल्प भी प्रथम एवं अन्तिम और मध्यवर्ती जिनों के साधुओं के भेद से स्थित और अस्थित—इस प्रकार दो तरह का है। पर्युषणा-कल्प में इतनी विशेषता होती है कि इसके जघन्य और उत्कृष्ट — ये दो भेद होते हैं ।। ३८ ।।

आषाढ़ पूर्णिमा से कार्तिक-पूर्णिमा तक कुल चार महीने उत्कृष्ट पर्युषणाकल्प है और भाद्रपद शुक्ला पञ्चमी से कार्तिक पूर्णिमा तक कुल सत्तर दिन-रात जघन्य पर्युषणाकल्प है। ये दो भेद स्थविरकल्पियों के लिए होते हैं, जबकि जिनकल्पियों के लिए तो उत्कृष्ट पर्युषणाकल्प ही होता है ।। ३९ ।।

मध्यवर्ती जिनों के साधु यदि दोष न लगे तो एक ही क्षेत्र में पूर्व करोड़ वर्षों तक भी रह सकते हैं और दोष लगे तो एक महीना भी नहीं रह सकते हैं। महाविदेह क्षेत्र के साधुओं के लिए भी ये कल्प मध्यवर्ती जिनों के साधुओं की तरह ही होते हैं ।। ४० ।।

*कल्पों में स्थित-अस्थित विभाग सकारण हैं*

एवं कप्पविभागो तइओसहणातओ मुणेयव्वो ।
भावत्थजुओ एत्थ उ सव्वत्थवि कारणं एयं ।। ४१ ।।

पुरिमाण दुव्विसोज्झो चरिमाणं दुरणुपालओ कप्पो ।
मज्झिमगाण जिणाणं सुविसोज्झो सुहणुपालो य ।। ४२ ।।

उज्जुजडा पुरिमा खलु णडादिणायाउ होंति विण्णेया ।
वक्कजडा उण चरिमा उजुपण्णा मज्झिमा भणिया ।। ४३ ।।

एवं कल्पविभागः तृतीयौषध ज्ञाततो ज्ञातव्यः ।
भावार्थयुतोऽत्र तु सर्वत्रापि कारणमेतत् ।। ४१ ।।
पूर्वेषां दुर्विशोध्यः चरमाणां दुरनुपालकः कल्पः ।
मध्यमकानां जिनानां सुविशोध्यः सुखानुपाल्यश्च ।। ४२ ।।
ऋजुजडाः पूर्वाः खलु नटादिज्ञाताद् भवन्ति विज्ञेयाः ।
वक्रजडाः पुनश्चरमा ऋजुप्रज्ञाः मध्यमा भणिताः ।। ४३ ।।

यहाँ दस कल्पों का स्थित और अस्थित – यह जो विभाग है, वह तीसरी औषधि के न्याय से भावार्थयुक्त (सकारण) है, यादृच्छिक नहीं है। इसके निम्न कारण हैं ।। ४१ ।।

प्रथम जिन के साधुओं के चारित्र को कठिनाई से शुद्ध कराया जा सकता है। क्योंकि ऋजु-जड़ होने कारण उन साधुओं का अतिचार तब दूर होता है, जब उन्हें विस्तृत उपदेशपूर्वक समस्त हेय सम्बन्धी ज्ञान हो जाये। अन्तिम जिन के साधुओं से भी चारित्र का पालन कठिनाई से करवाया जा सकता है, क्योंकि वे साधु वक्रजड़ता के कारण बहाने बनाकर हेय का आचरण करते हैं। मध्यवर्ती जिनों के साधुओं का चारित्र सुविशोध्य और सुखानुपाल्य है, क्योंकि वे साधु ऋजु-प्राज्ञ होने के कारण उपदेशानुसार चारित्र का पालन करते हैं ।। ४२ ।।

प्रथम जिन के साधु ऋजु-जड़ (अर्थात् सरल और तर्कशक्ति से रहित) होते हैं। इस विषय में नट का उदाहरण है — कुछ साधु शौच करने गये। रास्ते में विलम्ब हो गया। आचार्य के द्वारा विलम्ब का कारण पूछने पर उन्होंने कहा कि वे नट का नृत्य देख रहे थे। आचार्य ने भविष्य में नट-नृत्य देखने का निषेध किया। दूसरे दिन फिर विलम्ब हुआ। आचार्य ने जब पुनः विलम्ब का कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि वे नटी का नृत्य देख रहे थे। आचार्य ने जब उन्हें पहले दिन के निषेध का स्मरण कराया तो वे बोले — आपने नट का नृत्य देखने से मना किया था, हम तो नटी का नृत्य देख रहे थे। वस्तुतः नट का नृत्य देखने का निषेध करने का आशय नटी के भी नृत्य देखने का निषेध है।

अन्तिम जिन के साधु वक्र (कुटिल) और जड़ (मूर्ख) होते हैं, उनके विषय में भी उपर्युक्त नट का दृष्टान्त है। वे साधु शौच को गये। रास्ते में विलम्ब हुआ। आचार्य के द्वारा विलम्ब का कारण पूछने पर उन्होंने कहा — हम नट का नृत्य देख रहे थे। आचार्य ने नट-नृत्य देखने का निषेध किया। कालान्तर में पुनः विलम्ब से आने पर आचार्य ने पूछा तो कुटिल होने के कारण उन साधुओं ने उदण्डतापूर्वक जवाब दिया कि वे नटी का नृत्य देख रहे थे। गुरु ने जब अपनी पूर्व आज्ञा का स्मरण कराया कि उन्होंने नृत्य देखने से मना किया था तो वे बोले कि आपने तो केवल नट का नृत्य देखने से मना किया था, हम तो नटी का नृत्य देख रहे थे।

मध्यवर्ती जिनों के साधु ऋजु और प्राज्ञ होते हैं। उनके विषय में भी उपर्युक्त उदाहरण प्रस्तुत है। शौच को गये साधुओं के विलम्ब से आने पर आचार्य ने विलम्ब का कारण पूछा तो उन्होंने बतलाया कि वे नट का नृत्य देख रहे थे। आचार्य ने मना किया। फिर एक बार नटी के नृत्य को देखकर उन्होंने विचार किया कि नटी का भी नृत्य नहीं देखना चाहिए, क्योंकि वह भी राग का उत्पादक है ।। ४३ ।।

*साधुओं के ऐसे स्वभाव का कारण*

कालसहावाउ च्चिय एए एवंविहा उ पाएण ।
होंति अओ उ जिणेहिं एएसि इमा कया मेरा ।। ४४ ।।

कालस्वभावादेव एते एवंविधास्तु प्रायेण ।
भवन्ति अतस्तु जिनैरेतेषाम् इयं कृता मर्यादा ।। ४४ ।।

काल के प्रभाव से ही साधु प्राय: ऐसे (जड़ता आदि) स्वभाव वाले होते हैं। इसलिए जिनेश्वरों ने उनकी स्थित-अस्थित कल्प रूप मर्यादा की है।

यहाँ प्राय: कहने का अभिप्राय यह है कि अधिकांश साधु ऐसे स्वभाव के होते हैं, किन्तु सभी ऐसे नहीं होते हैं। यह बात प्रथम-अन्तिम और मध्यवर्ती — इन दोनों वर्गों के साधुओं के सम्बन्ध में जाननी चाहिए ।। ४४ ।।

*ऋजु-प्राज्ञ का चारित्र योग्य है, ऋजुजड़ आदि का नहीं*

एवं विहाणवि इहं चरणं दिट्ठं तिलोगणाहेहिं ।
जोगाण थिरो भावो जम्हा एएसि सुद्धो उ ।। ४५ ।।

अथिरो उ होइ इयरो सहकारिवसेण ण उण तं हणइ ।
जलणा जायइ उण्हं वज्जं ण उ चयइ तत्तंपि ।। ४६ ।।

इय चरणम्मि ठियाणं होइ अणाभोगभावओ खलणा ।
ण उ तिव्वसंकिलेसा णऽवेति चारित्तभावोऽवि ।। ४७ ।।

एवंविधानमपि इह चरणं दृष्टं त्रिलोकनाथै: ।
योग्यानां स्थिरो भावो यस्मादेतेणां शुद्धस्तु ।। ४५ ।।

अस्थिरस्तु भवति इतर: सहकारिवशेन न पुनस्तद्धन्ति ।
ज्वलनाज्जायते उष्णं वज्रं न तु त्यजति तत्त्वमपि ।। ४६ ।।

इति चरणे स्थितानां भवति अनाभोगभावत: स्खलना ।
न तु तीव्रसंक्लेशात् नापैति चारित्रभावोऽपि ।। ४७ ।।

ऋजु-जड़ता आदि से युक्त जीवों का भी चारित्र जिनेश्वरों के द्वारा जाना गया है। वे प्रवज्या के योग्य होते हैं, क्योंकि स्थिर और अस्थिर — इन दो प्रकार के भावों में से ऋजु-जड़ जीवों के स्थिर भाव शुद्ध होते हैं ।। ४५ ।।

अस्थिर (अस्थायी) भाव तथाविध सामग्री से अशुद्ध होता है, किन्तु वह अशुद्ध भाव चारित्र का घात नहीं करता है। जैसे — वज्र अग्नि से गरम होता है, किन्तु अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है। क्योंकि वज्रत्व स्थिर भाव है और उष्णत्व अस्थिर भाव ।। ४६ ।।

इसी प्रकार चारित्र में स्थित जीवों के द्वारा विस्मृति आदि के कारण स्खलना हो जाती है और अतिचार लग जाता है, किन्तु तीव्र संक्लेश न होने के कारण चारित्र रूप परिणाम (स्वभाव) का नाश नहीं होता है ।। ४७ ।।

*वक्रजड़ जीव भी चारित्रवान् होते हैं*

चरिमाणवि तह णेयं संजलण-कसाय-संगयं चेव ।
माइट्ठाणं पायं असइंपि हु कालदोसेणं ।। ४८ ।।
इहरा उ ण समणत्तं असुद्धभावाउ हंदि विण्णेयं ।
लिंगंमिवि भावेणं सुत्तविरोहा जओ भणियं ।। ४९ ।।
सव्वेऽवि य अइयारा संजलणाणं तु उदयओ होंति ।
मूलच्छेज्जं पुण होइ बारसण्हं कसायाणं ।। ५० ।।

चरमाणामपि तथा ज्ञेयं संज्वलन-कषाय-संगतं चैव ।
मातृस्थानं प्रायः असकृदपि खलु कालदोषेण ।। ४८ ।।
इतरथा तु न श्रमणत्वम् अशुद्धभावाद् हंदि विज्ञेयम् ।
लिंग एव भावेन सूत्रविरोधाद्यतो भणितम् ।। ४९ ।।
सर्वेऽपि च अतिचाराः संज्वलनानां तु उदयतो भवन्ति ।
मूलच्छेद्यं पुनर्भवति द्वादशानां कषायाणाम् ।। ५० ।।

जिस प्रकार प्रथम जिन के साधुओं का स्खलन उनके चारित्र का बाधक नहीं है, उसी प्रकार अन्तिम जिन के साधुओं का स्खलन भी काल के प्रभाव से होने के कारण चारित्र का बाधक नहीं है। क्योंकि वह अनेक बार प्रायः मातृस्थान अर्थात् माया रूप संज्वलन कषाय का सेवन करता है, न कि अनन्तानुबन्धी कषाय का।

मातृस्थान — माता स्त्री होती है। स्त्रियों का स्थान (आश्रय) मातृस्थान कहलाता है। स्त्रियाँ प्रायः माया करती हैं, इसलिए यहाँ मातृस्थान का अर्थ माया है ।। ४८ ।।

यदि माया अनन्तानुबन्धी कषाय सम्बन्धी हो तो वह व्यक्ति श्रमणत्व (साधुता) को प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि वह अप्रशस्त अध्यवसाय है। अतः उनमें मात्र रजोहरणादि द्रव्यलिंग होने से भाव की अपेक्षा से साधुता नहीं होती है और इससे आगमवचन का विरोध होता है ।। ४९ ।।

इसलिए आगम में कहा गया है कि साधु के सभी अतिचार संज्वलनकषाय के उदय से होते हैं। अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायों के उदय से तो चारित्र का

मूलतः नाश हो जाता है। संज्वलन कषाय रूप माया से उत्पन्न अतिचार चारित्र का घातक नहीं है। अतः अतिचार हो तो भी अन्तिम जिन के साधुओं को सम्यक् चारित्र होता है ।। ५० ।।

एवं च संकिलिट्ठा माइट्ठाणंमि णिच्चतल्लिच्छा ।
आजीवियभयगत्था मूढा णो साहुणो णेया ।। ५१ ।।

एवञ्च संक्लिष्टाः मातृस्थाने नित्यं तल्लिप्साः ।
आजीविकाभयग्रस्ताः मूढाः न साधवो ज्ञेयाः ।। ५१ ।।

संज्वलन के अतिरिक्त अन्य कषायों का उदय होने पर साधुता नहीं होती है। इसलिए जो संज्वलन के अतिरिक्त अन्य कषायों के उदय से संक्लिष्ट चित्त वाले हैं, माया में सदैव तत्पर हैं, धनरहित होने के कारण आजीविका के भय से ग्रस्त हैं, पारलौकिक साधना से विमुख होकर इहलौकिक प्रतिबद्धता से मूढ हैं, वे वस्तुतः साधु नहीं हैं ।। ५१ ।।

*भावसाधु का स्वरूप*

संविग्गा गुरुविणया णाणी दंतिंदिया जियकसाया ।
भवविरहे उज्जुत्ता जहारिहं साहुणो होंति ।। ५२ ।।

संविग्ना गुरुविनताः ज्ञानी दान्तेन्द्रिया जितकपायाः ।
भवविरहे उद्युक्ता यथार्हं साधवो भवन्ति ।। ५२ ।।

जो संसारभीरु हैं, गुरुओं के प्रति विनीत हैं, ज्ञानी हैं, जितेन्द्रिय हैं, जिन्होंने कषायों को जीत लिया है, संसार से विमुक्त होने में यथाशक्ति तत्पर रहते हैं, वे वस्तुतः (भाव) साधु हैं ।। ५२ ।।

**।। इति स्थितास्थितकल्पविधिर्नाम सप्तदशं पञ्चाशकम् ।।**

# १८

# भिक्षुप्रतिमाकल्पविधि पञ्चाशक

पिछले पञ्चाशक में स्थित-अस्थित कल्प का विवेचन किया गया है। अब कल्प सामान्य के कारण प्रतिमाकल्प का प्रतिपादन करने हेतु मंगलाचरण करते हैं —

*मङ्गलाचरण*

णमिऊण वद्धमाणं भिक्खुपडिमाण लेसओ किंपि ।
वोच्छं सुत्ताएसा भव्वहियट्ठाएँ पयडत्थं ।। १ ।।

नत्वा वर्धमानं भिक्षुप्रतिमानां लेशतः किमपि ।
वक्ष्ये सूत्रादेशाद् भव्यहितार्थाय प्रकटार्थम् ।। १ ।।

भगवान् महावीर को प्रणाम करके भव्य जीवों के हितार्थ दशाश्रुत-स्कन्धसूत्र के अनुसार भिक्षुप्रतिमाओं का स्वरूप संक्षेप में कहूँगा ।। १ ।।

*प्रतिमा की संख्या और स्वरूप*

बारस भिक्खूपडिमा ओहेणं जिणवरेहिँ पण्णत्ता ।
सुहभावजुया काया मासाईया जओ भणियं ।। २ ।।

द्वादश भिक्षुप्रतिमा ओघेन जिनवरैः प्रज्ञप्ताः ।
शुभभावयुताः कायाः मासादिका यतो भणितम् ।। २ ।।

अर्हन्तों ने सामान्यतया मासिकी आदि बारह भिक्षु प्रतिमाएँ कही हैं। विशेषतया वज्रमध्या, यवमध्या, भद्रा, सप्तसप्तमिका आदि अनेक प्रतिमाएँ हैं। ये प्रतिमाएँ विशिष्ट क्रियावाले साधु का प्रशस्त अध्यवसाय रूपी शरीर हैं।

**विशेष :** विशिष्ट क्रिया वाले शरीर से तथाविध गुणों का योग होता है, जिनके कारण प्रतिमाधारी साधु अन्य साधुओं की अपेक्षा प्रधान हो जाते हैं — इसे सूचित करने के लिए यहाँ शुभभाव युक्त साधु के शरीर को भी प्रतिमा कहा जाता है ।। २ ।।

*आवश्यक निर्युक्ति में कही गयी प्रतिमाएँ*

मासाइ सत्तंता पढमा - बिइतइय - सत्तराइदिणा ।
अहराइ एगराई भिक्खूपडिमाण बारसगं ।। ३ ।।

मासादय: सप्तान्ता: प्रथमाद्वितीया-तृतीया-सप्तरात्रिदिनानि ।
अहोरात्रिकी एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमानां द्वादशकम् ।। ३ ।।

एक महीने से आरम्भ करके क्रमश: एक-एक महीने की वृद्धि से सात महीने तक कुल सात प्रतिमाएँ हैं, यथा — मासिकी, द्विमासिकी, त्रिमासिकी, चतुर्मासिकी, पञ्चमासिकी, षण्मासिकी, सप्तमासिकी। इसके बाद पहली, दूसरी और तीसरी (पहले की सात प्रतिमाओं को साथ लेकर गिनें तो आठवीं, नौवीं और दसवीं) — ये तीन प्रतिमाएँ सप्तरात्रिदिना अर्थात् सप्त दिवसीय हैं। ग्यारहवीं और बारहवीं क्रमश: अहोरात्रिकी अर्थात् एक दिवस-रात्रि की और रात्रि की (मात्र एक रात्रि की) हैं। इस प्रकार कुल बारह प्रतिमाएँ हैं ।। ३ ।।

*प्रतिमाधारण करने के लिए आवश्यक योग्यता*

पडिवज्जइ एयाओ संघयण - धिइजुओ महासत्तो ।
पडिमाउ भावियप्पा सम्मं गुरुणा अणुण्णाओ ।। ४ ।।

गच्छे च्चिय णिम्माओ जा पुव्वा दस भवे असंपुण्णा ।
णवमस्स तइयवत्थू होइ जहण्णो सुयाहिगमो ।। ५ ।।

वोसट्ठ- चत्तदेहो उवसग्गसहो जहेव जिणकप्पी ।
एसण अभिग्गहीया भत्तं च अलेवडं तस्स ।। ६ ।।

प्रतिपद्यत एता: संहननधृतियुतो महासत्त्व: ।
प्रतिमा भावितात्मा सम्यग् गुरुणा अनुज्ञात: ।। ४ ।।

गच्छ एव निर्मातो यावत्पूर्वाणि दश भवेद् असम्पूर्णानि ।
नवमस्य तृतीयवस्तु भवति जघन्य: श्रुताधिगम: ।। ५ ।।

व्युत्सृष्टत्यक्तदेह उपसर्गहो यथैव जिनकल्पी ।
एषणा अभिगृहीता भक्तं च अलेपकृतं तस्य ।। ६ ।।

१. संहनन युक्त, २. धृतियुक्त (धैर्यवान्), ३. महासात्त्विक, ४. भावितात्मा, ५. सुनिर्मित, ६. उत्कृष्ट से थोड़ा कम दस पूर्व और जघन्य से नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु तक श्रुत का ज्ञानी, ७. व्युत्सृष्टकाय, ८. त्यक्तकाय, ९. जिनकल्पी की तरह उपसर्ग सहिष्णु, १०. अभिग्रह वाली एषणा लेने वाला, ११. अलेप आहार लेने वाला और १२. अभिग्रह वाली उपधि लेने वाला साधु ही गुरु से सम्यग् आज्ञा प्राप्तकर इन प्रतिमाओं को स्वीकार करता है।

१. *संहनन* (संघयण) *युक्त* — प्रथम तीन संहननों में से किसी एक संहनन वाला साधु परीषह सहन करने में समर्थ होता है।

२. *धृतियुक्त* — धृति अर्थात् धैर्य। धैर्यवान् जीव रति-अरति से पीड़ित नहीं होता है।

३. *सात्त्विक* — सात्त्विक जीव अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में हर्ष-शोक नहीं करता है।

४. *भावितात्मा* — गच्छ के आचार्य या गुरु की आगमानुसार आज्ञा लेकर जिसने चित्त को सद्भावना से भावित बनाया हो या जिसने पूर्व में प्रतिमाओं का अभ्यास किया हो वह भावितात्मा है।

५. *सुनिर्मित* — गच्छ में ही रहकर जिसने प्रतिमाकल्प का आहारादि सम्बन्धी अभ्यास किया हो।

६. *श्रुतज्ञानी* — जो उत्कृष्ट से थोड़ा कम दस पूर्व का ज्ञाता हो और जघन्य से नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु तक का ज्ञाता हो, वह श्रुतज्ञानी है।

७. *व्युत्सृष्टकाय* — शारीरिक सेवा की आकांक्षा से रहित।

८. *त्यक्तकाय* — शरीर के ममत्व से रहित।

९. *उपसर्गसहिष्णु* — जिनकल्पी की तरह देवकृत, मनुष्यकृत आदि उपसर्गों को सहने वाला।

१०. *अभिग्रह वाली एषणा लेने वाला* — संसृष्टा, असंसृष्टा, उद्धृता, अल्पलेपा, अवगृहीता, प्रगृहीता और उज्झितधर्मा — इन सात प्रकार की एषणाओं (भिक्षाओं) में से प्रारम्भ की दो कभी न ले। शेष पाँच में से एक पानी की और एक आहार की — इस प्रकार दो एषणाओं का अभिग्रह होता है — ऐसी एषणा (भिक्षा) लेने वाला।

११. *अलेप आहार लेने वाला* — चिकनाई रहित भोजन लेने वाला।

१२. *अभिग्रहवाली उपधि लेने वाला* — प्रतिमाकल्प के योग्य अभिग्रह से मिली उपधि लेनी चाहिए। प्रतिमाकल्प के योग्य उपधि न मिले तो न ले, ऐसा साधु ॥ ४-६ ॥

गच्छा विणिक्खमित्ता पडिवज्जइ मासियं महापडिमं।
दत्तेग भोयणस्स पाणस्सवि एगं जा मासं ॥ ७ ॥
आईमज्झवसाणे छग्गोयरहिंडगो इमो णेओ।
णाएगरायवासी एगं च दुगं च अण्णाए ॥ ८ ॥
जायण-पुच्छा-ऽणुण्णावण-पण्ह[1]वागरण-भासगो चेव।
आगमण- वियड- गिहरुक्ख- मूलगावासयतिंगोत्ति ॥ ९ ॥

१. 'पुट्ठ' इति पाठान्तरम्।

पुढवीकट्ठजहऽत्थिण्णसारसाई ण अग्गिणो बीहे ।
कट्ठाइ पायलग्गं णऽवणेइ तहऽच्छिकणुगं वा ।। १० ।।
जत्थऽत्थमेइ सूरो न तओ ठाणा पयपि संचरइ ।
पायाई ण पखालइ एसो वियडोदगेणावि ।। ११ ।।
दुट्ठऽस्सहत्थिमाई तओ भएणं पयंपि णोसरई ।
एमाइणियमसेवी विहरइ जाऽखंडिओ मासो ।। १२ ।।

गच्छाद् विनिष्क्रम्य प्रतिपद्यते मासिकीं महाप्रतिमाम् ।
दत्त्येका भोजनस्य पानस्यापि एकं यावन्मासम् ।। ७ ।।
आदिमध्यावसाने षड्गोचरहिंडकोऽयं ज्ञेयः ।
ज्ञातैकरात्रवासी एकं च द्विकं च अज्ञाते ।। ८ ।।
याचन - पृच्छा - अनुज्ञापन - प्रश्नव्याकरण-भाषकश्चैव ।
आगमन - विवृतगृह-वृक्षमूलकावासकत्रिक इति ।। ९ ।।
पृथ्वीकाष्ठ-यथास्तीर्ण-सारशायी न अग्नेर्बिभेति ।
काष्ठादि पादलग्नं नापनयति तथाऽक्षिकणुकं वा ।। १० ।।
यत्रास्तमेति सूरो न ततः स्थानात् पदमपि संचरति ।
पादादि न प्रक्षालयति एषो विकृतोदकेनापि ।। ११ ।।
दुष्टाश्वहस्त्यादेः तको भयेन पदमपि नापसरति ।
एवमादिनियमसेवी विहरति यावदखण्डितो मासः ।। १२ ।।

उपर्युक्त साधु गच्छ से निकलकर मासिकी महाप्रतिमा को स्वीकार करता है। इसकी विधि इस प्रकार है — प्रतिमा स्वीकार करने वाला यदि आचार्य है तो दूसरे साधु को आचार्य पद पर बैठाकर शरद् ऋतु में शुभ योग होने पर मासिकी प्रतिमा को स्वीकार करे तथा गच्छ से निकलते समय सभी साधुओं को बुलाकर क्षमापना करे।

**मासिकी प्रतिमा के नियम ( अभिग्रह )**

१. मास पर्यन्त भोजन की एक ही दत्ति[१] लेनी चाहिए। एक समय में धार टूटे बिना पात्र में जितना पड़े वह एक दत्ति है।

२. एक महीना तक पानी की भी एक दत्ति ही लेनी चाहिए।

३. भिक्षा ऐसी जगह से लें जहाँ किसी को यह पता न हो कि भिक्षा लेने

१. 'दत्ति' — अविच्छिन्न रूप से जितनी भिक्षा दी जाये वह। द्रष्टव्य — प्राकृत-हिन्दी कोश।

वाले को कितनी दत्ति लेने का नियम है।

४. पूर्वोक्त सात एषणाओं में से प्रथम दो के अतिरिक्त पाँच में से किसी एक एषणा से भोजन लें।

५. चिकनाई रहित आहार लें।

६. जिस आहार को भिखारी आदि भी न लेना चाहते हों उस आहार को लें।

७. एक ही मालिक के आहार को लें।

८. गर्भिणी, छोटे बच्चे वाली और धायमाँ (दूध पिलाने वाली) के हाथ का भोजन न लें ॥ ७ ॥

९. एक पैर दरवाजे के बाहर और एक पैर दरवाजे के अन्दर रखकर भोजन दे तो लें।

१०. दिन में सुबह, दोपहर या शाम को भिक्षा के लिए निकलें।

११. छह गोचर भूमियों से गोचरी लें। जिस प्रकार गाय ऊँची-नीची घास को चरती फिरती है, उसी प्रकार साधु ऊँच-नीच घरों में भिक्षा के लिए फिरते हैं — यही गोचर है। छह गोचरभूमियाँ निम्नवत् हैं — पेटा, अर्धपेटा, गोमूत्रिका, पंतगवीथिका, शम्बूकवृत्ता और गत्वाप्रत्यागता।

( क ) *पेटा* — पेटी की तरह गाँव को चार भागों में विभक्त करके बीच के घरों को छोड़कर चारों दिशाओं में कल्पित चार पंक्तियों में ही गोचरी को जाना।

( ख ) *अर्धपेटा* — पेटा की तरह पंक्ति की कल्पना करके मात्र दो दिशाओं की दो पंक्तियों में जाना।

( ग ) *गोमूत्रिका* — चलते हुए बैल के द्वारा पेशाब करने से जमीन पर जो आकृति बनती है, उसी प्रकार गोचरी करनी चाहिए । अर्थात् एक घर में जाने के बाद उसके सामने वाले घर में नहीं जाना चहिए, अपितु आगे बढ़कर दूसरी दिशा के घर में जाना चाहिए।

( घ ) *पतंगवीथिका* — पतंग की तरह अनियमित क्रम से भिक्षा के लिए जाना।

( ङ ) *शम्बूकवृत्ता* — शंख की तरह गोलाकार में गोचरी के लिए जाना।

( च ) *गत्वाप्रत्यागता* — उपाश्रय से निकलकर एक तरफ के घरों में गोचरी लेकर दूसरी तरफ से वापिस आना।

१२. जिस ग्रामादि में यह प्रतिमाधारी है, यह पता चल जाये वहाँ एक अहोरात्र रहना चाहिए। जहाँ पता न चले वहाँ दो अहोरात्र तक रह सकते हैं ॥ ८ ॥

१३. विस्तर (संथारा) — उपाश्रय आदि की याचना, सूत्र-अर्थ सम्बन्धी या गृहादि सम्बन्धी पूछताछ, तृण, काष्ठ आदि की अनुमति, सूत्रादि सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देना, इन चार प्रसंगों पर ही बोलना चाहिए।

१४. त्याज्य स्थलों को छोड़कर निर्दोष धर्मशाला, खुला घर या वृक्षादि के नीचे ही रहें ।। ९ ।।

१५. कारणवश सोना पड़े तो पृथ्वीशिला, बिना छेद के काष्ठपट्ट या घास के बिछौने पर सोना चाहिए।

१६. उपाश्रय में आग लग जाये तो भी भयभीत न हो, यदि कोई निकाले तो निकलें।

१७. पैर में काँटा आदि चुभ जाये या आँख में कुछ पड़ जाये तो उन्हें स्वयं न निकालें ।। १० ।।

१८. सूर्यास्त के समय जहाँ हों वहीं सूर्योदय तक रहें। वहाँ से एक कदम भी आगे न बढ़ें।

१९. प्रासुक जल से भी हाथ-पैर या मुँह न धोएँ ।। ११ ।।

२०. दुष्ट हाथी, घोड़ा, सिंह, बाघ आदि आयें तो रास्ते से नहीं हटे, क्योंकि साधु यदि हट भी जाये तो वे प्राणी वनस्पति आदि की विराधना करेंगे, इसलिए प्रतिमाधारी साधु को रास्ते से नहीं हटना चाहिए।

२१. (आदि शब्द से) छाया से धूप में और धूप से छाया में न जायें। इन अभिग्रहों का पालन करता हुआ साधु महीना पूरा होने तक एक गाँव से दूसरे गाँव में परिभ्रमण करता रहे ।। १२ ।।

*मास पूर्ण होने के बाद की विधि*

पच्छा गच्छमईई एवं दुम्मासि तिमासि जा सत्त ।
णवरं दत्तिविवड्ढी जा सत्त उ सत्तमासीए ।। १३ ।।

पश्चाद् गच्छमत्येति एवं द्विमासा त्रिमासा यावत् सप्त ।
केवलं दत्तिविवृद्धिः यावत् सप्त तु सप्तमासिकायाम् ।। १३ ।।

मासकल्प पूर्ण होने के बाद भव्यता के साथ गच्छ में प्रवेश करे, जो इस प्रकार है — जिस गाँव में गच्छ हो उसके समीप के गाँव में वह साधु आये। आचार्य उसकी जाँच करें और इसकी सूचना राजा को दें और तब उसकी प्रशंसा करते हुए प्रवेश करावें।

द्विमासिकी, त्रिमासिकी आदि से लेकर सप्तमासिकी भिक्षु प्रतिमा तक यही

विधि है, लेकिन क्रमशः एक-एक दत्ति की वृद्धि होती है। दूसरी प्रतिमा में दो, तीसरी प्रतिमा में तीन — इस क्रम से सातवीं प्रतिमा में सात दत्ति होती हैं ।। १३ ।।

*आठवीं प्रतिमा का स्वरूप*

तत्तो य अट्ठमी खलु हवइ इहं पढमसत्तराइंदी ।
तीएँ चउत्थचउत्थेणऽपाणएणं अह विसेसो ।। १४ ।।
उत्ताणग पासल्ली णेसज्जी वावि ठाणगं ठाउं ।
सहउवसग्गे घोरे दिव्वाई तत्थ अविकंपो ।। १५ ।।

ततश्च अष्टमी खलु भवति इह प्रथमसप्तरात्रिंदिवा ।
तस्यां चतुर्थचतुर्थेनापानकेन अथ विशेषः ।। १४ ।।
उत्तानकः पार्श्वशयितः निषद्यावान् वापि स्थानकं स्थित्वा ।
सहते उपसर्गान् घोरान् दिव्यादीन् तत्र अविकम्पः ।। १५ ।।

तत्पश्चात् पहली सप्त दिवसीय आठवीं प्रतिमा धारण करे। उसमें पूर्वोक्त सात प्रतिमाओं से निम्नलिखित भिन्नताएँ हैं –

१. एकान्तर से चौविहार उपवास करे।

२. पारणे में आयम्बिल करे।

३. दत्ति का नियम नहीं है।

४. गाँव के बाहर उत्तान सोवे, करवट लेकर सोवे अथवा पालथी (पद्मासन) लगा कर बैठे – इन तीन स्थितियों में से किसी में भी रहकर देव, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि के उपसर्गों को मानसिक और शारीरिक विचलन से रहित होकर सहन करे ।। १४-१५ ।।

*नौवीं प्रतिमा का स्वरूप*

दोच्चावि एरिसच्चिय बहिया गामाइयाण णवरं तु ।
उक्कुडल[1]गंडसाई दंडाययओ व्व ठाऊणं ।। १६ ।।

द्वितीयापि ईदृश्येव बहिर्ग्रामादीनां केवलं तु ।
उक्कटुकलगण्डशायी दण्डायतक इव स्थित्वा ।। १६ ।।

दूसरी सप्तदिवसीय प्रतिमा भी पहली सप्तदिवसीय प्रतिमा जैसी ही है, क्योंकि इसमें भी तप, पारणा और गाँव के बाहर रहने की विधि एक ही समान है, किन्तु इतनी विशेषता है कि साधु उत्कटुक आसन से (घुटना जमीन को स्पर्श न करते हुए) बैठे। टेढ़ी लकड़ी के समान सोये अर्थात् जमीन को केवल सिर और पैर का स्पर्श हो अथवा जमीन को केवल पीठ स्पर्श करे और मस्तक या

---

१. 'उक्कडल... ' इति पाठान्तरम् ।

पैर ऊपर रहें – इस प्रकार सोये। लकड़ी की तरह लम्बा होकर सोये – इन तीन में से किसी एक स्थिति में रहकर उपसर्गों को सहन करे ।। १६ ।।

*दसवीं प्रतिमा का स्वरूप*

तच्चावि एरिसच्चिय णवरं ठाणं तु तस्स गोदोही ।
वीरासणमहवावि हु ठाएज्जा अंबखुज्जो वा[1] ।। १७ ।।

तृतीयापि ईदृश्येव केवलं स्थानन्तु तस्य गोदोही ।
वीरासनमथवापि खलु तिष्ठेद् आम्रकुब्जो वा ।। १७ ।।

तीसरी प्रतिमा भी प्रथम सप्तदिवसीय प्रतिमा जैसी ही है, किन्तु उसकी निम्न विशेषताएँ हैं – गोदोहिका आसन से (गाय को दुहने के जैसे आसन से अर्थात् नीचे पैर का पंजा ही जमीन पर हो और उसका पीछे का भाग ऊपर रहे) अथवा वीरासन (भूमि पर पैर रख सिंहासन पर बैठे हुए के समान विचलित हुए बिना स्थित रहना) से अथवा आम्रफल की तरह कुब्ज (टेढ़ा) बैठे। इन तीनों में से किसी एक स्थिति में रहे। इस प्रकार ये तीन प्रतिमाएँ इक्कीस दिन में पूरी होती हैं ।। १७ ।।

*ग्यारहवीं प्रतिमा का स्वरूप*

एमेव अहोराई छट्ठं भत्तं अपाणगं णवरं ।
गामणगराण बाहिं वाघारियपाणिए ठाणं ।। १८ ।।

एवमेव अहोरात्रिकी षष्ठं भक्तमपानकं केवलम् ।
ग्रामनगरेभ्यो बहिर्व्याघारितपाणिके स्थानम् ।। १८ ।।

इसी प्रकार ग्यारहवीं प्रतिमा अहोरात्रि अर्थात् एक दिवसीय परिमाण वाली है। इसकी विशेषताएँ निम्न हैं –

चौविहार छट्ठं का तप होता है (जिसमें छह समय के भोजन का त्याग होता है उसे छट्ठं कहा जाता है ।) इसमें दो उपवास होते हैं । दो उपवास में चार समय का भोजन तथा आगे और पीछे के दिनों में एकाशन करने से एक-एक समय का भोजन, इस प्रकार कुल छह समय के भोजन का त्याग होता है।

इसमें ग्राम या नगर के बाहर हाथ लटका करके कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित रहे। यह प्रतिमा तीन दिनों तक चलती है, क्योंकि अहोरात्र के बाद छट्ठ किया जाता है ।। १८ ।।

---

१. 'उ' इति पाठान्तरम् ।

*बारहवीं प्रतिमा का स्वरूप*

एमेव एगराई अट्ठमभत्तेण ठाण बाहिरओ।
ईसीपब्भारगओ अणिमिसणयणेगदिट्ठीए ।। १९ ।।

साहट्टु दोऽवि पाए वाघारियपाणि ठायइ ट्ठाणं।
वाघारि लंबियजुओ अंते य इमीएँ लद्धित्ति ।। २० ।।

एवमेव एकरात्रिकी अष्टमभक्तेन स्थानं बहिस्तात्।
ईषत्प्राग्भारगतोऽनिमिषनयनैकदृष्टिक: ।। १९ ।।

संहत्य द्वावपि पादौ व्याघारितपाणिस्तिष्ठति स्थानम्।
व्याघारित-लम्बितयुतोऽन्ते च अस्या लब्धिरिति ।। २० ।।

अहोरात्रि की प्रतिमा की तरह ही यह भी एकरात्रि की प्रतिमा है। इसकी विशेषताएँ निम्न हैं —

१. चौविहार अट्ठम तप अर्थात् निरन्तर तीन दिन का निर्जल उपवास करना होता है।

२. ग्रामादि के बाहर अथवा नदी के किनारे थोड़ा सा आगे झुककर कायोत्सर्ग मुद्रा में रहे।

३. किसी एक पदार्थ पर पलक झपकाये बिना स्थिर-दृष्टि रखे।

४. शरीर के सभी अंगों को स्थिर रखे।

५. दोनों पैरों को समेटकर और हाथ फैलाकर (जिनमुद्रा के रूप में अवस्थित होकर) कायोत्सर्ग में रहे।

६. इसका सम्यक् पालन करने से लब्धि उत्पन्न होती है।

७. यह प्रतिमा प्रथम रात्रि के बाद अट्ठम (अष्टम) तप करने से कुल चार दिन की होती है ।। १९-२० ।।

*प्रतिमाकल्पविषयक मतभेद*

आह ण पडिमाकप्पे सम्मं गुरुलाघवाइ चिंतत्ति।
गच्छाउ विणिक्खमणाइ ण खलु उवगारगं जेण ।। २१ ।।

तत्थ गुरुपारतंतं विणओ सज्झाय सारणा चेव।
वेयावच्चं गुणवड्ढि तह य णिप्फत्ति संताणो ।। २२ ।।

दत्तेगाइगहोऽवि हु तह सज्झायादभावओ[1] ण सुहो।
अंताइणोवि पीडा धम्मकायस्स ण सुसिलिट्ठं ।। २३ ।।

---

१. 'सज्झायाभावओ' इति पाठान्तरम्।

एवं पडिमाकप्पो चिंतिज्जंतो उ निउणदिट्ठीए ।
अंतरभावविहूणो कह होइ विसिउगुणहेऊ? ।। २४ ।।

आह न प्रतिमाकल्पे सम्यग् गुरुलाघवादि चिन्तेति ।
गच्छाद् विनिष्क्रमणादि न खलु उपकारकं येन ।। २१ ।।

तत्र गुरुपारतन्त्र्यं विनय: स्वाध्याय: स्मारणा चैव ।
वैयावृत्यं गुणवृद्धिस्तथा च निष्पत्तिस्सन्तान: ।। २२ ।।

एकादिदत्तिग्रहोऽपि खलु तथा स्वाध्यायाद्यभावतो न शुभ:।
अन्तादिनोऽपि पीडा धर्मकायस्य न सुश्लिष्टम् ।। २३ ।।

एवं प्रतिमाकल्प: चिन्त्यमानस्तु निपुणदृष्ट्या ।
अन्तरभावविहीन: कथं भवति विशिष्टगुणहेतु:? ।। २४ ।।

प्रतिमाकल्प में प्रतिमाओं के गुरुलाघव (अधिक लाभ अथवा कम लाभ) की विधिवत् विचारणा नहीं हुई है, कुछ आचार्यों की मान्यता है कि गच्छवास अधिक लाभकारी (गुरु) है, क्योंकि उससे अपना और पराया – दोनों का उपकार होता है और गच्छनिर्गमन कम लाभकारी (लघु) है, क्योंकि उससे केवल अपना उपकार होता है। तपादि तो गच्छवास और गच्छनिर्गमन — दोनों में समान है। गच्छनिर्गमन और धर्मोपदेश न देना — दोनों ही लाभकारी नहीं हैं ।। २१ ।।

क्योंकि गच्छ में रहने पर गुरुपारतन्त्र्य, विनय, स्वाध्याय, स्मारणा, वैयावृत्य, गुणवृद्धि, शिष्यसंसिद्धि और शिष्यपरम्परा – ये लाभ होते हैं। गच्छनिर्गमन से ये लाभ नहीं होते हैं ।

गुरुपारतन्त्र्य — आचार्य की अधीनता। यह सम्पूर्ण अनर्थों की कारणभूत स्वच्छन्दता को रोकता है।

*विनय* — अहंकार का हनन करने वाला है।

*स्वाध्याय* — स्वाध्याय पाँच प्रकार का है, यह मति रूप आँख को स्वच्छ बनाने वाले अंजन के समान है।

*स्मारणा* — भूले हुए कार्यों को याद करना स्मारणा है। कोई कर्म रूपी शत्रु के सामने लड़ने के लिए तैयार हुआ हो, किन्तु शस्त्र भूल गया हो, तो ऐसे में यह अमोघ शस्त्र को याद दिलाने वाला है।

*वैयावृत्य* — भोजनादि से आचार्यादि की सेवा करना यह तीर्थङ्कर पद प्राप्ति रूप फल को देने वाली है।

*गुणवृद्धि* — ज्ञानादि गुणों की वृद्धि होती है।

*शिष्यपरम्परा* — शिष्य-प्रशिष्यादि का वंश चलता है ।। २२ ।।

इस प्रकार गच्छनिर्गमन (गच्छ से बाहर जाकर तप करना) लाभकारी नहीं है, वैसे ही एकदत्ति (एक बार में जितना दान दिया जाये उतना लेकर रहना) आदि अभिग्रह भी विशेष लाभकारी नहीं है, क्योंकि इससे स्वाध्याय-ध्यान आदि निरन्तर नहीं हो पाते हैं। स्वाध्याय आदि गच्छ में निष्कण्टक होते हैं, क्योंकि अनेक दत्ति लेने से शरीर स्वस्थ रहता है। वल्ल (एक प्रकार का दलहन), चना आदि का हल्का भोजन भी लाभकारी नहीं है, क्योंकि उससे धर्मसाधन रूप शरीर संरक्षण नहीं हो पाता है। धर्मसाधन रूप शरीर का संरक्षण न हो, यह योग्य नहीं है ।। २३ ।।

इस प्रकार सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर प्रतिमाकल्प उसी प्रकार विशिष्ट लाभ का हेतु नहीं है, जैसे पञ्चाग्नि तप आदि परमार्थरहित होने के कारण विशिष्ट लाभदायी नहीं होते हैं ।। २४ ।।

*समाधान*

भण्णइ विसेसविसओ एसो ण उ ओहओ मुणेयव्वो ।
दसपुव्वधराईणं जम्हा एयस्स पडिसेहो ।। २५ ।।
पत्थुयरोगचिगिच्छावत्थंतर - तव्विसेस - समतुल्लो ।
तह गुरुलाघवचिंतासहिओ तक्कालवेक्खाए ।। २६ ।।
भण्यते विशेषविषय एषो न तु ओघतो ज्ञातव्यः ।
दशपूर्वधरादीनां यस्मादेतस्य प्रतिषेधः ।। २५ ।।
प्रस्तुतरोगचिकित्सावस्थान्तर - तद्विशेषसमतुल्यः ।
तथा गुरुलाघवचिन्तासहितः तत्कालापेक्षया ।। २६ ।।

यहाँ पूर्वोक्त बातों का समाधान किया जा रहा है — यह प्रतिमाकल्प सर्वसाधारण साधुओं के लिए नहीं है, यह विशेष साधुओं के लिए ही है — ऐसा जानना चाहिए। क्योंकि दशपूर्वधर आदि के लिए यह प्रतिमाकल्प वर्जित है। दशपूर्वधर आदि गच्छ में रहकर ही उपकारक होते हैं। इसलिए प्रतिमाकल्प में गुरुलाघव आदि की विचारणा नहीं हुई है — यह कहना अनुचित है ।। २५ ।।

प्रतिमाकल्प प्रस्तुत रोग की चिकित्सा करते समय उत्पन्न उससे अधिक तीव्र रोग की चिकित्सा करने के समान है, जैसे किसी पुरुष के एक रोग की चिकित्सा हो रही हो, उसमें उस रोग से भी अधिक कष्टकारी दूसरा रोग उत्पन्न हो जाये तो पहले उसकी चिकित्सा करनी चाहिए। उसी प्रकार जिसने स्थविरकल्प के सभी अनुष्ठान कर लिए हैं, उसके लिए ही प्रतिमाकल्प को स्वीकार करना अधिक उपयोगी है। ऐसे साधु के लिए प्रतिमाकल्प स्वीकार करना अधिक

लाभकारी है और गच्छवास कम लाभकारी ( लघु ) है। जिसने स्थविरकल्प के सभी अनुष्ठान पूरे नहीं किये हैं, उसके लिए स्थविरकल्प ही अधिक लाभकारी है। इसलिए प्रतिमाकल्प स्वीकार करते समय द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि की अपेक्षा से गुरुलाघव की विचारणा उचित है ॥ २६ ॥

*दृष्टान्त*

णिवकरलूयाकिरिया- जयणाए हंदि जुत्तरूवाए ।
अहिदट्ठाइसु छेयाइ वज्जयंतीह तह सेसं ॥ २७ ॥
एवं चिय कल्लाणं जायइ एयस्स इहरहा ण भवे ।
सव्वत्थावत्थोचियमिह कुसलं होइऽणुट्ठाणं ॥ २८ ॥
नृपकरलूताक्रियायतनायां हंदि युक्तरूपायाम् ।
अहिदष्टादिषु छेदादि वर्जयन्तीह तथा शेषाम् ॥ २७ ॥
एवमेव कल्याणं जायत एतस्य इतरथा न भवेत् ।
सर्वत्रावस्थोचितमिह कुशलं भवति अनुष्ठानम् ॥ २८ ॥

जैसे राजा के हाथ में वायुजनित लूता नामक रोग को मन्त्र आदि से दूर करने का उचित प्रयत्न किया जा रहा हो, ऐसे समय में राजा को साँप आदि डँस ले या अन्य रोग हो जाये जिससे वह लूता रोग की चिकित्सा न कर सके तो वैद्य अनर्थ को दूर करने के लिए सर्पदंश की जगह को काटने व सेंकने की क्रिया करके चिकित्सा करते हैं और चल रही लूता रोग की चिकित्सा बन्द कर देते हैं ॥ २७ ॥

क्योंकि वैसा करने से ही राजा का कल्याण होगा और सर्पदंश से राजा की मृत्युरूप अनर्थ नहीं होगा। इस लोक में सर्वत्र परिस्थिति के अनुरूप कार्य ही कल्याण का कारण बनता है। इसलिए सर्पदंश की स्थिति में काटना आदि क्रियाएँ ही कल्याण का कारण बनती हैं, लूता रोग निवारण की क्रिया नहीं ॥ २८ ॥

*उक्त दृष्टान्त का घटन*

इय कम्मवाहिकिरियं पव्वज्जं भावओ पवण्णस्स ।
सइ कुणमाणस्स तहा एयमवत्थंतरं णेयं ॥ २९ ॥
इति कर्मव्याधिक्रियां प्रव्रज्यां भावतः प्रपन्नस्य ।
सकृत् कुर्वाणस्य तथा एतदवस्थान्तरं ज्ञेयम् ॥ २९ ॥

उसी प्रकार कर्मरोग की प्रव्रज्यारूप चिकित्सा को भाव से स्वीकार करने वाले और स्थविरकल्प के अनुरूप उसका पालन करने वाले साधु के लिए

स्थविरकल्प मन्त्र से लूतादि रोग को दूर करने के समान है और प्रतिमाकल्प सर्पदंशादि की स्थिति में काटने और सेंकने रूप विशेष चिकित्सा के समान है — ऐसी कर्मविपाकरूप रोगों की चिकित्सा-विधि जाननी चाहिए ।। २९ ।।

*गुरुलाघवविषयक दूसरी युक्ति*

तह सुत्तवुड्डिभावे गच्छे सुत्थम्मि दिक्खभावे य ।
पडिवज्जइ एयं खलु ण अण्णहा कप्पमवि एवं ।। ३० ।।

इहरा ण सुत्तगुरुया तयभावे ण दसपुव्विपडिसेहो ।
एत्थं सुजुत्तिजुत्तो गुरुलाघव - चिंतबज्झम्मि ।। ३१ ।।

अप्पपरिच्चाएणं बहुतरगुण - साहणं जहिं होइ ।
सा गुरुलाघवचिंता जम्हा णाओववण्णत्ति ।। ३२ ।।

तथा सूत्रवृद्धिभावे[1] गच्छे सुस्थे दीक्ष्याभावे च ।
प्रतिपद्यते एतत्खलु नान्यथा कल्पमपि एवम् ।। ३० ।।

इतरथा न सूत्रगुरुता तदभावे न दशपूर्विप्रतिषेधः ।
अत्र सुयुक्तियुक्तो गुरुलाघवचिन्ताबाह्ये ।। ३१ ।।

अल्पपरित्यागेन बहुतरगुणसाधनं यत्र भवति ।
सा गुरुलाघवचिन्ता यस्मात् न्यायोपपन्नेति ।। ३२ ।।

जब गच्छ में किसी बहुश्रुत साधु के होने से सूत्रार्थ की वृद्धि हो रही हो और प्रतिमाकल्प स्वीकार करने वाले साधु में दशपूर्व से अधिक श्रुत पढ़ाने की शक्ति न हो, गच्छ में बाल-वृद्ध, रोगी आदि न होने से गच्छ बाधारहित हो अथवा बाल वृद्ध आदि की सेवा करने वाले हों तथा आचार्यादि गच्छ के पालन में तत्पर हों, कोई नवीन दीक्षा लेने वाला न हो, उस समय ही प्रतिमाकल्प को स्वीकार किया जा सकता है। अन्यथा पूर्वोक्त संहनन, धृति आदि योग्यता होने पर भी प्रतिमाकल्प को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार यह प्रतिमाकल्प गुरुलाघव की विचारणा से रहित नहीं है ।। ३० ।।

गच्छ में सूत्रवृद्धि न हो रही हो, अन्य कोई पढ़ने वाला न हो, फिर भी कोई प्रतिमाकल्प को स्वीकार करे तो श्रुतगौरव नहीं होगा। श्रुतगौरव के अभाव में सम्पूर्ण दशपूर्वधर को भी प्रतिमाकल्प की साधना करने का निषेध किया गया है (यदि श्रुतगौरव की आवश्यकता नहीं होती तो दशपूर्वधर के लिए भी प्रतिमा कल्प का निषेध नहीं किया जाता)। दशपूर्वधर श्रुतप्रदान, प्रवचन आदि में

१. अकारप्रश्लेशात् 'सूत्रावृद्धिभावे' इत्यपि संस्कृतच्छाया सम्भवा।

उपकारी होते हैं, इसलिए गच्छ में वैसा कोई दूसरा व्यक्ति न हो तब तक उनके लिए प्रतिमाकल्प का निषेध है। इस प्रकार गुरुलाघव (लाभालाभ) की विचारणा की अपेक्षा से ही प्रतिमाकल्प में दशपूर्वधर के लिए भी प्रतिमाकल्प का जो निषेध किया गया है वह युक्तिसंगत है ।। ३१ ।।

जिस विचारणा में थोड़े लाभ का त्याग करने से अधिक लाभ होता हो, ऐसी गुरुलाघव की विचारणा न्यायसंगत है। क्योंकि ऐसी विचारणा प्रतिमाकल्प में है, इसलिए प्रतिमाकल्प गुरुलाघव की विचारणा से रहित नहीं है ।। ३२ ।।

*गाथा ३१-३२ में कही गयी तीन स्थितियों में से दूसरी स्थिति*
*( बाधारहित गच्छ ) का समर्थन*

वेयावच्चुचियाणं करणणिसेहेणमंतरायंति ।
तंपि हु परिहरियव्वं अइसुहुमो होउ एसोत्ति ।। ३३ ।।

ता तीए किरियाए जोगगयं उवगयाण णो गच्छे ।
हंदि उविक्खा णेया अहिगयरगुणे असंतंमि ।। ३४ ।।

वैयावृत्योचितानां करणनिषेधेनान्तराय इति ।
सोऽपि खलु परिहर्तव्योऽतिसूक्ष्मो भवतु एष इति ।। ३३ ।।

तस्मात्तस्याः क्रियाया योग्यताम् उपगतेषु न गच्छेः ।
हंदि उपेक्षा ज्ञेया अधिकतरगुणे असति ।। ३४ ।।

प्रतिमाकल्प को स्वीकार करने वाले साधु वैयावृत्य नहीं करते हैं, इसलिए यदि गच्छ में वैयावृत्य करने में समर्थ साधु प्रतिमाकल्प को स्वीकार करता है तो गच्छ में रहने वाले बाल, वृद्ध, रोगी आदि की वैयावृत्य में अन्तराय होगा। प्रतिमाकल्पी साधु को अतिसूक्ष्म दोष का भी त्याग करना चाहिए। वैयावृत्य में अन्तराय रूप-दोष मानसिक दोष न होने पर भी अतिसूक्ष्म दोष है, इसलिए प्रतिमाकल्पी साधु को सर्वप्रथम तो उस अन्तराय-दोष का परिहार करना चाहिए ।। ३३ ।।

यदि गच्छ के अन्य साधु सूत्रार्थदान, वैयावृत्य आदि क्रियाओं के करने में समर्थ हों तो प्रतिमाकल्प को स्वीकार करने वाले साधु ने गच्छ की उपेक्षा की – ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु यदि गच्छ में ऐसे साधु न हों तो प्रतिमा-कल्प का धारण उचित नहीं माना जा सकता है। पुनः यदि गच्छ में कोई ऐसा कार्य हो जिससे गच्छ को विशेष लाभ होता हो और वह कार्य प्रतिमाकल्प स्वीकार करने वाले साधु से ही हो सकता हो तो ऐसी स्थिति में उसे किये बिना

ही वह प्रतिमाकल्प को स्वीकार करे तो उसे गच्छ की उपेक्षा मानी जायेगी, अन्यथा नहीं। इस प्रकार प्रतिमाकल्प को स्वीकार करने पर गच्छ की उपेक्षा न हो — यह विचार इस बात का प्रमाण है कि प्रतिमाकल्प गुरुलाघव की विचारणा से युक्त है ।। ३४ ।।

*'प्रव्रज्या लेने वाला कोई न हो' इस युक्ति का समर्थन*

परमो दिक्खुवयारो जम्हा कप्पोचियाणवि णिसेहो ।
सइ एयम्मि उ भणिओ पयडो च्चिय पुव्वसूरीहिं ।। ३५ ।।

परमो दीक्षोपकारो यस्मात् कल्पोचितानामपि निषेधः ।
सति एतस्मिंस्तु भणितः प्रकट एव पूर्वसूरिभिः ।। ३५ ।।

भव्य जीवों को दीक्षा देना अन्य उपकारों की अपेक्षा श्रेष्ठ उपकार होता है, क्योंकि दीक्षा मोक्ष का कारण है। भद्रबाहुस्वामी आदि पूर्वाचार्यों ने संहनन, श्रुत आदि सम्पन्न प्रतिमाकल्प के योग्य साधुओं को भी यदि दीक्षा का उपकार होता हो तो प्रतिमाकल्प धारण करने का स्पष्ट निषेध किया है। कल्प को स्वीकार करने के बाद दीक्षा नहीं दी जा सकती, इसलिए प्रतिमाकल्प को स्वीकार करते समय यदि कोई दीक्षा लेने आये तो पहले उसे दीक्षा देनी चाहिए। क्योंकि दीक्षा प्रदान करना प्रतिमाकल्प की अपेक्षा भी अधिक लाभदायी है ।। ३५ ।।

*दीक्षादान के समय प्रतिमाकल्प स्वीकार करने का स्पष्ट निषेध*

अब्भुज्जयमेगयरं पडिवज्जिउकामों सोऽवि पव्वावे ।
गणिगुणसलद्धिओ खलु एमेव अलद्धिजुत्तोवि ।। ३६ ।।

अभ्युद्यतमेकतरं प्रतिपत्तुकामः सोऽपि प्रव्राजयति ।
गणिगुणस्वलब्धिकः खलु एवमेव अलब्धियुक्तोऽपि ।। ३६ ।।

अभ्युद्यतमरण (समाधिमरण) और प्रतिमाकल्प — इन दो में से किसी एक को स्वीकार करने की इच्छा वाला गणिगुण और स्वलब्धि से युक्त साधु भी कल्प आदि को स्वीकार करते समय भी सर्वप्रथम दीक्षा लेने आनेवाले योग्य जीव को दीक्षा दे। जो गणि-गुण और स्वलब्धि से युक्त न हों वे भी यदि लब्धियुक्त आचार्य की निश्रा वाले हों तो सर्वप्रथम दीक्षा दें, उसके पश्चात् कल्प आदि धारण करें ।। ३६ ।।

२९वीं गाथा में कर्मव्याधि की प्रव्रज्यारूपी चिकित्सा को भाव से स्वीकार करने वाले साधु की अन्य जिन अवस्थाओं का निर्देश किया है, उसका कारण यहाँ बतलाया जा रहा है —

तं चावत्थंतरमिह जायइ तह संकिलिट्ठकम्माओ ।
पत्थुयनिवाहिदट्ठाइ जह तहा सम्ममवसेयं ।। ३७ ।।

तच्चावस्थान्तरमिह जायते तथा संक्लिष्टकर्मण: ।
प्रस्तुतनृपादिदष्टादि यथा तथा सम्यगवसेयम् ।। ३७ ।।

जिस प्रकार लूता रोग ग्रस्त राजा की सर्पदंश आदि के कारण अन्य विकृत अवस्थाएँ होती हैं, उसी प्रकार प्रव्रजित साधु की अशुभकर्मों के उदय से अन्य विकृत अवस्थाएँ होती हैं, जो प्रतिमाकल्प रूप विशिष्ट चिकित्सा से ही ठीक होती हैं — इसे भलीभाँति जानना चाहिए ।। ३७ ।।

*अन्य अवस्थाजन्य कर्म विकृति को प्रतिमाकल्प से ही हटाया जा सकता है*

अहिगयसुंदरभावस्स विग्घजणगंति संकिलिट्ठं च ।
तह चेव तं खविज्जइ एत्तो च्चिय गम्मए एयं ।। ३८ ।।

अधिगतसुन्दरभावस्य विघ्नजनकमिति संक्लिष्टं च ।
तथा चैव तत्क्षप्यते इत एव गम्यते एतत् ।। ३८ ।।

अन्य विकृतियों या उनके जनक कर्म सामान्य प्रव्रज्या में विघ्नकारक और संक्लिष्ट हैं। इसलिये प्रतिमाकल्प रूप शुभभाव को स्वीकार करने से ही उन अशुभ कर्मों को दूर किया जा सकता है।

**प्रश्न** : कर्मजन्य विकृतियों को प्रतिमाकल्प से दूर किया जा सकता है – इसे कैसे जानें ?

**उत्तर** : इसे आप्तवचन से जाना जा सकता है, क्योंकि आप्तवचन कभी अन्यथा नहीं होते हैं ।। ३८ ।।

*अब २३वीं गाथा में कथित 'हल्का भोजन लाभकारी है' का समाधान करते हैं*

एत्तो अईव णेया सुसिलिट्ठा धम्मकायपीडावि ।
आंताइणो सकामा तह तस्स अदीणचित्तस्स ।। ३९ ।।

न हु पडइ तस्स भावो संजमठाणाउ अवि य वड्ढेइ ।
ण य कायपायओऽवि हु तयभावे कोइ दोसोत्ति ।। ४० ।।

चित्ताणं कम्माणं चित्तो च्चिय होइ खवणुवाओ वि ।
अणुबंधछेयणाई सो उण एवंति णायव्वो ।। ४१ ।।

अतोऽतीव ज्ञेया सुश्लिष्टा धर्मकायपीडापि।
आन्त्यादिनः सकामा तथा तस्य अदीनचित्तस्य।। ३९ ।।

न खलु पतति तस्य भावः संयमस्थानादपि च वर्द्धयति।
न च कायपाततोऽपि खलु तदभावे कोऽपि दोष इति।। ४० ।।

चित्राणां कर्मणां चित्र एव भवति क्षपणोपायोऽपि।
अनुबन्धछेदनादेः सः पुनः एवमिति ज्ञातव्यः।। ४१ ।।

अन्य विकृत अवस्थाओं के जनक अशुभकर्म का क्षय प्रतिमाकल्प से होता है, इसलिए अन्त-प्रान्त भोजन (अवशिष्ट नीरस भोजन) करने वाले प्रतिमाधारी की काया की पीड़ा भी निरर्थक नहीं है, क्योंकि वह पीड़ा भी प्रयोजनपूर्ण और मानसिक दीनता से रहित होती है ।। ३९ ।।

दीन-भाव न होने का कारण – कायिकपीड़ा होने पर भी प्रतिमाधारी के मनोभाव संयमस्थान (चारित्रिकशुद्धि) से पतित नहीं होते हैं, अपितु वृद्धिगत ही होते हैं। मनोवृत्तियों के पतित न होने से देहपात होने पर भी किसी तरह का दोष नहीं लगता है ।। ४० ।।

क्लिष्ट, क्लिष्टतर और क्लिष्टतम – ऐसे विचित्र प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्मों के नाश के उपाय भी स्थविरकल्प, प्रतिमाकल्प आदि विचित्र ही होते हैं और वे उपाय कायिकपीड़ा को सहन करने रूप प्रतिमाकल्प आदि ही हैं, इसलिए साधना के क्षेत्र में देह-दण्ड सुसंगत है – ऐसा जानना चाहिए ।। ४१ ।।

*प्रतिमाकल्प से विचित्र कर्मों का नाश होता है — इसे कैसे जानें ?*

*इसका समाधान*

इहरा उ णाभिहाणं जुज्जइ सुत्तंमि हंदि एयस्स ।
एयंमि अवसरम्मी एसा खलु तंतजुत्तित्ति ।। ४२ ।।

इतरथा तु नाभिधानं युज्यते सूत्रे हंदि एतस्य ।
एतस्मिन्नवसर एषा खलु तन्त्रयुक्तिरिति ।। ४२ ।।

यदि प्रतिमाकल्प के बिना ही विचित्रकर्मों का क्षय होता हो तो आगम का यह कथन कि स्थविरकल्प के कर्तव्यों के पूर्ण होने के बाद प्रतिमाकल्प को स्वीकार करना चाहिए, असंगत हो जायेगा। इस आगमिककथन से प्रतिमाकल्प की आवश्यकता सिद्ध होती है। स्थविरकल्प के अनुष्ठान पूर्ण होने पर प्रतिमाकल्प को स्वीकार करना – यह आप्तवचन है, इसलिए प्रतिमाकल्प कर्मक्षय का कारण है – ऐसा जानना चाहिए ।। ४२ ।।

*प्रतिमाकल्प की परमार्थ रहितता का मतान्तर से निराकरण*

अण्णे भणंति एसो विहियाणुट्ठाणमागमे भणिओ ।
पडिमाकप्पो सिट्ठो दुक्करकरणेण विण्णेओ ।। ४३ ।।

अन्ये भणन्ति एषो विहितानुष्ठानमागमे भणितः ।
प्रतिमाकल्पः श्रेष्ठो दुष्करकरणेन विज्ञेयः ।। ४३ ।।

दूसरे कुछ आचार्य कहते हैं कि आगम में यह प्रतिमाकल्प स्थविरकल्प की अपेक्षा दुष्कर कहा गया है, इसलिए विहितानुष्ठान है और विहितानुष्ठान होने से आचरणीय है ।। ४३ ।।

*उपर्युक्त का और अधिक स्पष्टीकरण*

विहियाणुट्ठाणंपि य सदागमा एस जुज्जई एवं ।
जम्हा ण जुत्तिबाहियविसओऽवि सदागमो होइ ।। ४४ ।।

विहितानुष्ठानमपि च सदागमादेषो युज्यते एवम् ।
यस्मान्न युक्तिबाधितविषयोऽपि सदागमो भवति ।। ४४ ।।

प्रतिमाकल्प उचित एवं आगम विहित अनुष्ठान है । क्योंकि जो कथन युक्ति से बाधित एवं अनुचित हो वह आगम विहित नहीं होता है। पुनः जिसके कथन युक्तिसंगत और उचित हों वही सदागम हो सकता है। प्रतिमाकल्प आगमोक्त और युक्तिसंगत है, इसलिए हमने जो समाधान पहले किया था, वह अन्य आचार्यों की अपेक्षा से भी उचित ही सिद्ध होता है ।। ४४ ।।

*केवल आगम से ही अर्थ का निर्णय नहीं हो सकता*

जुत्तीए अविरुद्धो सदागमो सावि तयविरुद्धत्ति ।
इय अण्णोऽण्णाणुगयं उभयं पडिवत्तिहेउत्ति ।। ४५ ।।

युक्त्या अविरुद्धः सदागमः सापि[1] तदविरुद्धेति ।
इति अन्योऽन्यानुगतमुभयं प्रतिपत्तिहेतुरिति ।। ४५ ।।

जो युक्ति से अविरुद्ध हो वह सदागम है। युक्ति भी सदागम से अविरुद्ध होती है। सदागम से विरुद्ध युक्ति युक्ति नहीं है। इस प्रकार सदागम और युक्ति परस्पर सम्बद्ध हैं । इनकी परस्पर सम्बद्धता ही सम्यक् अर्थनिर्णय का हेतु है ।। ४५ ।।

---

१. सा = युक्तिः ।

*प्रतिमाधारी के ध्यान का स्वरूप*

कयमेत्थ पसंगेणं झाणं पुण णिच्चमेव एयस्स ।
सुत्तत्थाणुसरणमो रागाइविणासणं परमं ।। ४६ ।।

कृतमत्र प्रसङ्गेन ध्यानं पुनर्नित्यमेव एतस्य ।
सूत्रार्थानुस्मरणं रागादिविनाशनं परमम् ।। ४६ ।।

यहाँ प्रतिमाकल्प पर होने वाले आक्षेपों के निराकरण हेतु प्रासंगिक कथन किया गया। प्रतिमाधारी को सदा सूत्रार्थ चिन्तनरूप ध्यान करना चाहिए । यह ध्यान राग-द्वेष और मोह आदि का विनाशक और मोक्ष का कारण होने से श्रेष्ठ है ।। ४६ ।।

*प्रतिमा के अयोग्य साधु को अभिग्रह लेना चाहिए*

एया पवज्जियव्वा एयासिं जोगगयं उवगएणं।
सेसेणवि कायव्वा केइ पइण्णाविसेसत्ति।। ४७ ।।

जे जंमि जंमि कालंमि बहुमया पवयणुण्णइकरा य।
उभओ जोगविसुद्धा आयावणठाणमाईया।। ४८ ।।

एता: प्रतिपत्तव्या एतासां योग्यतामुपगतेन।
शेषेणापि कर्तव्या: केचित् प्रतिज्ञाविशेषा इति।। ४७ ।।

ये यस्मिन् यस्मिन् काले बहुमता प्रवचनोन्नतिकराश्च।
उभयतो योगविशुद्धा आतापन-स्थानादिका: ।। ४८ ।।

प्रतिमाकल्प धारण करने में समर्थ साधु को प्रतिमाकल्प को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। जो इसके योग्य नहीं हैं, उन्हें भी कोई अभिग्रहविशेष अवश्य धारण करना चाहिए ।। ४७ ।।

जिस-जिस काल में विशुद्ध क्रिया रूप जो-जो भी अभिग्रह गीतार्थों को मान्य हों और विशिष्ट होने के कारण शासन प्रभावना के कारण हों, उन अभिग्रहों को मनसा और कर्मणा – दोनों से ही स्वीकारना चाहिए। यथा – ठण्ड आदि को सहन करना, उत्कट आदि आसन पर बैठना आदि ।। ४८ ।।

*अभिग्रह न करने से दोष लगता है*

एएसिं सइ विरिए जमकरणं मय[१]प्पमायओ सो उ ।
होअइयारो सो पुण आलोएयव्वओ गुरुणो ।। ४९ ।।

---

१. 'मयप...' इति पाठान्तरम् ।

एतेषां सति वीर्ये यदकरणं मदप्रमादत: स तु ।
भवति अतिचार: स: पुन आलोचितव्यो गुरुण: ।। ४९ ।।

शक्ति होने पर भी मद और प्रमाद के वशीभूत होकर अभिग्रह धारण नहीं करना अतिचार है। अत: आत्म-शुद्धि के लिए उस अतिचार को भी गुरु के सामने प्रकाशित कर आलोचना करनी चाहिए ।। ४९ ।।

*उपसंहार*

इय सव्वमेवमवितहमाणाए भगवओ पकुव्वन्ता ।
सयसामत्थऽणुरूवं अइरा काहिंति भवविरहं ।। ५० ।।

इति सर्वमेवभवितथमाज्ञया भगवत: प्रकुर्वाणा: ।
स्वसामर्थ्यानुरूपमचिरं करिष्यन्ति भवविरहम् ।। ५० ।।

इन सभी अभिग्रहों को अपनी शक्ति और जिनाज्ञा के अनुसार धारण करने वाले जीव शीघ्र ही संसार से मुक्त होंगे ।। ५० ।।

**।। इति भिक्षुप्रतिमाकल्पविधिर्नाम अष्टादशं पञ्चाशकम् ।।**

# १९

# तपोविधि पञ्चाशक

अट्ठारहवें पञ्चाशक में साधुप्रतिमा का वर्णन किया गया है। साधुप्रतिमा तप रूप है, इसलिए अब यहाँ तप के स्वरूप का वर्णन करने हेतु मङ्गलाचरण करते हैं —

*मङ्गलाचरण*

णमिऊण वद्धमाणं तवोवहाणं समासओ वोच्छं ।
सुत्तभणिएण विहिणा सपरेसिमणुग्गहट्ठाए ।। १ ।।

नत्वा वर्द्धमानं तप उपधानं समासतो वक्ष्ये ।
सूत्रभणितेन विधिना स्वपरेषामनुग्रहार्थाय ।। १ ।।

भगवान् महावीर स्वामी को नमस्कार करके अपने और दूसरे के उपकार हेतु आगमोक्त विधि के अनुसार तप का संक्षेप में वर्णन करूँगा ।। १ ।।

*बाह्य तप के भेद*

अणसणमूणोयरिया वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ।। २ ।।

अनशनमूनोदरिका वृत्तिसंक्षेपणं रसत्यागः ।
कायक्लेशः संलीनता च बाह्यस्तपो भवति ।। २ ।।

बाह्य तप निम्न छह प्रकार के होते हैं — अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश और संलीनता।

१. *अनशन* — भोजन का त्याग करना अनशन है। इसके दो भेद हैं — यावत्कथिक और इत्वर। यावत्कथिक अर्थात् जीवनपर्न्त के लिए आहार त्याग के तीन भेद हैं — पादपोगमन, इंगितमरण और भक्त-प्रत्याख्यान। पादपोपगमन में परिस्पंदन (हलन-चलन आदि) और प्रतिकर्म (शरीर-सेवा) का तथा चारों आहारों का त्याग किया जाता है। इंगितमरण भी वैसा ही होता है, किन्तु इसमें निश्चित किये गये क्षेत्र में घूमने-फिरने की छूट होती है। भक्त-प्रत्याख्यान में परिस्पंदन अर्थात् घूमने आदि की छूट के साथ प्रतिकर्म अर्थात् सेवा कराने की भी छूट होती है। इसमें तीन या चार प्रकार के आहारों का त्याग होता है। उपवास से

लेकर छह महीने तक के लिए आहार का त्याग करना 'इत्वर' है।

२. *ऊनोदरी* — आवश्यकता से कम खाने के कारण पेट का न भरना ऊनोदरी है। इसके दो भेद हैं — द्रव्य और भाव। कम खाना द्रव्य-ऊनोदरी है। आगम में बत्तीस ग्रास अर्थात् कवल (कौर) का पूर्ण आहार माना जाता है। उसमें एक कौर भी कम खाने पर द्रव्य-ऊनोदरी तप होता है। इसके अनेक प्रकार होते हैं। कषायों का त्याग करना भाव-ऊनोदरी है।

३. *वृत्तिसंक्षेप* — भिक्षाचर्या में विशेष अभिग्रह या नियम लेना वृत्तिसंक्षेप है। वह निम्न है —

घृत आदि के लेपसहित या लेपरहित वस्तु ही लूँगा, इत्यादि नियम लेना द्रव्य अभिग्रह है। अपने गाँव से, दूसरे गाँव से या अमुक घरों से ही भिक्षा लूँगा, यह क्षेत्र अभिग्रह है। दिन के प्रथम, मध्यम या अन्तिम प्रहर में ही भिक्षा लूँगा, यह काल अभिग्रह है। मूल भोजन में से जितना भोजन हाथ या चम्मच आदि में लिया गया हो अथवा थाली में रखा गया हो वही लूँगा अथवा गाते हुए या रोते हुए दे तो ही लूँगा, इत्यादि भाव अभिग्रह है।

४. *रसत्याग* — दूध, दही आदि सभी रसों का अथवा कुछ रसों का त्याग करना।

५. *कायक्लेश* — मर्यादा-अनुसार शरीर को कष्ट देना कायक्लेश है। वीरासन, उत्कटुकासन, गोदोहिकासन आदि आसनों में रहना; सर्दी, गर्मी, बरसात आदि सहना, केशों का लुंचन करना आदि कायक्लेश हैं।

६. संलीनता (निरोध करना) — इसके इन्द्रिय, कषाय, योग और विविक्तचर्या — ये चार भेद हैं। इनमें प्रथम तीन के अर्थ ज्ञात हैं। स्त्री, पशु, नपुंसक आदि से रहित निर्दोष एकांत स्थान में रहना विविक्तचर्या है। ये तप बाह्य जगत् में तप के रूप में दिखलायी देते हैं, इसलिए बाह्य तप कहलाते हैं ॥ २ ॥

*आभ्यन्तर तप के भेद*

पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं उस्सग्गोऽविय अब्भिंतरओ तवो होइ ॥ ३ ॥

प्रायश्चित्तं विनयो वैयावृत्यं तथैव स्वाध्यायः ।
ध्यानमुत्सर्गोऽपि च आभ्यन्तरकं तपो भवति ॥ ३ ॥

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और उत्सर्ग — ये छह आभ्यन्तर तप के भेद हैं।

१. ***प्रायश्चित्त*** — इसकी व्याख्या १६वें पञ्चाशक में की जा चुकी है।

२. *विनय* — जिससे मान कषाय को दूर किया जाये वह विनय तप है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, मन, वचन, काय और उपचार — ये विनय के सात भेद हैं :

(क) ज्ञान विनय : मति आदि ज्ञान और ज्ञानों से युक्त ज्ञानी व्यक्तियों के प्रति श्रद्धा, भक्ति, सम्मान, आगम में विहित अर्थों का चिन्तन और गुरु के पास उनका अध्ययन – ये ज्ञान विनय के पाँच प्रकार हैं।

(ख) दर्शन विनय : जो दर्शन गुण में अधिक हैं, उनका आदर करना दर्शन-विनय है। दर्शन-विनय के दो भेद हैं – शुश्रूषा और अनाशातना। शुश्रूषा के दस भेद हैं — १. सत्कार – स्तुति आदि करना, २. अभ्युत्थान – कोई बड़ा (रत्नाधिक) आये तो खड़े हो जाना आदि, ३. सम्मान – वस्त्रादि देना, ४. आसनाभिग्रह – कोई बड़ा आये तो बैठने के लिए आसनादि देना, ५. आसनानुप्रदान – उनकी इच्छानुसार आसन को स्थानान्तरित करना, ६. कृतिकर्म – वन्दन करना, ७. अंजलिग्रह – हाथ जोड़कर सिर से लगाना, ८. आगच्छदनुगम – कोई बड़ा आये तो आगे बढ़कर अगवानी करना, ९. स्थितपर्युपासन – बैठे हों तो पैर दबाना आदि, १०. गच्छदनुगमन – जाने लगें तो कुछ दूर तक साथ जाना।

अनाशातना विनय के निम्न पन्द्रह भेद हैं — तीर्थङ्कर, धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, साम्भोगिक, क्रियावान अर्थात् श्रद्धाशील चरित्रवान व्यक्ति और पाँच ज्ञानों के धारक – इन पन्द्रह की आशातना का त्याग कर भक्ति, सम्मान और प्रशंसापूर्वक उनका विनय करना।

(ग) चारित्र विनय के अन्तर्गत सामायिक आदि पाँच चारित्रों की मन से श्रद्धा करना, काया से स्पर्शना (पालना) और वचन से प्ररूपणा करना – ये तीन भेद हैं।

(घ-च) मन-वचन-कायविनय : मन, वचन और काय की अप्रशस्त वृत्तियों का निरोध करना और मन, वचन और काय की प्रशस्त वृत्तियों से आचार्य आदि का आदर, सम्मान, स्तुति आदि करना मन, वचन और काय का विनय है।

(छ) उपचारविनय : विनय-व्यवहार का पालन करना। इसके निम्न सात भेद हैं — १. ज्ञान प्राप्ति या आभ्यासन – आज्ञापालन की इच्छा से सदा आचार्यादि के पास बैठना, २. छन्दोऽनुवर्तन – आचार्य की इच्छानुसार वर्तन (व्यवहार) करना, ३. कृतप्रतिकृति – कर्मनिर्जरा आदि की भावना से आचार्य की सेवा करना, ४. कारितनिमित्तकरण – आचार्य का श्रुतज्ञानादि देने का उपकार मानकर उनका विशेष आदर करना, ५. दुःखार्तगवेषणा – रोग आदि दुःखों को दूर करने का उपाय करना, ६. देशकालज्ञान – देशकाल के अनुसार

आचार्यादि की आवश्यकताओं को समझकर उनकी सेवा करना, ७. सर्वत्रानुमति — कोई भी कार्य आचार्यादि की अनुमति से ही करना।

३. *वैयावृत्य* — व्यावृत्त अर्थात् भोजनादि लाकर देने रूप सेवा करना। सेवा की वृत्ति और सेवा के कार्य ही वैयावृत्य है। आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शैक्ष, साधर्मिक, कुल, गण और संघ—इन दस की वैयावृत्य (सेवा) करना चाहिए।

४. *स्वाध्याय* — सु = अच्छी तरह, आ = मर्यादापूर्वक (काल आदि ज्ञानाचार का पालन करते हुए) अध्याय = अध्ययन करना, स्वाध्याय कहलाता है। इसके वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा — ये पाँच भेद हैं।

५. *ध्यान* — चित्त की एकाग्रता ध्यान कहलाती है। इसके आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल — ये चार भेद हैं। इनमें से प्रथम दो भेद संसार के और अन्तिम दो मोक्ष के कारण हैं, इसलिये अन्तिम दो ही ध्यान रूप तप हैं।

६. *उत्सर्ग* — त्याग करना। उत्सर्ग के द्रव्य और भाव — ये दो भेद हैं और दोनों के पुन: चार-चार भेद हैं। द्रव्य उत्सर्ग के चार भेद — गण (प्रतिमाकल्प धारण करते समय गण का त्याग करना), देह (संलेखना में देह का त्याग करना), आहार (अशुद्ध आहार का त्याग करना) और उपधि (वस्त्रादि का त्याग करना) तथा क्रोधादि चार कषायों का त्याग करना — ये चार भाव उत्सर्ग हैं।

ये छह प्रकार के तप लोक में प्रत्यक्षत: तप रूप दिखलायी न देने के कारण आन्तरिक तप कहे जाते हैं। ये मोक्षप्राप्ति के आन्तरिक कारण हैं ।। ३ ।।

*प्रकीर्ण तप का स्वरूप*

एसो बारसभेओ सुत्तनिबद्धो तवो मुणेयव्वो ।
एयविसेसो उ इमो पइण्णगो णेगभेउत्ति ।। ४ ।।
तित्थयरणिग्गमाई सव्वगुणपसाहणं तवो होइ ।
भव्वाण हिओ णियमा विसेसओ पढमठाणीणं ।। ५ ।।

एतद् द्वादशभेदं सूत्रनिबद्धं तपो ज्ञातव्यम् ।
एतद्विशेषस्तु इदं प्रकीर्णकमनेकभेदमिति ।। ४ ।।
तीर्थङ्करनिर्गमादि सर्वगुणप्रसाधनं तपो भवति ।
भव्यानां हितं नियमाद् विशेषत: प्रथमस्थानिनाम् ।। ५ ।।

उपर्युक्त बारह प्रकार के तप शास्त्र में कहे गये हैं । इससे भिन्न भी कुछ अन्य तप हैं, जिनका स्पष्ट उल्लेख सूत्र में नहीं है, फिर भी वे सूत्रविरुद्ध नहीं हैं,

क्योंकि उपर्युक्त बारह प्रकार के तपों में उनका समावेश हो जाता है। प्रकीर्णक तप आगामी गाथाओं में वर्णित किये जायेंगे। तीर्थंकरों द्वारा उनकी दीक्षा, केवल-ज्ञान-प्राप्ति और निर्वाण-प्राप्ति आदि के अवसर पर जिस प्रकार के तप किये गये थे, तदनुसार जो तप किये जाते हैं वे प्रकीर्णक तप के अन्तर्गत आते हैं । प्रकीर्णक तपों के अनेक भेद हैं । इन तपों में जो दीक्षा आदि का आलम्बन है वह अतिशय शुभभाव रूप है, इसलिए ये इहलोक और परलोक में उपकारी होने से सभी गुणों के साधक हैं। ये भव्य जीवों के लिए और विशेष रूप से अव्युत्पन्न बुद्धिवाले जीवों के लिए तो निश्चित रूप से हितकारी हैं। वैसे भी सभी प्रकार के तप हितकारी ही हैं ।। ४-५ ।।

*तीर्थङ्कर निर्गम तप*

तित्थयरणिग्गमो खलु ते जेण तवेण णिग्गया सव्वे ।
ओसप्पिणीए सो पुण इमीइ एसो विणिद्दिट्ठो ।। ६ ।।

तीर्थङ्करनिर्गमः खलु ते येन तपसा निर्गताः सर्वे ।
अवसर्पिण्यां तत्पुन अस्यामेतद् विनिर्दिष्टः ।। ६ ।।

तीर्थङ्कर जिस तप से दीक्षा लेते हैं, वह तीर्थङ्करनिर्गमन (तीर्थंकर अभिनिष्क्रमण) तप कहलाता है। इस अवसर्पिणी काल में होने वाले तीर्थंकरों के उस तप का विवेचन आगे की गाथाओं में किया जा रहा है ।। ६ ।।

सुमइ त्थ णिच्चभत्तेण णिग्गओ वसुपुज्ज जिणो चउत्थेण।
पासो मल्लीवि य अट्ठमेण सेसा उ छट्ठेणं।। ७ ।।

सुमतिः त्थ नित्यभक्तेन निर्गतो वासुपूज्यो जिनश्चतुर्थेन।
पार्श्वो मल्ली अपि च अष्टमेन शेषास्तु षष्ठेन।। ७ ।।

सुमतिनाथ भगवान् ने नित्यभक्त (एकाशन), वासुपूज्य भगवान् ने उपवास, पार्श्वनाथ और मल्लिनाथ भगवान् ने अट्ठम (तेला - निरन्तर तीन दिन का उपवास) और बाकी के बीस तीर्थङ्करों ने छट्ठ (बेला - दो दिन का उपवास) करके दीक्षा ली थी ।। ७ ।।

*उक्त तप करने की विधि*

उसभाइकमेणेसो कायव्वो ओहओ सइ बलम्मि ।
गुरुआणापरिसुद्धो विसुद्धकिरियाएँ धीरेहिं ।। ८ ।।

ऋषभादिक्रमेण एषः कर्तव्य ओघतः सति बले ।
गुर्वाज्ञापरिशुद्धो विशुद्धक्रियया धीरैः ।। ८ ।।

सात्त्विक जीवों को उत्सर्ग (सामान्य रूप) से शक्ति हो तो ऋषभादि जिनों के क्रम से यह तप करना चाहिए। शक्ति न हो तो क्रम के बिना करने में भी दोष नहीं है। यह तप गुरु की आज्ञा से परिशुद्ध होकर और अनवद्य अनुष्ठान से (हिंसा से दूर रहते हुए) करना चाहिए ॥ ८ ॥

*उक्त तपविषयक मतान्तर*

अण्णे तम्मासदिणेसु बेंति लिंगं इमस्स भावंमि ।
तप्पारणसंपत्ती तं पुण इमं[1] इमेसिं तु ॥ ९ ॥

अन्ये तन्मासदिनेषु ब्रुवते लिङ्गमस्य भावे ।
तत्पारणसम्पत्तिः तत्पुनर् एतदेतेषान्तु ॥ ९ ॥

दूसरे आचार्य कहते हैं कि ऋषभादि जिनों के दीक्षा तप के जो महीने और तिथियाँ हैं, उन महीनों और उन तिथियों में यह तप करना चाहिए । जैसे — ऋषभदेव के दीक्षातप में चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन छठ तप करना चाहिए। महावीर स्वामी के दीक्षा तप में मार्गशीर्ष (अगहन) कृष्णा दशमी के दिन ही छठ तप करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य तीर्थङ्करों के दीक्षातप के लिए समझना चाहिए। पारणा में ऋषभादि जिनों ने जिस द्रव्य से पारणा किया था, उसी द्रव्य की प्राप्ति होना तप के अच्छी तरह पूर्ण होने का लक्षण है ॥ ९ ॥

ऋषभादि तीर्थङ्करों के पारणा के द्रव्य निम्नवत् हैं —

उसभस्स उ इक्खुरसो पारणए आसि लोगनाहस्स ।
सेसाणं परमण्णं अमयरसरसोवमं आसी ॥ १० ॥

ऋषभस्य तु इक्षुरसः पारणके आसीत् लोकनाथस्य ।
शेषाणां परमान्नममृतरस-रसोपममासीत् ॥ १० ॥

लोकनाथ श्री ऋषभदेव के पारणे में ईख का रस था और बाकी के तीर्थङ्करों के पारणे में अमृतरस जैसी स्वादिष्ट खीर थी ॥ १० ॥

*उन तीर्थङ्करों को पहली भिक्षा कितने समय में मिली ?*

संवच्छरेण भिक्खा लद्धा उसभेण लोगनाहेण ।
सेसेहिं बीयदिवसे लद्धाओ[2]पढमभिक्खाओ ॥ ११ ॥

---

१. 'एयं' इति पाठान्तरम् ।
२. 'लद्धाउ' इति पाठान्तरम् ।

संवत्सरेण भिक्षा लब्धा ऋषभेण लोकनाथेन ।
शेषै: द्वितीयदिवसे लब्धा: प्रथम भिक्षा: ।। ११ ।।

लोकनाथ श्री ऋषभदेव को पहली भिक्षा एक वर्ष में मिली। अन्य तीर्थङ्करों को दीक्षा-ग्रहण करने के दूसरे दिन पहली भिक्षा मिली ।। ११ ।।

*तीर्थङ्कर ज्ञानोत्पत्ति नामक तप का विवेचन*

तित्थंकर-णाणुप्पत्ति-सण्णिओ तह वरो तवो होइ ।
पुव्वोइएण विहिणा कायव्वो सो पुण इमोत्ति ।। १२ ।।
अट्ठमभत्तंतम्मि य पासोसहमल्लिरिट्ठनेमीणं ।
वसुपुज्जस्स चउत्थेण छट्ठभत्तेण सेसाणं ।। १३ ।।
उसभाइयाणमेत्थं जायाइं केवलाइँ णाणाइं ।
एयं कुणमाणो खलु अचिरेणं केवलमुवेइ ।। १४ ।।
तीर्थङ्करज्ञानोत्पत्तिसंज्ञिक: तथा वरं तपो भवति ।
पूर्वोदितेन विधिना कर्तव्यं तत्पुनर् इदमिति ।। १२ ।।
अष्टमभक्तान्ते च पार्श्वर्षभ-मल्लिरिष्ठनेमीनाम् ।
वासुपूज्यस्य चतुर्थेन षष्ठभक्तेन शेषाणाम् ।। १३ ।।
ऋषभादिकानामत्र जातानि केवलानि ज्ञानानि ।
एतत्कुर्वाण: खलु अचिरेण केवलमुपैति ।। १४ ।।

तीर्थङ्करकेवलज्ञानोत्पत्ति नामक तप भी श्रेष्ठ होता है। पूर्वकथित विधि से इसे करना चाहिए । ऋषभादि जिनों के क्रम से गुरु की आज्ञानुसार और विशुद्ध अनुष्ठान पूर्वक यह तप करना चाहिए । मतान्तर से जिस महीने और तिथि को केवलज्ञान की उत्पत्ति हुई थी, उस महीने और उसी तिथि को यह तप करना चाहिए ।। १२ ।।

यह तप निम्नवत् है — पार्श्वनाथ, ऋषभदेव, मल्लिनाथ और नेमिनाथ — इन चार जिनों को अट्ठम (तेले) के अन्त में, श्री वासुपूज्य को उपवास में और बाकी जिनों को छट्ठ (बेले) के तप में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था ।। १३ ।।

ऋषभादि तीर्थङ्करों को इस तप में ही केवलज्ञान हुआ था। इसलिए यह तप करने वाला जल्दी केवलज्ञान प्राप्त करता है ।। १४ ।।

*जिनों के मोक्षगमन तप का वर्णन*

तित्थयरमोक्खगमणं अहावरो एत्थ होइ विण्णेओ ।
जेण परिनिव्वुया ते महाणुभावा तओ य इमो ।। १५ ।।

निव्वाणमंतकिरिया सा चोद्दसमेण पढमनाहस्स ।
सेसाण मासिएणं वीरजिणिंदस्स छट्ठेणं ।। १६ ।।

तीर्थङ्करमोक्षगमनमथापरमत्र भवति विज्ञेयम् ।
येन परिनिर्वृतास्ते महानुभावाः ततश्च इदम् ।। १५ ।।

निर्वाणमन्तक्रिया सा चतुर्दशभक्तेन प्रथमनाथस्य ।
शेषाणां मासिकेन वीरजिनेन्द्रस्य षष्ठेन ।। १६ ।।

अचिन्त्य शक्ति वाले तीर्थङ्करों ने जिस तप से मोक्ष प्राप्त किया था, वह तीर्थङ्कर मोक्षगमन नामक तप है, जो निम्नवत् है ।। १५ ।।

आदिनाथ को निरन्तर छह उपवास से, महावीर स्वामी का छट्ठ (दो उपवास) से और शेष सभी जिनों को मासखमण (निरन्तर एक मास तक निराहार रहने) से मोक्ष मिला था । मोक्ष या निर्वाण अन्तक्रिया कहलाता है — क्योंकि इसके पश्चात् जीव अक्रिय हो जाता है। अथवा यह सभी क्रियाओं (योगों) का अन्त करने पर प्राप्त होता है, इसलिए अन्तक्रिया कहलाता है ।। १६ ।।

*तीर्थङ्करों का निर्वाणस्थल*

अट्ठावय- चंपोज्जिन्त-पावा-संमेय- सेलसिहरेसु ।
उसभ-वसुपुज्ज-नेमी-वीरो सेसा य सिद्धिगया ।। १७ ।।

अष्टापद- चम्पोज्जयन्त- पापा- सम्मेत-शैलशिखरेषु ।
ऋषभ-वासुपूज्य-नेमिवीरः शेषाश्च सिद्धिंगताः ।। १७ ।।

भगवान् ऋषभदेव, वासुपूज्य, नेमिनाथ और महावीर स्वामी क्रमशः अष्टापद पर्वत, चम्पानगरी, उर्ज्जयन्त (गिरनार) पर्वत और पावापुरी नगरी से तथा शेष तीर्थङ्कर सम्मेदशिखर पर्वत से मोक्ष को प्राप्त हुए ।। १७ ।।

*चान्द्रायण तप*

चंदायणाइ य तहा अणुलोमविलोमओ तवो अवरो ।
भिक्खाकवलाण पुढो विण्णेओ वुड्ढिहाणीहिं ।। १८ ।।

चान्द्रायणादि च तथा अनुलोम-विलोमतः तपोऽपरम् ।
भिक्षाकवलानां पृथग् विज्ञेयं वृद्धिहानिभिः ।। १८ ।।

अनुक्रम से और विपरीत क्रम से भिक्षा की दत्तियों, उपवासों या कवलों (कौर) की संख्या में वृद्धि और कमी करने से चान्द्रायण आदि तप होते हैं। यहाँ आदि शब्द से आगम में उल्लिखित दूसरे भद्रा, महाभद्रा, सर्वतोभद्रा, रत्नावली,

कनकावली, एकावली, लघुसिंहनिष्क्रीड़ित, महासिंहनिष्क्रीड़ित, वर्धमान-आयम्बिल, गुणरत्नसंवत्सर, सप्तसप्तमिका आदि चार प्रतिमा और कल्याणक आदि तप ग्रहण करना चाहिए ।। १८ ।।

*चान्द्रायण तप के यवमध्या और वज्रमध्या — इन दो भेदों में से क्रमश: प्रथम व द्वितीय का भेद*

**यवमध्या प्रतिमा**

सुक्कम्मि पडिवयाओ तहेव वुड्डीएँ जाव पण्णरस ।
पंचदसपडिवयाहिं तो हाणी किण्ह[1]पडिवक्खे ।। १९ ।।

शुक्ले प्रतिपद: तथैव वृद्धया यावत्पञ्चदश ।
पञ्चदशप्रतिपदि ततो हानिं कृष्णप्रतिपक्षे ।। १९ ।।

शुक्लपक्ष में एक्कम के दिन एक भिक्षा या एक कौर के बराबर आहार, दूसरे दिन दो भिक्षा या दो कौर के बराबर आहार, इस प्रकार क्रमश: एक-एक दिन बढ़ने पर एक-एक भिक्षा या कौर बढ़ाते जाना और पूर्णिमा के दिन पन्द्रह भिक्षाओं से प्राप्त या पन्द्रह कौर के बराबर आहार करना। कृष्ण पक्ष में पन्द्रह के दिन १५ भिक्षा या कौर के बराबर आहार लेना, इसी तरह दिन के साथ भिक्षा या कौर की संख्या भी घटाते जाना और अमावस्या के दिन एक भिक्षा से प्राप्त या एक कौर के बराबर आहार लेना यवमध्या प्रतिमा है ।। १९ ।।

*वज्रमध्या प्रतिमा*

किण्हे पडिवइ पण्णरस[2] इगेगहाणी[3] उ जाव इक्को उ ।
अमवस्सपडिवयाहिं वुड्डी पण्णरस पुन्नाए ।। २० ।।

कृष्णे प्रतिपदि पञ्चदश एकैकहानिस्तु यावत् एकस्तु ।
अमावस्याप्रतिपदो वृद्धि: पञ्चदश पूर्णायाम् ।। २० ।।

कृष्णपक्ष में प्रतिपदा के दिन पन्द्रह भिक्षाओं से प्राप्त आहार या पन्द्रह कौर के बराबर आहार लेना, द्वितीया के दिन चौदह भिक्षा या कौर के बराबर आहार लेना। इसी प्रकार क्रमश: प्रत्येक दिन भिक्षा या कौर की संख्या को घटाते जाना और अमावस्या के दिन एक भिक्षा या एक कौर के बराबर आहार लेना।

---

१. 'किह' इति पाठान्तरम् ।
२. 'पणरस' इति पाठान्तरम् ।
३. 'एगहाणीं' इति पाठान्तरम् ।

शुक्ल पक्ष में एक्कम के दिन एक भिक्षा या एक कौर के बराबर आहार लेना और प्रत्येक दिन क्रमशः भिक्षा या कौर की संख्या बढ़ाते जाना और इसी प्रकार क्रमशः पूर्णिमा के दिन पन्द्रह भिक्षा या पन्द्रह कौर के बराबर आहार लेना वज्रमध्या प्रतिमा है ।। २० ।।

*भिक्षा और कौर परिमाण*

एत्तो भिक्खामाणं एगा दत्ती विचित्त[१]रूवावि ।
कुक्कुडिअंडयमेत्तं कवलस्सवि होइ विण्णेयं ।। २१ ।।

इतो भिक्षामाणमेका दत्तिर्विचित्ररूपापि ।
कुक्कुडि-अण्डमात्रं कवलस्यापि भवति विज्ञेयम् ।। २१ ।।

एक बार में जितना भोजन डाला जाये वह एक दत्ति कहलाता है और एक दत्ति एक भिक्षा कहलाती है। एक बार में डाला गया भोजन, चाहे वह कम हो या अधिक, एक द्रव्य हो या अनेक द्रव्यों वाला हो तो भी एक दत्ति अर्थात् एक भिक्षा कहा जाता है और कौर का परिमाण मुर्गी के अण्डे के बराबर होता है, ऐसा जानना चाहिये ।। २१ ।।

*इस तप से सफलता किसे ?*

एवं च कीरमाणं सफलं परिसुद्धजोगभावस्स ।
णिरहिगरणस्स णेयं इयरस्स ण तारिसं होइ ।। २२ ।।

एवञ्च क्रियमाणं सफलं परिशुद्धयोगभावस्य ।
निरधिकरणस्य ज्ञेयमितरस्य न तादृशं भवति ।। २२ ।।

निर्दोष क्रिया, निर्दोष भाव तथा महारम्भ रूप या कलहरूप अधिकरण से रहित साधु का यह तप सार्थक होता है अर्थात् मोक्ष फलदायक होता है, अन्य तप वैसा फलदायी नहीं होता है ।। २२ ।।

*रोहिणी आदि विविध तपों का निर्देश*

अण्णोऽवि अत्थि चित्तो तहा तहा देवयाणिओएण ।
मुद्धजणाण हिओ खलु रोहिणीमाई मुणेयव्वो ।। २३ ।।

अन्यदपि अस्ति चित्रं तथा तथा देवतानियोगेन ।
मुग्धजनानां हितं खलु रोहिण्यादि ज्ञातव्यम् ।। २३ ।।

लोकरूढ़ि के अनुसार रोहिणी आदि देवताओं को उद्दिष्ट करके किये

---

१. 'विचित...' इति पाठान्तरम् ।

जाने वाले रोहिणी आदि दूसरे भी अनेकविध तप हैं। ये तप विषयाभ्यास रूप होने से मुग्ध लोगों के लिए अवश्य हितकारी हैं, किन्तु मोक्षफल-प्रदाता नहीं हैं ॥ २३ ॥

*देवताओं के नाम*

रोहिणि अंबा तह मंदउण्णया सव्वसंपयासोक्खा ।
सुयसंतिसुरा काली सिद्धाईया तहा चेव ॥ २४ ॥
एमाइदेवयाओ पडुच्च अवऊसगा उ जे चित्ता ।
णाणादेसपसिद्धा ते सव्वे चेव होन्ति तवो ॥ २५ ॥

रोहिणी अम्बा तथा मन्दपुण्यिका सर्वसम्पत्सौख्या: ।
श्रुतशान्तिसुरा काली सिद्धायिका तथा चैव ॥ २४ ॥
एवमादिदेवता: प्रतीत्य अपवसनानि तु ये चित्रा: ।
नानादेशप्रसिद्धास्ते सर्वे चैव भवन्ति तप: ॥ २५ ॥

रोहिणी, अम्बा, मन्दपुण्यिका, सर्वसम्पदा, सर्वसौख्या, श्रुतदेवता, शान्तिदेवता, काली, सिद्धायिका – ये नौ देवता हैं ॥ २४ ॥

इन नौ देवताओं की आराधना के लिए जो विविध तप विविध देशों में प्रसिद्ध हैं, वे सभी तप हैं। उनमें रोहिणी तप सात वर्ष और सात महीने तक करना चाहिए अथवा रोहिणी नक्षत्र के दिन उपवास करना चाहिए और भगवान् वासुपूज्य की प्रतिमा की पूजा एवं प्रतिष्ठा करनी चाहिए। अम्बा तप में पाँच पंचमी को एकाशन आदि तप करना चाहिए और भगवान् नेमिनाथ तथा अम्बिका देवी की पूजा करनी चाहिए। श्रुतदेवता तप में ग्यारह एकादशी पर्यन्त उपवास, मौनव्रत और श्रुतदेवता की पूजा करनी चाहिए। शेष तप लोकरूढ़ि के अनुसार जान लेने चाहिए ॥ २५ ॥

*तप का स्वरूप*

जत्थ कसायणिरोहो बंभं जिणपूयणं अणसणं च ।
सो सव्वो चेव तवो विसेसओ मुद्धलोयम्मि ॥ २६ ॥

यत्र कषायनिरोधो ब्रह्म जिनपूजनमनशनं च ।
तत्सर्वं चैव तपो विशषतो मुग्धलोके ॥ २६ ॥

जिनमें कषाय का निरोध हो, ब्रह्मचर्य का पालन हो, जिनेन्द्रदेव की पूजा-स्तुति हो और भोजन का त्याग हो, वे सभी तप कहलाते हैं। शेष सभी तप मुग्धलोक में विशेष रूप से प्रचलित हैं। मुग्धता के कारण शुरु से ही वे मोक्षार्थ तप में प्रवृत्ति नहीं करते हैं, अपितु लौकिक उपलब्धियों हेतु तप करते हैं, जबकि

बुद्धिमान लोग मोक्ष के लिए ही आगमोक्त विधि से तप करते हैं ।। २६ ।।

*यह तप चारित्र का भी फल देता है*

एवं पडिवत्तीए एत्तो मग्गाणुसारिभावाओ ।
चरणं विहियं बहवो पत्ता जीवा महाभागा ।। २७ ।।

सव्वंगसुंदरो तह णिरुजसिहो परमभूसणो चेव ।
आयइजणगो सोहग्गकप्परुक्खो तहन्नोऽवि ।। २८ ।।

पढिओ तवोविसेसो अण्णेहिवि तेहि तेहिं सत्थेहिं ।
मग्गपडिवत्तिहेऊं हंदि विणेयाणुगुण्णेणं ।। २९ ।।

एवं प्रतिपत्त्या इतो मार्गानुसारिभावात् ।
चरणं विहितं बहवः प्राप्ता जीवा महाभागाः ।। २७ ।।

सर्वाङ्गसुन्दरस्तथा निरुजशिखः परमभूषणश्चैव ।
आयतिजनकः सौभाग्यकल्पवृक्षः तथा अन्योऽपि ।। २८ ।।

पठितस्तपोविशेषोऽन्यैरपि तेषु तेषु शास्त्रेषु ।
मार्गप्रतिपत्तिहेतुः हंदि विनेयानुगुण्येन ।। २९ ।।

कुशल अनुष्ठानों में विघ्न न आवे इसके लिए साधर्मिक देवताओं की तप रूप आराधना से और २६वीं गाथा में कथित कषायादि निरोधरूप तप से, मार्गानुसारी-भाव (मोक्षमार्ग के अनुकूल भाव) पाकर बहुत से पुण्यशाली जीवों ने आप्तोपदिष्ट-चारित्र को प्राप्त किया है ।। २७ ।।

दूसरे कुछ आचार्यों ने अपने भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में सर्वांगसुन्दर, निरुजशिख, परमभूषण, आयतिजनक और सौभाग्यकल्पवृक्ष आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के तपों का विवेचन किया है। ये तप भी जिनशासन में नव-प्रविष्ट जीवों की योग्यता के अनुसार मोक्षमार्ग स्वीकार करने के कारण हैं। क्योंकि कोई जीव ऐसा भी हो सकता है जो प्रारम्भ में अभिष्वंग अर्थात् संसार-सुख की इच्छा से जिनधर्म में प्रवृत्त होता है, किन्तु बाद में अभिष्वंगरहित अर्थात् लौकिक आकांक्षाओं से रहित मोक्षमार्ग की इच्छा वाला बन जाता है। इसलिए ऐसे जीवों के लिए यह तप मोक्ष प्राप्त कराने वाला बनता है।

जिस तप से सभी अंग सुन्दर बनें वह सर्वांगसुन्दर तप है। इसी प्रकार जिससे रोग नष्ट होते हैं वह निरुजशिख-तप, जिससे उत्तम आभूषण मिलते हैं वह परमभूषण-तप, जिससे भविष्य में इष्टफल मिले वह आयतिजनक और जिससे सौभाग्य मिलता हो वह सौभाग्यकल्पवृक्ष तप है ।। २८-२९ ।।

*सर्वाङ्गसुन्दर तप*

अट्ठुववासा एगंतरेण विहिपारणं च आयामं ।
सव्वंगसुंदरो सो होइ तवो सुक्कपक्खम्मि ॥ ३० ॥

खमयादभिग्गहो इह सम्मं पूया य वीयरागाणं ।
दाणं च जहासत्तिं जइदीणाईण विण्णेयं ॥ ३१ ॥

अष्टावुपवासा एकान्तरेण विधिपारणञ्च आयामम् ।
सर्वाङ्गसुन्दरं तद्भवति तपः शुक्लपक्षे ॥ ३० ॥

क्षमताद्यभिग्रह इह सम्यक् पूजा च वीतरागाणाम् ।
दानञ्च यथाशक्ति यतिदीनादीनां विज्ञेयम् ॥ ३१ ॥

शुक्ल पक्ष में एक-एक दिन के अन्तर में आठ उपवास करना और प्रत्येक उपवास के पारणे में विधिपूर्वक आयम्बिल करना सर्वांगसुन्दर तप है ॥ ३० ॥

इस तप में क्षमा, नम्रता, सरलता आदि का नियम, जिन-पूजा और सामर्थ्य के अनुसार श्रमणों एवं दीन-दुःखियों आदि को दान देना चाहिए ॥ ३१ ॥

*निरुजशिख तप*

एवं चिय निरुजसिहो णवरं सो होइ किण्हपक्खम्मि ।
तह य गिलाणतिगिच्छाभिग्गहसारो मुणेयव्वो ॥ ३२ ॥

एवमेव निरुजशिखः केवलं स भवति कृष्णपक्षे ।
तथा च ग्लान-चिकित्साभिग्रहसारो ज्ञातव्यः ॥ ३२ ॥

सर्वाङ्गसुन्दर तप की भाँति ही निरुजशिख तप भी होता है। लेकिन इसे (शुक्लपक्ष के बजाय) कृष्णपक्ष में करना होता है। इसमें रोगी की सेवा करने का नियम लेना होता है ॥ ३२ ॥

*परमभूषण तप*

बत्तीसं आयामं एगंतरपारणेण सुविसुद्धो ।
तह परमभूसणो खलु भूसणदाणप्पहाणो य ॥ ३३ ॥

द्वात्रिंशदाचामाम्लानि एकान्तरपारणेन सुविशुद्धानि ।
तथा परमभूषणः खलु भूषणदानप्रधानश्च ॥ ३३ ॥

परमभूषण तप में एक-एक दिन के अन्तर से बत्तीस निर्दोष आयम्बिल करना चाहिए और जिनप्रतिमा को तिलक, आभूषण आदि चढ़ाना चाहिए ॥ ३३ ॥

*आयतिजनक तप*

एवं आयइजणगो विण्णेओ णवरमेस सव्वत्थ ।
अणिगूहिय-बलविरियस्स होइ सुद्धो विसेसेणं ।। ३४ ।।

एवमायतिजनको विज्ञेय: केवलमेष: सर्वत्र ।
अनिगूहित-बलवीर्यस्य भवति शुद्धो विशेषेण ।। ३४ ।।

परमभूषण तप की तरह ही आयतिजनक तप में भी एक-एक दिन के अन्तर से बत्तीस आयम्बिल करना चाहिए। सभी धर्मकार्यों में बल और वीर्य को नहीं छिपाने वाले का यह तप विशेष रूप से शुद्ध होता है ।। ३४ ।।

*सौभाग्यकल्पवृक्ष तप*

चित्ते एगंतरओ सव्वरसं पारणं च विहिपुव्वं ।
सोहग्गकप्परुक्खो एस तवो होइ णायव्वो ।। ३५ ।।

दाणं च जहासत्तिं एत्थ समत्तीएँ कप्परुक्खस्स ।
ठवणा य विविहफलहरसंणामिय-चित्तडालस्स ।। ३६ ।।

चैत्रे एकान्तरक: सर्वरसं पारणञ्च विधिपूर्वम् ।
सौभाग्यकल्पवृक्ष एष: तपो (विशेषो) भवति ज्ञातव्य: ।। ३५ ।।

दानञ्च यथाशक्ति अत्र समाप्तौ कल्पवृक्षस्य ।
स्थापना च विविध-फलभर-सन्नामित-चित्रडालस्य ।। ३६ ।।

चैत्र महीने में एक-एक दिन के अन्तर में उपवास करना और पारणों में मुनियों को दान देकर सर्व विकृति वाला अर्थात् सरस भोजन विधिपूर्वक करना सौभाग्यकल्पवृक्ष तप है ।। ३५ ।।

यह तप पूर्ण होने पर शक्ति के अनुसार दान करना चाहिए और विविध फलों के भार से झुकी हुई विविध शाखाओं वाले सुन्दर कल्पवृक्ष की सुनहरे चावलों आदि से रचना करनी चाहिए ।। ३६ ।।

*मुग्ध जीवों को इससे लाभ*

एए अवऊसणगा इट्ठफलसाहगा व सट्ठाणे ।
अण्णत्थजुया य तहा विण्णेया बुद्धिमंतेहिं ।। ३७ ।।

एतानि अवजोषणकानि इष्टफलसाधकानि स्वस्थाने ।
अन्वर्थयुक्तानि च तथा विज्ञेयानि बुद्धिमद्भिः ।। ३७ ।।

इन तपों की आराधना लौकिक आकांक्षाओं वाले मुग्ध-जीवों को इष्ट

फल देती है और ये तप सार्थक नाम वाले होते हैं, बुद्धिमानों को इसे जानना चाहिये। (तपों के नामों का अर्थ २८वीं गाथा में बतला दिया गया है) ।। ३७ ।।

*इन्द्रियजय आदि तपों का निर्देश*

इंदियविजओऽवि तहा कसायमहणो य जोगसुद्धीए ।
एमादओऽवि णेया तहा तहा पंडियजणाओ ।। ३८ ।।

इन्द्रियविजयोऽपि तथा कषायमथनश्च योगशुद्धिः ।
एवमादयोऽपि ज्ञेया तथा तथा पण्डितजनात् ।। ३८ ।।

इन्द्रिय-विजय, कषाय-मथन, योग-शुद्धि आदि अन्य भी तप हैं। किस तप की क्या विधि है और कौन सा तप कितना करना है ? इसे अनुभवी लोगों से जान लेना चाहिए। इन्द्रिय-विजय और कषाय-मथन तपों का अर्थ उनके नाम के अनुसार प्रसिद्ध है। मन, वचन और काय का व्यापार जिससे शुद्ध बनता है वह योग-शुद्धि तप है। इन तपों का स्वरूप आचरण से जान लेना चाहिए, जो इस प्रकार हैं — इन्द्रियविजय में एक इन्द्रिय का आश्रय लेकर पुरिमड्ढ अर्थात् प्रथम दो प्रहर के लिए भोजन-पानी का त्याग, एकाशन, निर्विकृति अर्थात् नीरस भोजन, आयम्बिल और उपवास — इन पाँच तपों की एक ओली (श्रेणी) करनी चाहिए। इसी प्रकार शेष चार इन्द्रियों का आश्रय लेकर एक-एक ओली (श्रेणी) करनी चाहिए। इस प्रकार इन्द्रिय-विजय तप में २५ दिन लगते हैं। कषाय-मथन तप में एक कषाय का आश्रय लेकर एकाशन, नीवी, आयम्बिल और उपवास — इन चार तपों की एक ओली (श्रेणी) करनी चाहिए। इसी प्रकार शेष कषायों के लिए एक-एक ओली (श्रेणी) करनी चाहिए। इस प्रकार इसमें सोलह दिन लगते हैं। योग-शुद्धि तप में नीवी, आयम्बिल और उपवास — इन तीन की एक ओली (श्रेणी) और ऐसी तीन श्रेणियाँ तीन योगों (मनोयोग, वाग्योग और काययोग) के लिए करनी चाहिए। इस प्रकार इसमें नौ दिन लगते हैं।

अष्टकर्मसूदनतप, तीर्थङ्करमातृकातप, समवसरणतप, नन्दीश्वरतप, पुण्डरीक-तप, अक्षयनिधितप, सर्वसौख्यसम्पत्तिप्रदातातप आदि भी तप हैं, जिनकी विधि निम्न है — अष्टकर्मसूदनतप में क्रमशः उपवास, एकाशन, मात्र अन्न का एक दाना लेकर चौविहारतप, एकदत्ति, निर्विकृति, आयम्बिल, आठ कौर का एकाशन या आयम्बिल — इन आठ तपों की एक ओली (परिपाटी), ऐसी आठ ओली (परिपाटी) करना। यह तप चौंसठ दिनों में पूरा होता है। भाद्रपद महीने में तीर्थङ्कर की माता की पूजापूर्वक सात एकाशन करने से तीर्थङ्करमातृका तप होता है। भाद्रपद महीने में ही समवसरण की पूजा के साथ एकाशन, नीवी, आयम्बिल

और उपवास — इन चार में से कोई एक तप अपनी शक्ति के अनुसार सोलह दिन तक करना चाहिए। इसे चार भाद्रपद महीनों में करने से चौंसठ दिन में यह समवसरण तप पूरा होता है। अमावस्या को पट पर उत्कीर्ण नन्दीश्वर जिनचैत्य की पूजा करके उपवास आदि करना नन्दीश्वर-तप कहलाता है। चैत्रमास की पूर्णिमा के दिन श्री पुण्डरीक गणधर की पूजा के साथ उपवास आदि करना पुण्डरीकतप है। जिनबिम्ब के सामने कलश रखकर उसमें प्रतिदिन एक मुट्ठी चावल रखने से जितने दिन में वह कलश भर जाये उतने दिन एकाशन आदि तप करना अक्षयनिधि-तप कहलाता है। प्रतिपदा को एक उपवास, द्वितीया को दो उपवास, तृतीया को तीन उपवास, इसी प्रकार पूर्णिमा को पन्द्रह उपवास करना सर्वसौख्यसम्पत्तितप कहलाता है। इसी प्रकार दूसरे भी तप हैं ।। ३८ ।।

*ये तप आगम में नहीं दिखते हैं — इस शंका का समाधान*

चित्तं चित्तपयजुयं जिणिंदवयणं असेससत्तहियं ।
परिसुद्धमेत्थ किं तं जं जीवाणं हियं णत्थि ? ।। ३९ ।।

चित्रं चित्रपदयुतं जिनेन्द्रवचनम् अशेषसत्त्वहितम् ।
परिशुद्धमत्र किं तद्यज्जीवानां हितं नास्ति ? ।। ३९ ।।

आगम अंग और अंगबाह्य — इन दो भेदों में विभक्त होकर अनेक प्रकार का है। वह अनेक प्रकार के अर्थों वाले शब्दों से युक्त है। जीवों की योग्यतानुसार मोक्षमार्ग को स्वीकार करने का उपाय होने से सम्पूर्ण जीवों के लिए उपकारक है। कष, छेद और ताप से सुवर्ण की तरह विशुद्ध है। इस जिनवचन में ऐसा क्या है ? जीवों का हित नहीं है ? अर्थात् इसमें जो भी है वह सब जीवों के लिए हितकर है। इसलिए उपर्युक्त तप आगम में उपलब्ध न होने पर भी आगम सम्मत हैं — ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि ये तप वैसे भी लोगों के लिए हितकारी हैं और जो भी हितकारी हैं, वे आगम-सम्मत हैं ।। ३९ ।।

*दर्शन-ज्ञान-चारित्र तप का स्वरूप*

सव्वगुणपसाहणमो णेओ तिहिँ अट्ठमेहिँ परिसुद्धो ।
दंसणनाणचरित्ताण एस रेसिंमि सुपसत्थो ।। ४० ।।

सर्वगुणप्रसाधनो ज्ञेयः त्रिभिरष्टमैः परिशुद्धः ।
दर्शनज्ञानचरित्राणामेषः निमित्तं सुप्रशस्तः ।। ४० ।।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र के लिए तीन अष्टम (तीन तेलों) से तपविशेष होता है। यह तप सभी गुणों का साधक है, विशुद्ध है और अतिशय शुभ है। इसमें

पहला अष्टम (तेला) दर्शन-गुण की शुद्धि के लिए, दूसरा अष्टम (तेला) ज्ञानगुण की शुद्धि के लिए और तीसरा अष्टम (तेला) चारित्रगुण की शुद्धि के लिए है ।। ४० ।।

*यह तप करने वाला निदान रहित है — इसकी पुष्टि*

एएसु वट्टमाणो भावपवित्तीएँ बीयभावाओ ।
सुद्धासयजोगेणं अणियाणो भवविरागाओ ।। ४१ ।।

एतेषु वर्त्तमानो भावप्रवृत्त्या बीजभावात् ।
शुद्धाशययोगेन अनिदानो भवविरागात् ।। ४१ ।।

इन तपों में उद्यत जीव श्रद्धापूर्वक क्रिया करता है, इसलिए निदान (आकांक्षा) रहित होता है। श्रद्धा या बहुमानपूर्वक क्रिया करने से शुभ अध्यवसाय (शुभभाव) होता है और शुभ अध्यवसाय से बोधिबीज प्राप्त होता है, जो भवनिर्वेद (संसार से मुक्ति) का कारण है। इसलिए ये सब तप कुछ जीवों के लिए भवविरह (मुक्ति) का कारण होने से निदान रहित हैं ।। ४१ ।।

*उपर्युक्त कथन का मतान्तर से समर्थन*

विसयसरूवणुबंधेहिं तह य सुद्धं जओ अणुट्ठाणं ।
णिव्वाणंगं भणियं अण्णेहिवि जोगमग्गम्मि ।। ४२ ।।

एयं च विसयसुद्धं एगंतेणेव जं तओ जुत्तं ।
आरोग्गबोहिलाभाइ - पत्थणाचित्ततुल्लंति । ४३ ।।

विषयस्वरूपानुबन्धेषु तथा च शुद्धं यतोऽनुष्ठानम् ।
निर्वाणाङ्गं भणितमन्यैरपि योगमार्गे ।। ४२ ।।

एतच्च विषयशुद्धमेकान्तेनैव यत्ततो युक्तम् ।
आरोग्य - बोधिलाभादि - प्रार्थना - चित्ततुल्यमिति ।। ४३ ।।

अन्य दार्शनिकों ने भी अध्यात्म-ग्रन्थों में विषय, स्वरूप और अनुबन्ध से शुद्ध अनुष्ठान को मोक्ष का कारण बतलाया है, इसलिए ये तप मात्र मोक्ष का कारण होने से निदान रहित होते हैं।

*विषयशुद्ध* — विषय अर्थात् तप का आलम्बन। जैसे तीर्थङ्कर निष्क्रमण (दीक्षा) तप में तीर्थङ्कर की दीक्षा आलम्बन है। जिस तप में आलम्बनशुद्ध हो वह विषयशुद्ध है।

*स्वरूपशुद्ध* — जिस तप में आहारत्याग, ब्रह्मचर्य, जिनपूजा और श्रमणों को दिये गये दान आदि का स्वरूप शुद्ध हो, वह तप स्वरूपशुद्ध है।

*अनुबन्धशुद्ध* — जिस तप में चित्त की विशुद्धि भंग न हो, अपितु उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, वह तप अनुबन्धशुद्ध है ॥ ४२ ॥

पूर्वोक्त तप निर्दोष आलम्बन वाले होने से विषयशुद्ध हैं। इसलिए ये प्रार्थना या आकांक्षा युक्त होते हुए भी निर्दोष हैं। क्योंकि 'आरोग्गबोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु' — अर्थात् मोक्ष, मोक्ष का कारण बोधिलाभ और बोधिलाभ का कारण उत्कृष्ट समाधि — समता दें' — ऐसी माँग समत्व से युक्त होने से उचित है और निदान रहित है ॥ ४३ ॥

*भावशुद्धि से तप करने का उपदेश*

जम्हा एसो सुद्धो अणियाणो होइ भावियमईणं ।
तम्हा करेह सम्मं जह विरहो होइ कम्माणं ॥ ४४ ॥

यस्मादेतत् शुद्धमनिदानं भवति भावितमतीनाम् ।
तस्मात् कुरुत सम्यग् यथा विरहो भवति कर्मणाम् ॥ ४४ ॥

पूर्वोक्त युक्तियों से स्पष्ट है कि ये तप आगम से सम्मत, निदानरहित और विशुद्ध हैं। इसलिए भावशुद्धिपूर्वक ऐसे तप करें कि जिससे ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश हो।

प्रत्येक पंचाशक के अन्त में विरह शब्द की उपस्थिति से यह ज्ञात होता है कि यह कृति आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा रचित है, क्योंकि विरह शब्द का प्रयोग उनकी कृतियों का सूचक चिह्न है ॥ ४४ ॥

**इस प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि विरचित पञ्चाशक का आचार्य अभयदेवसूरिकृत 'शिष्यहिता' नामक टीका के आधार पर किया गया हिन्दी भावार्थ पूर्ण हुआ।**

**॥ इति तपोविधिर्नाम एकोनविंशतितमं पञ्चाशकम् ॥**

# गाथानुक्रमणिका

## हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

| | | |
|---|---|---|
| 1. | Studies in Jaina Philosophy — Dr. Nathamal Tatia | 100.00 |
| 2. | Jaina Temples of Western India — Dr. Harihar Singh | 200.00 |
| 3. | Jaina Epistemology — I. C. Shastri | 150.00 |
| 4. | Concept of Panchashila in Indian Thought — Dr. Kamala Jain | 50.00 |
| 5. | Concept of Matter in Jaina Philosophy — Dr. J. C. Sikdar | 150.00 |
| 6. | Jaina Theory of Reality — Dr. J. C. Sikdar | 150.00 |
| 7. | Jaina Perspective in Philosophy & Religion — Dr. Ramji Singh | 100.00 |
| 8. | Aspects of Jainology ( Complete Set : Volume I to 5 ) | 1100.00 |
| 9. | An Introduction to Jaina Sadhana — Dr. Sagarmal Jain | 40.00 |
| 10. | Pearls of Jaina Wisdom — Dulichand Jain | 120.00 |
| 11. | Scientific Contents in Prakrit Canons — N. L. Jain ( H. B. ) | 300.00 |
| 12. | The Heritage of the Last Arhat : Mahavira — C. Krause | 20.00 |
| 13. | The Path of Arhat — T. U. Mehta | 100.00 |
| 13. | जैन साहित्य का बृहद् इतिहास ( सम्पूर्ण सेट : सात खण्ड ) | 560.00 |
| 14. | हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास ( सम्पूर्ण सेट : तीन खण्ड ) | 540.00 |
| 15. | जैन प्रतिमा विज्ञान — डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी | 120.00 |
| 16. | जैन महापुराण — डॉ० कुमुद गिरि | 150.00 |
| 17. | वज्जालग्ग ( हिन्दी अनुवाद सहित ) — पं० विश्वनाथ पाठक | 120.00 |
| 18. | प्राकृत हिन्दी कोश — सम्पादक डॉ० के० आर० चन्द्र | 120.00 |
| 19. | स्याद्वाद और सप्तभंगी नय — डॉ० भिखारीराम यादव | 70.00 |
| 20. | गाथा सप्तशती ( हिन्दी अनुवाद सहित ) — पं० विश्वनाथ पाठक | 60.00 |
| 21. | सागर जैन-विद्या भारती ( तीन खण्ड ) — प्रो० सागरमल जैन | 300.00 |
| 22. | गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण — प्रो० सागरमल जैन | 60.00 |
| 23. | भारतीय जीवन मूल्य — डॉ० सुरेन्द्र वर्मा | 75.00 |
| 24. | नलविलासनाटकम् — सम्पादक डॉ० सुरेशचन्द्र पाण्डेय | 60.00 |
| 25. | अनेकान्तवाद और पाश्चात्य व्यावहारिकतावाद — डॉ० राजेन्द्र कुमार सिंह | 50.00 |
| 26. | निर्भयभीमव्यायोग ( हिन्दी अनुवाद सहित ) — अनु० डॉ० धीरेन्द्र मिश्र | 20.00 |
| 27. | पञ्चाशक-प्रकरणम् ( हिन्दी अनुवाद सहित ) — अनु० डॉ० दीनानाथ शर्मा | 250.00 |
| 28. | जैन नीतिशास्त्र : एक तुलनात्मक विवेचन — डॉ० प्रतिभा जैन | 80.00 |
| 29. | जैन धर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ — डॉ० हीराबाई बोरदिया | 50.00 |
| 30. | मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म — डॉ० ( श्रीमती ) राजेश जैन | 160.00 |
| 31. | जैन कर्म-सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास — डॉ० रवीन्द्रनाथ मिश्र | 100.00 |
| 32. | महावीर निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श — भगवतीप्रसाद खेतान | 60.00 |
| 33. | मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन — डॉ० फूलचन्द्र जैन | 80.00 |
| 34. | जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन — डॉ० शिवप्रसाद | 100.00 |
| 35. | बौद्ध प्रमाण मीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा — डॉ० धर्मचन्द्र जैन | 200.00 |

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी — 5